उत्कल दर्शन

प्रबंध समिति

संतोषकुमार केजड़ीवाल, पुरुषोत्तमदास बागड़ी
दुर्गाप्रसाद तुलस्यान, सत्यजित चटर्जी

उत्कल दर्शन

प्रथम भाग

संपादक

लक्ष्मणस्वरूप माहेश्वरी

साहित्य संगम, ब्रजराजनगर

अनुक्रमणिका

श्रीजगन्नाथ स्तवः

कदाचित्कालिन्दीतटविपिनसंगीतक वरो
मुदागोपीनारीवदनकमला स्वादमधुपः ।
रमाशम्भुब्रह्माऽमरपतिगणेशार्चित पदो
जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।

भुजे सव्ये वेणुं शिरसि शिखिपिच्छं कटितटे
दुकूलं नेत्रान्ते सहचर कटाक्षं विदधते ।
सदा श्रीमद्वृन्दावनवसतिलीला परिचयो
जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।

महाम्भोधेस्तीरे कनकरुचिरे नीलशिखरे
वसन्प्रासादान्तः सहजबलभद्रेणबलिना ।
सुभद्रामध्यस्थः सकलसुरसेवावसरदो
जगन्नाथ स्वामी नयनपथगामी भवतु मे ।।

प्राक्कथन

हमारी पत्रिका 'प्रगति' के पिछले अंक में डॉ० प्रभाकर माचवे का एक निबन्ध प्रकाशित हुआ था—'मेरे उड़ीसा प्रवास के संस्मरण'। उड़ीसा की प्रचुर कला सम्पदा की पहचान, परिचय और प्रकाशन के प्रति ज़िम्मेदार व्यक्तियों की विरक्ति कितनी दर्दनाक है यह उनका मूल स्वर था। डॉ० माचवे कला एवं साहित्य के एक मूर्द्धन्य विद्वान हैं। उनके निबन्ध की कुछ पंक्तियां यहाँ उद्धृत करना इसलिए आवश्यक है कि वे प्रस्तुत पुस्तक के परिप्रेक्ष्य को एक शल्य प्रक्रिया की तरह उधेड़ कर उजागर करती हैं—

'............इस सारे विराट कला-कार्य को देखकर मन सदा अभिभूत होता है, एक ऐसी भव्यता के साक्षात्कार से जिसमें मानवीय श्रम एवं सौंदर्य-बोध का अद्‌भुत समन्वय हुआ था।

'जब-जब उड़ीसा जाता हूं मेरा मन और भी उदास हो जाता है—रोम या एथेंस में भी खंडहर हैं—पर वहां ऐसा नहीं लगता। उड़ीसा में लगता है, अगली यात्रा में शायद और दूसरा ही रूप हो।

'............एक-एक कर कई शिल्पांकन याद आते हैं और मन में विचित्र संघर्ष चलने लगता है: इतिहास के प्रति हमारी अकृतज्ञता और भविष्य के प्रति हमारी ललक के बीच। क्या एक को मिटाकर ही दूसरे का निर्माण होता है? यह कल्पना ही कितनी उदासीनता निर्माण करने वाली है।

'उड़ीसा के साहित्यकार की सबसे बड़ी शिकायत, जैसी कि अन्य साक्षरता में पिछड़े प्रान्तों में मिलती है—यही है कि अभिव्यंजना का कोई साधन नहीं। न हिन्दी जैसे अनेक मासिक पत्र न प्रकाशन-संस्थाएँ।

'............कहने को राष्ट्र भाषा प्रचार समिति का इतना बड़ा प्रेस है,

भवन है, एक बड़ा ग्रंथ भी उन्होंने उत्कल-संस्कृति पर छापा—परन्तु यदि यह पूछा जाय कि कितना उत्कल साहित्य हिन्दी में अनुवादित करके प्रकाशित किया है तो उत्तर मिलेगा—कुछ भी नहीं, सिवाय "राष्ट्रभाषा पत्रिका" में कुछ रामायण अनुवादों और एकाध कहानी संग्रह के। तो यह कार्य करेगा कौन ?

'............हिन्दी-भाषियों को उड़ीसा के साहित्य, शिल्प, स्थापत्य, नृत्य-संगीत, नाट्य-अभिनय आदि का परिचय देने वाली कई पुस्तकों का प्रणयन करना-कराना चाहिये।............उड़ीसा के सर्वश्रेष्ठ पच्चीस ग्रंथ ऐसी एक पुस्तक-माला बनानी चाहिये जिसमें अनुवादों की व्यवस्था हो। वहाँ के कला भण्डार पर ऐसी ही सीरीज़ प्रकाशित करनी चाहिये। उड़ीसा के आदिवासी, वहां की भाषा और ऐसे अनेक विषय हैं जिन पर अब अध्ययन न हुआ तो हम सदा के लिये उन्हें भूल जायेंगे। क्या हम इस कर्त्तव्य के प्रति जागेंगे।'

इन पंक्तियों को जब-जब पढ़ा तब-तब एक ही प्रश्न मस्तिष्क को कुरेदता रहा : क्या हम इनमें से किसी भी सुझाव पर अमल कर सकते हैं ? किसी भी बड़ी योजना के लिये साधनों की सीमा बीच मे आती थी। फिर पहले ही प्रयास में कोई बड़ा काम हाथ में लेने में डर भी लगता था। इसलिए हमने यही उचित समझा कि अपने पहले प्रयास में हम उड़ीसा के धर्म, संस्कृति, कला, स्थापत्य, शिल्प, इतिहास, पर्व, लोक-गीत, आदिवासी, नृत्य, संगीत, अभिनय, साहित्य आदि का एक सर्वांगीण चित्र हिन्दी-भाषी जगत के सामने रखें। इस विपुल सम्पदा का सम्यक् बोध भी पारस्परिक परिचय के क्षेत्र मे एक बड़ा कदम हो सकता है। इसी दृष्टि से, मुख्यतः, हमने इस योजना को अंगीकार किया। उड़ीसा की कोई भी आधिकारिक प्रस्तुति चूंकि उड़ीसा के विद्वानों द्वारा ही संभव हो सकती थी, हमने अपने प्रथम चरण में डॉ० मेहताब से संपर्क स्थापित किया। डॉ० मेहताब उड़ीसा के वरिष्ठ राजनैतिक नेता, साहित्यकार एवं पत्रकार हैं। ऑक्टोबर १९७० में लक्ष्मणस्वरूप माहेश्वरी कटक जाकर उनसे मिले। तब 'प्रजातंत्र' के अपने दफ्तर में डॉ० मेहताब ने कुछ-एक साहित्य प्रतिभाओं एवं पत्रकारों को भी निमंत्रित कर रखा था। प्रस्तावित विषयों की एक सूची श्री माहेश्वरी बना कर ले गए थे। उस पर विचार-विमर्श हुआ। तब लेखकों का प्राथमिक चयन हुआ व 'प्रगति' के इस विशेषांक की एक रूप-रेखा-सी बनी।

ऑक्टोबर'७० से दिसम्बर'७३ —निश्चित ही यह एक असामान्य अवधि है एक प्रकाशन के लिये। पर क्षमा करें, इसका उत्तर हम न दे पायेंगे। हम केवल इतना ही कह सकते है कि हमारी ओर से इसमें कहीं भी, किंचित भी असावधानी या शिथिलता नहीं रही। हां, एक गलती हमने अवश्य की। हमने समझा कि उड़ीसा के कुछ नामवर लेखकों की मुहर के बिना शायद यह सिक्का रुपये के पूरे सोलह आने न बाँट पाय। और वहीं हम धोखा खा गए। चार-चार, पांच-पांच पत्र तक लिख देने पर भी हम डेढ़ वर्ष तक दो पंक्तियों के एक छोटे से उत्तर तक के नसीबदार न बन सके। एक बार तो इतनी निराशा हुई कि इस सारी स्कीम को ही मुअत्तिल कर देने का विचार आया। पर फिर सोचा, चाहे हिन्दी हो चाहे उड़िया, मान्यता प्राप्त लेखकों का सभी जगह यही हाल है। वर्ग-संस्कार की विकृति से, वर्ग-भेद के विरोध में अजस्र आह्वान करने वाला कलम का सिपाही क्यों कर अछूता रह जाय ?

समय के इस दौर में विषय-सूची में काफी रद्दो-बदल हुआ। हमारा एक ही लक्ष्य था कि उड़ीसा का कोई भी महत्त्वपूर्ण पक्ष छूटे नहीं। लेखकों का चुनाव भी उड़ीसा के मूर्द्धन्य विद्वानों की मंत्रणा एवं अनुभव से मँजा और परिष्कृत हुआ। प्रत्येक विषय के लिए यथासम्भव एक ऐसे लेखक का चुनाव किया गया जो उस पर अधिकारपूर्ण सामग्री दे सके। परिचयात्मक नोट एवं मौलिक रचनाओं के लिये ऐसे लेखकों को चुना गया जिन्होंने सृजन की किसी नयी विधा को जन्म दिया हो, कोई नई परम्परा स्थापित की हो या अपने विचार-वैशिष्ट्य से युगचिन्तन को एक नया मोड़ दिया हो। विवेचना के क्षेत्र में, उड़िया कविता व कथा-साहित्य पर कुछ अधिक भी चर्चा होती तो असंगत न होता। पर उड़िया कविता के कलेवर से, अन्य भारतीय भाषाओं की तरह, अभी भी टी. एॅस. इलियट की प्रेत-छाया लिपटी हुई है। अच्छा होता यदि वह इससे उबरकर मानव-संवेदनाओं के उन्मुक्त, प्रशस्त मार्ग पर निकल पड़ी होती। उड़िया कथा-साहित्य, अन्य भाषाओं के कथा-साहित्य की तरह, एक शीत-निश्चलता (hibernation) के दौर से गुजर रहा है। एकाध अपवाद को छोड़कर समयातीत कथाओं (classical sagas) का स्वर ही जैसे अवरुद्ध हो गया है।

जो कुछ भी बन पड़ा है आपके सामने है। स्वतन्त्रता ने आकर हमें एक

राष्ट्रीय इकाई का अहसास दिया। पर साथ ही विभिन्न प्रांतों में एक विरोध, वैमनस्य और अविश्वास की फसल भी खड़ी हुई। भाषावार प्रान्तों का सिलसिला शुरू हुआ तो भाषा के विवाद में तीव्रता आई। भाषा माध्यम है सांस्कृतिक तथा भावनात्मक आदान-प्रदान का। इस आदान-प्रदान में पारस्परिक मैत्री एव सहयोग का जन्म होता है। इसलिए जब भाषा ही विवाद का विषय बन गई तो सदेह और टकराव की फिजां में राष्ट्रीय इकाई के अन्यथा सम्बद्ध अवयव भी अलग-अलग छिटकते-से जान पड़े। किसी भी राष्ट्रीय जिम्मेदारी के लिये यह एक चिन्ताजनक चुनौती थी। तब सरकारी और गैर-सरकारी स्तर पर अनेक प्रयत्नों का सूत्रपात हुआ—इस विश्वास के पुर्नसस्थापन हेतु। सन'५३ में साहित्य अकादमी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित 'भारतीय कविता' इसी दिशा में एक कदम था।

भाषा से पार्थक्य की संभावना उतनी ही मिथ्या और असंगत है जितनी अमृत से मृत्यु की। प्रांतों की सीमाएं आंक कर हमने उन्हें पृथक इकाई का दर्जा प्रदान किया। पर संस्कृति का जो मूल प्रवाह इस समग्र भूखंड में युग-युग से बहता रहा है वह तो इन सीमाओं के बावजूद आज भी निर्बाध और निरंतर ही है। भाषा निर्मित होती है संस्कृति के मौलिक तत्वों से। स्थान, परिवेश, स्वभाव, जीवन-निर्वाह के साधन आदि के अन्तर से भाषा के प्रारूप (लिपि और ध्वनि) में भी अन्तर आता है। इस प्रकार भाषा मे वैविध्य उपजता है। पर इस विविधता और अनेकरूपता में भी समानता की एक अन्तःसलिला सर्वथा गतिमान रहती है। इसलिए भाषा अपनी अनेकरूपता में भी एकता का ही सृजन करती है। भाषा को लेकर यदि झगड़े खडे होते हैं व तनाव बढ़ता है तो इसलिए कि इससे किसी राजनैतिक गुटबंदी अथवा किसी जातीय, सांप्रदायिक अथवा वर्गविशेष की स्वार्थ-सिद्धि होती है।

भावनात्मक विघटन और एकता को लेकर काफी-कुछ चर्चा राजनैतिक एवं बौद्धिक स्तर पर हो चुकी है। कभी-कभी स्थिति को इतना भयावह भी बता दिया गया है कि सब कुछ टूट-बिखर कर पता नहीं जैसे क्या हो जायगा। परन्तु यह सब कुछ एक भयभीत व्यक्ति की बौखलाहट सी लगती है। टकराव असहमति, असहिष्णुता आज एक बौद्धिक मस्तिष्क की स्वाभाविक प्रक्रिया है। आज किसी को कुछ कह देने से वह उसे सच नहीं मान लेगा। आज उसे

बुद्धि के धरातल पर समझाना होगा कि यह दरअसल सच है। बौद्धिक और सामाजिक दोनों ही क्षेत्रों में यह एक स्वायत्तता की लड़ाई है। संक्रांति-काल की इस संघर्ष-परता में यदि कोई तत्व थोड़ी अवधि के लिए पृथक छिटकता-सा भी जान पड़े तो उसे विघटन की खौफनाक संज्ञा देने का क्या औचित्य है ? निश्चय ही यह एक बुर्जुआ प्रतिक्रिया है जो आसन्न व्यवस्था में किसी भी प्रकार के परिवर्तन के प्रति सदा सशंकित और भयाक्रांत रहती है। अन्यथा भावनात्मक एकता तो इस देश की उतनी ही सत्य और निरंतर है जितनी गंगा, जमुना, और सरस्वती की शाश्वत त्रिवेणी।

'उत्कल दर्शन' की प्रस्तुति से क्या कुछ बनेगा-बिगड़ेगा, इसमें हमारी कोई पैगम्बराना मान्यता नहीं है। हमारे लिये यह महज एक विनम्र प्रयास है। हम चाहते हैं कि अन्य प्रांतों के लोग भी उड़ीसा को जानें और समझें। परिचय पारस्परिकता का जनक है, और पारस्परिकता वयस्क होती है तो बधुत्व निरखता है। हमारी हार्दिक कामना है कि परिचय की इस विधा में एक ऐसे ही बधुत्व का जन्म हो।

साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित 'माध्यम' (अब इस पत्र का प्रकाशन आर्थिक कठिनाइयों के कारण कुछ दिनों से बन्द है) के दो विशेषांक प्रकाशित हुए थे---एक 'आंध्र अक' और दूसरा 'केरल अंक'। ये दोनों सराहनीय प्रयास थे। निश्चय ही अन्य प्रांतों के लोगों ने इनके जरिये आंध्र और केरल को अधिक जाना होगा, समझा होगा और फासले घटे होंगे। अभी हाल ही में बंगला पत्रिका 'जुगान्तर' के एक अग्रलेख में यह चर्चा की गई थी कि बंगला और उड़िया साहित्य का अनुवाद यदि एक दूसरी भाषा में प्रस्तुत किया जाय तो वह अवश्य ही पारस्परिकता के क्षेत्र में बड़ी मूल्यवान उपलब्धि होगी। श्री अन्नदाशकर राय तथा श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही जैसे प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का सहयोग किसी भी ऐसे प्रयास को सुलभ बना सकता है।

मित्रों की शुभकामनाएँ, सहयोग एवं सहायता ऐसे अवसरों पर सदा याद आती है। श्री शकरलाल पुरोहित एवं श्री अखयकुमार पण्डा इस प्रकाशन से आरंभ से ही सम्बद्ध रहे हैं। श्री पुरोहित की अविश्रांत लगन एवं उपयोगी सम्पर्क तथा श्री पण्डा के निरपेक्ष मूल्यांकन ने इसे एक निश्चित स्तर पर खड़े होने की क्षमता दी है। पुस्तक का यथासमय प्रकाशन केवल श्री लीलाधर

पाण्डेय शास्त्री के अथक श्रम और निष्ठा के कारण ही संभव हो सका है।

कुछ एक मर्यादाओं एवं मजबूरियों के बावजूद भी पुस्तक के संपादन (editing) एवं अंग-विन्यास (setting) मे जो कुछ भी सुन्दर और सुरुचिपूर्ण बन पड़ा है उसका सम्पूर्ण श्रेय जोधपुर विश्वविद्यालय के श्री मोहनस्वरूप माहेश्वरी को है।

हम इन सभी मित्रों के आभारी है।

सन्तोषकुमार केजड़ीवाल
पुरुषोत्तमदास बागड़ी
दुर्गाप्रसाद तुलस्यान
सत्यजित चटर्जी
लक्ष्मणस्वरूप माहेश्वरी

विजयादशमी, संवत् २०३०
ब्रजराजनगर, उड़ीसा

सम्पादकीय

सन् १९२१ में अपनी उड़ीसा यात्रा के बाद गांधीजी ने सर्वश्री भागीरथ महापात्र, गोपबंधु चौधरी, निरंजन पट्टनायक और नब कृष्ण चौधरी से भेंट वार्त्ता के दौरान यह संदेश दिया था—

'उत्कल मुझे बार-बार याद आता है। मैं उसे भुला नहीं सकता। वहां जो दृश्य मैंने देखे वे तिलमिला देने वाले हैं। उस भूमि से गरीबी भगाओ। हर घर को चरखे का सन्देश दो। उत्कल को समूचे भारत के लिये खद्दर का भंडार बना दो। भूखे नर नारियों को अन्न दो।........................'

आज इक्यावन वर्ष के बाद गांधी जी यदि फिर उड़ीसा आएं तो ऐसा ही एक संदेश और उड़ीसा की जनता के लिये दे सकते हैं। इक्यावन वर्ष की लम्बी अवधि जैसे पलक झांपते बीत गई, शताब्दी के चतुर्थांश ने गांधी जी का प्रिय स्वराज्य भी भोग लिया, पर उड़ीसा मील के उसी पत्थर पर अपनी नियति का लेखा समेटे बैठा रहा। कहने को तो बड़ी जबरदस्त तरक्की हुई दुनिया में—दो पगों ने निस्सीम गगन का विस्तार नाप लिया, चाँद पर जा पहुँचे। पर इससे क्या एक भी भूख से जलते हुए पेट को दो मुट्ठी चावल नसीब हो सका? अर्थशास्त्र के संपन्न आंकड़ों ने असलियत पर सिर्फ नकाब का काम किया। न जाने कितनी गुना मुद्रा बाजार में बढ़ गई, कागज के नोटों की बाढ़ में देश डूब गया, फी आदमी आमदनी बढ़ कर कहां से कहां पहुंच गई। पर गरीबी से रिसते हुए जख्म को कोई भी नहीं सहेज सका। सहनशीलता, धैर्य, सन्तोष, सरलता, सादगी यह सब उड़ीसा के संस्कार हैं। अभाव और विपत्तियों का गरल पीकर भी यह जाति अविचलित रह सकती है। इसीलिए इक्यावन वर्ष बीत जाने पर भी यह उतनी ही गरीब और अभावग्रस्त है। क्योंकि आज के राजनैतिक-आर्थिक जीवन में यह सब मूल्य मात्र एक अपाहिज और कमजोर

की संज्ञा हैं ।

भारत के पूर्वी उपकूल में लगभग तीन सौ मील तक फैला हुग्रा भूमि खंड। उत्तर में बिहार, पश्चिम में मध्य प्रदेश, दक्षिण-पश्चिम में ग्रांध्र, पूर्व में बंगोप-सागर एवं उत्तर पूर्व में बंगाल। पर्वत शृङ्खलाग्रों का मेरुदण्ड। मेघासन, माल्यगिरि, करलापाट, सिंहराज, महेन्द्रगिरि, चन्द्रगिरि, देवमाली, नीलगिरि। धरती की जीर्ण काया में ग्रजस्र ग्रमृत-सिंचन करती हुई महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी, सुवर्णरेखा, बुढ़ावलग, सालन्दी, ऋषिकुल्या, वंशधारा, नागावली, इन्द्रावती, कोलाब, माछकुण्ड। चिलका के विस्तृत जल प्रसार में तैरते-उतराते इन्द्रधनुषी रग। छोटे-बड़े विविध वर्ण-रूप-धारी ग्रसंख्य पक्षियों के स्वर-संगीत का ग्रनोखा सम्मोहन। प्रच्छन्न नीलिमा के तले मीलों तक फैले हुए धान के खेत। प्रकृति का निश्छल, निर्मल, निर्विकार रूप। ऐसे में जब किसी व्याधि की छाया से रूप कुंठित ग्रौर काया जर्जर हो तो मन मसोस उठता है। हल की नोक जब धरती के गर्भ को चीरती है तो साम्राज्यों का निर्माण होता है। पर ग्रभिशप्त उड़ीसा की धरती जैसे भूख उगलती है। समुद्र की लपलपाती हुई तूफानी लहरें ग्राती हैं ग्रौर पल भर में मीलों तक की खड़ी फसल, मिट्टी ग्रौर फूस से ढके विनम्र ग्रावास, यत्न से सहेजी हुई ग्राशाएं ग्रौर ग्राकांक्षाएं—सभी कुछ बहा ले जाती हैं। इनसान कीड़े मकोड़ों की तरह बह जाता है। यहां कोई ग्रगस्त्य नहीं जो निर्बल ग्रौर निरीह की रक्षा में खड़ा होकर ग्रत्याचार को चुनौती दे सके। उड़ीसा की यह मानो एक दुर्निवार नियति है।

ग्रपने ग्रस्तित्व के लिये बाढ़, दुर्भिक्ष ग्रौर साइक्लोन की त्रिशिरा से ग्रवि-श्रांत जूझती हुई इस जाति का सहज मनोभाव ग्रौर संतुलन देखकर हैरत होती है। न जाने कौन सी ग्रास्था है कि कंठ में ग्रशेष हलाहल संजोए हुए भी यह जाति सुख ग्रौर ऐश्वर्य की ग्रमर्त्य गरिमा में मुग्ध रहती है। धर्म, ग्रर्थ, काम ग्रौर मोक्ष : पुरुषार्थ के ये चार रूप हैं जिनका समुचित ग्रंगीकार उस सुख की सृष्टि करता है जो मनुष्य की चरम ग्रभिलाषा है। ग्रौर यही वह सुख है जो उड़िया जाति ने भरपूर भोगा है। कोणार्क कला की श्रेष्ठता का प्रतीक है यह ग्रलग बात है। उसका सर्वोपरि महत्व यह है कि वह इस जाति के सर्वांगीण उत्कर्ष का चित्र है। यह इतिहास का एक कौतुक है कि ग्रपनी समस्त बाध्यताग्रों के बावजूद भी यह जाति जीवन की इतनी सम्पूर्णता में जी सकी कि ऐश्वर्य

की ऐसी गौरवशाली धरोहर भावी पीढी के लिये छोड़ सके ।

तरक्की के यांत्रिक माहौल में उड़ीसा का अहसास एक दुःखद कालदोष की तरह है । आज भी यहां का व्यक्ति कितना निर्दोष, जीवन कितना सरल और व्यवहार कितना स्वाभाविक है । आज भी घनी अमराइयों में सावन के झूलों से आत्मा का नैसर्गिक स्वर फूटता है तो दिशाएं विकल हो उठती हैं । आज भी पपीहे के अतृप्त स्वरों में छिपी हुई वेदना को जब किसी लोक-गीत की पंक्ति दुहराती है तो गगन का विशाल वक्ष धरा पर झुक जाता है । उड़ीसा का सामान्य जन-जीवन आज भी कितना स्वस्थ, संतुष्ट और विषादहीन है । चैत्र आता है तो घर-घर में दंड वाद्य झनक उठते हैं—आओ वसन्त, तुम्हारा सहर्ष स्वागत है । वैशाख में चंदन पर्व आता है तो देह में चंदन लपेटे ग्रामीण युवक-युवतियां उत्साह में गाते-बजाते हैं । आषाढ़ की पहली वर्षा के साथ शिशु 'मेघ बरसिला टुपुर टापेरे, केसुर माइला गजा' गाकर नाच उठते हैं । धरती की सोंधी बास में छिपी सृजन की सुखद संभावनाओं से कृषक बाला पुलकाकुल हो उठती है । रथयात्रा आती है तो सम्पूर्ण उड़ीसा जैसे किसी अद्भुत चेतना शक्ति से जाग उठता है । जगन्नाथ उड़ीसा के प्राण हैं, उड़ीसा की संस्कृति हैं, उड़ीसा के सर्वस्व हैं । ठाकुर के साथ यात्रा में उनकी बहन जाती है, अर्द्धांगिनी नहीं । ठाकुर लौटते हैं तो लक्ष्मी द्वार नहीं खोलती । ठाकुर बाहर खड़े वर्षा में भीगते हैं तब लक्ष्मी के उपालम्भ एवं ठाकुर की अनुनय में एक हिन्दू पारिवारिक जीवन का अगाध स्नेह और पारम्परिकता उमड़ पड़ती है । सावन आता है कि घर-घर में ढपा बज उठता है । वर्षा की झड़ी में हृदय भीगने लगते हैं । देखते-देखते भाद्रपद आ जाता है । ग्राम किशोरियां दलबद्ध होकर बरामदे की दीवारों पर चित्र बनाती हैं । नाव पर नाव का चित्र बनाकर मंगलमयी मंगला का एक और चित्रपट उस पर झुला देती हैं । युग-युग की स्मृतियां 'तऊपोर' गीत की हृदय-विदारक करुणा में सजीव हो उठती हैं । आश्विन में कुमारियां 'जन्हि ओषा' गीत गाती हैं और एक सुखद भविष्य की कल्पना उन्हें आत्म-विभोर कर देती है । दशहरा आता है तो सिपाही 'दंडवाली' गाता है । फिर नयी फसल का त्योहार आता है और धान की मणिका, धान के हार और साबूत धान से लक्ष्मी की पूजा होती है । इसके पश्चात आम बौरने लगते हैं और एक प्राणमय महक का जादू प्रकृति की समस्त शिराओं में व्यापने लगता है । इस प्रकार शहरी शोर-शराबे से दूर, यांत्रिक

सभ्यता के तनाव, संशय, चीख, चिल्लाहट, घुटन, त्रास तथा सुख की खोज में विज्ञान के असंख्य उपकरणों से लैस मनुष्य की बेतहाशा दौड़ और धक्का-मुक्की से कहीं दूर उड़ीसा का लोक-जीवन संस्कारिता के शुभ्र किन्तु संकीर्ण मार्ग पर निर्बाध बहता चलता है। देख कर लगता है कि पचास वर्ष पहले की जिन्दगी में सचमुच कितनी आत्मीयता, बेफिक्री और खुशहाली थी।

सुख की मरीचिका के पीछे भागते हुए इनसान की जिन्दगी इस परिपार्श्व में कितनी नीरस और असहाय लगती है। कलकत्ता और बम्बई जैसे नगरों में बीस-बीस तल्लों के गगनचुम्बी आवास। चारों तरफ कुहासे की तरह छाया हुआ एक निबिड़ कोलाहल। भागती हुई सुबह, दौड़कर आती हुई शाम। इस बीच लिफ्ट के अनेक उतार-चढ़ाव, बस, ट्राम, ट्रेन या कार की दो-चार सफर, दफ्तर की ऊब और जिन्दगी का अन्त। ऋतुओं का यहां कोई अर्थ नहीं है, पंच-तत्वों से यहां शरीर की रचना नहीं होती। बसन्त, पावस, पपीहा, पुरवा सब मरे हुए शब्द हैं। सवेदना का अर्थ है बचकानापन और किसी आदिम सभ्यता का वरण। पारस्परिकता और स्नेह किसी अनुन्नत युग की मान्यताएं है। एक तनाव में जैसे सब कुछ खिचा जा रहा है। नींद की गोलियों के भुलावे में दो क्षण बीतते हैं और फिर चीखती-चिल्लाती सुबह आ धमकती है। कहां है शान्ति, किधर है सुख ?

एक अजीब कसमकश में व्यक्ति की चेतना आज किंकर्त्तव्यविमूढ़ होती जा रही है। उसे लगता है कि रूप के संभ्रम और काठ के चेहरों के बीच उसका दम घुट जायगा। पग पग पर निराशा और मोह-भंग की आवृत्ति उसे जैसे किसी गहन निद्रा से झकझोरती जाती है। मोह-भंग के ऐसे ही एक लम्बे क्रम के बाद कहीं जाकर विश्वास और पारस्परिकता का ढांचा चरमराया और इनसान की अन्यथा सौम्य आकृति के बाहर संशय और सतर्कता के दो भयावह दांत नजर आने लगे। इनसान और इनसान के बीच का मोह और संवेदना का तार टूटा और घृणा तथा जुगुप्सा के एक नये आयाम पर आकर उसकी शक्ति का दुर्घर्ष ज्वार ठहर गया। जीवन में रस (संवेदना) ही न रहा तो चिलचिलाती धूप में खड़े ठूंठ सी जिन्दगी में मात्र उस निर्मम सत्य का आभास बच रहा जिसे एक दुर्बल और भयग्रस्त व्यक्ति श्मशान में पड़ी निष्प्राण देह में, मानो एक चमत्कार की स्वीकृति में, कभी कभी देखता है।

जिन्दगी अस्तित्व के उस नाजुक मोड़ पर आकर रुक गई जहां इनसान सामाजिकता और सभ्यता के सूर्योदय के बरसों पहले, दूसरे इनसान से, भेड़िये की तरह डरता था, दूर भागता था और फिर कभी जब मौका लगता तो उसे चीरकर उसका खून पी जाता था। आज यदि स्नेह और पारस्परिकता की कोई बनावट सी भी कहीं नजर आती है तो वह इसलिये कि हर इनसान को अपने अस्तित्व का खतरा है और हर इनसान यह समझता है कि स्नेह के इस फरेब और इन्द्रजाल में उस खतरे की संभावनाएं टल गई हैं।

देश स्वाधीन हुआ तो खुशी के उन क्षणों में आर्थिक दासता की लोरियां बड़ी सुखद लगीं। हम अपने घर की छत से चिल्लाए कि हमने भीख मांगी है, अपना सत्व नहीं खोया है। यह एक उस किस्म की चिल्लाहट थी जिसमें एक पागल यह ढिंढोरा पीटे कि वह पोटेसियम साइनाइड खा रहा है परन्तु मरेगा नहीं। हमने मुल्क को त्याग और कठोरता के स्नायु देने के बदले भीख की असहायता और निकम्मापन दिया। हमने निर्माण की आरंभिक अवस्था में ही उसे शराब का जहर दिया और फिर उससे शौर्य की प्रतीक्षा की। अमरीकी राजनीति की यह एक अभूतपूर्व सफलता थी। अपनी आत्मतुष्टि में हम इस अहम् सत्य के प्रति आंख मूंदे रहे कि आर्थिक दासता के रुग्ण रगों से ही मानसिक दासता का कोढ़ फूटता है और तब फिर राष्ट्र का विवेक मूर्च्छित होने लगता है और अच्छे-बुरे की पहचान मिटने लगती है।

मुल्क की खुशहाली का लक्ष्य साधकर हमने औद्योगीकरण का रास्ता अख्तियार किया। समाजवाद का मोहक आवरण ओढ़े, जन-हित की शपथ दोहराते हुए हम गगन के वक्ष को चीर कर ऊपर जाती हुई चिमनियों को देखते रहे। हमें समझाया गया, धैर्य और परिश्रम के पुरस्कार-स्वरूप ये चिमनियां एक दिन सुख और ऐश्वर्य का स्वर्ण उगलेंगी। पर कहां चला गया वह स्वर्ण ? कौन सा रावण आकर उसे अपनी लंका में ले गया ? और बदले में उस स्वर्ण-गर्भा की कोख से यह गरीबी, भुखमरी और बेरोजगारी का आग्नेय लावा कहां से छिटक पड़ा ? स्वराज्य का बीस वर्ष का अन्तराल हमारी महत्त्वाकांक्षाओं का एक मरसिया मात्र ही बन कर क्यों रह गया ? यह सच है कि इस बीच उद्योग बढ़े, उत्पादन बढ़ा, तनख्वाहें बढ़ीं, सरकारी सूचनाओं के मुताबिक राष्ट्रीय आमदनी बढ़ी। पर गरीब क्या खुशहाल बन गया ? उसका

तो गरीबी का जख्म बढ़ता ही गया, गहराता ही गया। हजारों करोड़ों रुपये के नोट छाप छाप कर रिजर्व बैंक बाजार में धकेलती गई और राष्ट्रीय आमदनी का कांटा ऊपर चढ़ता गया। एक शुतुरमुर्ग का सा मनोभाव पाले हुए, समृद्धिशाली आंकड़ों की सुखद सेज पर लेटी हुई, भारत सरकार सन्तोष का जश्न मनाती रही। बीस वर्ष बीत गए। गरीबों की गरीबी बढ़ती गई और घाटे की अर्थव्यवस्था की रकम से समाज का एक विशिष्ट वर्ग सम्पत्ति-शाली बनता गया। कीमतें बढ़ी तो इस अन-उपार्जित रकम की बदौलत, वर्ग-विभेद तीव्रतर हुआ तो इसके केन्द्रीकरण के कारण चरित्र का कठिनतम संकट आया तो इसलिये कि सड़े हुए खून का स्वाद एक बाध्यता की तरह समाज पर हावी हो चुका था।

बड़े बड़े कारखाने बने व नई नई मशीनें ईजाद हुईं तो एक तिरस्कार, ग्लानि और हीनता की भावना से इनसान के हौसले सहमे। इनसान का काम मशीनें करने लगीं तो जैसे मानवीय श्रम की गरिमा के भव्य राजप्रसाद की ईंट-ईंट स्खलित होने लगी। 'रोबट' मस्तिष्क की जगह लेने लगा और प्रयोग-शालाओं मे मनुष्य जाति की पैदाइश की संभावना एक सत्य बनने लगी। मनुष्य सोचने लगा, आखिर अब उसका उपयोग ही क्या बच रहा है। एक निष्कासन की भावना उसमें भय और निराशा की सृष्टि करने लगी। चहार-दीवारी में कैद व्यक्ति की तरह वह इसलिये फिर अपने आप ही में सिकुडता चला गया। कभी जब वह अकेला था तब बर्बर था। वही बर्बरता फिर उसके सभ्यता के लिबास से नीचे चैतन्य होने लगी। वियटनाम की धरती पर रचा गया मृत्यु का रोमांचकारी रास मनुष्य की इसी आदिम बर्बरता का उभार था।

सन् १९४७ में पराधीनता की शृङ्खलाएं तो टूटीं पर थोड़े ही समय बाद यह भी लगा कि संयम, सम्मान और अनुशासन की शृङ्खलाएं भी टूटती जा रही हैं। अंग्रेज चले गए तो उनकी दूरदर्शिता, कूटनीति और समझदारी में हमें अपनी बहादुरी नजर आने लगी और हम अपनी विजय की खुशी में झूम उठे। हम एक गणराज्य बने और वयस्क मताधिकार की नींव डाल कर हमने प्रजातंत्र का ढकोसला खड़ा किया। चुनाव की कतारों में घंटों खड़ा रहने वाला व्यक्ति अब यह समझने लगा कि हुकूमत दरअसल उसकी है, चुने हुए

नुमाइन्दे तो मात्र उसकी दया के पात्र हैं। तब राजनीति के हर मसले में इन व्यक्तियों की दस्तन्दाजी होने लगी और निर्णय की तराजू के पलड़े इनके वजन के मुताबिक हल्के-भारी होने लगे। सफलता के मार्ग में आने वाली नीति और न्याय की सभी बाधाएं कुचली जाने लगीं और जब सफलता ही उचित और अनुचित की एक मात्र कसौटी बन गई तो फिर अन्य मानव मूल्यों के जनाजे के लिये किसी शोभा-संस्कार की आवश्यकता न पड़ी। इनसान ने जिधर भी आंख उठा कर देखा, उसे सभी कुछ बेहूदा और बेमेल ही नजर आया। मरीज को बचाने की आवाज बुलन्द होती गई और मरीज मरता गया। डूबते हुए को सभी देखते रहे पर किसी भी माई के लाल ने उसे बचाया नहीं। उपदेश, मान्यता और आचरण के फासले बढ़ते गए और तीनों एक दूसरे से ऐसे टूटे कि अजनबी से बदतर हो गये। आदमी समझ ही न पाया कि कौन सही है कौन गलत है, क्या सच है क्या झूठ है, क्या उचित है क्या अनुचित है। उसे सारी नैतिकता बेमानी लगने लगी। ईश्वर, धर्म, गीता, कुरान के सारे शब्द मिथ्या, अर्थहीन और प्रवंचना पूर्ण लगने लगे। एक ऐसा जबरदस्त संकट चरित्र का आया कि जिसकी मिसाल भी इतिहास के पृष्ठ न दे सके। आजादी के लिये यदि रक्त बहा होता तो उस रक्त का उफान इन घड़ियों में हमारी रगों को झकझोरता। अहिंसा और क्षमा की राम-धुन ने हमें नपुंसक बना कर छोड़ दिया।

मनुष्य को यदि मनुष्य की तरह जीना है तो अस्तित्व के इन मौलिक प्रश्नों का उत्तर जरूरी है। मात्र उड़ीसा का ही प्रश्न नहीं है। उड़ीसा तो एक छोटा सा प्रदेश है—सीधा-सादा, सरल और निरपेक्ष। जिन्दगी यहां सहज भाव से चलती है। न कोई चकाचौंध है, न बेसब्री है, न नोंच-खरोंच है। जिस विश्व बन्धुत्व और सहिष्णुता के जगन्नाथ प्रतीक हैं, उड़ीसा उसका एक जीता-जागता उदाहरण है। उसने यदि साम्राज्य का अछोर विस्तार देखा है और चांदी में डूबती हुई रातें और स्वर्ण में उगते हुए दिन देखे हैं तो रक्तपात की वह दुर्दान्त विभीषिका भी देखी है जिसकी स्मृति मात्र से आज भी संध्या का कलेवर रक्ताभ हो उठता है। सीमा को लांघ कर उड़ीसा का साहसी नाविक जब-जब बाहर जाता रहा तब-तब सुदूर परदेश में उड़ीसा के गौरव की धरोहर के रूप में सांस्कृतिक उपनिवेशों की सृष्टि होती रही। उड़ीसा के विमुग्ध उपासक ने जब भी तूलिका उठाई या पत्थर को तराशा तो एक विपुल रूप-

संभार से दिशाएं आलोकित हो उठीं। उड़ीसा के वीर-प्रसूतों ने जब-जब शस्त्र धारण किया तब-तब शत्रु के कातर चीत्कार में वज्र का निर्घोष डूबता गया। पर कहां चला गया उड़ीसा का वह सारा वीर-दर्प, वह सृजन का जादू, वह पंक्ति में आगे खड़े होने की क्षमता और आत्मविश्वास ? दर्द और क्षोभ से रंजित स्मृतियों के पृष्ठ पलटते हुए यह सब कुछ एक दीर्घाकार प्रश्न चिह्न की तरह सामने आ टिकता है। कहां है मुक्ति-संग्राम का वह अजेय सेनानी बक्शी जगबंधु विद्याधर ? कहां है साम्राज्यवाद की मशीनगनों के सामने खड़ा अचल, अडिग, अपराजेय बारह वर्ष का निर्भीक नाविक-पुत्र बाजी राउत ? कहां है कोणार्क की इमारत को अपने मासूम बलिदान का रक्त देने वाली अमृत-संतान धर्मपद ? साहस और त्याग की यह सारी महिमा आज कहां लुप्त हो गई ? क्या हुआ कि उड़ीसा आसमान की अशेष ऊंचाइयों से निष्क्रियता की अतल गहराइयों में आ गिरा ? क्या कोई उपचार नहीं है—उसकी इस आत्मघाती बनती जा रही मोह-निद्रा का ?

लक्ष्मणस्वरूप माहेश्वरी

दीपावली, संवत् २०३०
ब्रजराजनगर, उड़ीसा

उत्कल दर्शन
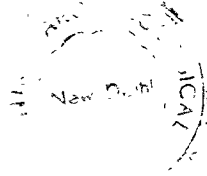
दीनबन्धु सी. एफ. ऍन्ड्रूज़

उड़ीसा की आत्मा

सेवा का प्रथम उपादान यदि स्नेह है तो उड़ीसा में सेवा-कार्य आरंभ करना सहज है, क्योंकि उड़ीसा के लोग जैसे स्नेही हैं, वैसे मैंने भारत में अन्यत्र नहीं देखे। उड़ीसा के लोगों के बीच में जाते ही वे पहली बार में ही तुम्हारे हृदय को जीत लेंगे। उड़िया लोगों के बीच जो भी आकर रहता है, उसे स्पष्ट अनुभव हो जाता है कि हृदय के प्रति इन धैर्यशील लोगों का निवेदन तो परिपूर्ण है ही, पर उससे भी बढ़कर कहीं कुछ और है, जो दूसरे को बरबस अपने में समेट लेता है।

एक बात स्पष्ट है। विपदाएँ आती हैं तो इन्सान ईश्वर को भला-बुरा कहता है 'बुक ऑफ जॉन' में जॉन की पत्नी दुःख की निराशा में यही करती है। पर उड़िया लोगों में ऐसा नहीं है। ईश्वर के सुविचार में उनका विश्वास है। आज सुबह मैंने देखा—विश्वास से लंबी कतार बाँधे स्त्रियाँ महानदी के ठंडे जल में स्नान कर किनारे स्थित मंदिरों में भक्ति-निवेदन करने के लिये चली जा रही थीं। इन मंदिरों मे जो मूर्त्तियाँ हैं, मैं उन्हें पसन्द नहीं करता था और उनका अर्थ भी नहीं समझता था। किन्तु भक्ति और त्याग का जो रूप मैंने देखा, वह प्राची और प्रतीची सब जगह के धर्मानुष्ठानों एवं पर्वों का साधारण भाव है। मेरी माँ जब पहली बार मुझे गिरजाघर ले गई, तब उन्होंने मुझे ईश्वर-विश्वास का महत्त्व समझाया। अतः धर्म के बारे में सन्देहग्रस्त होना मेरे लिये अपनी माँ के भक्तिमय जीवन के मूल्य के प्रति

सन्देह करने जैसा था। मेरी माँ के भक्तिमय जीवन के कारण ही मैं आज जो कुछ भी हूँ, वह बन सका हूं। इन हिन्दू-रमणियों को पूजा के लिये जाते देखकर मेरा मन आज सोवियत रूस में चल रहे नाटक की ओर चला गया। वहाँ प्राचीन गिरजाघरों की दीवारों पर नये शब्द लिखे जा रहे हैं—'धर्म आदमी के लिये अफीम है।' शुद्ध धर्म की आड़ में स्थूल अंधविश्वास ने सिर्फ भारत और रूस में ही नहीं, यूरोप में भी सब जगह जो वीभत्स रूप दिखाया है, उससे मैं परिचित हूं। कुछ आधुनिक धर्म-विश्वासों में जो वीभत्सता दिखाई पड़ रही है, वह पाश्चात्य जगत को और विशेषतः अमेरिका को नीचे ले जाती है। अप्टन सिन्क्लेअर की पुस्तक 'फार वेस्ट' में जो नये ढंग के धर्म-द्वेष के विवरण दिये गए हैं, उन्हें पढ़कर आक्षरिक घृणा उत्पन्न होती है। अतः रूस के सुधारवादी लोगों ने समाज में प्रचलित घृण्य अंधविश्वासों को जड़ से उखाड़ फेकने का जो निश्चय किया है, उसे मैं समझता हूँ। तुर्की के राष्ट्रपति कमाल मुस्तफा कुछ प्राचीन धार्मिक रीति-नीतियां, जैसे—पर्दा, बहु-विवाह प्रथा आदि मिटाकर अपने देश को एकदम साफ-सुथरा करने में लगे हैं। मुल्कों की प्रगति के लिये इस तरह झाड़-पोंछ करने की नीति की शायद जरूरत है। इंगलैंड में ऐसी ही नीति के स्रोत 'प्योरिटॅनिज्म' से उत्पन्न हुए क्रॉमवेल और मिल्टन। फ्रांस में इसी को लेकर देशव्यापी क्रांति हुई और मानव-स्वाधीनता का स्वर गूंज उठा। अतः मानवीयता के उत्थान-पतन की बात जब आती है तो उसे एकदम निन्दित नहीं किया जा सकता।

शुद्ध धर्म का पुष्प जब विकसित होता है, तब उसके लिये जिस सयत्न स्पर्श और व्यवहार की आवश्यकता होती है, वैसा मानव-जीवन के और किसी गुण में नहीं। आदर्शवाद का बाह्य विकास, कला, संगीत, साहित्य और नैतिक आचरण आदि जैसे इस फूल के फल हैं। फल सर्वोत्तम परंपरा है, जिसका संरक्षण मानव भविष्य-जीवन के बीज के हेतु करता है। जूलियस सीज़र अथवा चंगेज़खां के खूनी-युद्ध के बिना मानव-समाज टिक सकता है, पर ईशा या बुद्ध की कोमल शान्तिपूर्ण दिग्विजय के बिना निश्चित ही नहीं टिक सकता। उड़ीसा की आत्मा का विश्लेषण करते समय, धर्म के संबंध में, मैंने यह सब लिखा, क्योंकि धर्म ही उड़िया-जीवन का मेरु-दण्ड है। यह धर्मभाव ही उड़ीसा के लोगों को इतना दुःख सहने की समर्थता एवं क्षमता दे सका है। ऐसा दुःख भारत के अन्य भागों को नहीं सहना पड़ता। अतः इस धर्म-भाव की चर्चा बड़ी कोमलता के साथ ही करनी पड़ती है। पर साथ ही साथ हम इससे जुड़े सत्य के प्रति भी आँख नहीं मूंद सकते।

लैटिन में कहावत है—'मानव के स्वभाव का सर्वोत्कृष्ट अंश भ्रष्ट होने पर वह अति निकृष्ट हो जाता है'। इस बात में एक महान सत्य छिपा है। धर्म-भाव ने जिस प्रकार उड़ीसा की रक्षा की है, एवं उड़िया-चरित्र को उत्तम और सुन्दर बनाया है, भ्रष्ट धर्म-भाव उसी प्रकार उड़ीसा का अभिशाप बन गया है और आज भी वह उड़ीसा का सबसे बड़ा अभिशाप है। जनता के एक चतुर्थांश-भाग को वह धूल के स्तर तक ले आया है। अस्पृश्यता समाज को पतन की ओर ढकेलती जा रही है। उच्च-वर्ण के जिन लोगों ने अपने भाई-बहनों को अछूत बना रखा है, वे तो और भी नीचे गिरे जा रहे हैं।

'यंग इण्डिया'—२६ जनवरी १९२८ से साभार
अनुवाद : शंकरलाल पुरोहित

डॉ० हरेकृष्ण महताब

युगे-युगे उड़ीसार माटी ओ मणीस

प्रतिवर्ष वैशाख के आरम्भ में ओड़िसा का कोई पंजीकार, जब ओड़िसा के ग्राम, नगरी, जनपद की गलियों में उस देश के किसी गजपति गोड़ेश्वर कर्णाटोत्कल बर्गेश्वर वीराधिवीरवर प्रतापी राजा के नाम से प्रचलित संवत्सर का शुभाशुभ फल फिर एक बार सुनाता है, उस समय ओड़िसा के असंख्य निवासियों के मन में उन्हीं खोये हुए दिनों की विषण्ण स्मृति झाँक लेती है। उसे विश्वास नहीं होता कि वह इसी प्रकार की एक वीरत्वपूर्ण-परंपरा और पीढ़ी का वंशज है, वह मान नहीं पाता कि उसकी यही जन्मभूमि एक बार गंगा से गोदावरी तक फैली हुई थी । शताब्दी के बाद शताब्दी बीतती थी और कलिंग, उत्कल, कंगोद, त्रिकलिंग, सप्तकलिंग और उड्र देश की वीर संतानों के शौर्य, वीर्य और ऐश्वर्य से वह विस्तृततर एवं परिपुष्ट होती जाती थी। उसे विश्वास नहीं होता कि वह उसी कलिंग वीर का प्रतिभू है, उसी उत्कलशिल्पी का अनुज है, उसी कंगोद-सन्तान का उत्तरसूरी है, उसी उड्र देश का प्राणप्रतिष्ठाता ओड़िया है। आज इसी पतन के तमसाच्छन्न निशीथ-प्रहर में उसके पूर्वसूरी की आत्मा ढूंढ रही है—ताम्रलिप्त, पोपाली, किरणसुवर्ण, चेलितोल, मंजूषा, राजमहेन्द्री के उपान्तरों में खोयी हुई स्मृति को।

उसकी यही सुजला-सुफला-शस्य-श्यामला जन्मभूमि नदीमातृक है। अनादि काल से बहती महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी, ऋषिकुल्या, सुवर्णरेखा की उपजाऊ मिट्टी से

गठित इसका समतल उपकूल। ईषत् लाल-पीले रंगों के मिश्रण से बनी हुई यह पट्ट माटी—बसंत के कुसुमसंभार में, कोयल की कुहूतान में, उष्म मंदिर मलय में, मार्तंड वैशाख के झींगुर की झंकार में, मरीचिका की माया में, आद्य आषाढ़ के अनन्त आकाश में छाये हुए नूतन मेघों के संचार में, शरद की ज्योत्स्ना-विधुरत-पूर्णिमा-रजनी में, काशकुसुम पंक्ति में, शीत के सुनहले शस्यों की रंगिमा में—एक अपरूप काव्यपुरी में परिणत हो जाती है।

पूर्वांचल समतल भूमि से उसका बन-सुशोभित, पश्चिमांचल और भी अधिक मनोहर, और भी अधिक वर्णाढ्य हो जाता है—नूतन मेघ के संचार से। उसके पश्चिमांचल का मेघों से आलिंगन करते हुए गिरिराज शिखर, उसकी सबुज उपत्यकाएँ, उसकी छायाघन गिरिकन्दराएँ, उसकी स्वप्नघर पहाड़ी नदी की नीर वेणी, धरा पर स्वर्ग की रचना करते हैं। उस देश के रामगिरि पर निर्वासित यक्ष, नूतन मेघ के शीतल स्पर्श से विरहान्वित हो जाता है। वह मेघदूत को भेजता है अलकापुरी में रहती उसकी प्रेमिका के पास। यक्ष की इस विरहव्यथा से वह व्यथित हो उठता है। वह उस विरही यक्ष का मर्मज्ञ है। वह मेघदूत। उसके प्राणों में असंख्य पक्षों का रोमांच है, विरह की आकुल आकृति है, विडंबित रति का गुंजन है। उसके कंठ में मेघमल्हार है। उसके देश के कवि की गीतिका है—चंपु-भाटियाली। वह उन्मत्त हो उठता है। वह प्राण की तन्मयता में खो जाता है।

महोदधि की उच्छल तरंगों से उस देश के चरणों का प्रक्षालन होता है। उसकी स्वर्णिम तटभूमि शिकरसिक्त है। उसका सूर्योदय चित्रात्मक है। उसका सूर्यास्त उसके रंगिमामय जल में इन्द्रधनु की छबि दिखाता है। उस देश की सूर्यपीठ कोणार्क, वह सूर्य-उपासक, वह आलोक-संतान। उसके झाँउबन के गुंजन में समुद्र का आह्वान है। बेनामी पक्षी की पुकार में उसकी अन्तहीन जलराशि का अनंत इशारा है। वह रहस्यसंधानी कोलंबस। विक्षुब्ध समुद्र-वक्ष में वह दुस्साहसी कर्णधार। उसकी आंखों में लवंगद्वीप का स्वप्न है। उसके मन में दारुचीन की वनमाया है, समुद्रपार की कर्पुरपुरी राजकुमारी का नशा है। जावा, सुमात्रा, बालि, बोर्नियो सेलिबिस के समुद्र में उसकी नाव है। प्रवाल-द्वीप के किसी पारिजात के वन की शीतल आलोक-छाया में वह सुषुप्त श्रमक्लांत सौदागर है। उसकी स्मृति में आती है कार्तिक पूर्णिमा के मेघों से ढँकी अंतिम रात्रि के फीके चंद में नाव की आरती-पूजा के लिए आई हुई ताम्रलिप्त, पालुर, चरित्रा, दंतपुर, रंभा, कलिंगनगर बन्दरगाह में उसकी प्रेयसी का विषादपूर्ण चेहरा उसका नीरव इंगित बना रहता है। उसके ललाट पर

उसकी प्रेयसी द्वारा किया गया विदा का तिलक और अगरुचंदन है।

वह केवल मशाले से भरे द्वीपों तक जाने वाला खेवैया सौदागर नहीं। वह है पथचारी वणिक। उसके माल-सामान से लदे असंख्य पशुओं के पदसंचार के शब्द से श्याम, ब्रह्मदेश, चंपा, चीन, तिब्बत के दुर्गम, दुष्कर, नीरव, निस्पंद गिरिपथ मुखर हो उठते हैं। मानसरोवर की कोई तुषारमय शीतल पहाड़ी नदी के मुख में वनहँसी का चकित भीत त्रस्त दल। ब्रह्मपुत्र के किनारे-किनारे उसकी नाव की तरंगे बहती जाती हैं। निबिड़ तीरवन मे उसकी प्रतिध्वनि गूंजती है। वह अरेबियन नाइट्स की कहानियों का नायक है। वह अरबों की मरुभूमि मे तृषार्त बेदुइन है। वह छद्मवेशधारी, राज्यग्रासी वणिक नहीं। वह शांतिदूत है। वह कला, संस्कृति, साहित्य, स्थापत्य और धर्म का उपनिवेश-स्थापक है। वह संघमित्र है, उपगुप्त है।

वह क्रांति का उपासक है, वह विप्लवी है, क्रांतिकारी है। उसका विप्लव बहुमुखी है। उसके धर्म में विप्लव का आह्वान है। उसकी संस्कृति में क्रांति का ज्वार है। उसकी कला, स्थापत्य-परम्परा अशरीर है। वह वैदिक आर्य संस्कृति का वाहक है। वह जीवन का अछन्न काव्यकार, उसके देव-मन्दिर के गात्र में मैथुनचित्र, उसके साहित्य में परकीया प्रीति का निस्संकोच प्रकाश, उसके लोकगीत में मुक्त प्रणय-इंगित, काव्य में आत्मीयजनों की रतिप्रिया रूपायन। उसका 'पार्वतीकाव्य', 'गीतगोविन्द', उसका 'कोटिब्रह्मांडसुन्दरी', 'लावण्यवतीकाव्य', उसका 'कपटपाशा' प्रत्येक ब्राह्मण्य आर्यसमाज के धर्मीय निपीड़न के विरुद्ध, एक सफल प्रतिवाद के वज्र का निर्घोष है। वह द्राविड़ है, वह शाक्त है, वह वैष्णव है, वह 'सुधाभक्ति' का उद्गाता है, वह उन्मुक्त प्रेम का प्रवक्ता है। वह अनन्त प्रेम का स्रोत है। वह 'कामसूत्र' का रसिक कामुक है। वह सुरासाकी का प्रमत्त उमरखय्याम है।

उसके आदिवासी समाज में प्रचलित घोटल', वयस्क युवक-युवती के शयनागार, आत्मीय समाज-रचना का एक उदाहरण है। वह अस्तित्त्ववादी है। आत्मप्रवंचना उसकी प्रकृति के विरुद्ध है। यौवन के अनिंद्य राग में उसका निभृत मन चिर गुञ्जायमान है।

उसका विश्ववंदित जगन्नाथ महाप्रभु बौद्धावतार। उसका श्रीमन्दिर सर्वधर्म-समन्वय की एक अमर-कीर्ति। शांति, मैत्री, साम्य, करुणा और विश्वसौभ्रातृत्व की केन्द्रभूमि। उसका देवता पतितपावन। दलित, पतित, दीन, पीड़ितों के लिए उसके देवता के द्वार हमेशा खुले हैं। उसके देवता का नैवेद्य 'महाप्रसाद', अमृत खाद्य, सेवन-विधि-निषेध-विहीन। उसका देवता अंधविश्वास का अथर्वविग्रह नहीं।

उसका देवता सचल 'साक्षी-गोपाल'। उसका देवता संस्काररुद्ध मन का एक विकार नहीं। वह जीवनानुग अनुभूति की एक अमूर्त प्रेरणा। उसका देवता केवल नैवेद्य-भोगी नहीं, उसके संकट में सक्रिय सहायक भी है। उसके कांची अभियान के पथ पर उसके देवता की गोपन समरयात्रा की कहानी अलौकिक है। सृष्टि की गति-शीलता से ताल मिलाकर उसका समस्त जीवनादर्श गतिमय है।

महामानव के कल्याण के प्रति वह चिरजाग्रत। उसके कंठ में महाजाति की विजयगाथा। उसका मन जाति, धर्म, गोत्र की संकीर्णता से विमुक्त। वह विराट्। महीयान्। उसका स्वप्नविलासी मन आकाशस्पर्शी। वह जागतिक बन्धन के उर्ध्व में एक पद्मभू। वह उदार। वह शांति और संधि का कथावाही कपोत। वह विराट् समन्वयकारी। उसके घर में 'पीर' और 'सत्यनारायण' की पूजा। उसका कवि पीर और सत्यनारायण की महिमा के कीर्तन में मुखर। वह हिन्दू नहीं, मुसलमान नहीं, बौद्ध नहीं, जैन नहीं। वह प्रकृति की अनवद्य सृष्टि मानव-सन्तान। वह काले-गोरे वर्णविभेद का परिपंथी। उसका कृष्णांग जगन्नाथ, श्वेतांग बलभद्र और लोहितांग सुभद्रा संसार के त्रिविध देहरंग के समन्वय का एक ज्वलंत प्रतीक।

उसका यह देश देवलीलाभूमि। एक पवित्र भूमि। उसकी कलकल्लोलिनी, स्रोतस्विनी वैतरणी में अवगाहन करके द्रोपदी पापविमुक्त हुई है, सांब श्रापमुक्त हुआ है। उस देश के असंख्य मोक्षकामी शुचिमंत हुए हैं। वह पवित्र, वह निष्पाप। वह बुद्ध, वह अविनश्वर शुद्ध।

वह संसारविरागी, वह अनासक्त, वह निरालंब। उसके 'मनोबोध चौतीसा' में जीवन की असारता प्रतिपादित। वह काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर का षड्विध-रिपु-लुब्ध कीट नहीं। वह त्याग की तेजस्विता में वह्निमान्। वह सव्यसाची। वह गोपबन्धु। वह गीता का समाधिप्राप्त कर्मयोगी। 'लोकसंग्रहम्' उसका जीवनादर्श। वह उर्ध्वरेता। उसका नाभिकमल में विचरण। प्रणव, न्यास, मुद्रा उसका बीजमंत्र। नादबिंदु में उसके परमात्मा का संयोग। वह तांत्रिक। वह रहस्यवादी। वह भैरवीसाधक। डाकिनी, योगिनी उसके मंत्रदूत। वह अवधूत। वह अलेख। वह महिमाधर्मी। वह श्रेणीहीन-समाज का अग्रदूत।

वह मुक्तिकामी। परशासन के विरुद्ध उसका अपराजेय संग्राम। वह रोडंग का सैनिक। वह राहांग का सेनानी कुशक। वह खोरधा का पाइक सेनापति, बक्षा जगबन्धु विद्याधर। वह वीर सुरेन्द्र साय। वह रानी लक्ष्मीबाई का अन्यतम

चाखीखुंटिया । वह चंदन हजुरी । वह सिपाही विद्रोह का अग्रदूत । वह मुक्तियज्ञ का होता । वह महायज्ञ का ऋत्विक् । मेरठ, कानपुर, चन्दन नगर के विद्रोही सिपाहियों के मानसचक्षु में उसकी मुक्ति का आवेदन-पत्र । प्लासी के आम्रकुंज की अशांत हवा में उसके विद्रोह की नूतन गाथा । वह नेताजी के आह्वान में मुक्तिपागल मुक्तियोद्धा । वह जातीय मुक्तिवाहिनी का वीर सैनिक । वह इम्फाल का शहीद । वह पूर्ण-गर्भा ब्राह्मणी के विक्षुब्ध वक्ष में ढेंकानाल प्रजामण्डल का एकान्त मुक्ति-प्रहरी, बीरदर्प में गर्वियान् दुर्धर्ष-दुर्वार नाविक-पुत्र बाजी राउत । अत्याचार-उत्पीड़न के निविड़ अन्धकार में वह एक देदीप्यमान मुक्ति की सुलगती ज्योति ।

उसकी जन्मभूमि यह ओड़िसा की धरती वीर-प्रसविनी । उसके 'बारवाटी', 'चौद्वार', 'राय-बणिया', 'जाजपुर', दुर्ग असंख्य वीरसेनानियों के स्मारक । उसके रक्त में यदु जाति का 'समर तरंग' । उसकी वीरधमनियों में असंख्य 'खारवेल' का रक्त । उसकी श्रुतियों में रणदुन्दुभि । इतिहास में उसकी असंख्य जयगाथा । वह समर-उन्मना । वह शत्रु का एक विराट् आतंक । गंगा-गोदावरी का जल उसके असंख्य मृत अरि-सैनिकों की क्रंदनमय पत्नियों के अंजन से कृष्ण । वह अदम्य, दुर्जेय । उसके समक्ष जीवन का गुंजन, जीवन का मधुर आवेदन तुच्छ । मिलन-मधुर, विरह-विधुर मुहूर्त्त में उसकी प्रेयसी की अश्रुभरी आँखें और रुदन भरा मुख उसे रणविमुख नहीं कर पाते । वह एक वीरजाति ।

वह समुद्रवक्ष में जितना दुस्साहसी सौदागर, रणक्षेत्र में उतना ही दुर्धर्ष कलिंग सेनानी । जितना निष्ठुर, निष्करुण उसका वीरहृदय, उतना ही गीतिमय उसका सृजनशील मन ।

वह बाउल । वह गीतिकार । उसके शिलादेह पर संगीत का कम्पन । पाषाण 'सिम्फनी' में संगीत मूर्च्छना । वह देवदासी । वह ओडिसी संगीत के लघुललित समारोह में नृत्यरता 'महारी' । उसकी आंखों में ओडिसी नृत्य-इंगित । उसकी मुद्रा में ओडिसी नृत्य की भंगिमा । नृत्य के छंद में 'सिंजनी' का झंकार । वाद्य के ताल पर चल-चंचलता । उसके लास्यमय पैर । वह लास्यमयी सुरसुन्दरी रूपसी उर्वशी । उसके अधरों पर अमृत । उसकी आंखों में कामांजन । उसकी भ्रूलता पर नवीनता की भंगिमा । उसके अङ्गसौष्ठव में स्तंभन और सम्मोहन । वह 'गोटीपुअ' । वह कोणार्क की गीतिप्रलुब्ध नायिका । वह रसग्राही । वह नवटंकी का रंगीला नायक । उसके 'पाइक' (सैनिक) नृत्य में रणकौशल की पराकाष्ठा । छउ नाच में 'बेलाड' ।

वह अन्तरिक्ष का रहस्यानुसंधित्सु ज्योतिर्विद् । वह महामहोपाध्याय सामन्त

चन्द्रशेखर। उसका 'सिद्धान्त दर्पण' ज्योतिर्विज्ञान में एक विराट् विस्मय। वह टेलीस्कोप, टेलीवीजन के ज़ोर से नहीं, मानमंदिर (Observatory) के उन्नत यांत्रिक साधनों से नहीं, ग्राम्यों के एक निभृत कोने में बाँस की नली से मेघ विमुक्त निशीथ आकाश को देखकर विश्वब्रह्मांड के ग्रहमंडल की गतिविधि-अनुध्यान-पटु वैज्ञानिक। वह आविष्कर्त्ता।

वह चित्रकार। उसकी हाथीगुहा, रावणगुहा, खंडगिरि, उदयगिरि गुहा मे अपरूप चित्रसंभार। उसकी रंगीली, उसकी अल्पना, उसका सिलाई-काम का विचित्र कारुकर्म अवर्णनीय। उसकी मसलिन साड़ी, उसका रेशमी उत्तरीय, अरब राजप्रसाद के जीनतमहलों में छुपे हैं। वह कुशल तंतुवाय।

वह भविष्यवेत्ता। 'अच्युतानंद-मालिका' मे उसकी भविष्यवाणी। उसकी मान्यता है कि वर्तमान समाज में अन्याय, अत्याचार, व्यभिचार, भ्रष्टाचार, अविचार केवल महाप्रलय का लक्षण है। जुडो इमाइयों की तरह 'मिलेनियालिस्ट मिथ' में उसका विश्वास। वह मानता है कि कलियुगांत दिन महाप्रलय में पापी, अधर्मी, दुष्कृत-कारकों का विनाश होगा। उस दिन युगपुरुष 'मसीहा' का आविर्भाव होगा— 'परित्राणाय साधूनाम्'। मार्कण्डेय ऋषि की तरह उस दिन साधुसंत 'प्रलयपयोधिजल' की सर्वग्रामी मृत्युकुंडली से उद्धार पाकर नूतन समाजरचना के लिए प्रवृत्त होंगे। उस दिन पृथ्वी पर फिर से स्वर्ग की प्रतिष्ठा होगी। उस दिन धर्म का संस्थापन होगा। इसलिए आज उसकी राजनीति के माध्यम से मानवीय समस्या के समाधान की प्रस्तावना के प्रति अनास्था। गणतंत्र में उसकी आंतरिकता का अभाव। समाजवाद उसके लिए एक मरीचिका। इसलिये उसकी राजनीति अस्थिर। वह प्रगति और प्रतिक्रिया के बीच द्विधा विभक्त। उसके सामने 'बहुपथ बहुमत सहस्र निशाण'। 'अतिमानस' या 'नागभूषण' ? उसके सम्मुख शताब्दी का यह विराट् प्रश्न है।

अनुवाद : वर्षादास

डॉ. मायाधर मानसिंह

उड़ीसा का एकीकरण-सिद्धान्त

इतिहास-प्रसिद्ध उड़ीसा—पूर्व-समुद्र (महोदधि) पट्टी के निकट से होकर जाने वाले राष्ट्रीय राजपथ के दोनों ओर फैला हुआ राज्य है। उत्तर और दक्षिण भारत के बीच विन्ध्य-पर्वतमालाओं की प्राकृतिक विभाजन-रेखा के होते हुए भी उड़ीसा ने दोनों भागों में परस्पर सम्पर्क बनाये रखने में अभूतपूर्व योग दिया है। साथ ही विभिन्न संस्कृतियों, जातियों, धर्मों, रीति-रिवाजों और भाषाओं के परस्पर विरोधी तत्त्वों के मध्य सुमेल और सुखद समन्वय स्थापित करने में उसने सदैव सफलता पायी है।

आने वाले असंख्य सैलानियों की दृष्टि में उड़ीसा समूचे उपमहाद्वीप में एक राज्य मात्र हो सकता है, मगर इससे भी बड़ी बात यह है कि पांडवों से लगा कर हमारे समय के राष्ट्रपिता महात्मा गांधी तक, तथा दोनों के बीच महावीर, शंकर, रामानुज, कबीर, नानक, चैतन्य आदि अनेक महापुरुष, जिन्हें राष्ट्रीय-चेतना के निर्माण का श्रेय प्राप्त है, उड़ीसा से सम्बन्धित रहे हैं।

ईस्वी-पूर्व पहली शताब्दी से लगाकर पन्द्रहवीं शताब्दी आरम्भ तक—१५ सौ वर्षों तक—उड़िया-जन एक राष्ट्र के रूप में पूरी तरह सृजनात्मक गतिविधियों में रत रहा। इन्हीं शताब्दियों में उड़िया जनता ने, उदयगिरि की गुहाओं वाले राजा खारवेल से लगा कर पश्चिम बंगाल में गंगा पर बने त्रिवेणी घाट के राजा मुकुन्ददेव तक, बहुतेरा निर्माण कार्य किया, जिसे हम जगन्नाथ, लिंगराज, राजारानी और कोणार्क

मंदिरों तथा समूचे राज्य में प्राप्त ऐतिहासिक खण्डहरों के रूप में देखते हैं। इनमें प्रत्येक वस्तु पर उसकी अपनी अनोखी छाप है, जो अन्यत्र नहीं मिलती। आज भी उड़ीसा के ग्रामों में ऐसा कोई गांव नहीं मिलेगा, जहाँ मंदिर न हो। मंदिर भी ऐसा कि जिसके वास्तुशिल्प और सौन्दर्य की चर्चा किये बिना रहा नहीं जा सकता। प्रमाण-स्वरूप एक अंग्रेज़ यात्री हंटर का कथन नीचे प्रस्तुत है :

'महानदी के किनारे ऊपर जाने पर मैंने देखा कि प्रत्येक चट्टानी शृङ्ग या वनैले कूटक, जो किनारे-किनारे उभर आते थे, राइन नदी की तरह सामन्तों की गढ़ियों से शोभित नहीं थे, बल्कि उनमें देवता के मंदिर बने थे। तब भी विदेशियों का अनुमान है कि वे कच्ची ज़मीन पर बने हैं [1]।'

'विज़गापट्टम गज़ेटियर' में एक अन्य अंग्रेज़ दर्शक ने दक्षिण के आन्ध्र-प्रदेश से उत्तर की ओर उड़ीसा में प्रवेश करने पर दोनों जनपदों के ग्रामों का वर्णन इन शब्दों में किया है :

'गंजाम में तथा उसके उत्तर में शायद ही कोई गाँव मिलेगा, जिसमें मंदिर अथवा शिव या विष्णु मूर्ति से शोभित स्थान न हो। किन्तु विज़गापट्टम में ऐसा नहीं है। सैकड़ों गांवों में कहीं एक में, कोई मंदिर दिखायी पड़ता है [2]।'

धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, कला और प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से भी उड़ीसा का बहुत महत्त्व है। यहाँ के सुन्दर हाथियों के लिए अतीत में अनेक आक्रमण हुए थे। अशोक ने विशाल सेनाओं के साथ उड़ीसा पर जो चढ़ाई की थी, उसके मूल में यहाँ की राजसी सुन्दरी के आकर्षण का सत्याभास स्पष्ट था। अंग्रेज अधिकारियों ने इसकी रमणीयता और प्राकृतिक दृश्यों को शब्दों में अंकित किया है। उनके द्वारा लिखित वर्णन दूसरे महायुद्ध के समय अमेरिकनों द्वारा व्यक्त इस वर्णन से बहुत मिलता है कि महानदी का सतकोसिया घाटी-मार्ग संसार के सर्वोत्तम प्राकृतिक स्थानों में अपना विशेष महत्त्व रखता है।

वे सब आये :

शंकराचार्य ने अखिल भारतीय मठ-विषयक व्यवस्था के लिए उड़ीसा को अपने चार प्रमुख केन्द्रों में से एक, यों ही, बिना सोचे-समझे, नहीं बनाया था। रामानुज, चैतन्य और शंकराचार्य से इतर कई मतावलम्बियों ने अपने मतों और मान्यताओं का गहरा

१—'उड़ीसा' खण्ड १, पृष्ठ—८३।

२—'उड़िया मूवमेंट' से उद्धृत, पृष्ठ—११४।

प्रभाव इस जनपद में यों ही नहीं छोड़ा। कलकत्ता और मद्रास को जोड़ने वाला राज-मार्ग, जो महानदी के साथ कटक होकर जाता है, वहीं वह स्थान है, जिसके साथ सिख-धर्म के प्रवर्त्तक गुरु नानक की स्मृतियां जुड़ी हैं। उड़ीसा की वर्तमान राजधानी मे एक मील दूर जैन तीर्थ-खंडगिरि की पहाड़ी है। यों देखा जाय तो समस्त उड़ीसा में बौद्धकालीन अवशेष बिखरे पड़े हैं, जिनका सौन्दर्य और ऐतिहासिक महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। उड़ियाओं की इस पुरातन भूमि के समान भारत में शायद ही कोई ऐसा जनपद होगा, जिसमें कठोर सनातनी और धर्म-विरोधी शान्तिपूर्वक एक साथ मिलकर रहे हों।

विश्व प्रसिद्ध कोर्णाक मन्दिर के पास संग्रहालय में यात्रियों ने एक विलक्षण मूर्त्ति देखी होगी। आईने की तरह उसकी चमक देख कर उन्हें अवश्य आश्चर्य हुआ होगा। यह निश्चय ही उल्लेखनीय है कि १३वीं शताब्दी के इन दूरदर्शी कलाकारों ने कितनी कुशलता से इन कृतियों में हिन्दू-धर्म के भाव को समन्वित किया तथा अपने राजाओं और उनके ब्राह्मण-पुजारियों से उनकी पूजा करवायी। पन्थों और मतों के ऊपर, समाज में कोणार्क की यह कलाकृति इस बात का प्रमाण है कि कला द्वारा किस प्रकार समस्त जनता को भावात्मक एकता के सूत्र में गठित किया जा सकता है। भारतीय कला की सौन्दर्यानुभूति का यह सबूत संसार में अनूठा है।

सब मनिषा मे पजा :

ऐसा प्रतीत होता है कि उड़ियाओं की समन्वय-क्षमता और एकता की अभूतपूर्व निष्ठा के कारण ही उड़िसा की यह पवित्र भूमि सदियों से धर्म-गुरुओं को आकृष्ट करती रही। धर्म और दर्शन की यह भूमि शताब्दियों से लाखों-करोड़ों यात्रियों को भी आकर्षित करती रही। महाभारत के काल से ही भारत के विभिन्न भागों से बड़े-बड़े वनों, निर्जनों, धूलभरे मैदानों, पहाड़ों और विशाल नदियों को लांघ कर यात्रियों के दल यहाँ आते रहे हैं कि इस देवभूमि के दर्शन कर, जीवन को सफल कर लें। सहस्र वर्षों के इसी एकीकरण के प्रयोगों को सम्पूर्णता प्रदान करने के लिए, जो कि उड़ीसा में होते रहे, बुद्ध के बाद सबसे बड़े अधुनातन संत महात्मा गांधी ने इस जनपद के गांवों की हजारों मील लम्बी डगरों की पतितों और दलितों के उद्धारार्थ, पद यात्राएं की थीं। हमारे महाकाव्यों से ज्ञात होता है कि पांडवों को हिमालय में, जिसे मिथकों में देवलोक समझा जाता है, जाकर देह त्याग करने के पहले अन्तिम परिक्रमा के रूप में उड़ीसा में वैतरणी नदी के तीर पर आना पड़ा था।

उड़ीसा की नई राजधानी, भुवनेश्वर से केवल एक मील दूर एक और नदी बहती है, जिसका नाम दया है। इसी दया के किनारे धौली (श्वेत) नामक छोटी पहाड़ी है, जिस पर अशोक के, कलिंग युद्ध के बाद के, अंकित आदेश वास्तव में उसके धवल होने की सार्थकता प्रमाणित करते हैं। उन शिलांकित आदेशों में अशोक के वे मानवीय वचन हैं, जो मानव-इतिहास में पहले कभी किसी भी राजा द्वारा उद्घोषित नहीं किए गये। **सब मनिसा मे पजा**—अशोक ने कहा है—सब मनुष्य मेरे बच्चों की तरह हैं। यह कथन मात्र हजारों वर्षों से उड़ीसा के कला, धर्म, साहित्य और समाज में व्यवत होने वाले मानवीय प्रेम के कितने अनुकूल हैं! यदि उड़ीसा की पवित्र नदी वैतरणी ने महाभारत-काल से वर्तमान समय तक लाखों व्यक्तियों का पाप धोया है, तो अशोक का यह वचन सौहार्द और समन्वय का संचार करने वाली उड़ियाओं की भूमि के मतभेदों, भाषा-संघर्षों और सांस्कृतिक वैमनस्यों के पापों का परिहार क्यों नहीं कर सकता? सामाजिक और राजनीतिक विकृतियों से उसे मुक्ति क्यों नहीं दिला सकता? **सब मनिषा मे पजा**—सभी व्यक्ति मेरे बच्चों की तरह हैं। क्या ही उपयुक्त वाक्य है! ठीक इसी तरह के वचन पंडित नेहरू और विनोबा भावे के मुखों से भी एकीकरण के लिए—मतभेदों को पाटने के लिए—निःसृत हुए हैं! **सब मनिषा मे पजा**—वस्तुतः उड़ीसा का पहला मानवीय संदेश है, जो आज भी जीवन्त है।

उड़िया आदिवासी का मानवीय संदेश :

उड़ीसा की मिली-जुली संस्कृति मुण्डा, द्राविड़ और आर्यों के समन्वय से बनी है। इसीलिए उसका संयोजित रंग नितान्त अलग है। उदाहरणार्थ उड़ीसा की भाषा उड़िया को लें तो हम पायेंगे कि भारतीय भाषाओं में यह भाषा आदिवासियों द्वारा प्रदत्त सृजनात्मक एवं कलापरक तत्वों के कारण अपने कथ्य में बेजोड़ है। भारत का सबसे बड़ा आदिवासी सम्भवतः उड़िया का कवि भीमाभोई कंध नामक आदिवासी का था, जो जाति किसी समय हल्दी के खेतों में मानव बलि देने के लिए कुख्यात थी। कंध जाति का होने के साथ ही भीमभोई अन्धा और अनपढ़ था। उसका बचपन दूसरों के ढोर चराने में बीता। किन्तु आज इसी अंधे और निरक्षर आदिवासी के भजन लाखों उड़िया ग्रामीणों के हृदयों को स्पन्दित करते हैं। यह आश्चर्य का विषय है कि गत शताब्दी का यह अशिक्षित आदिवासी कवि कभी भी पश्चिमी-सभ्यता के संपर्क में नहीं आया, मगर अपनी रचनाओं में इसने मूर्त्तिपूजा,

जातिवाद, अंधविश्वास और भगवान के नाम पर किए जाने वाले झूठे आचार-अनुष्ठानों के विरुद्ध खुल कर प्रहार किये। उसकी चेतना में वास्तविक आक्रोश का उदय हुआ था। परिणाम-स्वरूप उसने अपने भजनों में तत्कालीन समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार का डट कर विरोध किया। इस विरोध में तनिक मसीहायी आदेश भी हैं, जिनमें 'ओल्ड टेस्टामेन्ट' के पृष्ठो में अंकित घोषणाओं के अनुरूप ध्वनि मिलती है। उड़ीसा के वनों में रहने वाला यह कंद भीमाभोई निस्संदेह एक अनुपम प्रतिभा-शाली व्यक्ति था। उसने अपने समूचे अन्तरंग को मानवीय दुःखों की पहचान मे इस तरह जोड़ लिया था कि उसकी कविता में अशोक के वचन 'सब मनिषा मे पजा' का स्पष्ट स्वर मिलता है। उड़िया के इसी अपढ़ आदिवासी कवि की रचनाओं के भावानुवाद अंश उदाहरण स्वरूप नीचे प्रस्तुत हैं, जो कदाचित् आत्मलीन, अहंवादी आधुनिक बौद्धिकों के गर्व को चूर करने के लिए उपयुक्त हैं। भीमा कहता है :

'मेरे बन्धुओं का कष्ट मेरे हृदय को पीड़ा पहुंचाता है और आत्मा में ऐसा लगता है मानो उसमें सुई चुभोई जा रही हो।'

'ओ प्रभु ! यह बेसहारा भीमा तुम्हारे चरणों को पकड़ कर पूछना चाहता है कि आखिर इसका कारण क्या है ?'

'हे परमपिता ! मानव प्राणियों के अपार कष्टों को सहने की सामर्थ्य इस धरती पर किसमें है ?'

'ओ प्रभु ! यदि आप ससार को समस्त दुःखों से उबार सकें, तो मैं अपनी इस आत्मा को हमेशा के लिए नरक भोगने के लिए अर्पित करने को तैयार हूं।'

आदिवासी उड़ीसा की राजनीति :

उड़ीसा के कई राजघराने अपनी वंश-परम्परा का स्रोत राजपूतों में बताते हैं, यहां तक कि कुछ अपने को सूर्य, चंद्र और तारों से उत्पन्न मानते हैं। किन्तु शोधकर्त्ताओं की दृष्टि से उड़ीसा के ये राज-घराने जिन देवी-देवताओं की पूजा करते हैं, वे उनसे कम स्थानीय नहीं हैं। वास्तव में अधिकांश राजपरिवार आदिवासियों से आर्यत्व की ओर आये। उड़ीसा की कई भूतपूर्व रियासतों में प्रचलित कतिपय उत्सवों में स्थानीय आदिवासी मुखियाओं का योगदान आवश्यक माना जाता था। राज-तिलक के पूर्व तो इन आदिवासियों द्वारा कुछ अनुष्ठानों का किया जाना आवश्यक होता था। उनके बिना नये राजा का तिलक पूर्ण नहीं होता था। कालाहांडी (आजकल उड़ीसा का एक जिला) के नये राजा को तो आज भी आदिवासी मुखिया की कन्या के साथ

आनुष्ठानिक-विवाह करना अनिवार्य है। अंग्रेजों के अधीन उड़ीसा के इतिहास का आरम्भिक काल आर्य-सामन्तों के प्रति स्वामिभक्ति निभाने का काल रहा है। खास कर व्यक्तियों और साधनों के रूप में कंध आदिवासियों के त्याग का अनोखा उदाहरण हमें गंजाम जिले के घुमसुर राजपरिवार की मान-रक्षा के प्रश्न पर उनका अंग्रेजों के विरुद्ध हथियार उठा लेने में मिलता है। धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही इस जाति की ईमानदारी, वीरता और स्वामि-भक्ति उस समय देखने योग्य थी। घुमसुर के इन विद्रोही कंधों के अंतिम मुखिया चक्र बिसोई के अपरिमित साहस के लिए उसे स्वाधीनता सेनानियों में प्रमुख स्थान दिया जाना चाहिए। उड़ीसा के पूरे पश्चिमी भाग में अंग्रेजों से गुरिल्ला-युद्ध करते हुए, वह एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में वीरगति को प्राप्त हुआ था। प्रकट है कि अंग्रेजों ने उसे जीवित या मृत पकड़ने के लिए बहुत बड़ा इनाम रखा था।

एकीकरण का सर्वोच्च आराध्य जगन्नाथ :

मगर उड़ीसा के सामाजिक एवं राजनीतिक-जीवन के सुनियोजित एकीकरण की दिशा में लोगों की धार्मिक आस्थाओं का सच्चा योगदान उल्लेखनीय है। हिन्दू-देवताओं में सर्वाधिक प्रसिद्ध पुरी के जगन्नाथ प्रभु, उड़िया समाज और उसके धार्मिक विचारों के विकास से सम्बद्ध विविध शक्तियों के बीच, स्थायी समन्वय प्राप्ति की राह में निरन्तर एक प्रतीक के रूप में पूज्य रहे। जगन्नाथ वह प्रतीक है, जिससे हम सहज ही भारतवर्ष और हिन्दू-धर्म को समझ सकते हैं। वह केवल विश्व का सर्वोच्च प्रभु ही नहीं, सम्पूर्ण सुमेल तथा द्रविड़, आर्य, मुंडा और अन्य जातियों के एकीकरण का जीवन्त प्रतिनिधि भी है। जगन्नाथ के आधुनिक काल तक विकास का इतिहास उड़िया के प्राचीन साहित्य में प्राप्त उल्लेखों से समझा जा सकता है। आज भी इस मंदिर में प्रचलित पूजा-विधियों और कतिपय परम्पराओं में जिन बातों को हम देखते हैं, उनमें एकीकरण और समन्वय का रूप ही हमें दृष्टिगोचर होता है। सदियों से यह प्रक्रिया इस मंदिर में चलती रही। संक्षेप में इस तरह के प्रचलित अनुष्ठानों और व्यवस्थाओं का वर्णन हम यहां दे रहे हैं। मुझे विश्वास है, जगन्नाथ की इस महत्ता को जब भी हमारे पाठक सही तरह से जान लेंगे, तभी उन्हें वर्तमान के कई प्रश्नों के उपयुक्त उत्तर भी मिल जायेंगे। ज्यों-ज्यों हम जगन्नाथ के सम्बन्ध में जानेंगे, त्यों-त्यों हमें ज्ञात होगा कि उसने पश्चिम को उत्तर से, अतीत को वर्तमान से, द्रविड़ों और आदिवासियों को आर्यों से और

सबसे अधिक जैन और बौद्ध-धर्मों को हिन्दू-धर्म से मिलाने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हिन्दुओं का कोई भी देवता परस्पर विरोधी सत्यों और मान्यताओं को इतने व्यापक रूप से अपने व्यक्तित्व में समाहित नहीं कर पाया, जैसा कि जगन्नाथ ने किया है। उड़िया किंवदतियों के अनुसार जगन्नाथ आरम्भ में सावरा (शवर) आदिवासियों का देवता था। यह जाति आज भी उड़ीसा के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र के पहाड़ी भागों में बसी हुई है। यद्यपि इसे हम पूरे उड़ीसा में छितरा हुआ पाते हैं। सावरा आदिवासियों के लोक साहित्य, लोकनाट्यों, किंवदंतियों, यहां तक कि राम-बाण की तरह अचूक कठबैदी में भी जो बातें मिलती हैं, उन्हें हम उड़ीसा के अव-चेतन मन में बसा हुआ पाते हैं। इन्हीं सब चीजों की अभिव्यक्ति उड़िया साहित्य में भी हुई। शबर जाति का यह देवता प्रारम्भ में केवल नीले रंग की एक पाषाण-मूरत था, जिसे नील-माधव कहा जाता था। यह शब्द ही इस आदिवासी अभिव्यक्ति का द्योतक है। अनुमान किया जाता है कि यह मूरत, जो कि केवल एक अनघड़ पत्थर का टुकड़ा मात्र है, दक्षिण की कृष्णानदी के किनारे फैले नीलमलाई पहाड़ों के श्री शैलम् के शिवलिंगम् का प्रतिरूप मात्र है। अतः नीलमाधव कोई अन्य न होकर कदा-चित नीलमलाई पर्वतों का देवता ही है।

कृष्णानदी और उससे नीलमाधव के सम्बन्ध की इस किंवदंती ने उड़िया महाभारत के रचयिता लोककवि सरलादास को इतना अधिक प्रभावित किया कि उन्होंने एक कथा की रचना कर डाली, जिसमें सावरा आदिवासियों के इस लिंगदेवता का सम्बन्ध द्वारका के कृष्ण से जोड़ा। सरलादास की इस रचना के अनु-सार जब कृष्ण की देह का अग्नि-संस्कार हुआ, तो उसका हृदय-पिंड आग में नहीं जला। अतएव उसे निकटवर्ती समुद्र की लहरों में प्रवाहित कर दिया गया। जरा नामक शबर, जिसके बाण से घायल होकर कृष्ण की मृत्यु हुई थी, यह देखकर समुद्र में कूद पड़ा और उस बहते हुए हृदय-पिंड को प्राप्त करने के लिए सैकड़ों मील समुद्र में उसके साथ तैरता गया। पूर्वी समुद्रपट्टी के पास आकर कहीं पुरी के किनारे वह कृष्ण के हृदय-पिंड को बाहर निकालने में सफल हुआ। इस बीच वह दिव्य हृदय-पिंड नीलपाषाण में परिवर्तित हो गया था। इसी नील पाषाण की—नील-माधव की—जरा और उसकी आदिवासी जाति के लोग पूजा करते हैं।

अतएव यह प्रतीत होता है कि दक्षिण के श्रीशैलम् की मूर्ति—शिवलिंगम् की प्रतिकृति यह नील पत्थर—प्राचीन काल में शबरों का देवता रहा होगा। स्पष्ट है, इसी प्रतिकृति ने १४वीं, १५वीं शताब्दी में कवि-शिरोमणि सरलादास की कल्पना

में जिस 'नील-म-ढाबा' (माता का नील पति) के रूप में स्थान पाया उसका बम्बन्ध कृष्ण या विष्णु से ही है।

जो भी हो, सदियाँ बीत गईं। इन्द्रद्युम्न नामक मालवा के एक राजा को विष्णु-पूजा पुनर्जीवित करने की प्रेरणा हुई। उसके सामने यह प्रश्न आया कि विष्णु की प्रामाणिक प्रतिमा वह कहाँ से प्राप्त करे। राजा ने चारों दिशा में अपने आदमी दौड़ाये। पूर्व दिशा में विद्यापति नामक एक ब्राह्मण भेजा गया। संयोग से वह उड़ीसा के समुद-तट पर वसे शबरों की बस्ती में पहुंचा। यद्यपि वह विवाहित था, किन्तु जिस रहस्य का पता लगाना उसका लक्ष्य था, उसके लिए उसे शबरों के मुखिया की लड़की से विवाह रचाना पड़ा। इसी शबर-पत्नी की सहायता से विद्यापति नीलमाधव की प्रतिकृति को अगम्य पर्वतों के बीच में खोज सका। इसका पता लग जाने के पश्चात् विद्यापति अपने प्रदेश में लौट गया और अपने साथ राजा को ससैन्य लेकर इस स्थान पर फिर आया। संक्षेप में, यह ज्ञात होता है कि अन्धकारमयी अनेक शताब्दियों के दौरान शबरों का यह शिवलिंग उड़ीसा के लोक-समुदाय का नीलमाधव हुआ। तथा कालान्तर में जैनों के सम्पर्क से 'जिन्नाथ', महायानी बौद्धों के प्रभाव से 'जगन्नाथ' तथा अंत में बौद्ध-धर्म का प्रभाव क्षीण करने के बाद राजा इन्द्रद्युम्न ने वैष्णव-धर्म की प्रतिष्ठा के लिए—हिन्दू धर्म के अनुकूल, इसे 'जगन्नाथ पुरुषोत्तम' नाम प्रदान किया। इसी मूर्त्ति ने स्वप्न में राजा इन्द्रद्युम्न को निम्नलिखित आदेश दिये थे—

१. जगन्नाथ के पवित्र मंदिर में किसी प्रकार का जाति-भेद नहीं बरता जाय;
२. विद्यापति की ब्राह्मण-पत्नी से जन्म-ग्रहण करने वाली संतानें इस मूर्त्ति की पूजा करती रहेंगी;
३. विद्यापति की शबर-पत्नी से उत्पन्न संतान पर जगन्नाथ का भोग तैयार करने का दायित्त्व रहेगा तथा मूर्त्ति के परम्परागत पूजक—शबर—जगन्नाथ के सेवक होंगे।

आज तक जगन्नाथ के मंदिर में इन्हीं नियमों का कड़ाई से पालन होता आ रहा है। भारत में अन्यत्र कहीं भी ऐसा मंदिर नहीं है, जहाँ ब्राह्मणों के देवी-देवताओं के लिए किये जाने वाले आचारों में आदिवासी या ब्राह्मणेतर तत्त्वों का इतना हाथ हो, जितना जगन्नाथ में प्रचलित है।

कदाचित् शंकराचार्य के नेतृत्व में हिन्दूधर्म के पुनरुद्धार के समय पुरी के यही

जगन्नाथ, महायानी बौद्धमतावलम्बियों के आदिबुद्ध का प्रतिनिधित्व करते थे, न कि कपिलवस्तु के इतिहास-प्रसिद्ध गौतम का; जिसे विष्णु का नवाँ अवतार माना गया है। अवश्य ही हिन्दूधर्म-शास्त्र में 'जगन्नाथ' अपरिचित शब्द है, मगर महायानी शाखा के बौद्धों में यह शब्द बहुत जाना-पहचाना है। हम नहीं जानते कि ठीक-ठीक किस काल में शबरों का यह 'नीलमाधव' (कदाचित् शिवलिंग) महायानी बौद्धों का जगन्नाथ बन गया। किन्तु जगन्नाथ की अनगढ़ त्रिमूर्त्ति स्थूल रूप से पाली प्रतीकों की दृष्टि से बौद्ध धर्म के त्रिरत्न—बुद्ध, धर्म और संघ—का परिवर्तित स्वरूप ही समझी जा सकती है।

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत जगन्नाथ के सन्दर्भों के अतिरिक्त यह भी लक्ष्य करने योग्य है कि वेदान्तिक दृष्टि से शबरों के देवता को ही पुरुषोत्तम की प्रतिष्ठा दी गई। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि पुरी का वास्तविक नाम पुरुषोत्तम पुरी है। लेकिन प्रकट है, जिस जगन्नाथ को सर्वत्र लोक-प्रसिद्धि मिली, वह पुरुषोत्तम जगन्नाथ नहीं है। इतना ही नहीं, पतितों के उद्धारक की भावना वस्तुतः बौद्ध-दर्शन की वस्तु है, जिसमें महायानियों के बौद्ध-तत्त्वों का समावेश है। इसीलिए प्रति वर्ष जगन्नाथ अपने आर्य-पुरोहितों के अनुष्ठानों के आडम्बरों से बाहर आकर अपने हज़ारों भक्तों से मिलते हैं। वे मंदिर से बाहर निकलते हैं, ताकि वे खुले आसमान के नीचे उनके बीच मुक्त-भाव से विचरण कर सकें, धूल भरे पथों में उनके साथ चल सकें। यह विश्व-प्रसिद्ध आयोजन जगन्नाथ की रथयात्रा के नाम से प्रसिद्ध है। यह खेद का विषय है कि इस उत्सव के अलौकिक, आध्यात्मिक एवं मानवीय सन्दर्भ, ईसाई-मिशनरियों द्वारा प्रतिकूल प्रचार के कारण पूरी तरह से विलुप्त हो गये है।

यह विशेष द्रष्टव्य है कि जगन्नाथ की प्रतिमा सम्पूर्ण रथयात्रा के समय शबर वंश वालों की देख-रेख में रहती है। उन सात दिनों तक ब्राह्मण पुजारियों का कोई भी दादित्व नहीं होता।

जब जगन्नाथ का विशाल रथ उत्सव-यात्रा के लिए निकलता है, तो उड़ीसा के राजा को (आजकल पुरी का राजा, जो कि उसका सर्वोच्च सेवक है) रथ का मार्ग बुहारना पड़ता है। इस प्रकार जगन्नाथ के समक्ष मानव-मानव में समानता बनाये रखने की औपचारिक विधि सम्पन्न की जाती है। और इस प्रकार हम देखते हैं कि पुरी के जगन्नाथ सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक समन्वय के भारत में एक बड़े प्रतीक सिद्ध होते हैं। जगन्नाथ प्रजातन्त्र के सच्चे देवता और जनसाधारण के प्रभु हैं।

कला और साहित्य के माध्यम से शान्ति के लिये उड़ीसा की देन :

उड़िया कला और साहित्य, सहअस्तित्त्व के वास्तविक दर्पण हैं। बहुत कम लोगों को यह पता है कि उड़िया साहित्य ऐसे विविध तथ्यों से पूरित है कि उसकी तुलना भारत के किसी भी हिस्से के साहित्य से नहीं की जा सकती। वर्तमान भारत की लोकसत्तात्मक व्यवस्था में उड़ीसा का साहित्य इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हो जाता है कि उसका कथ्य, जैसा कि पहले बताया है, न केवल आदिवासियों से ही समृद्ध हुआ, बल्कि उसमे बंगाली, मराठी, तमिल, तेलगू-भाषी जनता तथा बढ़ई, मछुवे, नाई आदि निम्न-वर्गीय हिन्दू-जातियों का भी योग है। यद्यपि उड़ीसा अधिकांश में हिन्दू प्रदेश है, मगर वर्तमान उड़ीसा का जनक एक ईसाई था, जिसे हम सब मधुसूदन दास के नाम से जानते हैं।

यह भी महत्त्वपूर्ण है कि शताब्दियों से विलीनीकरण सम्बन्धी उत्साह के बने रहते हुए भी, उड़ीसा जीवन के हर क्षेत्र में अद्भुत् रीति से अपना नितान्त अलग व्यक्तित्व बनाये रख सका है। यदि उसने बिना झिझक किसी से कुछ लिया है, तो बदले में उसने बिना किसी प्रचार और दिखावे के उससे अधिक ही लौटाया है। भारतवर्ष में कितने लोग जानते हैं कि 'साहित्य दर्पण' के लेखक कविराज विश्वनाथ महापात्र उडिया थे ? कितने व्यक्तियों को ज्ञान है कि हिन्दू ज्योतिषाचार्य सदानन्द उड़िया थे ? 'सिद्धान्त दर्पण' हिन्दू खगोल-विज्ञान के सिद्धान्तों पर एक अधिकृत ग्रन्थ है। इसके रचयिता, खण्डपारा के चन्द्रशेखर सिन्हा, के सम्बन्ध में ई. ई. माउन्डर, एफ, आर. सी. एस., ने अपने ग्रन्थ 'एस्ट्रोनॉमी विदाउट टेलिस्कोप' में लिखा है—

'जिस काम के लिए आमेर के राजा ने बड़ी-बड़ी भव्य इमारतें बनवायी थीं, वह काम बहुत कम साधनों से उड़ीसा के गांव में रहने वाले एक एकान्तवासी ने कर दिखाया। उड़ीसा के इस व्यक्ति में हमें लगता है, विज्ञान के उस आदि पिता का अवतरण हुआ होगा, जिसने सदियों पहले दूरदर्शक यंत्र का स्वप्न देखा होगा। यह आश्चर्य का विषय है कि घर के बने यंत्रों और अपनी नंगी आँखों से परीक्षण कर उसने अद्भुत् सूक्ष्मताओं और परिणामों को प्राप्त किया। उसने कोई आधुनिक ग्रन्थ नहीं देखा था। यह इस बात का उदाहरण है कि लगन से क्या नहीं हो सकता ? इसी लगन और दृढ़ निश्चय से उसने आश्चर्यजनक सिद्धान्तों को उपलब्ध करने में सफलता पायी।'

भारतीय साहित्य में बेजोड़ 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव को उड़ीसा वासी

अपना ही मानते हैं।

भारत की समग्र सुन्दर कृतियों में उड़ीसा के योग की हमने विस्तार से चर्चा की है। भुवनेश्वर और कोणार्क के भव्य-मंदिर स्वयं ही अपने सौन्दर्य, दिव्य-प्रभाव, मानव-सामर्थ्य और सहनशीलता का परिचय देते हैं। साथ ही वे स्त्री और पुरुष के सनातन सम्बन्धों को भी उद्घाटित करते हैं। उड़ीसा को इस बात का श्रेय है कि उसने भारतीय नृत्य-कला के क्षेत्र में ओडिसी नामक एक शास्त्रीय नृत्य-शैली को जन्म दिया। उसने अपनी संगीत-शैली भी विकसित की। जगन्नाथ के मंदिर में तैयार किये जाने वाले भव्य भोग की सुस्वादुता में जो नितान्त भिन्न-स्वाद और पाचन-क्षमता है, उसे भारत के विभिन्न प्रदेशों से आने वाले यात्रियों ने स्वास्थ्य-वर्द्धक माना है। आज की वैज्ञानिक पद्धति से बनाये जाने वाले भोजन के सामने जगन्नाथ मंदिर का शाकाहरी भोजन, जिस परम्परागत पद्धति से पकाया और परोसा जाता है वह आश्चर्य योग्य है।

अतः अपने सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक, सौन्दर्यात्मक, और यहां तक कि पाक-पद्धति की दृष्टि से भी उड़ीसा अपने को वास्तविक रूप में संस्कृति-सम्पन्न प्रमाणित करता है। अपनी इन सभी विशेषताओं के आधार पर वह एकीकरण के क्षेत्र में भी दृढ़, उत्साही और अनोखा साबित हुआ है।

राष्ट्रीय-एकता के लिए उसकी प्रतिक्रियाएँ और उपलब्धियाँ भारत के प्रबुद्ध-चेता व्यक्तियों के लिए अनुकरणीय है।

अनुवाद : डॉ. श्याम परमार

धर्म एवं संस्कृति

अश्व एवं परिचारक, कोणार्क मंदिर

रथ यात्रा, पुरी

बोइत यात्रा

जगन्नाथ एवं ईसाईवाद, कुछ प्रतीक

संदर्भ :
सदाशिव रथ शर्मा का लेख

पिछला पृष्ठ :
रथ, कोणार्क मंदिर
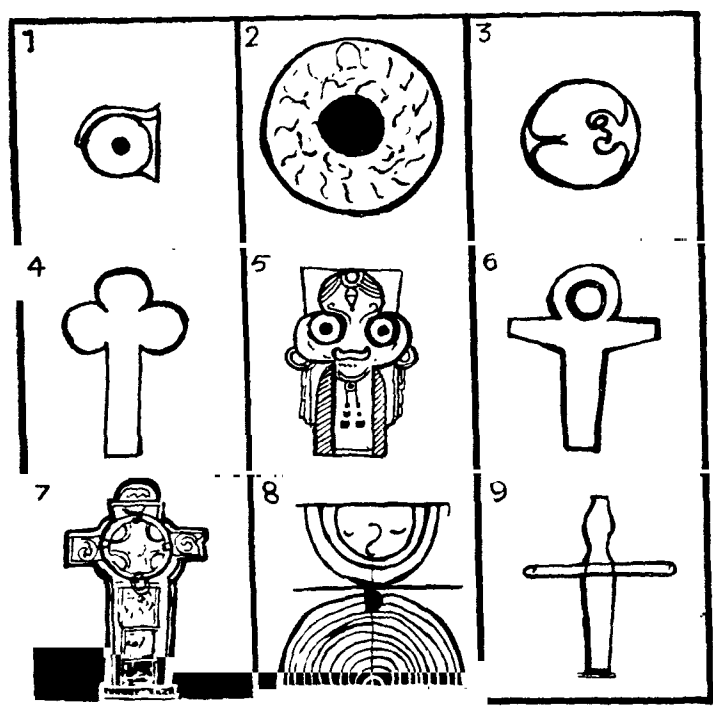
डॉ० कृष्णचन्द्र पाणिग्रही

उड़ीसा के सांस्कृतिक उपनिवेश

आरम्भिक भारतीय साहित्य और शिलालेखों में उड़ीसा का वर्णन कलिंग के नाम से किया गया है। यद्यपि कहीं भी कलिंग की निश्चित सीमा का वर्णन नहीं है, फिर भी इसे साधारणतः उत्तर में गंगा तक और दक्षिण में गोदावरी तक फैली एक तटवर्ती पट्टी के रूप में माना गया है। अनेक प्रामाणिक सूत्रों से सम्पूर्ण आधुनिक उड़ीसा का कलिंग में समाविष्ट होना सिद्ध हो चुका है। महाभारत के वनपर्व में लोमष-मुनि ने युधिष्ठिर को भारत के विविध प्रदेशों का परिचय देते हुए, स्पष्टरूप से वैतरणी नदी को कलिंगों (कलिंग देश की प्रजा) की भूमि में बहते हुए दर्शाया है। इससे निःसंदेह रूप से हम मान सकते हैं कि उत्तरी उड़ीसा, जहां वैतरणी अब भी बहती है, कलिंग-देश के अन्तर्गत आता था। पुनश्च, अशोक के चौदह शिलालेखों में से दो समूहों की स्थिति पुराने कलिंग की सीमाओं में अब भी स्थिर होने से यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान उड़ीसा का शेष भाग भी प्राचीन कलिंग देश के अन्तर्गत था। इन दो समूहों में एक भुवनेश्वर के समीप धौली में और दूसरा गंजाम जिले में जौगाड़ा में क्रमशः उड़ीसा के मध्य और दक्षिणवर्ती क्षेत्रों में अवस्थित है। धौली के शिलालेखों में अशोक ने अपने विशेष आदर्शों को, तोषालि के कुमारामात्य को संबोधित करते हुए, कलिंग की जनता और अधिकारियों के लिये उत्कीर्ण कराया है और जौगाड़ा के खंड में इन्हीं आदर्शों को, सामपा के महापात्र को

संबोधित करते हुए स्थापित किया है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि तोषालि और सामपा क्रमशः कलिंग के उत्तर और दक्षिणी मुख्यालय थे और इनमें भी तोषालि महत्त्वपूर्ण था, क्योंकि वह कुमार अमात्य (युवराज एवं शासन-प्रतिनिधि) का कार्यक्षेत्र था। स्पष्टतः तोषालि कलिंग की राजधानी और सामपा दक्षिण क्षेत्र में द्वितीय राजधानी थी। अशोक के शिलालेखों से हमें यह भी ज्ञात होता है कि उसके राज्य की चार क्षेत्रीय राजधानियों में, एक तोषालि के अतिरिक्त तीन अन्य तक्षशिला, उज्जैन और सुवर्णगिरि भी थीं। यद्यपि कलिंग देश की निश्चित सीमाएं उत्तरी और दक्षिणी क्षेत्रों में सुव्यक्त रूप से निर्धारित नहीं की जा सकतीं, तथापि इतना निर्विवाद है कि वर्तमान उड़ीसा ही कलिंग नाम से संसार में विज्ञात और विख्यात था।

अपने सामरिक-स्वभाव और समुद्रवर्ती साहस के लिये ही कलिंग की जनता का संस्कृत साहित्य में वीर (कलिंगाः साहसिकाः) कह कर वर्णन किया गया है। कलिंग की तटवर्ती तथा भारत के अन्य भागों के निवासियों ने कब समुद्री कार्यकलाप और सांस्कृतिक विस्तार प्रारम्भ किया इसका पता नहीं चलता, परन्तु ऐसा लगता है कि ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी तक, जब अशोक ने कलिंग विजय की, यह देश समुद्री-व्यापार और उपनिवेशों के द्वारा धन और शक्ति प्राप्त कर चुका था। मगध के बढ़ते हुए साम्राज्य का प्रतिरोध करने और उसे चुनौती देने वाला कलिंग अन्तिम देश था। और वह प्रतिरोध भी अशोक के उस काल में, जब कि पूरे भारत सहित अफगानिस्तान, बलोचिस्तान, कश्मीर और नेपाल भी मगध-साम्राज्य के अधीन हो चुके हों, इस बात का द्योतक है कि कलिंग देश विस्तार में छोटा था, किन्तु वह प्रचुर साधन-सम्पन्न था। अशोक के शब्दों में, कलिंग को बढ़ते हुए मगध साम्राज्य के इस दृढ़ प्रतिरोध-स्वरूप जो मूल्य चुकाना पड़ा, उसमें एक लाख व्यक्ति मारे गये, डेढ़ लाख कैदी हुए। ईसा-पूर्व २६१ में हुए इस भयंकर युद्ध के परिणाम-स्वरूप इसमें भी बहुत बड़ी संख्या में लोग भूख और रोग से मारे गये। कलिंग युद्ध के अशोक द्वारा प्रस्तुत वर्णन से जो चित्र उभरता है, उससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कलिंग एक अत्यन्त शक्तिशाली और साधन-सम्पन्न देश था और यह संपन्नता उसे अपने समुद्री व्यापार तथा समुद्री उपनिवेशों से प्राप्त हुई थी, जिसका कि आज कोई भी इतिहास हमें प्राप्त नहीं है। लगभग एक शताब्दी के भीतर ही कलिंग-युद्ध के बाद कलिंग देश कलिंगाधिपति' महामेघवाहन खारवेल के शासनकाल में मगध साम्राज्य पर दो-दो बार आक्रमण किया गया, फलस्वरूप मगध

नरेश वोहस्तिमिता को पराभूत करते हुए दूसरे आक्रमण में कलिंगाजिन की प्रतिष्ठित पीठिका पुनः कलिंग लाकर स्थापित कर दी। प्रतापी मगध साम्राज्य और छोटे से कलिंग प्रदेश के बीच लगातार चलने वाली इस शत्रुता से सिद्ध होता है कि कलिंग को समुद्र से अपनी शक्ति प्राप्त होती थी, जिसके बल पर वह मगध के विरुद्ध वह सदा जूझता ही रहा।

स्वयं बुद्ध की जीवनी से पता चलता है कि यदि पहले से नहीं तो बुद्ध के समय से अवश्य भारत और अब एशियाई देशों में व्यापार-सम्बन्ध हो चुका था। गौतमबुद्ध को बोधगया में मिलने वाले और सर्वप्रथम उनके समादेशों को ग्रहण करने वाले दो व्यापारी बर्मावासी थे—ऐसा कहा जाता है।

बुद्ध की जातक कथाओं कथा पुस्तक 'बृहत्कथा' और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भारत के समुद्री व्यापार और विदेशी उद्योगों का वर्णन है। पुराणों में, विशेषतः 'अग्नि पुराण' में, दक्षिण पूर्वी एशिया के कुछ द्वीपों के भारतीय नाम प्राप्त होते हैं। बौद्ध पुस्तक 'निद्देशा' (ईसा उपरान्त द्वितीय शताब्दी) में एक साहसी की जीवनकथा और समुद्री नाविक को होने वाली विभिन्न कठिनाइयों तथा दुःखों का वर्णन है। इसी प्रकार 'कौमुदी-महोत्सव' नामक संस्कृत नाटक में भी समुद्री नाविक के साहस को दर्शाया है। रामायण और महाभारत में बर्मा और मलाया प्रायद्वीप में उत्पन्न वस्तुओं का वर्णन है। समुद्रगुप्त के प्रयाग वाले स्तम्भ में लंका और अन्य द्वीपों का उल्लेख भी मिलता है।

अस्तु, प्राचीन काल से ही भारतवासी, जिनमें कलिंगवासी भी सम्मिलित हैं, समुद्री कार्यकलाप में लगे हुए थे। इन कार्यकलापों को प्रेरणा देने वाले अनेक कारण थे। विदेश-व्यापार का लोभ निःसदेह प्रमुख कारण था, किन्तु साथ ही साहस की भावना, उपनिवेश और राज्य स्थापित करने की लालसा तथा धर्म और संस्कृति का प्रचार भी सहकारी कारण थे। भारत के किसी क्षेत्र में अधिक जनसंख्या का भार होने पर भी ऐसे क्षेत्रों से मनुष्य विदेशों को स्थानान्तरित हो जाते थे। इस विशाल प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप, जो कि शताब्दियों तक रही, भारतीय सभ्यता और उपनिवेश लंका, बर्मा, मलाया प्रायद्वीप, स्याम, काम्बोज, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली आदि तक विस्तृत होते हुए फैलते रहे। भारतीय इतिहास के इस अंधेरे पहलू पर बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पर्याप्त विलम्ब के बाद, कुछ शोधकर्मी विद्वानों के श्रमसाध्य अनुसंधानों से स्वागतयोग्य प्रकाश पड़ा है, अन्यथा विशाल भारत का इतिहास वास्तव में अज्ञात था। उन्होंने विदेशों में प्राप्त पुरातत्त्व-अवशेषों का अध्ययन

किया है, विशेषकर ऐसे भारतीय भाषा और लिपि में उत्कीर्ण शिलालेखों और प्राचीन भवनों का, जो भारत में प्राप्त प्राचीन भवनों से रचनात्मक सादृश्य प्रकट करते हैं। उन्होंने इन देशों के नामों, भाषाओं, रूढ़ियों, रीति-रिवाजों और धर्मों का अध्ययन किया है और इनके भारतीय मूल प्रतिरूपों से सम्बद्धता खोज निकाली है। परिणामतः भारतीय इतिहास के विस्तार-क्षेत्र में वृद्धि हुई है, जब कि भारतीय-संस्कृति का अन्य एशियाई देशों को प्रदत्त अंशदान अभी तक अज्ञात था। भारत के इस विशाल रूप का निर्माण करने में भारत के समग्र तटवर्ती प्रदेशों, जैसे—गुजरात, मालाबार, तमिलनाडु, आन्ध्र, कलिंग और बंग, सभी ने क्रमशः अपना योग दिया है और ऐसे सहयोग में प्रत्येक का निजी योग अनुमान करके निर्धारित करना कठिन है। हमें प्रस्तुत लेख में शोधकर्ताओं द्वारा स्थिर और मान्य कलिंग मात्र के अंशदान पर विचार करना है।

बर्मा : कलिंग (उड़ीसा) वासी, दक्षिण प्रदेश में बड़ी संख्या में प्रविष्ट हुए और वहां स्थायी रूप से बस गये। यहां तक कि उन्होंने कुछ बर्मी प्रदेश और शहरों के नाम भी परिवर्तित कर दिये। उड़ीसा से बर्मा में निरन्तर प्रवाहित होने वाले आव्रजकों के कारण बर्मा में जो परिवर्तन हुए, उनका बड़े प्रसंगोचित ढंग से डॉ० नीहाररंजन राय अपनी पुस्तक[1] में वर्णन करते हैं :—

'थालोन में अर्थात् तैलगों के प्राचीन एवं श्रेष्ठ राम्मानादेश में भारतीय, कम से कम ब्राह्मणवादी तत्त्व, निश्चित रूप से उड़ीसा, प्राचीन ओड्र या कलिंग से आयात किये गये थे। प्रोम को दिया गया प्राचीन नाम श्रीक्षेत्र है, जिसका प्रायः मौन ऐतिहासिक प्रलेखों में सिकवेत या श्रीकसेत के नाम से वर्णन है, जिसे चीनी यात्रियों ने सी-ली-चा-ता-लो का नाम दिया है। और श्रीक्षेत्र कलिंग के तट पर पुरी का प्रसिद्ध तीर्थ-स्थान है। प्रोम को दिया गया श्रीक्षेत्र नाम भले ही अप्रामाणिक या प्रक्षिप्त हो, किन्तु इस नाम का आरोपण अपने आप में महत्त्वपूर्ण है, चाहे वह कितने समय के बाद हुआ हो। पेगू का पुराना नाम उस्सा है, जो ओड्र या उड़ीसा का एक रूप है। ऐसा विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि पेगू को उड़ीसा द्वारा उपनिवेश रूप दिया गया या कम से कम यह एक बार वह उड़ीसा से स्थानान्तरित होने वाले व्यक्तियों के आधिपत्य में न रहा हो। वास्तव में उपनिवेशवादियों के लिये ये चिर-प्रतिष्ठित नाम अपने मूल देश के अतीत स्मृतिचिह्न थे। परवर्ती अधिकारी जो इन नामों का प्रयोग करते थे,

---

१—'बर्मा में ब्राह्मणपंथी देवता' पृष्ठ—८४, ८५, ८६।

न केवल अपनी सनक की संतुष्टि करते थे, बल्कि वास्तविक तथ्य निरन्तर उन्हें मूल उद्गम की स्मृति दिलाते रहते थे। दक्षिणी बर्मा ऐसे लोगों का प्रदेश है, जो पहले से और अब भी 'तैलंग' कहलाते हैं।' मौन ऐतिहासिक प्रलेखों में ईसा-पश्चात् ११०७ ई० में प्रयुक्त यह शब्द निलंगाना या त्रिकलिंग की ही विच्युति है, जो कि सम्पूर्ण आन्ध्र-कलिंग के समग्र (एक) भू-खंड के लिए प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार मलाया प्रायद्वीप और जावा भी आरम्भिक काल में ही कलिंग के उपनिवेश के रूप में आये होंगे, क्योंकि प्रायद्वीप और इन द्वीपों के हिन्दू पहले भी और अब भी 'क्लिंग' कहे जाते हैं।'

यही विद्वान बर्मी-कला पर भारतीय-कला के विशेषतः उड़िया-कला के प्रभाव का विस्तृत विवेचन करते हुए कहते हैं:—

'पगान के बाहरी संसार से होने वाले इन्हीं संबन्धों ने बर्मा के इतिहास का प्रतिष्ठित काल उद्घाटित किया। व्यापार और वाणिज्य के इस प्रबोधन में 'भारत, पूर्वी-भारत, उड़ीसा, चोलदेश, लंका और उपनिवेशों से आव्रजकों की अजस्रधारा प्रवाहित हुई। उसके असंख्य पुरातत्त्व अवशेषों का यदि सूक्ष्म परीक्षण और विश्लेषण किया जाय तो स्पष्टतः एक ओर बंगाल और दूसरी ओर उड़ीसा का प्रभाव दृष्टिगत होता है।'

चित्र सं० २, जो भारतीय और स्थानीय तत्त्वों के कलापूर्ण सम्मिश्रण को दर्शाता है और जो बर्मा में प्राप्त प्रारम्भिक श्रेष्ठ प्रस्तर-कलाकृतियों में निर्विवाद रूप से एक है, कला के आधार पर और भी प्रारम्भ का, सम्भवतया ईसा-पश्चात् ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध का, दिखाई पड़ता है। थालोन से प्राप्त दो उदाहरण जो रंगून संग्रहालय में रखे गये हैं, निश्चयात्मक रूप से स्वरूप-संरचना और निष्पादन की दृष्टि से स्थानीय भारतीय कलाकारों या भारतीय कलाविदों द्वारा प्रशिक्षित कलाकारों द्वारा निर्मित हैं। रायबहादुर रामप्रसाद चन्दा बी० ए० द्वारा थोड़े समय पहले प्राप्त ब्राह्मणकाल और महायानकाल की (भारतीय संग्रहालय में रखी हुई) देव-मूर्त्तियों में व इन दोनों में अत्यन्त प्रगाढ़ कलापूर्ण सादृश्य है।'

'बासरिलीफ चित्र २० अपने ऊर्ध्वांकित शिल्प (नक्काशी) में उच्च प्राविधिक तथा कलापूर्ण उत्कृष्टता द्वारा उड़ीसा के पूर्व मध्यवर्ती-काल की शिल्पकला से सादृश्य प्रकट करता है।'

उपर्युक्त उक्तियों द्वारा भारतीय संस्कृति के बर्मा में विस्तार के अन्तर्गत उड़ीसा के अंशदान की कल्पना की जा सकती है। श्रीक्षेत्र प्रोम को राजधानी बना कर एक कट्टर हिन्दूराज्य बना और हिन्दू राज-परिवार ने, जो वहां स्थापित हुआ, हरिविक्रम,

सिंहविक्रम और सूर्यविक्रम जैसे नाम धारण किये, जो स्पष्टत. भारतीय हैं। इस प्रकार का वर्णन में संस्कृत और पाली दोनों शिलालेखों में मिलता है। भारतीय उपनिवेशवाद के परिणाम-स्वरूप बर्मा में ब्राह्मणपंथी हिन्दुत्व और बौद्धमत दोनों साथ-साथ विकसित हुए। बाद में बौद्धमत की महायान-शाखा ने ब्राह्मणपंथी हिन्दुत्व की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली नियन्त्रण प्राप्त कर लिया।

मलाया प्रायद्वीप, जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और बाली :

दक्षिण-पूर्व एशिया में स्थित द्वीपसमूह और मलाया प्रायद्वीप में यद्यपि बहुत पहले से ही, प्रचुर संख्या में, भारतीय आव्रजक पहुंचे थे, किन्तु ईशा-पश्चात् आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब शैलेन्द्र वंश द्वारा एक साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसमें ये सब द्वीप और मलाया प्रायद्वीप सम्मिलित था, इस संपूर्ण मलयेशिया प्रदेश को सुवर्णद्वीप का भौगोलिक नाम दे दिया गया था। बहुत से विद्वानों के विचार में शैलेन्द्र-वंश उडीसा में ईसा-पश्चात् सातवीं शताब्दी में शासन करने वाले शैलोद्भव-वंश की ही शाखा थी।

'इस काल के संबंध में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य विदेशियों द्वारा मलयेशिया के लिये प्रयुक्त नये नाम 'कलिंग' का प्रयोग है[१]।' चीनी इन द्वीप-समूहों को हो-लिंग' कहते थे, जो 'कलिंग' का प्रतिलेख है। जैसा कि डॉ॰ नीहाररंजन राय ने निर्दिष्ट किया है कि मलाया प्रायद्वीप और जावा के हिन्दुओं को पहले से, और अब भी, क्लिंग कहा जाता है, जो कलिंग का पाठभेद है। इससे प्रकट होता है कि यद्यपि भारत के विभिन्न भागों से उपनिवेशवादियों ने मलाया प्रायद्वीप और इस द्वीप-समूह में प्रवेश किया, किन्तु उन सबमें कलिंगवासी प्रमुख थे। क्योंकि उड़ीसा के शैलेन्द्र राज-वंश ने दक्षिण-पूर्व एशिया में एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया। अतः इस शासकीय वंश की जन्मभूमि के निवासियों को बड़ी संख्या में इन द्वीपों में बसने के लिए अवश्य प्रोत्साहित किया गया होगा, जिन्होंने समय के प्रवाह में बहकर धीरे-धीरे अपनी संस्कृति, धर्म और नाम तक बदल डाले।'

यद्यपि शैलेन्द्र राज्य का इतिहास अपूर्णरूप में प्राप्त होता है, किन्तु वंश के कुछ राजाओं के नाम जो शिलालेखों के द्वारा ज्ञात हुए हैं, स्पष्टतः उनके भारतीय मूल को दर्शाते हैं। शैलेन्द्र राजाओं के महाराजाधिराज विष्णु, धरणीन्दु, संग्राम धनंजय,

---

१—'दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज'—भारतीय विधा-भवन, पृष्ठ—४१४।

समराग्रवीर और बालपुत्रदेव जैसे नाम स्पष्टतः संस्कृतनिष्ठ हैं। ईसा-पश्चात् नवीं और दशवीं शताब्दी के अरब-लेखकों के वर्णन बस बात के प्रमाण हैं कि यह साम्राज्य उस काल में समृद्ध था और नौसैनिक दृष्टि से चीन तथा पश्चिमी देशों के साथ समुद्री-व्यापार पर नियंत्रण रखता था। समुद्री-व्यापार द्वारा ही साम्राज्य की प्रजा समृद्ध हुई। चीनी वार्षिक-इतिवृत्तों में इस काल के उद्धरण हैं कि साम्राज्य के चीन से व्यापार संबंध थे। शैलेन्द्र वंश ने लिपि का एक नया रूप प्रचलित किया था, जो मूलतः भारतीय था और जिसने जावा के बाराबुदुर जैसे भव्य-स्मारक-निर्माण कराये जो आज भी संसार के भव्यतम स्मारकों में एक है।

दक्षिण पूर्व एशिया को उपनिवेश बनाने की इस प्रक्रिया के फलस्वरूप एक नई सभ्यता, जो मूलतः भारतीय थी, वहां व्याप्त हुई। विशाल भारत के अन्तर्गत पनपने वाली इस नयी सभ्यता की उन्नति में कलिंग वासियों का कितना योगदान है—इसे निर्धारित करना तो कठिन है, किन्तु इतना विश्वास किया जा सकता है कि उनका योग बड़ी मात्रा में अवश्य रहा है।

समाज :

भारतीय उपनिवेशवादियों ने इन क्षेत्रों में जाति-प्रथा का प्रचार किया, किन्तु इसने वहां एकभिन्न रूप अपनाया। समाज मुख्यतः चार जातियों में विभाजित था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। किन्तु भारत में मिलने वाली असंख्य उप-जातियों की इसमें कोई रूपरेखा नहीं थी। जातिप्रथा दृढ़तर नहीं थी और चारों वर्णों में अन्तर्जातीय विवाह की व्यवस्था थी, यद्यपि यह व्यवस्था भारतीय स्मृतियों में निर्दिष्ट नियमों के अन्तर्गत ही हो सकती थी। उदाहरणतः पुरुष अपनी या अपनी से नीची जाति की कन्या से विवाह कर सकता था, किन्तु स्त्री अपनी या अपने से उच्च जाति के पुरुष से ही विवाह कर सकती थी[1]। शूद्रों का तिरस्कार नहीं होता था तथा उन्हें अस्पृश्य नहीं माना जाता था। ब्राह्मण निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ नहीं माने जाते थे, प्रायः उनकी श्रेष्ठता को क्षत्रियों से चुनौती मिलती रहती थी। स्त्रियों का समाज में आदर था, पर्याप्त स्वतंत्रता उन्हें थी, पर्दा नहीं था और पति की इच्छाओं में उनका भी पर्याप्त अधिकार होता था। यद्यपि एक-पत्नी-प्रथा ही विवाह का प्रचलित रूप थी, किन्तु बहुपत्नी प्रथा भी थी। पुरुष और स्त्री दोनों शरीर का

---

१ 'दि एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज'—पृष्ठ—४३३।

ऊपरी भाग नग्न रखते थे। बाली द्वीप में आज भी स्त्रियां शरीर के ऊपरी भाग पर वस्त्र नहीं धारण करतीं।

धर्म—भारत के हिन्दू और बौद्ध दोनों महान् धर्म इन उपनिवेशों में साथ-साथ पनपते थे। ब्राह्मण-पंथी देवता जैसे—ब्रह्मा, विष्णु और शिव की उपासना भी होती थी और देवताओं के संयुक्तरूप जैसे—त्रिमूर्ति—ब्रह्मा-विष्णु-महेश—का भी बोधक था। वास्तव में तो इन क्षेत्रों को सम्पूर्ण पौराणिक देवकुल का ज्ञान था। रामायण, महाभारत और पुराणों जैसे पवित्र धर्म-ग्रन्थों के पाठ का प्रचलन था। अन्य धर्म-ग्रन्थों, हिन्दू और बौद्धधर्म दोनों के अध्ययन का भी प्रचार था। वर्तमान समय में जावा, बोर्नियो और सुमात्रा में मुस्लिम-धर्म का प्रभुत्त्व है, किंतु बाली द्वीप में पुरानी सभ्यता और धर्म अब भी विद्यमान हैं।

कला—जावा की कला, जहाँ अब भी बड़ी संख्या में भव्य-स्मारक हैं, निश्चित रूप से भारतीय-कला से प्रभावित हुई थी। जावा के मन्दिरों में सादे वर्गाकार अंतरग प्रदेश अलिन्द, छोटी होती हुई मंजिलें और कलश, भारतीय मन्दिरों की इन प्रमुखताओं के साथ सादृश्य प्रकट करते हैं। भारतीय मदिरों के कुछ प्रिय अंगीभूत लक्षण जैसे 'मकर' या 'कीर्तिमुख' भी जावा के मन्दिरों में सज्जात्मक-कला के रूप में प्राप्त होते हैं। जावा में बाराबुदुर का उल्लेखनीय स्मारक आज भी विश्व के लिए कौतूहल और प्रशंसा का पात्र है। वह संकल्पना में मौलिक है, यद्यपि उसकी सज्जा के विषय मूलरूप में भारतीय हैं। स्मारक की ६ मीनारें हैं, जिनमें नीचे की तीन वर्गाकार और ऊपर की तीन गोलाकार हैं। इस अतिविशाल स्मारक के लगभग पन्द्रह सौ शिलाखण्डों में गौतम बुद्ध की जीवनी और जातक-कथायें प्रदर्शित हैं। ईसा-पश्चात् आठवीं शताब्दी के अंत अथवा नौवीं शताब्दी के प्रारंभ में जब शैलेन्द्र साम्राज्य की सर्वोच्च प्रभुता थी, उस समय इसका निर्माण हुआ था।

साहित्य—शिलालेखों में प्राय: साहित्य की अनेक शाखाओं, जैसे—भाषा-विज्ञान, दर्शन-शास्त्र, राजनीति विज्ञान, और महाकाव्यों के उल्लेख हैं। इन अभिलेखों के लेखकों को भारतीय साहित्य की प्रत्येक शाखा, जैसे—वेद, वेदांत, पुराण, धर्मशास्त्र, बौद्ध, जैन पवित्र ग्रन्थ, व्याकरण आदि का प्रशंसनीय ज्ञान था। इन लेखकों द्वारा प्रदर्शित पूर्ण ज्ञान से ज्ञात होता है कि वे अपनी मूल भूमि के निकट सम्पर्क में रहते थे।

हम पहले ही देख चुके हैं कि दक्षिण-पूर्वी-एशिया में इस महान् संस्कृति की उन्नति में कलिंग का कितना योगदान है। उसकी निश्चित मात्रा निर्धारित नहीं की जा सकती। स्वयं उड़ीसा में उसके समुद्री कार्यकलापों और सांस्कृतिक विस्तार का

इतिहास विस्मृत हो चुका है, यद्यपि लोकगाथाओं में समुद्र यात्राओं के अवशिष्ट प्रसंग अब भी जुड़े हुए हैं। उन व्यापारियों (Sadhvas) की अनेक कथायें जो समुद्र-यात्रा पर अपने बेड़े (बोइता) में गये और सम्पदा के साथ लौटे, अब भी प्रचलित हैं। भाद्र (अगस्त-सितम्बर के) मास में एक विशेष पर्व 'खुदुरुकनी ओसा' सम्पूर्ण उड़ीसा में मनाया जाता है। इसके अन्त में उन व्यक्तियों को, जो इस पर्व पर उपवास करते हैं, एक कथा सुनाई जाती है। कथा में एक व्यापारी का वर्णन है, जिसमें सात भाई और एक बहिन है। बहिन तपोई, जो सबसे छोटी है—की रक्षा का भार सातों भाई अपनी-अपनी पत्नियों को सौंपकर अपने बेड़े (बोइत) में समुद्र-यात्रा के लिए चलते हैं और पर्याप्त समय के बाद प्रभूत सम्पत्ति नावों में भरकर घर वापस लौटते हैं। उनकी पत्नियां तट पर शंख बजाकर और दीप जलाकर उनका स्वागत करती हैं; किन्तु भाईयों को पत्नियों के साथ बहिन नहीं दीख पड़ती। पूछताछ करने पर पता चलता है कि सबसे छोटी भावज के अतिरिक्त अन्य सभी भावजों के दुर्व्यवहार से दु:खी होकर तपोई ने असहाय अवस्था में घर छोड़ दिया। भाइयों ने तुरंत छोटी भावज को छोड़कर अन्य को दण्ड देने और बहिन को वापस लाने के पूर्ण प्रयत्न किये, किंतु अपनी इस विजय के अवसर पर ही तपोई की मृत्यु हो गई। ऐसी मान्यता है कि उसी दिन से उपर्युक्त पर्व मनाया जाता है। एक दूसरी कथा में एक राजा द्वारा लीलावती के अपहरण का वर्णन है, जबकि सुंदरी लीलावती का व्यापारी-पति समुद्र यात्रा पर गया हुआ था।

इसी प्रकार की अनेक अन्य कहानियां उड़ीसा के उन अतीत समुद्र-यात्रा के समय की शेष स्मृतियों के रूप में प्रचलित हैं। उड़ीसा मे विशेष रूप से कुछ ऐसी रीतियां भी हैं, जो समुद्र-यात्रा की स्मृतियां जान पड़ती हैं। कार्तिक-पूर्णिमा के अवसर पर प्रात:काल नदी अथवा तालाबों में स्नान करते समय प्रत्येक उड़िया स्त्री-पुरुष आज भी केले की छाल से अथवा कागज से बनी नाव में दीपक जलाकर प्रवाहित करते हैं। वर्षा-ऋतु समाप्त होने पर कार्तिक मास में, जब समुद्र-यात्रा की अनुकूल ऋतु होती है, यात्रा करने की जो प्रथा रही होगी, यह रूढ़ि उसी का सांकेतिक रूप है।

प्राचीन उड़ीसा के व्यापारी विदेशों से किन विभिन्न उपभोग्य वस्तुओं का व्यापार करते थे, आज हमें ज्ञात है। एक विशेष प्रकार की लौकी जिसे उड़ीसा में बोइतिका-खारू या बोइतालु कहते हैं, जैसाकि उसके नाम से प्रगट है, समुद्र में उत्पन्न होता था तथा विदेशों में बोइत (नाव) में ही लाया जाता था। इस शाक ने, जिसे बंगाल में 'कुंडा' और उत्तरी भारत में 'काहु' (Kadu) कहते हैं, यहां शाकों में स्थायी स्थान

प्राप्त कर लिया है और पुरी में जगन्नाथजी के मन्दिर में इसका प्रयोग किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि उड़ीसा में बहुत प्राचीन काल में इसका आयात हुआ होगा। यह एक उल्लेखनीय तथ्य है कि आधुनिक आयानित शाक, जैसे—आलू, टमाटर, गोभी आदि का व्यवहार जगन्नाथ मंदिर, पुरी में भेंट के रूप में नहीं होता।

ईसा-पश्चात् नौवीं और दशवीं शताब्दी के अरब लेखकों ने इस काल के उड़ीसा के बन्दरगाहों और समुद्री व्यापार का बड़ा स्वागतयोग्य और रोचक वर्णन किया है। 'इब्न खुर्दादबिन, इब्न रुस्ता और हुदुदअल आलम के अज्ञात लेखक ने ईसा-पश्चात् नौवीं शताब्दी के उड़ीसा के भौम-साम्राज्य का वर्णन किया है। वह लिखता है कि भौम-शासक तीन लाख सैनिकों की सेना रखता था और किसी को भी अपने से श्रेष्ठ नहीं मानता था। भौम-साम्राज्य के मुख्य खंडों के रूप में महिष्य (मिदनापुर), झारखण्ड (बिहार से लगा पहाड़ी प्रदेश), उड़ीसा (उड़ीसा मुख्य), गंजाम (दक्षिण उड़ीसा) और आन्ध्र (तेलुगु भाषी कुछ प्रदेश) और कुछ मुख्य बंदरगाह जैसे कलिंग-नगर, गंजाम केलकन, अल-लावा और तूबिन का वर्णन है, जिनमें से अंतिम तीन का कोई पता नहीं चलता। उड़ीसा के मुख्य उत्पादनों के संबंध में वर्णन करते हुए इसे ऐसे हाथियों का प्रदेश बताया गया है, जो अत्यन्त विशालकाय हैं व भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलते। यहां काली मिर्च और रोतांग बड़ी मात्रा में होती है। कामरुन के राजा के अतिरिक्त पूरे भारत मे कहीं भी शुद्ध एलुवा प्राप्त नहीं होता। इन देशों में कई वर्ष तक उपज देने वाले वृक्षों से बड़ी मात्रा में कपास उत्पन्न होती है। इस देश मे सफेद थोथा उत्पन्न होता है, जिसे शखा कहते हैं, जो तुरही की तरह बजाया जाता है[1]। आगे लिखा है कि 'तूबिन भौम-साम्राज्य के सीमावर्ती क्षेत्र में स्थित है और शारनदीब का अन्न तथा उपभोक्ता सामग्री इसी नगर से आती है।' हम पहले ही बता चुके हैं कि तूबिन बन्दरगाह का अभिनिर्धारण (पहचान) अभी तक नहीं की जा सकी है, किन्तु अरब लेखकों के विवरणों से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि यह सारनदीब से होने वाले समुद्री-व्यापार का मुख्य बंदरगाह था। सारनदीब ही नि:संदेह रूप से सुवर्णद्वीप का अंश नाम है जिसे भारतीयों ने मलाया प्रायद्वीप और जावा, सुमात्रा, बोर्नियो, बाली के लिये प्रयुक्त किया था। इस प्रकार अरब लेखकों से हमें यह बहुमूल्य सूचना प्राप्त होती है कि ईसा-पश्चात् नौवीं और दशवीं शताब्दी में उड़ीसा का दक्षिण-एशिया के साथ समुद्री व्यापार होता था।

---

१ के० सी० पाणिग्रही—क्रोनोलोजी ऑफ द भौमकाराज एण्ड सोमवंशीज ऑफ उड़ीसा, मद्रास १९६१—पृष्ठ—६४-७२।

उड़ीसा के मध्यकालीन मन्दिरों में समुद्रवर्ती कार्यकलाप को दर्शाने वाले अनेक शिल्पखंड हैं। इसी प्रकार का एक शिल्पखंड कलकत्ता विश्वविद्यालय के आशुतोष संग्रहालय में सुरक्षित है। ऐसे ही दूसरे शिलाखंड मे, जिसकी खोज लेखकों ने की है और जो उड़ीसा के राजकीय संग्रहालय, भुवनेश्वर में प्रदर्शित है, नावों की एक पंक्ति, जिसमें सुदूर देश के लिए हाथी ले जाये जा रहे हैं, दिखायी गयी है। इस तटीय पट्टिका का एक भाग ही सुरक्षित रखा गया है। समुद्र की लहरों को टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं में दर्शाया गया है, जिसमें मछलियाँ, केंकडे और मगरमच्छ दिखाये गये हैं[1]।

कुछ ऐसे विदेशों से भी, जहां समुद्री व्यापार संभव नहीं था, उड़ीसा का सांस्कृतिक संबंध था। ईसा-पश्चात् तीसरी शताब्दी के बौद्ध ग्रन्थ 'दथ वंश' (Dath-Vansa) से पता चलता है कि उज्जैन के युवराज दंतकुमार ने कलिंग के राजा गुहाशिव की कन्या से विवाह किया और दहेज के रूप में गौतमबुद्ध का पवित्र दांत, जो गुहाशिव के पूर्वज ब्रह्मदत्त के समय से ही कलिंग में—एक स्तूप में पूजा जाता था—प्राप्त किया। दंतकुमार फिर इस दांत को लंका ले गया, वहां इसे एक स्तूप में प्रतिष्ठित किया गया। ईसा-पश्चात् ७९५ ई० में चीनी सम्राट ते-त्सेंग को एक बौद्धग्रन्थ 'गन्ध-व्यूह' की हस्तलिखित पाण्डुलिपि प्राप्त हुई, जो अवतांशक (Avatamsaka) का एक भाग है। यह प्रति उड़ीसा के राजा से प्राप्त हुई, जो सर्वोच्च सत्ता में दृढ़ विश्वास रखता था और जिसके नाम का शाब्दिक अर्थ है—सिंह, पवित्र कार्य करने वाला। उड़ीसा के इस राजा को ही प्रायः भौम-शासक शिवकार उन्मत्त सिंह माना गया है। यही उड़ीसा में भौम-साम्राज्य का निर्माता था। राजा इन्द्रभूति और बौद्ध संत पद्मप्रभा भी उड़ीसावासी थे। उन्ही के प्रयत्नों से वज्रयान का प्रचार तिब्बत तक हुआ। इस प्रकार छोटे से उड़ीसा या कलिंग साम्राज्य ने भारतीय-संस्कृति के व्यापक प्रचार-प्रसार और उपनिवेशों को विदेशों में प्रतिष्ठित करने के कार्य में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया।

अनुवाद : विश्वप्रसाद दीक्षित 'बटुक'

१—जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी, लैटर्स, खंड—१७, सं० २, १९५१, पृ० ११४, प्लेट १।

डॉ. नवीनकुमार साहू

अशोक का कलिंग-युद्ध

मौर्यवंश की स्थापना ३२२ ई० पू० अशोक के दादा चन्द्रगुप्त मौर्य ने हिंसात्मक युद्धों द्वारा की थी। उसने पहले-पहल पंजाब में यूनानियों का तख्ता पलटा और फिर उत्तर में अपने वंश की सत्ता स्थापित करने के उद्देश्य से मगध के अंतिम राजा नंद को हराया। चन्द्रगुप्त केवल मगध और पंजाब के आधिपत्य से ही संतुष्ट नहीं रह सका। यूनानी इतिहासकारों से पता चलता है वह निरन्तर युद्ध में व्यस्त रहा और धीरे-धीरे उसने समस्त भारतवर्ष को अपने अधिकार में ले लिया। वास्तव में उसका राज्य उत्तर-पश्चिम में हिन्दूकुश से दक्षिण में तिनेवेली जिले की पोंडिल पहाड़ियों तक फैला हुआ था। इतनी बड़ी सैन्य-उपलब्धि के बाद भी वह कलिंग पर विजय प्राप्त नहीं कर सका—कलिंग उसके राज्य के बाहर ही रहा।

सम्पूर्ण कलिंग (Cangridae-Calinge-Macco Calingae and Calingae) मगध के प्रथम राजा, महापद्मनंद, के अधीन था। मगर नंद-वंश के अंतिम राजा के अधिकार में केवल गंगरीदाये कलिंग ही बच रहा था। चन्द्रगुप्त मौर्य और अंतिम राजा नंद के बीच होने वाले युद्धों का फायदा उठाकर गंगरीदाये का भाग मगध से अलग हो गया। इसलिए जब चन्द्रगुप्त मौर्य सिंहासन पर बैठा तो सम्पूर्ण कलिंग प्रदेश अखंडित और स्वतंत्र था।

कलिंग से युद्ध करने का साहस न तो चन्द्रगुप्त मौर्य और न ही उसका पुत्र एवं

उत्तराधिकारी बिन्दुसार ही कर सका। मगर बिन्दुसार के पुत्र अशोक को अपने राज्याभिषेक के आठ बर्ष बाद ई० पू० २६१ में युद्ध करना पड़ा। कलिंग-युद्ध का मुख्य कारण छठी शताब्दी ई० पू०—बिन्दुसार के काल—से मगध राजाओं के निरन्तर आक्रमण करते रहने की नीति रहा है। हिन्दुकुश से उत्तर मैसूर तक व्याप्त राज्य, पूर्वी समुद्र-तट पर एक राज्य को स्वतन्त्र इकाई के रूप में कोई कैसे रहने देता? किसी तरह उसे अपने में मिलाना जरूरी था। दूसरी ओर कलिंग शीत-युद्ध का सामना कर रहा था। यह शीत-युद्ध ई० पू० ३२२ से ई० पू० २६१—साठ साल तक चलता रहा। इस बीच कलिंग ने अपनी रक्षा की पूरी तैयारी कर ली, क्योंकि मगध की ओर से उसे किसी भी समय आमक्रण किये जाने की सम्भावना थी। उसकी विशाल हाथी सेना, जिसकी ग्रीक लेखकों ने बहुत प्रशंसा की है और कौटिल्य ने भी सराहना की है, दुश्मनों का मुकाबला करने में पूर्ण समर्थ थी। उसने अपनी दूसरी रक्षा-पंक्ति के रूप में जल-सेना का निर्माण किया। उसकी नौकाओं की गतिविधि दक्षिण-पूर्व में प्रशांत महासागरीय द्वीपों तक व्याप्त थी। दूसरी ओर मगध के पास जल-सेना नहीं के बराबर थी। यद्यपि मगध एक बड़ी शक्ति के रूप में माना जाता था, मगर कलिंग की जल-सेना से मौर्यों को सदैव भय बना रहा। वह कभी भी मगध को संकट में डाल सकती थी। अशोक के साम्राज्य में जो अर्थ-संकट कलिंग के मल्लाहों से पैदा हुआ था, उसका जिक्र लामा तारानाथ ने किया है। उसने कहा है कि समुद्री डाकू मौर्य-साम्राज्य का धन लूट लिया करते थे। इसीलिये मौर्य को—अशोक को—चढ़ाई करने के लिए—उन्हें दंड देने के लिए—मजबूर होना पड़ा। इसीलिए राजकीय कारणों के अलावा कलिंग पर आक्रमण करने के लिए कुछ आर्थिक कारण भी थे, जिनके कारण अशोक को युद्ध करना अनिवार्य हो गया था।

परम्परा आगे बताती है कि कलिंग-युद्ध का तात्कालिक कारण सुन्दरी कारुवती से अशोक की विवाह करने की उत्कट अभिलाषा थी। कारुवती की सगाई कलिंग के राजकुमार से हो चुकी थी। वास्तव में कारुवती, जो कि तिवरा की माता थी, अशोक की दूसरी रानी थी। यह भी असम्भव नहीं है कि इसी कारुवती का यौवन और सौन्दर्य मगध और कलिंग को युद्ध में खींच ले-आने का कारण बना हो।

कलिंग-युद्ध ई० पू० २६१ में हुआ और अशोक ने स्वयं कलिंग के विरुद्ध सेना का नेतृत्त्व किया। कलिंग तीन दिशाओं से मगध राज्य से घिरा हुआ था—उत्तर, पश्चिम और दक्षिण की ओर से। वस्तुतः इन तीनों दिशाओं से कलिंग पर आक्रमण की संभावना थी, जिसके लिए वह पहले से ही तैयार भी था। उसने अपनी रक्षा बहुत

साहन ने की। युद्ध की भयंकरता का, कुछ अंशों में वर्णन अशोक के शिलालेख न० १३ में मिलता है। इस शिलालेख में कलिंग में आहत हुए लोगों का वर्णन भी है। इसी माध्यम से पता चलता है कि कलिंग के लाखों सैनिक मौत के घाट उतारे गये और डेढ़ लाख व्यक्ति उस भूमि से निर्वासित हो गये। इतने ही लोग युद्ध के परिणाम स्वरूप मारे गये। भयंकर हत्याकाण्ड और रक्तपात केवल सैनिकों का नहीं हुआ, बल्कि असंख्य शान्तिप्रिय नागरिकों का भी इनमें विनाश हुआ। इस घटना का गहरा प्रभाव अशोक के मन पर पड़ा। उसने तीव्र वेदना का अनुभव किया कि इस युद्ध में मानव-रक्तपात, यातनाएं और दुःखों का मूल कारण वह स्वयं है। उसके मन में गंभीर प्रतिक्रिया हुई और उसका हृदय-परिवर्तित हो गया। वह गौतम बुद्ध के 'धम्म' से प्रभावित हुआ था। शायद वह व्यक्ति मोग्गली-पुत्र तिस्सा ही था, जिसने अशोक को बुद्ध-धर्म में प्रविष्ट होने के लिए प्रवृत्त किया था।

कलिंग-युद्ध की तात्कालिक राजनैतिक प्रतिक्रिया यह हुई कि कलिंग ने अशोक के राज्य से असहयोग किया। कलिंग की तबाही पर आंसू बहाने पर भी अशोक कलिंग की स्वतन्त्रता नहीं लौटा सका। इससे साफ़ जाहिर है कि युद्ध उसकी आक्रमण की इच्छा से ही हुआ था। राजपरिवारों को भयंकर तरीके से नष्ट करना तथा उनके राज्यों को निर्दयतापूर्वक विभक्त कर अपने में मिलाना मगध के पूर्व शासकों के सिद्धांत थे। अशोक इस दृष्टि से अलग साबित हुआ। उसने अपने एक शिलालेख में इस प्रकार की विजय को 'सायक-विजय' या 'सारसक-विजय' कहा है, जिसका मतलब है—तीर और कमान से प्राप्त विजय। ब्राह्मण-शब्दावली में यही विजय 'असुर-विजय' कहलाती है—जिसका अर्थ है—राक्षसों की विजय।

मौर्य-साम्राज्य में कलिंग का केवल समुद्र-तटवर्ती-भाग मिलाया जा सका, मगर पश्चिम की ओर का पहाड़ी-क्षेत्र, जो कि आटविकों के अधिकार में था, स्वतन्त्र ही बना रहा। इस क्षेत्र में आटविकों ने कलिंग के अनेक राजनीतिज्ञों और योद्धाओं को आश्रय दिया था; अतः अशोक ने इस बात का प्रयत्न किया कि आटविकों से किसी प्रकार की लड़ाई मोल न ली जाय। कलिंग का विशेष शिलालेख नं० २, जिसमें कि महामात्त और सोमापा के राजवंचकों को सम्बोधित किया गया है, वस्तुतः आट-विकों को शान्त रखने के तात्पर्य के लिए ही है। उस शिलालेख में अशोक बहुत ईमानदारी से भोले-भाले लोगों को आश्वासन देता है कि उन्हें अब उससे किसी प्रकार भी भय नहीं होना चाहिए, क्योंकि अब उसे किसी भी राज्य को जीतने की इच्छा नहीं है, राज्य जीतने के बजाय वह लोगों के दिल जीतना चाहता है। वह

उन्हें इस लोक और परलोक दोनों में सुखी देखना चाहता है। आटविकों के प्रति जो नीति अशोक ने अपनायी थी, वही नीति आगे चलकर उसके 'धर्म-विजय' का आधार बनायी गई। वही नीति उसके आगामी-जीवन की मुख्य-नीति के रूप में काम आयी। उसी के कारण इतिहास में अशोक को महान् समझा गया।

ब्राह्मण-विचारधारा में 'धम्म विजय' और 'धर्म-विजय' का भिन्न अर्थ है। कवि कालिदास का रघु राजा महेन्द्र को पराजित कर जब विजयी होता है, तो उसकी विजय को कवि ने 'धर्म-विजय' माना है। ब्राह्मण-शासकों के लिए 'धर्म-विजय' का अर्थ युद्ध है, न कि पराजित राजा का राज्य हड़पना। परन्तु अशोक की 'धर्म-विजय' का बिलकुल ही दूसरा अर्थ है। उसकी दृष्टि में 'धर्म-विजय' युद्ध से नहीं, हृदय जीतने से होती है। वह केवल अपने ही राज्य के लोगों का हृदय जीतने से पूरी नहीं होती, बल्कि उसमें धर्म और दर्शन द्वारा अन्य देशों के लोगों का हृदय जीतना भी निहित है। अशोक अपनी इस नीति के प्रति बहुत उत्साही था। उसने बुद्ध-धर्म के सिद्धान्तों को, जिन्हें वह स्वयं मानता था, मानवीय एवं आचारपरक आधार देकर लोगों के विश्वास जीतने का प्रयत्न जारी रखा।

यदि हम कलिंग-युद्ध के पूर्व बुद्ध-धर्म की स्थिति की, युद्ध के बाद हुए उसके प्रभाव की दृष्टि से तुलना करें, तो कलिंग-युद्ध निस्संदेह धर्म-युद्ध के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। कलिंग-युद्ध के पूर्व बुद्ध-धर्म मामूली और अस्पष्ट-धर्म की स्थिति में था। गंगा की मध्यवर्ती उपत्यकाओं में उसे प्रभावशून्य स्थिति में फँसा हुआ हम पाते हैं। आश्चर्य नहीं कि यदि कलिंग-युद्ध न हुआ होता, अशोक का हृदय परिवर्तन न हुआ होता, तो परिस्थितियों में अपने अस्तित्व के लिए लड़ता हुआ यह धर्म अनेक अन्य सम्प्रदायों की तरह कालकवलित भी हो गया होता। वास्तविकता यह थी कि अशोक जैसे महान् राजा ने कलिंग जैसे महायुद्ध के बाद बुद्ध-धर्म ग्रहण किया, जिसकी वजह से उसका प्रचार सुलभ हुआ तथा युवा और वृद्ध सभी तरह के लोगों में उसे ग्रहण करने की होड़-सी लग गयी। परिणाम-स्वरूप सम्पूर्ण भारत—काश्मीर से कन्याकुमारी तक—कलिंग-युद्ध के बाद एक दशक के भीतर बुद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया। इस धर्म ने भारत की भौगोलिक सीमाएं भी पार कीं। दक्षिण में श्रीलंका, पूर्व में बर्मा और पश्चिम में यूनानियों की धरती तक इसका प्रवेश हुआ। यही उस समय की जानी हुई दुनिया थी। श्रीलंका का राजा देवानांप्रिय तिस्सा कहता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने कमाल कर दिया कि 'सम्पूर्ण जम्बूद्वीप पीत-वस्त्रों से चमकता है।'

बुद्ध-धर्म को उसकी अस्पष्टता से निकाल कर उदय और प्रसार द्वारा विश्व-धर्म की प्रतिष्ठा तक लाने का श्रेय वास्तव में मानव-इतिहास की इसी एक घटना को है। परन्तु बुद्ध-धर्म के इस असाधारण उत्थान ने रूढ़ ब्राह्मणवाद के क्षेत्र में बहुत बड़ी प्रतिक्रिया पैदा की। ब्राह्मणवाद उस समय का शक्तिशाली और दृढ़ धर्म था। ब्राह्मणवाद के धर्मप्रचारक बुद्ध-धर्म के यकायक उदय से अचम्भे में पड़ गये। वे अपने धर्म की प्रतिष्ठा बनाये रखने के लिए कटिबद्ध थे। बुद्ध-धर्म के सक्रिय प्रभाव के समक्ष अप्रतिष्ठित होना उन्हें मान्य न था। बुद्ध-धर्म के प्रभाव का सामना करने के लिए उनके लिए यह आवश्यक हो गया कि वे ब्राह्मण धर्म में सुधार करें तथा नये परिवर्तनों के अनुकूल अपने धर्म को बना सकें। कलिंग-युद्ध के बाद इसीलिए हम ब्राह्मण-धर्म में अनेक परिवर्तन देखते हैं। इन्द्र और ब्रह्मा तथा वरुण और मरुत जैसे वैदिक देवताओं एवं उषा और सावित्री जैसी देवियों का महत्त्व तब कम हो गया था। उनके बजाय वासुदेव, शिव, स्कंध, अंबिका और उमा जैसे देवी-देवताओं की प्रतिष्ठा बढ़ी थी। वस्तुत: कलिंग-युद्ध के परिणाम स्वरूप वैदिक ब्राह्मणवाद के स्थान पर पौराणिक हिन्दूधर्म की पुन: स्थापना हुई।

तब बुद्ध-धर्म में हुए परिवर्तन भी महत्त्वपूर्ण हैं। उसे भी नयी चुनौतियों का सामना करने के लिए तथा तत्कालीन समाज में अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए कुछ सुधार करने पड़े। इसका परिणाम यह हुआ कि शुद्धोधन के पुत्र बुद्ध के स्थान पर उस बुद्ध की स्थापना हुई, जो भगवान के रूप में दयालु है, भक्तों की सुनता है और विश्व का नियंता है। प्रज्ञापारमिता साहित्य ने इस नये दर्शन, नयी विचार-धारा को बल दिया तथा उसने साधारण आदमी को यह समझने में मदद की कि चर्या और साधन से वह भी बुद्धत्व प्राप्त कर सकता है। इस धारणा का परिणाम यह हुआ कि बुद्ध-धर्म में कुछ समय के बाद महायान शाखा का उदय हुआ। महायान शाखा धार्मिक, दार्शनिक और कलात्मक प्रभावों की द्योतक शाखा है।

इस प्रकार विभिन्न विचार-धाराओं के बीच क्रिया-प्रतिक्रियाओं, आदान-प्रदानों ने वह दृष्टि पैदा की, जिसने नयी भारतीय सभ्यता और संस्कृति को जन्म दिया। अशोक के कलिंग-युद्ध की यह बड़ी उपलब्धि है।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

परमानन्द आचार्य

ओड़िशा का पुरातत्त्व

ओड़िशा का क्षेत्रफल ६०००० वर्गमील से अधिक है। इसमें तेरह जिले हैं। इसकी भौगोलिक स्थिति बहुत ही विचित्र है। सारा देश वनों, पर्वतों से पूर्ण है। यह बंगोपसागर के पश्चिमी तट पर स्थित है, इसलिए इसकी उपकूल-भूमि का पूर्वांश गंजाम, पुरी, कटक और बालेश्वर जिलों में बँट गया है। इसके पश्चिमी पार्वत्य अंचल से निकली हुई ऋषिकुल्या, महानदी, ब्राह्मणी, वैतरणी, सालंदी, बुढाबलंग और सुवर्णरेखा आदि नदियाँ अपनी शाखा-प्रशाखाओं सहित बंगोपसागर में मिल गई हैं। इनमें ऋषिकुल्या, वैतरणी, सालंदी, बुढाबलंग और सुवर्णरेखा आदि नदियों की शाखा-नदियाँ न होने से, इन सबके मुहानों में त्रिकोण-भूमि नहीं बनी है। सिर्फ महानदी और ऋषिकुल्या की शाखा-प्रशाखाओं द्वारा पुरी और कटक जिले की त्रिकोण-भूमि निर्मित हुई है।

नदियाँ और पर्वत सदा से मानव-सभ्यता पर सबसे ज्यादा प्रभाव डालते आये हैं। ओड़िशा के लिए भी यही बात है। यह राज्य भारत के पूर्व में है, इसलिए इसके निकटवर्ती अंचल की मानव-सभ्यता नदी-मार्ग से यहाँ आई थी। यह कब और किस युग में आई थी, इसका पता नहीं है, इसलिए इसका पुरातत्त्व दो प्रधान भागों में बँट गया है। पहला है प्रागैतिहासिक, और दूसरा ऐतिहासिक। प्रागैतिहासिक युग में लिपि-व्यवहार का पता नहीं चलता है, लेकिन ऐतिहासिक-युग का आरंभ लिपियों

के व्यवहार पर ही स्थापित है। ओड़िशा में आविष्कृत सबसे प्राचीन लिपियाँ अशोक के धउली और जउगड शिलालेखों में हैं। इसका समय ई० पू० तीसरी शताब्दी है। इसके पूर्व की लिपियुक्त मानव-सभ्यता का पता आज तक नहीं चला है, इसलिए यह नहीं मानना चाहिये कि इस देश में इसके पहले की सभ्यता का निदर्शन-मूलक पुरातत्त्व ही नहीं था। आशा है, निकट भविष्य में प्राग्मौर्य-युग की सभ्यता के निदर्शन ओड़िशा में मिल जायेंगे।

प्रस्तर-युग :

पुरातत्त्व और भूतत्त्वविदों का मत है कि प्रस्तर-युगीन मानव नदी-गर्भ में प्राप्त सबसे प्राचीन अस्त्र तैयार करने में समर्थ हुआ था। इन प्रस्तर-अस्त्रों द्वारा हमें तत्कालीन मानव के हस्तशिल्प की कुशलता का तो पता चलता ही है, साथ ही; उसके मस्तिष्क की चिंताधारा भी व्यक्त होती है। आज पृथ्वी में जिस मानव ने सभी प्रकार के जीव-जन्तुओं पर अपना अधिकार जमा लिया है, उसकी प्रथम अभिव्यक्ति हस्तकार्य और मस्तिष्क के संचालन द्वारा ही हुई थी। मनुष्य ने पशु-पक्षियों से कई प्रकार के काम अनुकरण द्वारा सीखे है और यह इसके दीर्घ समय के परीक्षा-मूलक पर्यवेक्षण का ही परिणाम है। विशेषज्ञ पंडितों ने प्रथम प्रस्तर-युग की कार्यावलियों को आदि-प्रस्तर या प्रत्न-प्रस्तर युग नाम दिया है। इस समय के सभी अस्त्र काटने या छेदने के लिए तैयार हुए थे। इसके बाद मनुष्य के विकास और जीविका-निर्वाह के लिए नये-नये हथियार तैयार करने की प्रवृत्ति बढ़ी। अत: प्रत्न-प्रस्तर-युग के अस्त्रादि की अपेक्षा नव्य-प्रस्तर के अस्त्रादि अधिक परिमार्जित हुए। इस समय लोग आग का व्यवहार सीख चुके थे। जीव-जतुओं के मांस को आग में भूनकर खाना तथा फल, मूल और अनाजों का खाद्य रूप में व्यवहार करना भी उन्हें मालूम था। इसके अतिरिक्त मिट्टी के बर्तन और रसोई बनाने का उनको विशेष ज्ञान था। इस युग के लोगों के कार्य के विषय में हम ऐसी ही थोड़ी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

ओड़िशा के मयूरभंज, ढेंकानाल और सम्बलपुर जिलों से काफी प्राचीन या प्रत्न-प्रस्तर-युग के अस्त्र आविष्कृत हुए हैं। प्रत्न-प्रस्तर युग के बाद नव्य युग के अनेक चिह्न ओड़िशा के मयूरभंज, केउंझर, ढेंकानाल, पुरी और सुंदरगढ़ जिलों से काफी संख्या में मिले हैं और मिल भी रहे हैं। गंजाम, कोरापुट, कालाहाँडी, बलांगीर, कटक, बालेश्वर, संबलपुर आदि जिलों से भी पत्थर–अस्त्रों के अवशेष न मिलने

पर भी, आशा है कि यत्नपूर्वक खोज करने पर अवश्य मिलेंगे।

पुराणों के अध्ययन से पता चलता है कि मयूरभंज, ढेंकानाल, संबलपुर और इसके आस-पास के स्थानों में प्राचीन आर्य-सभ्यता प्रसारित हुई थी। वैवस्वत मनु के पुत्र बुध के औरस और इला के गर्भ से चन्द्रवंशी राजा के आदिपुरुष जन्मे थे। उसी इला ने शिव के वरदान से पुरुष होकर सुद्युम्न नाम धारण किया था। सुद्युम्न के उत्कल, जय और विशल नाम के तीन लड़के पैदा हुए। इसी उत्कल के नाम पर उसके राज्य का नाम उत्कल पड़ा। अत: उत्कल आर्यों का एक प्राचीन वास-स्थान था। अधिक संभव है कि आधुनिक मयूरभंज, संबलपुर, ढेंकानाल आदि जिले उस प्राचीन उत्कल के अन्तर्गत रहे हों।

ताम्र-युग :

नव्य प्रस्तर-युग के अन्तिम चरण में लोगों ने कुल्हाड़ी जैसे हथियार के सिवा बर्छी जैसे स्कंध-युक्त हथियार का बनाना सीख लिया था। कुल्हाड़ी से काटने और बर्छी से छीलने का काम होता है। इसलिए इस प्रकार के अस्त्र मानव-प्रगति के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उस समय के लोग धातुनिर्मित अस्त्रों का व्यवहार भी सीख गये थे। पृथ्वी में चारों ओर उस समय ताम्रनिर्मित अस्त्र का प्रयोग होता था। अत: इस काल को ताम्र-युग नाम दिया गया है। छोटा नागपुर और मयूरभंज जिले से इस प्रकार के ताम्र-निर्मित अस्त्र आविष्कृत हुए हैं। ये सभी पत्थर और धातु से बने हुए अस्त्र, समुद्र-तटीय अंचलों से प्राप्त न होकर, पार्वत्यांचलों में मिले हैं। प्रस्तर-शस्त्रों और ताम्रास्त्रों के निदर्शन द्वारा यह मान लिया गया है कि अत्यन्त प्राचीन-काल से ही ओड़िशा आदि-मानव का वासस्थान था। सुंदरगढ़ इलाके के एक प्राकृतिक गह्वर से इस युग के लोगों के द्वारा निर्मित गेरूमाटी का चित्र भी आविष्कृत हुआ है। ऐसा मालूम पड़ता है कि सुंदरगढ़ इलाके के चित्र, मध्य प्रदेश के अन्तर्गत रायगढ़ के चित्र और बिहार के अन्तर्गत चक्रधरपुर (सिंहभूमि जिला) के चित्र समसामयिक हैं।

ताम्र-युग के अवसान के बाद सिंधु-उपत्यका तथा वैदिक-युग में ओड़िशा की क्या दशा थी, इसका ठीक पता नहीं चलता। वैदिक-युग में आर्य-सभ्यता के प्रसार से भारत में एक अद्भुत् परिवर्तन उपस्थित हुआ। उस समय के लोग लोहास्त्र व्यवहार करते थे। उत्तर भारत में इसके व्यवहार का ठीक प्रमाण नहीं मिलता है, लेकिन वैदिक साहित्य में अयस् शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ धातु है।

अर्थात् लोहा, ताँबा आदि सभी धातुओं का नाम अयस् है। विशेषज्ञों और गवेषकों की राय है कि ऋग्वेद के अयस् शब्द का अर्थ ताँबा है। किन्तु यजुर्वेद और अथर्ववेद के श्याम-अयस् शब्द का अर्थ लोहा ही है। फिर भी अयस् शब्द का अर्थ केवल धातु है। प्राचीन ओड़िशा के सुवर्ण-रेखा और ब्राह्मणी के मध्यवर्ती अंचल में ताँबे और लोहे की कई खानें थीं। अतः यह स्थान आर्यों का वासस्थान था। आर्य-सभ्यता की किंवदन्तियाँ पुराणों में कहानी के रूप में आई हैं। इन गल्पों के अनुसार पूर्व भारत में जो राज्य गठित हुए थे, उनमें से कलिंग, उड्र और उत्कल नाम के तीन राज्य आज भी ओड़िशा के अन्तर्भुक्त हैं। आर्य-सभ्यता के प्रसार के निदर्शन के रूप में इन तीन जातिवाचक और भौगोलिक शब्दों के सिवा दूसरे कोई भी निदर्शन ओड़िशा में आज तक नहीं मिले हैं।

भारत के दो विख्यात धर्मस्थापक बुद्ध और महावीर के जन्म और मृत्यु के बारे में कोई निश्चित और लिखित प्रमाण नहीं है। फिर भी विश्वास योग्य किंवदंतियों पर निर्भर होकर मान लिया गया है कि गौतम-बुद्ध का जन्म ई० पू० ५६३ और निर्वाण ई० पू० ४८३ में हुआ है। इसी प्रकार यह भी मान लिया गया है कि महावीर का जन्म ई० पू० ५४० और देहान्त ई० पू० ४६७ में हुआ है। जैन-धर्म के आदि-संस्थापक तीर्थंकर प्रथम पार्श्वनाथ महावीर के आविर्भाव के २५० वर्ष पूर्व जीवित थे।

किंवदंतिमूलक बौद्ध ग्रंथादि से मालूम होता है कि बुद्ध का एक दाँत कलिंग की राजधानी में आया था, इसलिए राजधानी का नाम दंतपुर पड़ गया था। आज तक इस दंतपुर की भौगोलिक अवस्थिति के निर्णीत न होने से इस किंवदंती के समर्थन का कोई प्रबल और तात्त्विक आधार नहीं है।

ऐतिहासिक-युग का पुरातत्त्व :

मुद्रा—भारत के प्रत्येक स्थान से प्राप्त प्राचीन रौप्य-मुद्राओं के प्रकृत नाम अज्ञात है, फिर भी; आज तक की मिली हुई अनेक चिह्नों से युक्त वर्तुलाकार, वर्गाकार या आयताकार रौप्य-मुद्राओं को मुद्रातत्त्व के पंडितों ने चिह्न-युक्त (punch marked) मुद्रा नाम दिया है। यह आज तक निर्णीत नहीं हो सका है कि भारत की प्राचीन मुद्राओं—निष्क या कार्षापण — से उनका क्या संबंध है। इनके बाद हमें ओड़िशा से केवल कुशाण-सम्राटों की ताम्रमुद्राएँ मिलती हैं। इनके द्वारा प्रचलित की गई स्वर्णमुद्राएँ यहाँ नहीं मिली हैं। हाँ, यहाँ के कई स्थानों से गुप्त-

सम्राटों की मुद्राएँ अवश्य मिली हैं, किन्तु वे सब कुमार-गुप्त की ही हैं। थोड़े दिन हुए, बालेश्वर के अन्तर्गत सोरो के आसपास गंडिबेढ में 'शीनल' लिपि से युक्त अनेक मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। ये सभी ओड़िशा की प्राचीनतम मुद्राएँ कही जा सकती हैं। पुरातत्त्वविदों का कहना है कि ओड़िशा के मयूरभंज, बालेश्वर, कटक, पुरी आदि समुद्रतटीय जिलों से पुरी कुशाण नामक ताम्रमुद्राएँ काफी संख्या में प्राप्त हुई हैं। ये सभी मुद्राएँ कुशाण-मुद्रा के अनुकरण पर निर्मित हुई हैं, इसलिए इनका वैसा ही नाम पड़ा। पहले की मुद्राओं में कोई भी लिपि नहीं थी, किन्तु बाद की मुद्राओं में एक ओर 'टंका' और दूसरी ओर रथ के सदृश तीन चिह्न दिखाई पड़ते हैं। ये मुद्राएँ किस राजा की हैं, यह ठीक-ठीक नहीं मालूम पड़ता। प्रत्नतत्त्व-विशारद बेगलर (T. D. M. Beglar) ने लिखा है कि इन सभी भारतीय मुद्राओं के अतिरिक्त मयूरभंज के बामनघाटी सबडिविजन के अन्तर्गत रायरंगपुर से कई स्वर्णनिर्मित रोमन मुद्राएँ प्राप्त हुई हैं। उनमें रोम-सम्राट् कांस्टेन्टाइन और गोर्डियन सम्राटों के चित्र अंकित हैं। रोम के गोर्डियन सम्राटों ने सन् २३५ से २४४ तक और दो कांस्टेन्टाइन सम्राटों ने क्रमशः सन् ३२३ से ३५३ और सन् ३५३ से ३६१ तक राज्य किया था। उनकी मुद्राएँ रोम से मयूरभंज कैसे आईं? ऐतिहासिकों को ऐसे प्रमाण मिले हैं, जिनसे यह सिद्ध हो जाता है कि उस समय रोम और भारत के बीच वाणिज्य का संबंध बड़ा घनिष्ठ था। उस समय ओड़िशा के उपकूल में ताम्रलिप्ति आदि कई बन्दरगाह थे। इन बन्दरगाहों के व्यापारी इन रोमन मुद्राओं को अपने व्यापारिक केन्द्र में ले गये थे और इस प्रकार ये मुद्राएँ पर्वतमालाओं से घिरे हुए रायरंगपुर तक लाई गई थीं। वहाँ इन्हें किसी नेजमीन में गाड़ दिया था। ओड़िशा से ६ठी शताब्दी से १२वीं शताब्दी तक कोई भी स्वदेशी या विदेशी मुद्राएँ नहीं मिलीं, जब कि हुएनसांग ने ६ठी-७वीं शताब्दी के उत्कलीय नौ-वाणिज्य का आकर्षक विवरण उपस्थित किया है। आशा है कि इस युग के मुद्रा-इतिहास का अंधकाराच्छन्न अध्ययन कभी न कभी अवश्य प्रकाश में आयेगा। गंग-राजाओं के समय की, छोटे-छोटे आकारवाली स्वर्णमुद्राएँ ओड़िशा के कई जंगलों से मिली हैं। उत्कल की स्वधीनता के लोप होने के पश्चात् यहाँ मुगलों की मुद्राएँ प्रचलित हुईं। मुगल-राजाओं की मुद्राएँ ओड़िशा के कटक और हरिहरपुर (आधुनिक जगतसिंहपुर) में थीं। मरहठों की अपनी कोई स्वतन्त्र मुद्रा थी ही नहीं। फिर ब्रिटिश-काल में पहले सन् १८३५ तक तो मुगल-सम्राटों के नाम पर, तत्पश्चात् १९०३ से १९४७ तक इँगलैंड के राजाओं के चित्रों से युक्त मुद्राएँ ओड़िशा में प्रचलित रहीं।

लिपितत्त्व :

प्रत्नतत्त्व के अनुसंधान का एक प्रधान विभाग लिपितत्त्व है, क्योंकि लिपितत्त्व की गवेषणा द्वारा किसी भी देश के प्रत्नतत्त्व का विकास-क्रम आसानी से समझा जा सकता है। ओड़िशा के प्रत्नतत्त्व पर ओड़िशा के लिपितत्त्व का प्रभाव नीचे लिखे विवरण से आसानी से मालूम हो जायेगा। पहले कहा गया है कि ओड़िशा बहुत प्राचीन-काल से मानव का वासस्थान रहा है; लेकिन वहाँ से प्राप्त मनुष्य के व्यवहृत पदार्थों में मृत्तिका-निर्मित पात्र या मूर्त्ति के सिवा दूसरे सभी पदार्थ नीरव साक्षी-स्वरूप हैं, क्योंकि ये सब किसी भी सिद्धांत पर पहुंचने के लिए सहायता नहीं करते। किन्तु इन सभी प्राचीन कीर्तियों से अगर लिपियुक्त निदर्शन मिले होते तो वे समय-निरूपण में विशेष सहायक होते।

आज इस बीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में हम जिस ओड़िशी वर्णमाला का व्यवहार करते हैं, उसका पढ़ना जिस प्रकार हमारी १०-१२ पीढ़ी पूर्व के मनुष्यों के लिए आसान नहीं होगा, उसी प्रकार हमारे पूर्वजों के लेख भी आजकल आसानी से नहीं पढ़े जा सकते। अक्षर-माला की आकृति के विकास-क्रम की आलोचना को यूरोपीय पंडितों ने 'पालोग्रैफी' नाम दिया है। प्रत्येक शताब्दी की आविष्कृत लिपियों की आलोचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि किस शताब्दी की किस लिपि में क्या परिवर्तन हुआ था।

सबलपुर इलाके के विक्रम खोल नामक पहाड़ की खुदाई में एक प्रकार का चिह्न पाया गया है। ये सब चिह्न कभी भी स्वतः-निर्मित अर्थात् प्राकृतिक नहीं हैं। कई विशेषज्ञों का मत है कि ये सब प्राचीन लिपियाँ हैं। अगर ये लिपियों के रूप में पढ़ ली जायँ, तो 'विक्रम खोल' की लिपि ही ओड़िशा की प्राचीनतम लिपि के रूप में गिनी जायेगी।

आज तक की आविष्कृत और पठित लिपियों में ओडिशा के पुरी जिले के अंतर्गत धउली और गंजाम जिले के अंतर्गत जउगड़ के दोनों शिलालेख अशोक के हैं। इसमें ओड़िशा की सबसे प्राचीन लिपि का निदर्शन है। मौर्य-सम्राट् अशोक के आदेश से ईसा-पूर्व २५७ में ये दोनों गिरि-अनुशासन खोदे गये थे। अशोक के कई गिरि-अनुशासन और स्तम्भ-अनुशासन भारत के विभिन्न स्थानों में मिले हैं, जो इसी लिपि में लिखे गये हैं। इस लिपि का नाम ब्राह्मी है और यही सम्पूर्ण भारत में मौर्य युग की एक मात्र व्यवहृत लिपि थी। आधुनिक स्वाधीन-भारत के अतिरिक्त मौर्य-साम्राज्य की तरह भारत में कभी भी एक लिपि का व्यवहार नहीं था। आशा है कि

हमारे देश की सरकार सारे भारत में एकमात्र देवनागरी लिपि को स्वाधीनता के चिह्नस्वरूप शीघ्र चलायेगी।

ओड़िशा में ब्राह्मी-लिपि का द्वितीय निदर्शन भुवनेश्वर के पास खंडगिरि और उदयगिरि के गह्वरों और प्राकृतिक हाथीगुफा की गिरि-लिपि है। हाथीगुफा की गिरि-लिपि वास्तव में एक ऐतिहासिक लिपि है। इसमें सम्राट् खारवेल के तेरह वर्षों के कार्य-कलाप का वर्णन है। पता नहीं चलता कि यह कब लिखी गई थी। फिर भी यह सभी मानते हैं कि खंडगिरि और उदयगिरि की गुफाओं के कारुकार्य ईसा-पूर्व प्रथम या द्वितीय शताब्दी के हैं।

ओड़िशा में ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के मध्य भाग से ६ठी शताब्दी के मध्य भाग तक के छः सौ वर्षों के अन्दर लिपितत्व का कोई भी निदर्शन नहीं मिला था। थोड़े दिन पहले, भद्रक के आसपास के एक अंचल से एक शिलालेख और गंडिवेढ की मुद्रा की लिपि तथा पुरीकुशल नाम की मुद्रा में व्यवहृत लिपि के सिवा इस समय की दूसरी कोई लिपि आविष्कृत नहीं हुई है। इन लिपियों से पता चलता है कि जिस प्रकार भारत के हर भाग में लिपियों का विकास हुआ है, ठीक उसी प्रकार ओड़िशा में भी हुआ था।

६ठी शताब्दी में भारत के गुप्त-साम्राज्य का प्रभाव ओड़िशा पर भी पड़ा था। सुमंडल, कणासर और विग्रहवंशी ताम्रशासनों से मालूम होता है कि ओड़िशा गुप्त-साम्राज्य के अन्तर्गत था। पटिया किल्ला का ताम्रशासन सन् ५८२ ई० में लिखा गया था। इसमें मानवंश राज्य की सार्वभौमिकता की बात लिखी है। इसके बाद सौर के ताम्रशासन मिले थे। मेदिनीपुर जिले से प्राप्त दो ताम्रशासनों में शशांक का नाम मिलता है। मालूम होता है कि उनके अधीनस्थ राजा तथा सोरो ताम्रशासन के राजा, दोनों एक थे। सातवीं शताब्दी के आरंभ में ओड़िशा शशांक के अधीन था। गंजाम जिले से प्राप्त शैलोद्भव-वंशी राजा माधवराज शशांक के अधीन थे। उनका ताम्रपत्र गुप्ताब्द ३०० या ई० ६१९-२० में लिखा गया था। शशांक के अंतिम जीवन की बात किसी भी उपादान से नहीं मिलती। उत्तरी भारत के राजा हर्षवर्धन से उनका युद्ध हुआ था। उनके समय में चीनी पर्यटक हुएनसांग ओड़िशा आया था। उसने पुष्पगिरि विहार तथा चेलिताले नाम के एक बंदरगाह का वर्णन किया है। पुष्पगिरि बहुत प्राचीन स्थान है। नागार्जुन कोंडा से प्राप्त तीसरी शताब्दी के शिला-लेख में इसका नाम मिलता है। लेकिन पुष्पगिरि विहार और चेलिताले बंदरगाह दोनों की भौगोलिक अवस्थिति का निर्णय हुए बिना ओड़िशा के इतिहास के अनेक

उपकरण नहीं मिल सकते ।

भौम-वंश :

ओड़िशा में लगभग ६५० से ९५० ई० (३०० वर्षों) तक भौम-वंशी राजाओं ने शासन किया था । इस वश के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं। बौद्ध धर्मावलंबी होने पर भी वे राजा ब्राह्मण-धर्म के प्रति उदासीन नहीं थे । इस वंश के शासकों की कई रानियाँ थीं । उनमें से त्रिभुवन महादेवी और दंडी महादेवी के ताम्रपत्र मिले हैं । भौम-वंशी राजा शुभकर केशरी ने प्रज्ञ नामक एक बौद्ध भिक्षुक के हाथों अपने हाथ का लिखा अबंडंसक नामक एक ग्रन्थ चीन-राजा के पास भेजा था । चीन देश के इतिहास से यह बात मालूम होती है । मालूम पड़ता है कि भौम राजत्वकाल में ओड़िशा में नौ-वाणिज्य का खूब प्रसार था । भौम-युग की प्राचीन कीर्तियाँ जाजपुर और कटक जिले के रत्नगिरि, उदयगिरि और ललितगिरि में पाई गई हैं ।

ओड़िशा के दूसरे राज-वंश :

भौम-राजत्व के अंतिम भाग में सार्वभौमशक्ति के दुर्बल हो जाने पर भंज, तुङ्ग, वराह, स्तंत्र आदि राजाओं ने अपने-अपने नामों से ताम्रपत्र दिये और अपनी राजधानियों में अनेक मूर्त्तियाँ और मंदिर बनवाये। उनका ध्वंसावशेष आज भी खिचिंग (खिजिंगकोट), कोआलु (कोदालक), बौद और गंध राढी में विद्यमान है ।

सोमकुली केशरी-वश :

इस वंश के राजाओं के अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख मिले हैं । ओड़िशा में उन लोगों ने लगभग सन् ९५० से १११० ई० तक शासन किया था । इस वंश की प्रधान कीर्ति भुवनेश्वर का लिंगराज और ब्रह्मेश्वर मंदिर है ।

गंग-वंश :

सन् ११११ में गंग-वंशी राजा चोल गंगदेव ओड़िशा के सार्वभौम राजा बने । उनकी प्रधान-कीर्ति पुरी का जगन्नाथ मंदिर है । सन् ११११ से १४३४ ई० तक के ३२३ वर्षो तक गंग-वंशी राजाओं ने मुसलमानों से ओड़िशा की स्वाधीनता बचाई थी । इस वंश के अनेक ताम्रपत्र मिले हैं । स्वयं राजाओं और उनके राजत्वकाल में खोदे गये

अनेक शिलालेख मन्दिरों में प्राप्त होते हैं ।

सूर्य-वंश :

सन् १४३५ में सूर्य-वंश के राजा कपिलेन्द्र या कपिलेश्वर देव ओड़िशा के सिंहासन पर बैठे । इसके पहले वे अंतिम गंग राजा के प्रधान कर्मचारी थे । इस वंश के तीन राजा प्रतिपत्तिशाली थे । इस समय ओड़िशा का साम्राज्य सबसे बड़ा था तथा गंगा से लेकर कावेरी नदी तक फैला हुआ था । समुद्र के निकटवर्ती अंचलों में ओड़िशा-वासियों का प्राधान्य था । इस वंश के राजाओं के अनेक ताम्रपत्र और शिलालेख हैं ।

भोई-वंश :

गोविंद विद्याधर नामक एक प्रधान राजकर्मचारी सूर्य-वंश के अंतिम राजा प्रतापरुद्र के पुत्रों की हत्या करके ओड़िशा के सिंहासन पर बैठा था । इस वंश ने सन् १५३३ से १५५९ ई० तक शासन किया था । इस वंश के राजाओं की भी कई समसामयिक लिपियाँ हैं । ओड़िशा की स्वाधीनता लुप्त होने के बाद इस वंश के राजा रामचंद्रदेव ने मुगल राजत्व के प्रारम्भ में खोर्धा में भोई-वंश की स्थापना की थी । इस वंश के वंशधर आज भी पुरी-राजा नाम से प्रसिद्ध हैं ।

चालुक्य-वंश :

ओड़िशा के अंतिम स्वाधीन राजा मुकुन्ददेव सन् १५५९ में ओड़िशा के सिंहासन पर बैठे । वे चालुक्य-वंशी थे । उनके राजत्व-काल के थोड़े से शिलालेख मिलते हैं । सन् १५६८ में बंगाल के अफगानों ने मुकुन्ददेव की हत्या कर, ओड़िशा पर अधिकार कर लिया था । बाद में लिपि-तत्त्व का अभाव न होने पर भी उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है ।

भास्कर्य्य :

धउली पहाड़ पर ठीक अशोक की गिरि-लिपि के ऊपरी भाग में निर्मित हाथी का सिर ओड़िशा का प्राचीनतम मानव-खोदित भास्कर्य्य है । इसके बाद हम पुरी जिले के उदयगिरि और खंडगिरि नामक पहाड़ों की गुफाओं में खोदे हुए मनुष्य, पशु-पक्षी और वृक्ष-लताओं के चित्र पाते हैं । इन सबका समय ईसा-पूर्व पहली या दूसरी शताब्दी

है। डा० कृष्णचन्द्र पाणिग्रही का कहना है कि इस युग के भास्कर ने मनुष्य और जीव-जन्तुओं की मूर्त्ति की तैयारी में जो पारदर्शिता दिखाई है, वह बोधगया, साँची और भरहुत के साथ तुलनीय है। उदयगिरि और खंडगिरि के जय-विजय, पराम, स्वर्गपुरी, मंचपुरी, गणेश, राणीनहर, अनंत गुफा, आदि तत्कालीन स्थापत्य के उज्ज्वल निदर्शन है। शिल्पियों ने गिरि-गात्र खोदकर उसमें रहने का जो नमूना दिखाया है, उससे उनके शिल्पज्ञान की पराकाष्ठा मालूम पड़ती है। ओड़िशा के इस युग के भास्कर्य्य का परवर्ती युग पर क्या प्रभाव पड़ा था, यह समझने के प्रमाण नहीं हैं; परन्तु इस युग का गुहा-स्थापत्य ८वीं शताब्दी से ११वीं शताब्दी के बीच खोदी गई गुफाओं से प्रमाणित हो जाता है। ८वीं शताब्दी की धउली पहाड़ और १०वीं-११वीं शताब्दी की खंडगिरि की नव मुनि और ललाटेन्दुकेशरी आदि गुफाएँ उल्लेखनीय हैं। केउझर जिले के सीताबिंझ में जो गिरि-चित्र मिला है, उसमें उत्कीर्णित लिपि से मालूम होता है कि इसका समय ५वीं शताब्दी है। ओड़िशा में कहीं भी दूसरी जगह ऐसे चित्रों के निदर्शन नहीं हैं। लेकिन इस एक निदर्शन से ज्ञात होता है कि प्राचीन ओड़िशा की चित्रकला कैसी उन्नत थी। कई विशेषज्ञों ने अजंता के चित्रों के साथ इस चित्र की तुलना की है। खारवेल-पहाड़ों पर जो मूर्त्तियाँ खोदी गई थीं, उनमें कोई उपास्य देवता नहीं था। लेकिन परवर्ती-युग में इन सब स्थानों में जैन तीर्थंकरों की मूर्तियाँ देखी जाती हैं। उपास्य देवता न होने पर भी खंडगिरि और उदयगिरि की प्राचीन गुफाओं की मूर्त्तियों में शिल्पियों ने रमणीयता लाने का समर्थ प्रयत्न किया है। इन कई स्थानों के सिवा प्राचीन ओड़िशा के स्थापत्य और भास्कर्य्य के निदर्शन दूसरी जगह नहीं हैं। आज तक पता नहीं चल सका है कि ईसा के प्रथम ६०० वर्षों के इतिहास में ओड़िशा के स्थापत्य और भास्कर्य्य का क्या स्थान था। लेकिन ७वीं शताब्दी से शैलोद्भव और भौम राजत्वकाल में भास्कर्य्य और स्थापत्य कलाएँ मूर्त्तियों और मंदिरों में परिणत हुई थी। ७वीं-८वीं शताब्दी में मंदिर और मूर्त्ति-निर्माण के पूर्व यह जानने की किसी को इच्छा भी नहीं थी कि भारत में कहीं दूसरी जगह भी ऐसे निर्माण हुए हैं या नहीं। भारत में वैदिक-धर्म के साथ बौद्ध और जैन-धर्म सर्वत्र समान रूप में प्रवर्तित था। हर एक धर्म के उपासक अपने-अपने देवताओं और मन्दिरों के निर्माण में लगे रहते थे। उत्तर भारत में मथुरा प्राचीन तीर्थ है। यहाँ पहले बौद्धों ने मूर्त्तिपूजा का प्रचलन किया था। इस तरह दक्षिण के अमरावती में भी बौद्ध-मूर्त्ति स्थापित हुई थी। सम्भव है, ओड़िशा में इस मूर्त्तिपूजा का प्रभाव उत्तर और दक्षिण दोनों ओर से पड़ा हो, क्योंकि शककुशान-युग जैसी मूर्त्तियाँ

ओड़िशा में नहीं हैं। मथुरा से बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-धर्म की अनेक प्राचीन मूर्त्तियाँ विभिन्न संग्रहालयों में संगृहीत हैं। इसके पहले ही साँची आदि के बौद्ध-स्तूप निर्मित हुए थे। गुप्त-राजत्व-काल में मथुरा के इन सभी भास्कर्य्य और स्थापत्य के प्रचुर-रूप मे तैयार होने का सुयोग मिला था। धीरे-धीरे यही कलाएँ प्रचारित होकर ओड़िशा के उपकूल में ७वीं शताब्दी या इसके कुछ पहले विकसित हुई थीं।

ओड़िशा का भास्कर्य्य ओड़िशा के चारों ओर फैला हुआ है। पुरी जिले के भुवनेश्वर में प्राचीन भास्कर्य्य और स्थापत्य दिखाई पड़ता है। डा० कृष्णचन्द्र पाणिग्रही ने भुवनेश्वर भास्कर्य्य के विषय में विस्तृत-रूप से खोज की है। उनकी थीसिस आज तक मुद्रित नहीं हुई है; लेकिन उनके द्वारा लिखित और सन् १९४९ की 'ओड़िशा रिव्यू' में प्रकाशित उनके 'भुवनेश्वर' नामक लेख से अनेक बातों की जानकारी होती है। पुरी जिले से प्राप्त हरिपुर की चौंसठ-योगिनियों की मूर्त्तियाँ और काकर अंचल की विष्णु की मूर्त्तियाँ तथा ईंटों के मंदिर, थोड़े दिन हुए, प्रकाश में आये हैं। कटक के गिरित्रय—रत्नगिरि, उदयगिरि और ललितगिरि—के बौद्ध भास्कर्य्य के अध्येता स्वर्गीय रमाप्रसाद चन्द द्वारा लिखित तथा भारत सरकार के आर्किओलाजिकल डिपार्टमेंट से प्रकाशित' मेमोरीज ऑफ आर्किओलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया' नामक ग्रन्थ से सारी बातों की जानकारी मिल जाती है। चन्द महाशय ने इस ग्रंथ मे जाजपुर और पुरी की मातृका एवं बौद्ध मूर्त्तियों के विषय में भी लिखा है। इस ग्रंथ में ओड़िशा के भौमयुग के भास्कर्य्य के विषय में अनेक बातें बताई गई हैं। कटक जिले के अन्तर्भुक्त नरसिंहपुर, बडाम्बा और आठगड़ इलाके में भास्कर्य्य और स्थापत्य के अनेक निदर्शन मिले हैं। नरसिंहपुर की वर्णेश्वर, नासिके, बौद्ध तारा की मूर्त्तियाँ लाल पत्थर की बनी हुई हैं। तारा की मूर्ति पटना म्यूजियम में है। बडाम्बा के सिंहनाथ मंदिर का कारुकार्य भौमयुग की कीर्त्तियों के समान है। थोड़े दिन हुए, कटक जिले के सदर सबडिविजन से अनेक नई मूर्त्तियाँ और मंदिर आविष्कृत हुए। इन मूर्त्तियों में महिषासुरमर्दिनी की मूर्त्तियाँ विशेषरूप से उल्लेख योग्य हैं। इनमें से एक नूआगां और दूसरी वटेश्वर में है। ऋषिमठ से प्राप्त मूर्तियाँ भी उल्लेख योग्य हैं। ईंटों से निर्मित मंदिर की चर्चा स्थापत्य में की जायगी। बालेश्वर इलाके के नाना स्थानों और गाँवों में ९वीं या १०वीं शताब्दी की निर्मित विभिन्न धर्मों की अनेक मूर्त्तियाँ देखने को मिलती हैं। लेकिन नीलगिरि सबडिविजन के अयोध्या गाँव में बौद्ध तांत्रिक और महायान पन्थ की अनेक मूर्त्तियाँ एक साथ मिलती हैं। मयूरभंज

इलाके के खिचिंग में १०वीं या ११वीं शताब्दी के ब्राह्मण, वौद्ध और जैन-धर्म की अनेक मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। इन सब मूर्तियों की गठनभंगिमा ऐसी सुन्दर है कि विशेषज्ञों ने इसके भास्कर्य्य को ओड़िशा के भास्कर्य्य के बीच में एक स्वतंत्र विकास माना है। खिचिंग के मदिरों की चर्चा भी 'स्थापत्य' में की जायगी। ढेंकानाल जिला ब्राह्मणी नदी की पार्वत्य उपत्यका में अवस्थित है। इस जिले के तालचेर के पास सरिग ग्राम के अनंतशायी विष्णु की मूर्त्ति का निर्माण, ब्राह्मणी नदी के बीच, पत्थरों से हुआ है। इसका निर्माण-काल ९वीं शताब्दी माना गया है। इस मूर्त्ति की लंबाई ४२ फुट है। तालचेर से १८ मील की दूरी पर 'भीमकुंड' गाँव के अनंतशायी सरिग की मूर्त्ति भी अनेक सामान्य प्रभेदों के बावजूद उल्लेखनीय है। मूर्त्ति की लंबाई ५० फुट है। सरिग की मूर्त्ति में विष्णु के नाभि-कमल से ब्रह्मा की उत्पत्ति दिखाई गयी है। लेकिन भीमकुंड की मूर्त्ति में यह नहीं है। ब्राह्मण-धर्म की ऐसी विराट् मूर्त्ति सारे भारत में कहीं नहीं है। महीशूर से प्राप्त खुमटेश्वर की जैन मूर्त्ति की लंबाई ५७ फुट है। खुमटेश्वर और भीमकुंड में यह अंतर है कि एक मूर्त्ति खड़ी हुई है और दूसरी लेटी हुई है।

बलांगीर और कालाहांडि जिले के भास्कर्य्य काफी कौतूहल-जनक हैं। इनसे तेल नदी की उपत्यका की सभ्यता प्रमाणित होती है। सोनपुर सबडिविजन के बौद्धनाथ मंदिर का विमान नष्ट हो गया है, लेकिन इसकी मुखशाला भग्नोन्मुख होने पर भी स्थापत्य और भास्कर्य्य की दृष्टि से अद्वितीय है। इस सबडिविजन का चडजा मंदिर यद्यपि वैदनाथ मंदिर का सामयिक नहीं है, फिर भी; उनकी गठन-रीति एक-सी है। तेल नदी के दक्षिणी-तट पर कालाहांडि जिले के अन्तर्गत बेलखंडि की मूर्त्तियों में भास्कर की मूर्त्ति की गठन-कुशलता चमत्कार-पूर्ण है। बलांगीर जिले के राणी-टरिआल से प्राप्त चौषठि-योगिनी की मूर्त्तियाँ हीरापुर की मूर्त्तियों से इस दृष्टि से स्वतंत्र है कि यहाँ की मूर्त्तियाँ बैठी हैं, खड़ी नहीं। चूँकि दोनों स्थानों की मूर्त्तियों के निर्माण-काल में लंबा व्यवधान है, इसलिए उनकी कला में सादृश्य नहीं लक्षित होता। कोरापुट, गंजाम, सम्बलपुर और सुन्दरगढ़ जिलों की भास्कर्य्य-कला आज तक अविदित है।

मूर्त्तितत्त्व :

ओड़िशा की सबसे प्राचीन मूर्त्ति खंडगिरि और उदयगिरि में मिली है। लेकिन इनमें मूर्त्तितत्त्व के निहित होने का प्रमाण आज तक नहीं मिला है। इन मूर्त्तियों में

देव-देवियों के आराधना-सूचक प्रायः सभी चिह्न हैं। अर्थात् ईसा-पूर्व द्वितीय शताब्दी की मूर्त्तियाँ यद्यपि मनुष्य-भाव-संपन्न और मनुष्याकृति की हैं, फिर भी उनमें उपासनासूचक देवभाव के प्रायः सभी चिह्न आरोपित हुए हैं। यों तो शिल्पी मनुष्याकृति के विकास के लिए ही प्रयत्नशील था, किन्तु वह स्वाभाविक मनुष्याकृति के गठन में सफल नहीं हो सका था। प्रतीत होता है कि उस समय की ओड़िया-शिल्पधारा भारतीय-शिल्पधारा के समानान्तर प्रवाहित हो रही थी। भुवनेश्वर के निकट कपिलेश्वर की एक नागमूर्त्ति और दो नागिन-मूर्त्तियों से प्रमाणित होता है कि उस समय ओड़िशा में नाग-पूजा का प्रचलन था। इसके अलावा भुवनेश्वर-अंचल में और भी कई नागमूर्त्तियाँ मिली हैं। प्रथम शताब्दी से लेकर ७वीं शताब्दी तक के लंबे ६०० वर्षों में बौद्ध, जैन या ब्राह्मण-धर्म कोई भी देव-मूर्त्ति ओड़िशा में आज तक आविष्कृत नहीं हुई है। इसलिए उत्तरी भारत के मथुरा आदि स्थानों से प्राप्त देव-मूर्त्तियों के समान ओड़िशा में देवमूर्त्तियाँ नहीं हैं।

सच तो यह है कि शक-कुशाण के समय मथुरा में मानवाकृति देव-मूर्त्तियाँ बनाई जाती थीं। लेकिन उनमें न तो कला की सजीवता थी और न नयनाभिराम लगने वाले भाव ही थे। गुप्त-सम्राट् चूँकि कला के श्रेष्ठ मर्मज्ञ थे, अतः तत्कालीन शिल्पी देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के मुखमंडल और शरीर की भंगिमा में देवभाव-द्योतक चित्तवृत्तियों को आरोपित करने में समर्थ हो सके थे। इस समय भास्कर्य्य के विकास के साथ स्थापत्य का भी विकास हुआ था, क्योंकि देवता और देवता के स्थान देवमंदिर, दोनों में स्वर्गीय सत्ता प्रदर्शित करने के लिए शिल्पियों ने काफी प्रयत्न और मनन किया था। इस समय बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-धर्म की देवमूर्त्तियों में शिल्पी की वास्तविक कल्पना ही मूर्त्तिमंत होती थी। मानवाकृति देवमूर्त्ति में बहुभुज और बहुमस्तक की अपौरुषेय-कल्पना द्वारा उपासक अपनी भक्ति अर्पित करता था। इस तरह शिल्पी आयुध, वाहन, अलंकार, परिधेय आदि को दृष्टि में रखकर मूर्त्ति का निर्माण करता था। पत्थरों पर खोदी हुई मूर्त्तियों से मालूम होता है कि महिषासुरमर्दिनी की मूर्त्तियों के हाथ संख्या में दो, चार, छः, आठ, दस, बारह, सोलह, अठारह और बीस भी हैं। ध्यान के अनुसार धर्म में अनेक देवियों और देवताओं की कल्पना की गई है। बौद्ध-धर्म के देवी-देवताओं की संख्या अगणित है। जैन-धर्म के देव-देवियों की संख्या भी कुछ कम नहीं है। इसके पर्याप्त प्रमाण हैं कि ओड़िशा में ७वीं शताब्दी से लेकर १४वीं शताब्दी तक बौद्ध, जैन और ब्राह्मण-धर्म के देव-देवियों की मूर्त्तियों का प्रचलन विशेष रूप से भारत में हो चुका था।

मंदिर-स्थापत्य :

समयानुसार उत्तरी भारत के बौद्ध-स्तूपों के स्थापत्य ने उत्कलीय मंदिरों के विशिष्ट शिखर का आकार धारण किया था। ऐसा विश्वास कर लेने पर भी इसके विकास-क्रम के प्रमाणों का अभाव है। फिर भी ऐसे कुछ प्रमाण हमें मिले हैं। भुवनेश्वर के रामेश्वर मंदिर के पास लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर, शत्रुघ्नेश्वर, स्वर्णजालेश्वर आदि कई मंदिर ओड़िशा के प्राचीनतम मंदिर हैं। इनमें जगमोहन या मुखशाला नहीं है। परशुरामेश्वर, शिशिरेश्वर, मार्कण्डेश्वर, बेताल और मोहिनी आदि मंदिरों में मुख-शाला नहीं है। इसलिए माना गया है कि उन सबका निर्माण कुछ बाद में हुआ है। ये सब शिखरयुक्त मंदिर हैं। शिखर-गठन के अनुसार मंदिर के स्थापत्य को नागर, कलिंग, द्राविड़ और वेसर—चार भागों में बाँटा गया है। लेकिन इन चारों श्रेणियों को यूरोपीय पंडितों ने आदि-भारतीय और द्राविड़ नामक दो भागों में ही बाँटा है। अनुमान है कि इन सब मंदिरों का निर्माण-काल ७वीं शताब्दी के मध्य भाग से लेकर ८वीं शताब्दी के अंत तक है। इनमें से कई मंदिरों में ग्रहों की मूर्त्तियाँ नहीं हैं। लक्ष्मणेश्वर और परशुरामेश्वर में नवग्रहों के स्थान पर अष्टग्रह ही हैं। हर एक ग्रह के नाम भी पत्थर पर खोदे गये हैं। मुखशाला के गठन से मालूम होता है कि ये परवर्ती काल में निर्मित हुए थे। अष्टग्रहों में राहु तो है पर नवाँ ग्रह केतु नहीं है। मुक्तेश्वर मंदिर में कुल नौ ग्रह हैं, इसलिए अनुमान है कि मुक्तेश्वर मंदिर का निर्माण परवर्ती-काल अर्थात् १०वीं शताब्दी के बीच हुआ था। राजाराणी मंदिर में नवग्रह के साथ अष्टदिक्पालों की मूर्त्तियाँ भी हैं। इन अष्टदिक्पालों की मूर्त्तियाँ लिंगराज और ब्रह्मेश्वर मंदिरों में भी हैं। ब्रह्मेश्वर मंदिर के शिलालेख के अनुसार उसका समय ११वीं सदी का तीसरा चरण माना गया है। लिंगराज मंदिर ब्रह्मेश्वर मंदिर से कुछ पुराना है।

खिचिंग के मंदिरों का निर्माण परशुरामेश्वर मंदिर के बाद का होने पर भी ये सब बौद्ध गड्डा के मंदिरों के समान हैं। मुखशाला का अभाव मंदिर स्थापत्य की एक विशेषता है। ये सब पत्थर-निर्मित-मंदिर स्थापत्य के निदर्शन हैं। पुरी और कटक जिले के उपकूलवर्ती अंचल में पत्थर कम मिलता है, इसलिए शिल्पियों ने ईंटों से 'रेख देउल' तैयार करके मंदिर-स्थापत्य में एक अभिनव सौन्दर्य की सृष्टि कर दी है। ८वीं, ९वीं, और १० वीं शताब्दी के बीच में ओड़िशा के चारों ओर मंदिर-स्थापत्य का अद्भुत विकास हुआ था—इसमें संदेह बिलकुल नहीं है। इस विकास

की चरम अभिव्यक्ति भुवनेश्वर के लिंगराज में हुई है। मालूम होता है कि भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर और पुरी के जगन्नाथ मंदिर के निर्माणकाल में लगभग एक शताब्दी का अन्तर है : दोनों मंदिरों के गठन-कौशल में प्राय: कुछ पार्थक्य नहीं है। दुर्भाग्यवश जगन्नाथ मंदिर में अधिक परिमाण में चूने का काम होने से मंदिर का बाहरी भाग जैसा विकृत हुआ है, इसी तरह मंदिर पर शोभावर्धनकारी कारीगरी का बाहरी सौन्दर्य भी लोकदृष्टि से अदृश्य हो गया है। जगन्नाथ मंदिर की दिक्पाल मूर्त्तियाँ चूने के काम से आवृत थीं। लेखक की चेष्टा से यह खोदी जाने से वरुण और वायु की मूर्त्तियाँ दिखाई दीं। उन सब की गठन-रीति लिंगराज के दिक्पाल के समान है। जगन्नाथ मंदिर गंगवंशीय राजा चोड गंगदेव के द्वारा ११४७ ई० के पहले से निर्मित हुआ था। देश का शासन-भार एक नये राजवंश के अधीन होने पर भी देश के शिल्पियों ने अपने वंशानुक्रमिक शिल्प को अक्षुण्ण रखने में अपनी पटुता दिखाई है।

गंग-युग के मंदिरों में भुवनेश्वर के 'मेघेश्वर', और निआलि के शोभनेश्वर मंदिरों में मंदिर-निर्माता का लिपिचातुर्य सन्निवेशित हुआ है। इन सबके गठन-कौशल में विशेष कुछ नूतनता नहीं है। इन सबका निर्माणकाल १२वीं शताब्दी का आखिरी भाग है। १३वीं शताब्दी में बने हुए गंगयुग के मंदिरों में कोणार्क सर्वश्रेष्ठ है। यह लगभग इस शताब्दी के मध्य निर्मित हुआ था। मेघेश्वर-मंदिर और कोणार्क-मंदिर के निर्माण-काल में ५० साल का अन्तर है। इस समय में 'काकुडिआ उच्च पीठ मंदिर' और बुढापड़ा के उच्चपीठ युक्त पार्श्वदेव के उद्देश्य से बने हुए एक मंदिर का अंश देखा जाता है। स्थापत्य के इन दो नए अंशों का विकास कोणार्क में विशेष उल्लेख योग्य है। पहला मंदिर-पीठ काफी ऊँचा है। कोणार्क मंदिर में चौबीस चक्के लगे हैं। इन सबको यथास्थान में रखने के लिए पीठ की उच्चता एकांत आवश्यक होने पर, शिल्पी पीठ की उच्चता की कल्पना करके, उसे कार्य रूप में परिणत करने में विशेष रूप में समर्थ हुए थे। इसके अलावा पार्श्व-देवताओं के लिए अलग मंदिर भी कल्पित हो स्थापत्य के अन्तर्भुक्त हुए थे। आजकल हम लिंगराज और जगन्नाथ-मंदिर में पार्श्वदेवताओं के लिए जो मंदिर देखते हैं, वे समसामयिक नहीं हैं। सम्भव है, कोणार्क के पार्श्व-देवताओं के मंदिर तैयार होने के बाद लिंगराज और जगन्नाथ-मंदिर में ये निर्मित हुए हों। गंगयुग में निर्मित मंदिरों में, भुवनेश्वर के अनंत वासुदेव मंदिर-निर्माता के लिपि-फलक से मालूम होता है कि यह १२७८ ई० में निर्मित हुए थे। कोणार्क की अपेक्षा इस मंदिर में और एक स्थापत्य का विशेषत्व देखा जाता

है। मालूम होता है कि अनंत वासुदेव मंदिर के पहले मंदिरों में केवल अष्टदिक्पाल मूर्त्ति है। लेकिन अनंत वासुदेव के मंदिर में अष्टदिक्पालों की शक्ति को स्थान मिला है। कोणार्क के समान अनंत वासुदेव मंदिर में ऊँचा पीठ है। इसके अलावा पार्श्व देवताओं के और भी तीन मंदिर हैं। कोणार्क मंदिर के स्थापत्य में और एक जो नया काम देखने में आता है, वह है—मुखशाला के सामने, थोड़ी दूरी पर, नाट्य-मंदिर की कल्पना। ऐसा नाट्य-मंदिर दूसरी जगह देखने में नहीं आता। भुवनेश्वर के लिंगराज मंदिर और पुरी के जगन्नाथ मंदिर में नाट्य-मंदिर मुखशाला के पास बना हुआ है। यह आसानी से मालूम नहीं पड़ता है कि यह बाद का काम है। भुवनेश्वर के अनंत वासुदेव मंदिर में भी नाट्य-मंदिर है। यह मालूम नहीं पड़ता कि कोणार्क-मंदिर के तैयार होने के बाद यह नाट्य-मंदिर कब बना।

मादला पचांग से मालूम होता है कि सूर्यवंशीय राजा पुरुषोत्तम देव ने अपने ७ के अंक में जगन्नाथ मंदिर में भोगमंडप बनाया था। पुरुषोत्तम देव का ७ अंक १४७०–७१ ई० के साथ समान है। भुवनेश्वर के लिंगराज और अनंत वासुदेव मंदिर में भी भोगमंडप हैं। ये सब १४७० के बाद निर्मित हुए हैं, इसमें संदेह नहीं। लिंगराज और जगन्नाथ-मंदिर में नाट्य-मंदिर और भोगमंडप तैयार होने के कारण इन दोनों मंदिरों के निचले भाग में जो परिवर्तन हुआ है, यह आज भी देखा जाता है। इस समय जगन्नाथ-मंदिर की चहारदीवारी के अन्दर होते हुए 'पातालेश्वर' और 'ईशानेश्वर' के दोनों मंदिर मिट्टी में गड़ गये हैं।

पहले लिखी हुई आलोचना से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि पहले ओड़िशा में सिर्फ विमान या मंदिर थे। इसके बाद मंदिर या विमान के साथ मुखशाला या जगमोहन जोड़ा गया। इसके बाद लिंगराज, अनंत वासुदेव और जगन्नाथ-मंदिरों में नाट्य-मंदिर और भोगमंडप तैयार हुए।

इस तरह ओड़िशा के मंदिर-स्थापत्य-विकास के लिए ८वीं शताब्दी से लेकर १५वीं तक लंबे ८०० वर्ष लगे थे।

राजधानी यागड—धउली और जउगड अनुशासन से मालूम होता है कि अशोक के काल में उत्तर ओड़िशा में कलिंग की राजधानी तोषली थी और दक्षिण ओड़िशा में राजधानी सोमपा थी। धउली के आस-पास आधुनिक शिशुपालगढ़ में और जउगड में मौर्ययुग के ऐतिहासिक उपादान अवश्य मिलते हैं, परन्तु इन दोनों स्थानों से समसामयिक अकाट्य प्रमाण नहीं मिला है। इस तरह खारबेल की लिपि में लिखा हुआ है कि कलिंग नगर की भौगोलिक-अवस्था आज तक स्थिर नहीं हुई है। यह

मालूम नहीं है कि इस्वी की १ली शताब्दी से लेकर ७वीं शताब्दी तक ओडिशा की राजधानी कहाँ थी। कोंगद शैलोद्भव राजाओं की राजधानी तो थी, लेकिन इसकी स्थिति का भी पता नहीं है कि इसकी अवस्थिति कहाँ है। अनुमान किया जाता है कि गंजाम जिले के गंजान्यल को उस समय कोंगद कहा करते होंगे। समसामयिक लिपि से जाना जाता है कि भौम-राजाओं के शासन-काल में विरजा या जाजपुर उनकी राजधानी थी। लेकिन वहाँ खुदाई न होने के कारण उस समय की राजधानी के वारे में कुछ पता नहीं लगता। भौमवंश के अवसान के बाद कई छोटे-छोटे राज-वंशों के ताम्रपत्रों में उनकी राजधानी का उल्लेख है। उनमें से कुछ की भौगोलिक अवस्थिति मालूम हुई है, यथा—उत्तरी ओड़िशा में भंजों की राजधानी खिजिंग-कोट या मयूरभंज जिले की आधुनिक खिचिंग में थी। लेकिन दक्षिण-ओड़िशा में भंज-राजाओं की राजधानी घृतिपुर या खंजलि की अवस्थिति आज तक अविदित है। स्तम्ब राजाओं की राजधानी कोदालक या आधुनिक ढेंकानाल जिले के आलुको मे होने का प्रमाण मिलते हैं।

सोमवंशी-केशरी राजाओं की राजधानी सुवर्णपुर (आधुनिक बलांगीर जिले के सोनपुर), बिनीतपुर (आधुनिक बनका) और ययाति नगर में थी। मालूम होता है कि सुवर्णपुर का नाम बाद में ययातिनगर हुआ होगा। सोमवंशी राजाओं ने ओड़िशा के उपकूल अंचल को अपने अधिकार में करने के बाद जाजपुर में राजधानी स्थापन करके उसका नाम 'अभिनव ययाति नगर' रखा था। सोमवंशियों ने चउद्वार में भी एक सामयिक राजधानी की स्थापना की थी। मादला पांजि की किंवदंती से मालूम पड़ता है कि १२वीं शताब्दी के आरम्भ में या ११११ ई० में गंगवंशीय चोडगंगदेव ने ओड़िशा पर अधिकार करके सोमवंशीय राजाओं की राजधानी में अपनी राजधानी स्थापित की थी।

गंग-राजत्व में ओड़िशा में पंचकटक का वर्णन है। यथा— (१) जाजपुर कटक, (२) अमरावती कटक या छतिआ, (३) चउद्वार कटक, (४) वाराणसी कटक, (आधुनिक कटक), (५) सारंगगड या चोडगंग कटक (आधुनिक बारंग रेल स्टेशन के पास)। इन पाँच स्थानों से प्रत्नकीर्ति का यथेष्ठ प्रमाण मिलता है।

इसके अलावा वालेश्वर जिले के हाथीगड के पास राइबणिआगड का प्रसार खूब अधिक है। ऐसे प्रकांड गड ओड़िशा में बिरल हैं। वालेश्वर जिले के उत्तर-पश्चिम में हरिचन्दनगड या दुर्गादेवीगड भी एक प्रकांड गड है। मयूरभंज जिले मे हरिहर-पुर गड (आधुनिक हरिपुर) का ध्वंसावशेष देखा जाता है। मयूरभंज के इलाके मे

और भी अनेक छोटे-छोटे गड हैं। केऊँझर जिले के सिताबिंज में एक प्राचीग गड का ध्वंसावशेष है। ढेंकानाल जिले की भीमनगरी में एक बड़ा गड था। सम्बलपुर में एक किले का ध्वंसावशेष है। सम्बलपुर के अधीन १८ किले थे। गंगराजत्व के बाद पुरी जिले के खोरधा अंचल में अनेक किलों के नाम मिलते हैं। गड का फारसी नाम किला है। मुगल शासन-काल में ओड़िशा के करदा राजाओं के गड को भी किला कहा जाता था। ओड़िशा में इतने गड या किले हैं, जिनकी संपूर्ण तालिका बनाने से उससे अनेक ऐतिहासिक-तथ्य संगृहीत हो सकेंगे।

ओड़िशा में मिले हुए सब गड या दुर्गों की गठन-प्रणाली प्रायः एक-सी है। राजपुताना और उत्तरी-भारत में निर्मित दुर्गों की दीवार के बदले यहाँ किले के चारों ओर मिट्टी की मेड़ दिखाई देती है। गड के चारों ओर खाई या परिखा खोदी जाने से जो मिट्टी निकलती थी, इसको गड-खाई में डालकर मिट्टी का एक बाँध वनाया जाता था। इस बाँध पर कँटीला बाँस लगाया जाता था। राईबणिआ आदि गड इसी रीति से वने हैं। गड-खाई पानी से भर दी जाती थी। मयूरभंज जिले के अमर्दा में जो किले का ध्वंसावशेष है, उसके बारे में १७६६ ई० में भट नामक एक अँगरेज वणिक की विवरणी नीचे दी गई है।

'सुवर्णरेखा से एक मील की दूरी पर राह के दक्षिण में अमर्दनगर गड है। यह किला इस देश की दुर्ग-गठन प्रणाली के अनुसार बना है। गड की खाई खोदी जाने से मिट्टी गड के पास जम जाने पर एक मेड़ तैयार होती थी। मेड़ पर बाँस लगाये जाते थे। वाँसों के काँटे प्रायः ३ इंच लम्बे होते हैं। सख्त और तीक्ष्ण ये कांटे हों तो गड के अंदर जाना आसान नहीं होता। मई मास में इन पर भरोसा नहीं रहता है। क्योंकि गर्मी में बाँस बहुत जल्दी गरम हो जाते हैं और पवन के कारण इनमें आग लग जाती है तो बाँस की झाड़ी जल जाती है। गाँठ में आग लगने पर ये पिस्तौल जैसा शब्द करके फट जाते हैं। पत्थर या पक्की दीवार होती हुई गड-प्राचीर के ध्वंसावशेष केवल चउद्वार, बारबटी और सारंगगड में दिखाई देते हैं। ब्रिटिश-शासन में कहीं-कहीं इन दीवारों के पत्थर तोड़कर दूसरी जगह भी ले जाये गए। अमरावती या छतिआ में एक छोटा किला था, इसके चारों ओर पत्थर की दीवार थी। इस दीवार का ध्वंसावशेष अब भी है। स्वाधीन ओड़िशा की उत्तरी सीमा में अब बंग प्रदेश के अन्तर्भुक्त मेदिनीपुर इलाके का गगनेश्वर दुर्ग-प्राचीर अब भी अक्षुण्ण है। यहाँ एक छोटा दुर्ग था। इस दुर्ग की दीवार में कपिलदेव के समय का एक शिलालेख है। लेकिन यह लिपि इस तरह छील दी गई है कि बिलकुल पढ़ी नहीं जा सकती। गगनेश्वर

राईबणिग्रादुर्ग से लगभग १५ मील उत्तर में अवस्थित है। दक्षिण-ओड़िशा के दुर्गों में लंगलबेणीदुर्ग गंजाम के आगड के तालुके में है। इस दुर्ग का ध्वंसावशेष आज भी है। इसका आधुनिक नाम आठगड है। अँग्रेजों के अधिकार करने तक ओड़िशा में सब दुर्गों की अवस्था अच्छी थी, इसके बाद ये सब व्यवहार और मरम्मत के अभाव के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो गये हैं। प्राचीन-ओड़िशा की देश-रक्षा-पद्धति का इतिहास जानने के लिए दुर्गों का इतिहास एकांत उपादान है।'

'रजत-जयन्ती ग्रन्थ'—प्रकाशक—हिन्दी-प्रचार-समिति, कटक के सौजन्य से।

डॉ. बेणीमाधव पाढ़ी

जगन्नाथ संस्कृति : एक अध्ययन

भारत ही नहीं, सम्पूर्ण पृथ्वी पर अब तक जितने प्रकार के ईश्वर-विश्वास (धर्म) प्रचलित हैं या हुए हैं, उन सबका यदि विश्लेषण करें तो उनके मूल में मनुष्य के स्वार्थ-साधन के अतिरिक्त दूसरा कोई कारण दिखाई नहीं पड़ता। 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग यहां संकीर्ण अर्थ में नहीं किया गया है। 'स्व' कहने से, हो सकता है इसका अर्थ व्यष्टि हो, हो सकता है समष्टि हो। परन्तु यह स्वाभाविक है कि मनुष्य किसी भी कार्य में सफलता प्राप्त करने में अपने को यदि असमर्थ समझता है, तो स्वभावतः वह किसी 'अन्य' की आकांक्षा या अपेक्षा करता है। वह 'अन्य' सम-शक्ति-सम्पन्न मानव की अपेक्षा असीम-शक्ति-सम्पन्न कोई विशिष्ट विभूति हो तो अच्छा है। अन्यथा सहायता करने वाले पर पूर्णतः आस्थावान् बने रहना सम्भव न हो सकेगा। वह सहायता देने वाला परिदृश्यमान संसार से दूर न रहकर उसके बीच ही रहे तो उसकी सत्ता भी प्रायः जन-साधारण के रूप में गृहीत हो जाती है। यहीं उसकी ईश्वर-कल्पना आती है—यहीं से देवता-विश्वास का आरम्भ होता है।

समाज में साधारणतः त्रिविध दृष्टिकोण से 'देवता' उपासित होते हैं : आध्यात्मिक, आवतारिक और सांस्कृतिक। जिन देवताओं के आधार पर अध्यात्म-चिंतन या दार्शनिकता उत्पन्न होती है उन्हें आध्यात्मिक-देवता कहते हैं। उन्हीं देवताओं को केन्द्र मानकर विभिन्न धर्मवादों की सृष्टि होती है। विष्णु, शिव, अल्लाह, ईसा, गॉड, कियुंग

आदि इसी श्रेणी के देवता के रूप में परिचित हैं। दूसरे होते हैं—आवतारिक देवता। ये इस संसार में रक्त-मांस-धारी मानव के रूप में अवतीर्ण होकर विश्वनियन्ता के निर्देश को व्यावहारिक-रूप में परिणित कर जन-समाज का प्रभूत कल्याण करते हैं। ये साधारण मानव की तरह प्रतीत होते हुए भी ईश्वरीय शक्ति-सम्पन्न होते हैं। लोक-समाज में देवदूत या दिव्य-पुरुष के रूप में विवेचित होकर देवतातुल्य पूजे पाते हैं। बुद्ध, ईसामसीह, मुहम्मद, वर्द्धमान आदि इसी प्रकार के देवता हैं। तीसरे होते हैं—सांस्कृतिक देवता। प्रथमश्रेणी के देवता की तरह इन्हें केन्द्र मान कर कोई धर्मवाद प्रतिष्ठित नहीं होता। द्वितीय श्रेणी की तरह इनमें कोई अवतार भी नहीं होते। फिर भी इनमें मानव-समाज की सर्वोत्तम कल्याण-भावना सम्पूर्ण रूप से निहित होती है। सर्वोत्कृष्ट पुरुष के रूप में संसार के बीच रहने के लिए कैसी कर्त्तव्य-निष्ठा और जीवन-यापन धारा का अवलम्बन करना चाहिये, इन सबका जीवन्त प्रमाण इनमें ही प्रतिफलित होता है। दूसरे शब्दों में ये मानव-संस्कृति में दृश्यमान प्रतीक के रूप में उपासित होते हैं। अतः इन्हें 'सांस्कृतिक देवता' कहा जाता है। उड़ीसा के श्री जगन्नाथ जी को छोड़ दें, तो इस श्रेणी के देवता अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होते। अतः जगन्नाथजी हैं—इसी तरह के एक देवता, जिनकी संस्कृति के साथ उड़ीसा की संस्कृति, सभ्यता, आदर्श, जीवन-धारा सब ओत-प्रोत भाव से जड़ित हैं। यहाँ 'उड़ीसा' शब्द केवल उड़िया समाज के लिये ही नहीं, भारतीय समाज और सारे मानव-समाज के लिए उद्दिष्ट है, क्योंकि उड़िया-संस्कृति मानव-संस्कृति का ही एक संक्षिप्त संस्करण है।

'संस्कृति' को यदि 'कल्चर' का पर्याय मान लें तो धर्म-धारणा, आचार-विचार, परम्परा-पुरोदृष्टि आदि सब इसके अन्तर्गत हैं, क्योंकि साहित्यकार, इतिहासकार, समाज-विज्ञानी, नृ-तत्त्वविद् आदि अपने-अपने दृष्टिकोण से 'कल्चर' शब्द का भिन्न-भिन्न विश्लेषण करते हैं। कोई कल्चर का अर्थ सभ्यता समझता है तो कोई परम्परा, कोई सामाजिक चलन तो और कोई जीवन-यापन-प्रणाली। इस परिप्रेक्ष्य में सांस्कृतिक देवताओं में इन सब का महत् आदर्श रहना चाहिये, जोकि जगन्नाथ जी की मूर्त्ति-कल्पना से लेकर प्रतिष्ठा तक प्रत्येक विषय में यह स्पष्ट प्रतिफलित होता है।

पहले देखें—जगन्नाथ जी की मूर्त्ति-कल्पना। एतादृश विकल मूर्त्ति। अति विचित्र, अति रहस्यावृत। ये देवता मनुष्य नहीं हैं। अष्टांग शरीर और बहत्तर नाड़ियों की यहां आवश्यकता नहीं है। कर्ण, केश, कर, चरणों की आवश्यकता नहीं है। वे सिर्फ देखते हैं, देखकर मौन रहते हैं। प्रतिकार या प्रतिशोध वे स्वयं नहीं करते, कराते मात्र

है । बाहु हैं, किन्तु हस्त-पद्म की कल्पना नहीं है । वे विराट् हैं, महामेरु । स्पर्श में दोष नहीं है । मानव-मानव के स्पर्श में दोष नहीं होता । वे मानव हैं, पुरुष हैं, पुरुषोत्तम हैं । अतः वे पुरुष, विशेषकर उत्तम पुरुष के भोग-विलास के अधिकारी है । इसीलिए ब्रह्ममुहूर्त्त से लेकर निशार्द्ध तक भोग । छप्पन भोग, छत्तीसों व्यंजन, छत्तीस नियोग । इसमें देवता की भावना पूर्णतः मानविक है । मानव-समाज का एतादृश भोग ही काम्य है । यह मानव की चरम अभिलाषा है, सांस्कृतिक देवता की अन्यतम उपलब्धि—मानवीय कामना की चरम पीठ ।

इतना ही नहीं, त्रिमूर्त्ति-देह पर त्रिरंग की धारणा और भी उच्चकोटि में आती है । यह एक सार्वजनीन रूप है । श्वेत, पीत, कृष्ण—तीन वर्णों की त्रिमूर्त्ति । कृष्ण वर्ण के जगन्नाथ, पीत वर्ण की सुभद्रा, श्वेत वर्ण के बलभद्र । इनकी एकत्रावस्थिति, महावस्थान—यह मानव-समाज की नितान्त कामना है । किन्तु यह वर्ण देवता का नहीं, मनुष्य का—मनुष्य जाति का है । इसमें पीत-वर्ण चीनी, श्वेत-वर्ण यूरोपीय एवं कृष्ण-वर्ण अफ्रो-भारतीय हैं। अर्थात् भारतीय द्वीप-समूह का आष्ट्रो-एशियटिक समूह, तिब्बतीय भोट-चीन समूह, उत्तर और मध्य-एशिया का तुर्की, और मंगोल से ग्रीक, इटालिक कैल्टिक इत्यादि इण्डो-यूरोपीय समूह सहित अफ्रीकी नीग्रो एवम् दक्षिण अमेरिकन आदिवासियों तक सब संकेतित हैं । उद्देश्य है—ब्राह्म-धर्म के वर्ण-भेद के आधार पर घृणा-हिंसा नहीं करनी चाहिये । सबका सहावस्थान ही सांस्कृतिक उन्नति की चरम कामना है । यही भावुक की भावना है । त्रिवर्ण कल्पना । यह आध्यात्मिक नहीं, वरन् लौकिक-सांस्कृतिक है ।

इसके बाद जगन्नाथ जी की प्रतिष्ठा । यह देवता की प्रतिष्ठा नहीं है । इसमें दिव्य-भावना देखने को नहीं मिलती । 'संनु बोचावहे पुनर्यतो में मध्वा वृनम् होते वक्षदसे प्रियम्' रूप वैदिक आर्य-भावना की तरह पूर्णतः पारिवारिक एवं सांसारिक है, यह यद्यपि दिव्यदृष्टि है । यहां देवता समाज-धर्मी गृहस्थ हैं । बन्धु-दर्शन की अभिलाषा रखकर गृहस्थ के घर में किसी भी समय आने के लिए कोई विधि-निषेध नहीं होता । अतः 'अपवित्रः पवित्रोवा' कोई भी अवस्था में हो, मन्दिर में प्रवेश का अधिकार पाता आया है । यहां तक कि शुचि-स्नात होकर दर्शन करने की अपेक्षा धूलिधूसरित होकर दर्शन करना अधिक मूल्यवान्, अधिक वांछनीय एवं पवित्र है । यही तो मानव-धर्म है, —गृहस्थ-धर्म है ।

इसके अलावा जगन्नाथ मन्दिर में पया श्राद्ध और दीपावली पालन की भी एक विचित्र धारणा है । नरलोक, पितृलोक और देवलोक—यह त्रिलोक हैं । त्रिलोकीनाथ

जगन्नाथ का पीठ स्थान—कोइलि बैकुण्ठ—स्वयं बैकुण्ठनाथ यहां पुरुष या महापुरुष के रूप में विद्यमान हैं। अतः श्राद्धादि विधि-विधान अवश्य करणीय हैं। पर किसके लिये ? वे तो स्वयंभू हैं, अजर-अमर, अजन्मा। तब भी उनके माता-पिता हैं। उसमें फिर पितृ श्राद्ध ! अद्‌भुत् बात है। इन्द्रद्‌युम्न जब देवल में जगन्नाथ जी को प्रतिष्ठित कर चुके तो ठाकुर कहते हैं—इन्द्रद्‌युम्न, तुम्हारी जो इच्छा है, वर मांगो, मैं दूंगा। तब महाराज इन्द्रद्‌युम्न ने अत्यंत विनय-पूर्वक कहा:—

तुमे जेबे बर देबो मागु अछि मुहि।
मोहोर वंश रे केहि न थिवे गोसांई॥

तब........

ठाकुरे बोइले एहा मागु काहि पाइँ।
तोते घेनि जुग राज्य करु थिबि मुंहि॥
इन्द्रद्‌युम्न बोले तोते मोर कार्य नाहिं।
सबु दिने किरति संसारे थिबो रहि॥
पुत्र नाति बोलिबे जे दउल आंभर।
आंभर बोइले धर्म जिबो जे मोहर॥

अर्थात्—तुम जब वर देते ही हो तो यह वर दो कि मेरे वंश में कोई न बचे। तब भगवान् ने कहा—'ऐसा वर क्यों मांगते हो ? मैं तुम्हें लेकर युग-युगान्तर तक राज्य करता रहूंगा।' तब इन्द्रद्‌युम्न ने कहा—'मेरी यह कामना नहीं है कि मेरी कीर्ति सदा रहे। पर यदि मेरे वंश में कोई बेटा-पोता हुआ तो वह इस मन्दिर को अपना कहेगा। इससे मेरे धर्म का नाश होगा।'

संतुष्ट होकर जगन्नाथ जी ने अभीप्सित वर प्रदान किया। पर इन्द्रद्‌युम्न को परलोक में पितृगणों के साथ एकासन पर बैठकर जलाञ्जलि पाने का सुयोग कैसे मिलेगा ? पुत्र-पौत्र रहेंगे नहीं, पितृदेव को पिण्ड देगा कौन ? यही देवता की भावना अनिर्वचनीय, अति मानविक है। इसीलिए मंदिर में पया श्राद्ध और दीपावली का विधान है। स्वयं जगन्नाथ इन्द्रद्‌युम्न के पुत्र बनकर पिण्डदान करते आये हैं। इससे बढ़कर आदर्श मानवीयता कहां देखने को मिलेगी ? यहां देवता का देवत्व नहीं, आभिजात्य का अहंकर नहीं, मृत-अमृत का पार्थक्य नहीं। है तो केवल बस कर्त्तव्यनिष्ठ मानविकता।

मानव-समाज धनी-दरिद्र, काले-गोरे, सबल-दुर्बल सब का समाहार है। कोई किसी से अपने को बड़ा समझे तो व्यर्थ है। सब उनकी संतान हैं, सब समान हैं।

कोई किसी को हीन-दृष्टि से क्यों देखे ? अतः जगन्नाथ जी की पूजा में भला-बुरा, थोड़ा-बहुत, कच्चा-पक्का कुछ नहीं। जिसने जो ले जाकर दिया, देवता हाथ बढ़ाकर न लेने पर भी बड़ी-बड़ी आंखें खोलकर देख लेते हैं, परख लेते हैं। यही कैवल्य-भाव है। जीव-अजीव, मृत-अमृत, सबल-दुर्बल की समानता है, ऐक्य-भाव है। इसमें उपास्य-उपासक, सेव्य-सेवक, दूसरे शब्दों में प्रभु और दास के बीच का पार्थक्य नहीं। दोनों समान, दोनों आदमी—यही उड़िया-संस्कृति है, मानव-संस्कृति है।

इस संस्कृति के दो बलिष्ठ बाहुदण्ड हैं : उदारता एवं सहनशीलता। सारी दुनिया मे ढूंढने पर भी ऐसी कोई धार्मिक-संस्कृति दृष्टिगोचर नहीं होती, जो उदारता में जगन्नाथ-संस्कृति के समकक्ष, सहनशीलता में उससे तुलनीय तथा समान रूप में समाज-स्थिति-स्थापक हो। यह बात भारतीय-समाज अत्यंत प्राचीन काल में ही हृदयंगम कर चुका था। अतः शबरों के उपास्य 'दारु देवता', जैनों के 'कैवल्य' और 'पुरुषोत्तम' को अपनाकर ब्राह्मण-धर्म में 'दारु ब्रह्म' के रूप में उपासित होते आ रहे है। इतना ही नहीं, धर्मान्तर-परिग्रही उदारपंथी मुसलमानों द्वारा उपासित न हुए हों, सो भी बात नहीं। फलतः जाति-धर्म-वर्ण कोई भेद यहां नहीं। चातुर्वर्ण्य प्रथा की यहां गंध नहीं। साम्प्रदायिकता का चिह्न नहीं। तथापि कुछ लोग इन सबका रहस्य न जान, इस विराट 'संस्कृति' को 'धर्म' नाम की संकीर्णता में खींच लेने की चेष्टा करते हैं। वास्तव में जगन्नाथ किसी धर्म या सम्प्रदाय के नहीं या कोई धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक देवता नहीं है। ये संस्कृति के देवता हैं, इनकी संस्कृति–'जगन्नाथ संस्कृति' है। यह भारत की संस्कृति, मानव-समाज की संस्कृति है। संक्षेप में उड़ीसा की संस्कृति है। इसमें धार्मिकता का स्पर्श नहीं है, सम्प्रदाय का संकेत नहीं है। वैसा होता तो आब्राह्मण-चांडाल एक पात्र में भोजन नहीं करते, ऊँठ-जूंठ में समानता नहीं रहती। इसमे जैन जिस प्रकार 'कैवल्य' लाभ करते हैं, उसी प्रकार ब्राह्मण को 'सायुज्य' लाभ होता है। इससे बढ़कर उदारता या सहनशीलता और क्या हो सकती है ?

और एक दृष्टिकोण से देखा जाय। जगन्नाथ, सुभद्रा, बलभद्र त्रिमूर्त्ति के बीच भाई-बहिन का संबंध। सीता-राम, हर-पार्वती, राधा-कृष्ण, लक्ष्मी-नारायण आदि आध्यात्मिक तथा आवतारिक देवताओं में कभी भातृ-भगिनी संबंध नहीं मिलता। वह प्रकृति पुरुष या पति-पत्नी सबंधानुगा मात्र है। पर यहां वह नहीं है। यहां पूर्णतः पृथक् है। परवर्ती काल में जगन्नाथ की आध्यात्मिक देवता विष्णु से अभिन्न कल्पना कर उनकी पत्नी के रूप में लक्ष्मी की प्रतिष्ठा होती आई है फिर भी वे जगन्नाथ जी के निकट न रहकर स्वतंत्र मंदिर में उपासित हैं। इतना ही नहीं, नौ दिन यात्रा के

समय साथ जाती है बहिन सुभद्रा, न कि महालक्ष्मी। देवता का भाई-बहिन आदर्श समग्र विश्व को अंगुली-निर्देश कर संकेत देता है—दुनिया के सारे सम्पर्कों की अपेक्षा भाई-बहिन का सम्पर्क ही श्रेष्ठतम है। उसे मानव-समाज सादर ग्रहण करे। यहां देवता करते हैं, करते आये है। इसी का नाम है—Fraternity।

इसके साथ-साथ जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा का विधान एक उदार कल्पना है। कितने ही उच्च पद पर आसीन होने पर भी आत्मीय-स्वजनों से दूर रहना समीचीन नहीं होता। समस्त कर्म-जंजाल के बीच कुछ समय के लिये ही सही, बन्धु-कुटुम्बियों के साहचर्य में आना ही चाहिये। अतः सदा सिंहासन पर बैठ कर जन-साधारण की दात-पुकार सुनने के साथ-साथ उनके साथ अपने को एक-आध बार शामिल करना भी वांछनीय है। पदारूढ़ अवस्था में जो अकरणीय या असुन्दर विवेचित होता है, वहां से उतर आने पर वही कई बार अकरणीय नहीं लगता। विचारपति जिस तरह न्यायपीठ से उतर आने के बाद स्वजनों के बीच मधुरालाप करते समय बातचीत में विधि-निषेध नहीं रखता, उसी तरह स्वयं-सृष्ट मानव-समाज के बीच देवता का आगमन एक ऐश्वर्यमय उदात्त कल्पना है। स्वयं रथारूढ़। साथ में असंख्य आत्मीय मानव-समाज। चारों ओर आनन्द का कोलाहल, बीच में अलौकिक शक्ति-सम्पन्न देवता। उसमें आत्म-संयम का प्रश्न कहां? समाज-चेतना का अवसर कहां? सब उद्भ्रान्त, हर्ष-विभोर, पागल। इसमें श्लील-अश्लील, वाच्य-अवाच्य, कार्य-अकार्य का विचार रहेगा कैसे? अतः अत्यन्त अश्लील, शिष्टताविरुद्ध क्रिया-कलाप भी मार्जनीय होते हैं। यहां देवता-आदमी, पुरुष-स्त्री, पंडित-अपंडित, बाल-वृद्ध कोई किसी से न्यून नहीं, भिन्न नहीं। सब आनन्द-सागर में निमज्जित। इस पर भी देवता कर्त्तव्य की अवहेलना नहीं करते। रास्ते के किनारे घर बसा कर रहने वाले बंधुओं की उपेक्षा नहीं करते, कुशल-क्षेम पूछना नहीं भूलते। मौसी-मां के घर कम से कम एक रात बितानी होगी। कुछ तो भी दिया जायगा। यही तो मनुष्यता है, सामाजिकता है। यह कोई उड़िया नहीं, अथवा अ-उड़िया नहीं। यह समग्र मानव समाज का शिष्टाचार है, संस्कृति है। यही रथ-यात्रा-कालीन देवता का संकेत है।

इस दृष्टि से देखा जाय तो जो साम्य-मैत्री-स्वाधीनता का चिर लक्ष्य आधुनिक मानव समाज उदारता से घोषित करता आया है। उसका प्रतीक देवता के रूप में यहां उड़ीसा में जगन्नाथ में प्रतिष्ठा पा चुका है। यही उड़ीसा की संस्कृति है, मानव-संस्कृति है। दूसरे रूप में यही हमारी 'जगन्नाथ संस्कृति' है।

अनुवाद : शंकरलाल पुरोहित

सदाशिव रथ शर्मा

जगन्नाथ-धर्म और ईसाई-संकेतवाद

जगत प्रख्यात ख्रीष्टधर्म के आद्य अवतार भगवान ईसामसीह का, ईसाई-धर्म के प्रचार के हेतु परिव्रजन करते हुए, श्री जगन्नाथ-क्षेत्र में आने के मत ने आज दुनिया भर को आलोड़ित किया है। विशेषत: योगदा गोष्ठी के जरिए अमेरिका में इस भाव का प्रचार विशेष रूप से लक्षित हो रहा है। 'अमेरिकन रिपोर्टर' के १९७१ जुलाई अंक में इस संबंध में एक महत्त्वपूर्ण निबंध प्रकाशित हुआ है। हारवर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत अध्यापक डॉ० रोथ का मत है कि ख्रीष्टीय सप्तदश शताब्दी में कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने 'यिशुवेद' नामक एक पांडुलिपि के आधार पर मत व्यक्त किया था कि भगवान ईसामसीह भ्रमण करते हुए भारतवर्ष पहुंचे थे। संप्रति वह पांडुलिपि पेरिस के किसी एक प्रत्नतात्त्विक संग्रहालय में सुरक्षित रखी है। पुनश्च, पवित्र बाइबल (न्यू टेस्टामेण्ट) में ईसामसीह की जीवन-सारिणी में वर्णित दस वर्ष व्यापी अज्ञात भ्रमण को भारत भ्रमण बतलाया गया है। आलोचकों का कहना है कि वे उस समय पुरी, The land of Jugurnut आए थे। उन विद्वानों में, उड़ीसा सरकार के समवाय विभाग के संचालक श्री नीलमणि महन्ति का लेख प्रणिधान योग्य है। परमपद प्राप्त जगद्गुरु भारती कृष्णतीर्थ स्वामी ने अपने कई प्रवचनों में इसका उल्लेख किया है। पर ईसाई समाज के द्वारा इस मत को अभी तक कहीं भी स्वीकार नहीं किया गया है।

खीष्ट-धर्म की प्राचीन परम्परा, पद्धति, कला और दर्शन पर विचार करने पर लगता है कि इसका जगन्नाथ-धर्म के साथ बहुत मेल है और इसलिए लगता है कि इन धर्मों में निश्चित रूप से कुछ सम्पर्क अवश्य था। महात्मा भविष्यत् ज्ञाता होते हैं। भविष्य के इसी ज्ञान से उनकी चिन्ताधारा भी परिचालित होती है। वे कार्य-क्षेत्र में उतरने के पहले किसी आदर्श पुण्य-पीठ से सत्ता ग्रहण करते हैं। फिर अन्त में कुछ अपनी सत्ता का प्रभाव वहां छोड़ भी जाते हैं। कुछ स्थलों में उसके प्रत्यक्ष एवं परोक्ष प्रमाण उपलब्ध हैं। ऐसे प्रमाण सर्वथा मूल्यवान् और महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस दृष्टि पर विचार करने पर जगन्नाथ-धर्म के अनेक गुरुत्वपूर्ण तत्त्व ईसाई-धर्म के संकेतों में परिदृष्ट होते हैं। इसमें प्रधान है—'दारुपूजा'। जगन्नाथ भारतीय संस्कृति में एकमात्र दारु-विग्रह हैं। सनातन-धर्म में वृक्ष को संसार के प्रतीक के रूप में ग्रहण किया गया है। उसी के आधार पर दारुपूजा का प्रसार हुआ है। गीता के पुरुषोत्तम योग में ससार-वृक्ष के प्रतीक के रूप में पीपल वृक्ष को लिया गया है। ईसाइयों ने 'दारु' और वृक्ष को सृष्टि के मूल उत्पादन के रूप में तथा परमपथ के पाथेय के रूप में ग्रहण किया है। इस तत्त्व का आदिस्थल पुरुषोत्तम क्षेत्र ही है। ईसाई धर्म में संसार-वृक्ष की उपासना प्रसिद्ध है। विशेततः *Lavrvs Metaphysica* नामक ग्रन्थ में प्रकाशित Plate-Incomiex नामक विशाल संसार वृक्ष की व्यापकता के प्रदर्शन को देखने से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वह जगन्नाथ-धर्म में कल्पित कल्पवृक्ष ही के अनुरूप है। पवित्र बाइबल में वृक्ष की इस जड़-जीवन्त जगत की प्राणसत्ता के रूप में कल्पना की गई है :—

And God said, Behold, I have given you every herb bearing seed, which is upon the face of all the earth, and every tree, in which is the fruit of a tree, yielding seed.[1]

आगे जब आदम उस निषिद्ध (forbidden) फल को खा लेता है तो ईश्वर उसकी प्रताड़ना करते समय फिर जीव-वृक्ष की चर्चा करता है—

And the Lord said, Behold........and take also of the tree of life........[2]

निश्चित रूप से इस भावधारा का जगत-जीवन जगन्नाथ-तत्त्व के साथ गहरा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में गीता की यह उक्ति भी विचारणीय है—

1 Old Testament–Genesis—Chapter I–29.

2 Genesis—Chapter III–22.

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थंप्राहुरव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ।।

—श्रीमद्भगवद्गीता–१५।१

अर्थात्—आदि पुरुष परमेश्वर रूप मूल वाले और ब्रह्मा रूप मुख्य शाखा वाले जिस संसार-रूपी पीपल के वृक्ष को अविनाशी कहते हैं, तथा वेद जिसके पत्ते कहे गये हैं, उस संसार रूप वृक्ष को जो पुरुष मूल सहित तत्त्व से जानता है, वह वेद के तात्पर्य को जानने वाला है।

पुनश्च, ई० सं० १५१२ के एक उत्कीर्ण चित्र में ईसामसीह को वृक्ष के रूप में ग्रहण करके, सुख और दुःख रूपी फल को तोड़ते हुए रोमन सभ्यता के आदि पुरुष आदम (Adam) और मूल प्रकृति नारी ईव (Eve) को दिखाया गया है। इस चित्र का नाम *Lignam-Fici* है। इसी के आधार पर खीष्टीय पण्डितों ने, जो संकेतवाद के आचार्य विद्वान कहलाते हैं, *Dirctionary of Symbols* नामक पुस्तक में लिखा है—The tree also corresponds to the cross of redemption and the cross is after-depicted in Christian inconography (पृष्ठ ३२६)। पुनश्च, रोमन सभ्यता के सृष्टि रहस्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि जगन्नाथ के दारुमय अप्राकृत आदिम (primitive) स्वरूप का उस प्राचीन सभ्यता के साथ निश्चित रूप से सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध की एक दिशा से नहीं, हर दिशा मे समानताएं पायी जाती हैं। रोमन-सभ्यता के संसार-वृक्ष, और श्रीमद्भागवत में पुरुषोत्तम के प्रादुर्भाव के समय की 'वृक्ष-स्तुति', जिसका वर्णन दशम-स्कन्ध में है, में कुछ भी पार्थक्य नहीं है।

अब त्रिमूर्ति-तत्त्व पर विचार करें। भारत के प्रत्येक धर्म में दो मूर्त्तियों की विशेषता का स्वीकार होते हुए भी प्राचीनतम सभ्यता के वेद-कालीन प्रणव-तन्त्र में, बौद्ध-धर्म के त्रिरत्न रहस्य मे और ईसाई धर्म में त्रिमूर्ति की कल्पना शीर्षस्थ मानी गई है। *Old Testament* में *Genesis* के अन्तर्गत ३५वें अध्याय में ईश्वर ने इस त्रित्त्व के सम्बन्ध में जेकोव से कहा है—

And God said unto Jocob, Arise, go upto Belh-el and dwell there and make there an altar unto God.

Genesis के ४६वे अध्याय के कुछ अशों का उद्धरण भी इस सन्दर्भ में अर्थपूर्ण है। यथा—

'All the souls that came with Jacob into Egypt........were

three score and six ?

All the souls of the house of Jacob, which came into Egypt, were three score and ten ?

पुनश्च, जिन्होंने खीष्टीय पवित्र *Garil* पर विचार किया है, उन्हें पता होगा कि वह तीन भागों में बंटा हुआ है। एक Gothic miniature या गथिक चित्रकला है, जिसमें एक गोल मेज पर पवित्र *Garil* तीन रूपों में संरक्षित है। सब खीष्टाचार्यों के उसे घेरकर बैठे रहने का सांकेतिक अर्थ शब्दकोष ग्रन्थ के plate xiii से ज्ञात होता है। इसे खीष्टीय आलोचकों ने ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर के अनुरूप बताया है, जो कि जगन्नाथ-धर्म के त्रितत्त्व का मूलभूत तत्त्व है। इसके अलावा J. E. Cirlot ने अपने सांकेतिक-शब्दकोष (पृ० ३३) में जो लिखा है उसकी जगन्नाथ तत्त्व के साथ पूर्ण एकरूपता है। उन्होंने लिखा है—

The Triform symbolism conforms to the general symbolism of triumviry form in its depiction of power and holiness.

इसलिए प्रत्येक क्रॉस के ऊपरी हिस्से में एक 'चिड़िया' (clubs) की आकृति के जरिए यह त्रितत्त्व प्रतिफलित हुआ है। बाइबल के प्रथम अध्याय में इस तत्त्व का चित्रण दो पुरुष और एक नारी के रूप में हुआ है....? १. जीवात्मा, २. परमात्मा, ३. मूल प्रकृति। *Old Testament* में लिखा है—

'So God (या पुरुषोत्तम) created man (जीवात्मा) in his own image, in the image of God he created him; male and female he created them.[1]

यह मत गीता के १५वें अध्याय में वर्णित क्षर, अक्षर उत्तम तत्त्व से पृथक् नहीं है। इसलिए खीष्ट-धर्म के त्रितत्त्व और जगन्नाथ-धर्म के त्रितत्त्व में साम्य की दृष्टि से विचार करने पर अपने आप दोनों में गहरा संबंध प्रतिपादित हो जाता है। विशेषत: जगन्नाथ जी के विचित्र रूप तथा वर्त्तुलाकार आंखों के ज़रिए इस प्रभाव को प्राचीनतम धार्मिक वस्तुओं में भी देखा जा सकता है। George Beller ने अपनी जर्मन भाषा तथा शिल्प चातुर्य पर लिखित पुस्तक *Gcmeimisse Der Relissance* में खीष्टीय चित्रों में वर्त्तुलता या वृत्त के अस्तित्त्व को अनेक रूपों में देखा है। उन्होंने लगभग हर गिरजाघर (Cathedral) में अपनाई गयी स्थापत्य-कला में वही वर्त्तुलता देखी है। जगन्नाथ-धर्म में मूर्त्ति, प्रतिमा की आँख, उदर-

1 Genesis—Chapter 1/27.

प्रदेश, मंडल, यन्त्र और पताका में इस वृत्त की सत्ता है। इन सब में श्री जगन्नाथ के नेत्रयुगल सर्वश्रेष्ठ हैं।

जगन्नाथ जी की प्रतिमा में दो विशाल वर्त्तुलाकार आँखें सबसे अधिक आकर्षक लगती हैं। सभी आचार्यों को इन आँखों ने मुग्ध किया है। श्री शंकराचार्य और श्री चैतन्यदेव ने भी इन आँखों को देखकर आनन्दानुभव किया है। उड़िया साहित्य में ये आँखें 'चकाडोला' के नाम से अभिवन्दित हैं। इस सम्बन्ध में सकेतवादी ईसाई कला आलोचकों की राय इस प्रकार है: —

● विन्दु—Unity of the Origin.

○ वृत्त—Infinity of the Universe.

⊙ केन्द्र—Centre of Infinity.

यह सांकेतिक शब्दकोष के १८९वें पृष्ठ पर है। इससे प्रतीत होता है कि प्राचीन मनीषियों ने इस मूल तथ्य को श्री जगन्नाथ जी के नेत्रों के रूप में प्रकाशित किया है। केवल यही नहीं, चीन में भी एक वर्त्तुलाकार मूर्त्ति है, जो स्वर्ग का प्रतीक कहलाती है। वह भी जनन्नाथ जी के नेत्र की तरह है। (PXVI The circular image of Chinese symbols (Fig 2)। *Sanpabolo Del Campo Church* के तोरण के शिखर पर बने चित्र के वर्त्तुलाकार नयनों को देखने से लगता है कि खीष्टीय मत में यह सांकेतिक चिह्न (Fig 3) पवित्रतम माना जाता है। इसलिए श्री जगन्नाथ जी के विशाल नेत्रों का ईसामसीह के लिए आकर्षक का केन्द्र बन जाना विचित्र नहीं लगता। यह परम्परा अब भी प्रचलित है[1]।

मार्गशीर्ष मास में मध्याह्न-भोग के समय "धुड़लगि" द्वारा जगन्नाथ जी का एक विशिष्ट शृङ्गार (वेश) होता है। उस समय पवित्र क्रॉस पर रहने वाली (तास के पत्ते की) चिड़िया का संकेत उस वेश में मिलता है। रथयात्रा के समय भी बकुल काष्ठ द्वारा निर्मित क्रॉस के आकार वाले 'सेनापट्टा' से उनकी सज्जा होती है। इस सबको देखने से यह विश्वास दृढ़तर होता है कि खीष्ट-धर्म के Trefoil एवं उस पर निर्मित चिड़िया का दारु पूजा से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। हो सकता है आर्यो और द्रविड़ों के "सेनापट्टा" वाले स्वरूप को पवित्र मानकर ईसाइयों ने उसकी आकृति ग्रहण कर ली हो। हो सकता है इस संकेत को आर्यों ने ईसाइयों से ग्रहण किया हो। इसमें चाहे जो भी सच क्यों न हो, सांकेतिकता की दृष्टि से और इन दोनों संकेतों के पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से यह तथ्य अवश्य ही मूल्यवान है।

---

1. II Modesto Cuixart Painting.

लगभग क्रिसमस के आसपास श्री जगन्नाथ जी के होने वाले वेश में, (Fig 5) क्रॉस को मण्डित करने वाली चिड़िया आकृति या Trefoil, केवल कला की दृष्टि से गृहीत नहीं हुई है। यह छवि त्रितत्त्व का ही संकेत है। इसलिए इस चिह्न से गिरजाघर को भी सजाया जाता है।

सांकेतिकता के मर्मज्ञ विद्वान Dr. Cirlot के मतानुसार चिड़िया चिह्न त्रितत्त्व या त्रिमूर्त्ति का प्रतीक है। An emblem of Trinity के नाम से यह गृहीत हुआ है। इस त्रिगुणात्मक चिह्न से ईसाइयों ने प्रकृति-पुरुषात्मक रूप की कल्पना की है और उसे भिन्न रूप प्रदान किया है। (Fig 4)। इस संकेत का व्यवहार अर्ध-नारीश्वर चित्र (Fig 6) में भी ईसाइयों ने किया है [1]।

Clonmacnois Ireland (आयरलेण्ड) में खीष्टीय दशम-शताब्दी में निर्मित एक आलंकारिक क्रॉस की आकृति है, जो plate no. V चित्र में प्रकाशित हुई है। उसकी पूर्व-वर्णित चिड़िया के साथ तुलना करने से यह पता चलता है कि क्रॉस का जगन्नाथ-धर्म के साथ कितना गहरा संपर्क है। *DU* नामक एक स्विस पत्रिका के १६५५ अप्रैल अंक में Jacob Boehme नामक एक पवित्र सांकेतिक चित्र प्रकाशित हुआ है। उस चित्र के साथ जगन्नाथ के चित्र का साम्य स्पष्ट है [2]। (Fig 9)

श्री जगन्नाथ जी की श्री गुण्डिचा (रथयात्रा) यात्रा के समय मूर्त्तियों की का5 से बनी एक वेष्ठनी (enclosure), जो क्रॉस की भांति है, पहनायी जाती है। उसे 'सेनापट्टा कहते हैं। श्री मंदिर के प्राचीनतम 'शबर' (शिकारी) सामन्तों के द्वारा वह पहनाया जाता है। इस सेनापट्टा को पहन लेने के बाद जगन्नाथ अत्यन्त उदार दीखते हैं। उस समय छूआ-छूत भाव दूर हो जाता है। सब जगन्नाथ को जैसे अपना ही आत्मीय मान लेते हैं। इस पवित्र सेनापट्टा की आकृति क्रॉस जैसी है (Fig 10)। प्राचीन काल में, विशेषत: शबर सभ्यता के समय, यह चिह्न शबरों के द्वारा पवित्र और उपादेय माना जाता था। आज वही चिह्न ईसाइयों के लिए पवित्रतम वस्तु है। इसका जगन्नाथ-धर्म में पवित्र संकेत के रूप में व्यवहार दोनों धर्मों में धार्मिक चिन्तन की समन्वयता को प्रतिपादित करता है। पुनश्च, सांकेतिकता के जरिए अनेक नये प्रमाण भी मिल सकते हैं। 'A symbolic element is present in all art, so far as the art is sbject to psychological intrepretation'— Herbert Read की इस उक्ति के साथ J. E. Cirlot को सांकेतिकता की यह व्याख्या

1. Ardhanariswara, Page 139, The Dictionary of Symbols.
2. 15th Year Swiss Illustrated Monthly, Page 15.

भी विचारणीय है—'Symbolism—Nothing is meaningless or neutral : everything is significant'। उनका कहना है कि सांकेतिकता में अनुमान के प्राबल्य की आवश्यकता है। फिर भी इसमें एक सार्वजनीन सत्य प्रच्छन्न रहता है [1]। इसलिए कला और संकेतवाद की दृष्टि से जगन्नाथ धर्म और प्राचीन ईसाई-मत में निश्चित रूप से कुछ गहरा संबंध था।

केवल इतना ही नहीं, स्कन्द-पुराण के जगन्नाथ पीठ वर्णन और वैष्णव दर्शन के 'त्रिपाद विभूति वैकुंठ' वर्णन की जेरुसलम वर्णन से समानता देखकर आश्चर्य-चकित होना पड़ता है। Studies in Comparative Religion (Autumn 1971) में प्रकाशित एक निबंध में कई चित्रों के द्वारा इसे प्रमाणित किया गया है कि स्वर्गोत्तम जेरुसलम की इस वर्णन के साथ अनेक समानताएँ हैं। इसके अलावा दूसरे प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि इन दोनों धर्म-मतों में अनेक समानताएँ हैं। ईसामसीह तेरह साल की उम्र में पुरी आए थे या नहीं यह अलग बात है। अगर दोनों धर्म-मतों में समानताएँ हैं, तो यह कहा जा सकता है कि ईसामसीह जगन्नाथ धर्म से प्रभावित हुए थे।

इस संदर्भ में एक प्रसंग का उल्लेख करना असमीचीन नहीं होगा। खीष्टीय १९वीं शताब्दी के शेष भाग में साधु सुन्दरदास नामक एक उत्कलीय महात्मा विद्यमान थे। उन्होंने जगन्नाथ-धर्म और ईसाई-धर्म में साम्यता की उपलब्धि की थी। वे एक निष्ठावान् ईसाई थे। स्टर्लिंग की पुरातत्त्व संबंधी पुस्तक में इस बात का उल्लेख है कि सुन्दरदास-मठ पुरी में प्रसिद्ध था। सुन्दरदास उस मठ में ईसामसीह और कृष्ण की मूर्त्तियों की पूजा करते थे और दोनों मतों की साम्यता को प्रतिपादित करते थे। अब भी वह मठ पुरी की मरिचि कोट गली में है। अब वह मठ संपूर्ण रूप से एक हिन्दूमठ के रूप में परिचित है। जगन्नाथ धर्म वास्तव में एक ऐसा उदार धर्म है, जिसमें धरती के समस्त प्राचीन धर्मों के संकेत के सूत्र हैं—मानो सब धर्मों के साथ इसकी गहरी घनिष्ठता है—यही विचित्र है।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्‌गाता

1. Origin and Continuity of the Symbols, See also Some Aspects of Stupa Symbolism by Anagarika B. Govinda.

केदारनाथ महापात्र

उड़ीसा के व्रत, पर्व और त्योहार

बौद्ध-युग :

कीर्तिमण्डित भुवनेश्वर से तीन मील दूर दक्षिण पूर्व दिशा में प्राचीन कलिंग की राजधानी तोषली या धउलीगिरि है। वहाँ एक शिलाखण्ड पर देवप्रिय प्रियदर्शी मौर्य-सम्राट् अशोक द्वारा खनित ग्यारह मुख्य अनुशासन एवं दो पृथक् स्वतंत्र अनुशासन विद्यमान हैं। इसके नवम अनुशासन में उस काल में प्रचलित इस देश के व्रत और पूजा आदि का उल्लेख किया गया है। उदाहरणस्वरूप—

'देवानां प्रियः प्रियदर्शी राजा आह—जन उच्चावचं मंगलं करोति। आवाह्ये, आवाहे, प्रजोत्पादे, प्रवासे, एतस्मिन् अन्यस्मिश्च एतादृशो बहुमंगलं करोति। इहतु अर्भक जनन्यः बहुच बहुविद्यंच क्षुद्रञ्च निरर्थकंच मंगलं कुर्वन्ति। तत् कर्त्तव्यं चैव महाफलं यद्धर्म मंगलम्[1]।'

अर्थात् देवप्रिय प्रियदर्शी राजा (अशोक) कहते हैं—'यहाँ के लोग व्रत, उपवास, पूजा, हवन आदि अनेक मंगल-कार्य करते हैं। मेला, उत्सव (आवाह), विवाह, निमंत्रण, सन्तान-उत्पादन, विदेश-यात्रा आदि अवकाशों में तथा अन्य शुभ-कार्यों के सम्पादन करते समय अनेक मांगलिक अनुष्ठानों का (व्रत, पूजा आदि) आयोजन करते हैं। दुःख एवं संकट के क्षणों में भी इनका आश्रय लेते हैं। सन्तानवती माताएँ सन्तान की मंगल-कामना हेतु अनेक प्रकार के क्षुद्र और निरर्थक कार्य भी करती हैं।

---

१. मूल शिलालेख का संस्कृतानुवाद।

इस तरह के मंगल-अनुष्ठान करणीय हैं। इनसे सामान्य फल मिलता है। पर धर्म-मंगल (बौद्ध धर्मोनुमोदित) कार्य विशेष फल देने वाले होते हैं।'

इस अनुशासन में किसी निर्दिष्ट व्रत, पर्व या त्योहार का उल्लेख नहीं किया गया है। फिर भी यह वैदिक-युग से प्रचलित जाति-कर्म, कर्ण-वेध, उपनयन, विवाह आदि दस कर्मों को और तीर्थ यात्रा, प्रतिष्ठा एवं अन्यान्य हवन-यज्ञादि को लक्ष्य में रखते हुए लिखा गया है। देवप्रिय प्रियदर्शी अशोक इस प्रकार के मंगल-अनुष्ठानों को निरुत्साहित करते थे तथा 'धर्म-मंगल' कार्यों के पालन के लिए उपरोक्त अनुशासनों के प्रचार पर ज़ोर देते थे। इसके बावजूद भी जन-जीवन में रमे हुए तथा प्राचीन काल से प्रचलित ये व्रत, उपवास और पर्व आदि समाज में विभिन्न रूपों में पालित होते चले आ रहे हैं।

उनके प्रथम अनुशासन में समाज (सभा) की निन्दा की गयी है। 'नापिच समाज कर्त्तव्यो। बहुकाव हि दोपान् समाजस्य देवानांप्रिय प्रियदर्शी राजा पश्यति'। सामाजिक अनुष्ठानों में (व्रत, पर्वादि) मद्य-मांसादि के प्रचलन की निन्दा अशोक ने की है। उस समय पर्वों में विमान-यात्रा, हस्ती-यात्रा, भेरीघोष, अग्नि संधा (पटाखे आदि) एवं अन्यान्य दिव्यरूप सुन्दर-सुन्दर विग्रहों (कलाकुंज सदृश प्रदर्शनी) का आयोजन भी होता था। 'भेरी घोषे ....विमान दर्शनादि हस्तिनोरग्नि संधा अन्यानि च दिव्याणि रूपाणि दर्शयितु जनस्य'।

जैन-युग :

देवप्रिय प्रियदर्शी अशोक के परवर्त्ती कलिंग चक्रवर्त्ती महामेघवाहन श्री खारबेल जैन धर्मावलम्बी होते हुए भी दर्प-नृत्य, (कुश्ती, कसरत) गीत, वाद्य, उत्सव तथा अन्य अनुष्ठानों द्वारा प्रजा का चित्त-विनोदन करते थे। उदाहरण स्वरूप—'गन्धर्व वेदवुधः दर्प-नृत्य-गीत-वादित्र-सन्दर्शनेरुत्सव समाज-करणभिश्च क्रीड़यति नगरीं'। विभिन्न मंगल अनुष्ठानों के (व्रत-उत्सवादि) समय असि, छात्र, पूर्णघट, पताकाधारी समुदाय, हाथी, घोड़े तथा रथों पर सवार एवं पदातिक सेनाएँ शोभायात्रा करके नगर की परिक्रमा करती थीं। 'सप्तमेच वर्षे असि-छत्र-रथ-रक्षि-तुरंग-शतघटनां सर्वत्र संदर्शनं सर्वमंगलानि च कारयति शत सहस्रैः।'

बौद्ध सम्प्रदाय के बोधि-द्रुम की पूजा-सी जैनियों की 'पल्लव भार कल्पवृक्ष' पूजा एक परम पवित्र पर्व था। इसलिए जैन सम्राट् खारवेल, पल्लव-मंडित कल्पवृक्ष की, हज़ार-हज़ार अश्वारोही, गजारोही, पदाति एवं रथियों से परिवृत्त होकर, विराट्

जुलूस में सम्मिलित हो, परिक्रमा करते थे। 'अष्टमे च वर्षे........कलिंग याति, पल्लव भार कल्पवक्ष हय-गज-नर-रथैः सहयाति'।

श्री खारबेल जैनी होते हुए भी उदारचेता थे और सर्व-धर्म प्रिय थे। उन्होंने सब देवायतनों का संस्कार-साधन किया था। 'सर्व-पापण्ड-पूजकः सर्व-देवायतन-संस्कार कारकः..........खारबेल श्री'। उन्होंने सिंहासनारोहण के बाद चक्रवात से ध्वस्त हुए 'गोपुरों' और 'प्राकारों' का पुनर्निर्माण किया था। 'अभिषिक्त मात्रश्च प्रथमे वर्षे वात-विहत-गोपुर-प्राकार निवेशनं प्रति संस्कारयति कलिंग नगरे'। उनके राजत्व पूर्व ही कलिंग में अनेक देव-मंदिरों का निर्माण हो चुका था और इसलिए निश्चित रूप से ही अनेक पर्व व्रतादि भी पालित होते थे। पर उन सब पर्वों के बारे में आज कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।

ब्राह्मण-युग :

कुछ दिन पहले केन्दुझर के चम्पुआ सबडिविजन में 'अशनापाट' नामक स्थान से ब्राह्मी वर्णमाला में संस्कृत भाषा में लिखित एक अभिलेख-संयुक्त नटराज की मूर्त्ति मिली है। यह मूर्त्ति राज्य-संग्रहालय (State Museum) में रखी गई है[1]। यह अभिलेख उड़ीसा के प्राचीन इतिहास की अनेक नई दिशाओं को आलोकित करता है। इसी से पता लगता है कि देवायतन निर्माणकारी महाराज श्री शत्रुभंज महाभारत, पुराण, इतिहास, व्याकरण, उपशिक्षा, न्याय, मीमांसा, छन्द, श्रुति, वेद-प्रकरण, सांख्य आदि शास्त्रों के ज्ञाता थे। इस देश की परम्पराओं का अनुसरण करते हुए वे विभिन्न धर्मावलम्बियों के प्रति समदर्शिता बरतते थे। इसलिये उन्होंने चतु-र्वेदीय ब्राह्मण, ब्रह्मचारी, चरक, परिव्राजक, हिन्दू-संन्यासी, निग्रन्थक (जैन संन्यासी), भिक्षु (बौद्ध संन्यासी) आदि के लिए मठ-विहारादि का निर्माण किया था और उन्हें लाखों गौ तथा हजार-हजार स्वर्ण-मुद्राएँ दान-स्वरूप दी थीं। इसलिए यह संभव है कि सदियों के बाद फिर ब्राह्मण-धर्म एवं कर्म का पुनरुत्थान हुआ होगा और फिर पर्वों और व्रतों का सहज-पालन समाज ने अपनाया होगा।

चतुर्मासी, ऋतु, पक्ष, मास, तिथि और वार :

प्राचीन काल से ही भारत में वैशाख, ज्येष्ठ आदि चन्द्रमान मास और तिथि आदि का

1. Asanapat : by Aniruddha Das I. A. S., The Orissa Historical Research Journal, Vol. XIII, No. 2., PP 1-8.

प्रचलन था। वर्ष को तीन चतुर्मासों में विभक्त किया जाता था—ग्रीष्म-चतुर्मासी, वर्षा-चतुर्मासी और शीत-चतुर्मासी। प्रत्येक चतुर्मासी के प्रथम मास की यथा—फाल्गुन, आषाढ़ और कार्त्तिक मास की पूर्णिमाएँ, एवं पौष मास की पूर्णिमा, चतुर्दशी, अमावस्या, प्रतिपदा आदि तिथियां पर्व के रूप में मनाई जाती थीं। सम्राट् अशोक के पंचम स्तम्भ-लेख से पता लगता है कि—

'त्रि स्त्रिषु चातुर्मासीषु (कार्त्तिक फाल्गुनाषाढ़ पूर्णिमासु) तिषायां (पौषे) पूर्णमास्यां त्रिपुदिवसेषु चतुर्दशे, पंचदशे, ध्रुवायां (ध्रुवत्वेन)........अष्टमी पक्षे (अष्टमीषु) चतुर्दश्यां पंचदश्यां तिष्यायां पुनर्वसौ तिस्त्रिषु चातुर्मासीषु सुदिवसे (पर्व दिने) गौः न विलेक्षयितव्यः। तिष्यायां पुनर्वसौ चातुर्मास्यां चातुर्मासी पक्षे च अश्वस्य गौः च लक्षणं नो कर्त्तव्यम्।'

उड़ीसा में भी प्राचीन काल से वही चातुर्मास्य-व्रत पालित होता आ रहा है।

सौरमान-मासों का प्रचलन :

सारे भारतवर्ष की तरह उत्कल में भी ईसा के परवर्ती काल में मेष, वृषभ आदि राशियों के आधार पर सौरमान मासों की गणना का प्रचलन होता था। अधिकांश ऐतिहासिकों का मत है कि भारतीय ज्योतिषियों ने ग्रीक और रोम के ज्योतिषियों से सौरमान मासों की गणना की शिक्षा पाई थी। पंचम शताब्दी में कलिंग में शासन करने वाले माठर-वंशीय राजा अनन्तवर्मन का एक दानपत्र उत्तरायण त्रयोदशी की शुभ तिथि में प्रदत्त हुआ था। गंजाम से मिले २५० गुप्ताब्द या ५३० खीष्टाब्द के एक 'ताम्रशासन' (ताम्रफलक) में उत्तरायण माघ-कृष्ण एकादशी की तिथि एक शुभ तिथि के रूप में वर्णित हुई हैं [२]। जयदेव वर्मा का १०० गंगाब्द या ५९८ खीष्टाब्द में प्रदत्त दानपत्र पवित्र 'विषुव-संक्रान्ति' के दिन संपादित हुआ था [3]। केशरीवंश के राजा रणकेशरी का गोविन्दपुर अभिलेख संवत् ८११, खीष्टाब्द ७५४ माघ-शुक्ल एकादशी बुधवार के दिन लिपिबद्ध हुआ था। यह दिन भौम एकादशी के नाम से प्रसिद्ध है तथा इस देश के पंचांगों में एक शुभ दिन के रूप में माना जाता है। रणक शत्रुभंज का दशपल्ला ताम्रशासन १९८ भौम संवत् या ८१२ खीष्टाब्द की पवित्र विषुव-संक्रान्ति तिथि पंचमी रविवार और मृगशिरा नक्षत्र में उत्कीर्ण हुआ था।

2—O. H. R J., Vol. I, PP 66-69.
3.—E. I., Vol. XXIII, PP 267-269.

बारह संक्रांतियों में महाबिषुव-संक्रान्ति, धनु-संक्रान्ति और मकर-संक्रांतियाँ शुभ-दिन के रूप में उस युग से स्वीकृत होती आई हैं। इन तिथियों में उत्कल के अनेक स्थानों में पर्व-उत्सव आदि मनाये जाते हैं।

तिथि-पर्व :

संक्रान्ति की तरह कार्तिक शुक्ल एकादशी, शुक्ल द्वादशी और पूर्णिमा तीन पवित्र तिथियां हैं। महाकवि कालिदास के 'मेघदूत' में कार्तिक शुक्ल एकादशी विष्णु के उत्थान-दिवस के रूप में गृहीत हुई है। 'शापान्ते मे गणनयादुत्थिते शर्ङ्गपाणौ'—(उ० मेघ ४१)। शत्रुभंज का 'जंगलपाडु' दानपत्र कार्तिक शुक्ल एकादशी[5], भौम-सम्राट शिवकारदेव के चौरासी दानपत्र[6], शत्रुभंज का गंजाम दानपत्र (भौम-संवत् १९८, खीष्टाब्द ८१२) देवोत्सव-द्वादशी के दिन[7], नेट्ट भंज का एक ताम्रशासन (भौम-संवत् २१३, खीष्टाब्द ८२७) कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन[8], शत्रुभंज का कुमारकेला ताम्र-शासन कार्तिक शुक्ल महाद्वादशी के दिन प्रदत्त हुआ था[9] और परम वैष्णव शत्रुभंज का सोनपुर दानपत्र[10] अक्षय तृतीया के दिन सम्पादित हुआ था। इससे प्रमाणित होता है कि उनके समय में वैशाख शुक्ल तृतीया की तिथि एक पवित्र पर्व-तिथि मानी जाती थी। यह दिन आज भी सारे उत्कल में एक पर्व के रूप में मनाया जाता है। इसी दिन से चन्दन यात्रा का पर्व आरम्भ होकर इक्कीस दिनों तक चलता है।

नवम शताब्दी में रचित महाकवि मुरारी के 'अनर्घ राघव' नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि यह नाटक लवणोदधि वेलाभूमि पर अवस्थित महानीलमणि पुरुषोत्तम की यात्रा के अवसर पर खेला गया था। 'लवणार्द्र-वेला-वनालि-तमाल तरु कन्दलस्य त्रिभुवन मौलि-मण्डन महानीलमणेः भगवतः पुरुषोत्तमस्य यात्रायामुपस्थायीया सभासदः'। टीकाकार विष्णुभट्ट तथा उत्कलीय कविराय पुरुषोत्तम मिश्र ने इस यात्रा को श्री जगन्नाथदेव की 'श्री गुण्डिचा यात्रा' बताया है। इससे ज्ञात होता है कि यह पर्व उत्कल में नवम शताब्दी के पहले से ही प्रचलित है। परवर्ती-काल में भारत के पूर्व भागों में प्रतिष्ठित शताधिक जगन्नाथ देव के मंदिरों में आषाढ़ शुक्ल द्वितीया के दिन रथयात्रा का उत्सव अनुष्ठित होता आया है।

5. Journal Bihar Orissa Research Society, Vol. XVIII.
6. J. B. O. R. S., Vol. XIV, PP 292-306.
7. O. H. R. J., Vol. IV.
8. E. I., Vol. XXVIII, PP 281.
9. J. B. O. R. S., Vol. II, PP 29.
10. E. I., Vol. XI, PP 99-101.

उत्कल में राजत्व करने वाले गंगवंशीय राजाओं के दक्षिण-उड़ीसा से प्राप्त लगभग १०० अभिलेखों से यह ज्ञात होता है कि उनमें से ५० लेख उत्तरायण-संक्रांति या मकर-संक्राति के दिन, १६ लेख मेष-संक्रांति या विषुव-संक्रांति के दिन, १४ लेख महाद्वादशी या कार्तिक शुक्ल द्वादशी के दिन ६ लेख दक्षिणायन-संक्रांति या कर्कट-संक्रांति के दिन, २ लेख अक्षय तृतीया के दिन, १ लेख माघ शुक्ल सप्तमी के दिन तथा ३ लेख माघ पूर्णिमा के दिन प्रदत हुए थे[11]। इसलिए इस मान्यता में इन तिथियों को पर्व-दिन के रूप में स्वीकार किया गया था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

देव-देवियों के विग्रह और पर्व :

धर्म-सर्वस्व हिन्दू-समाज में विभिन्न देव-देवियों की पूजा-आराधना के साथ पर्व, व्रत और उत्सवादि के अनुष्ठान जड़ित हैं। त्रयोदश शताब्दी के पूर्व-काल में उत्कल के अनेक स्थानों में निर्मित शताधिक मंदिरों में खनित या आभ्यन्तर में पूजित इन देवदेवियों की प्रतिमाएँ हज़ारों की संख्या में परिदृष्ट हैं। उत्कल के धर्म-मत के अनुसार शिव, विष्णु, दुर्गा, सूर्य और गणपति इन पंच-देवताओं की पूजा स्मृति-शास्त्रानुमोदित है। इस सम्पूर्ण अंचल में मुख्यतः शैव, शाक्त और वैष्णवों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित भी हैं। शैव-विग्रहों में हज़ारों की संख्या में शिवलिंग, दण्डायमान शिवमूर्त्ति, हर-पार्वती-मूर्त्ति, पार्वती, गौरी, अर्द्धनारीश्वर, शिव-विवाह, शिवजी के कैलाशवास, रावण द्वारा कैलाश-पर्वत का उत्तोलन, कुमार-जन्म, पार्श्वदेवता कार्तिकेय और गणेश की प्रतिमाएँ उल्लेखनीय हैं। शिव-मंदिरों में नटराज, शिव-ताण्डव, गणेश-ताण्डव, पशुपति-धर्ममत के प्रवर्त्तक नकुलीश और उनके चार शिष्यों की प्रतिमाएँ देखने में आती हैं। शाक्त-प्रतिमाओं में महिषमर्दिनी दुर्गा की प्रतिमा सर्वाधिक संख्या में मिलती हैं। इसके अतिरिक्त एकत्र सप्तमातृका, दश-महाविद्या, स्वतन्त्र रूप से चामुण्डा, वाराही, नवकात्यायिनी, चतुष्षष्ठि योगनियाँ, कुरुकुल्ला, चर्च्चिका तथा अनेक भैरव और भैरवी मूर्त्तियाँ उल्लेखनीय हैं। प्राचीन काल के वैष्णव-विग्रहों में शंख-चक्र गदा-पद्मधारी विष्णु-मूर्त्ति, लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मी-नृसिंह, विष्णु के दश अवतारों के विग्रह और स्वतंत्र रूप से वाराह, नृसिंह, वामन, राम, कृष्ण, महालक्ष्मी और गजलक्ष्मी की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित और पूजित हैं। रामायण की विशेष लोक-प्रियता के कारण कुछ प्राचीन मंदिरों में राम द्वारा सप्तताल-वेध, बालीवध, सीता

---

11. Inscriptions of Orissa, by S. N. Rajaguru, Vol. III, Pt 2, Appendix 5, pp XXXXII.

अपहरण, सेतु-बंधन, राम-रावण युद्ध आदि को वर्णित करने वाली मूर्त्तियाँ खनित हुई हैं। चतुरश्व-सूर्य और अनेक आकृतियों वाली गणपति प्रतिमाएँ अल्प-संख्यक मंदिरों में स्थापित हैं। इस देश में प्राचीन काल से नागपूजा भी प्रचलित है। इस-लिए नाग-नागिन, नाग-कन्या, मनसा, आस्तिक, जरत्कारु आदि के विग्रह भी कुछ मंदिरों में स्थापित हैं। इन्द्र और ब्रह्मा के मंदिर बहुत कम हैं। आधुनिक गंजाम के घुमुसुरमाल, बौद, फूलवाणि, सोनपुर, दशपल्ला, अनुगुल आदि के पार्वत्य-अंचलों में सप्तम शताब्दी से भंज और शुल्कि-वंशीय राजाओं का शासन था। उस भूखंड के, पार्वत्य जाति के अधिवासियों में 'काटखुण्ट' या 'दारुमय-स्तम्भ' और 'पत्थर खुण्ट' या 'स्तम्भेश्वरी-देवी' की पूजा होती थी। इसलिए इस जाति के लोगों ने अपने को उनके दानपत्रों में स्तम्भेश्वरी देवी के भक्तों के रूप में अभिहित किया है और 'स्तम्भेश्वरी-लब्ध-वर-प्रसादः' का उल्लेख किया है। इस देवी के पर्वों में महाष्टमी दुर्गोत्सव-पर्व सबसे अधिक प्रचलित है।

'शतानन्द-संग्रह' वर्णित पर्व और त्योहार :

एकादश शताब्दी में श्री पुरुषोत्तम-क्षेत्र में सरस्वती और शंकर के पुत्र श्री शतानन्द आचार्य नामक एक भारत-प्रसिद्ध ज्योतिर्विद पंडित और धर्मशास्त्रकार का जन्म हुआ था, उनके ग्रंथों से १०२१ शकाब्द या १०९९ खीष्टाब्द में रचित 'पंच-सिद्धान्तिका' नामक ज्योतिष-ग्रंथ और 'शतानन्द-संग्रह' नामक धर्मशास्त्र मुख्य हैं। 'शतानन्द-संग्रह' के मूल-ग्रंथ अभी तक अनुपलब्ध हैं। इस ग्रंथ में उनके समय में प्रचलित विभिन्न पर्व एवं व्रतों की चर्चा एवं व्याख्या की गई है। उनके परवर्ती शास्त्रकारों ने जगह-जगह उन्हीं की रचना का उल्लेख किया है। उसे संग्रहीत करके मैंने उस समय में प्रचलित निम्नांकित व्रत और त्योहारों की एक सूची बनाई है—

रज पर्व :

'शतानन्द संग्रह' में वर्णित पर्वों में 'रज पर्व' प्रधान है। उत्कल के अतिरिक्त अन्य प्रांतों में इस पर्व का प्रचलन नहीं है, इसलिए इस ग्रंथ को छोड़ कर अन्य किसी भी प्राचीन ग्रंथ में या पुराणों में इसके सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं है। इस पर्व के सम्बन्ध में इस ग्रंथ में उल्लेख है कि सूर्य के मृगशिरा नक्षत्र के अवस्थान-काल में पृथ्वी तीन दिनों तक रजस्वला होती है। यथा—'वृषान्त दिनं संक्राति दिनं तत्पर-दिनं चेति दिन-त्रयमित्यर्थः' अर्थात् वृषमास के अन्तिम दिन, मिथुन-संक्रांति और तत् परदिन इन तीन

दिनों में किसी भी प्रकार के कृषि-कार्य का करना मना है। 'मृगर्क्षेऽर्के निवसति तन्मध्येऽपि दिनत्रयम्, रजस्वला स्यात् पृथ्वी कृषि-कर्म-विगर्हितम्'। प्राचीन-काल से आज तक इस पर्व का पालन उत्कल में होता आ रहा है। प्रत्येक जाति के लोग यह पर्व मनाते हैं। विशेषतः स्त्रियाँ सुन्दर वस्त्र आभूषणों से अपने को सजा कर समस्त गृह-कार्यों से निवृत्त होकर केवल आमोद-प्रमोद और क्रीड़ा-कौतुक में समय बिताती हैं। धउली और बरुणोई आदि स्थानों में तीन दिन तक बड़े-बड़े मेले भी लगते हैं।

शतानन्द ने भाद्रपद महीने के तीज-त्योहारों में जन्माष्टमी, सप्तपुरिका अमावस्या, गौरी-तृतीया, शिव-चतुर्थी, ऋषि-पंचमी और इन्द्र-पूर्णिमा आदि का वर्णन किया है। उत्कल में भाद्रपद कृष्ण-अष्टमी के दिन श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी मनायी जाती है। इस व्रत का पालन बड़ी निष्ठा से होता है। रात्रि में श्रीकृष्ण जन्म समय में पूजा आदि के बाद श्रीमद्भागवत से जन्म-सम्बन्धी अध्यायों का श्रवण जब तक श्रद्धालु भक्त-गण नहीं कर लेते, तब तक वे जल भी ग्रहण नहीं करते। सप्तपुरिका-अमावस्या का व्रत आजकल मात्र श्री जगन्नाथजी, श्री लिंगराजजी आदि कुछ मंदिरों में ही मनाया जाता है। उत्कल की स्त्रियाँ अति निष्ठा के साथ भाद्रपद शुक्ल-तृतीया के दिन गौरी-पूजा करती हैं। वे उपवास करती हैं और सारी रात जाग कर शिवजी की पूजा करती हैं। इस व्रत का दूसरा नाम 'बालि-तृतीया' भी है, क्योंकि इसी दिन घर-घर में बालू से शिवलिंग बना कर उनकी पूजा की जाती है। इसके बाद चतुर्थी के दिन हर-पार्वती पूजा का विधान है। पर परवर्ती काल में ही यह पूजा शंकर-पार्वती के पुत्र गणेश की पूजा में बदल गई, और तब से विद्यार्थीगण एवं सामान्य जनता इसे समारोहपूर्वक गणेश-चतुर्थी के रूप में मनाती चली आ रही है। अब इस पूजा का अनुष्ठान व्यापक रूप से उड़ीसा में हो रहा है और यह एक जातीय-पर्व-सा हो गया है। भाद्रपद शुक्लपक्ष की पंचमी के दिन स्त्रियाँ विश्वामित्र ऋषि की पूजा करती थीं। यह पूजा सन्तान की वृद्धि के लिये की जाती थी। उत्कलीय पंचांगों में इस पूजा का उल्लेख होते हुए भी इसका प्रचलन अब नहीं है। इसी तरह पूर्णिमा के दिन होने वाली इन्द्रपूजा भी अब अप्रचलित हो गई है।

आश्विन में अपराजिता-दशमी या विजया-दशमी, और कौमुदी-पूर्णिमा या कुमार-पूर्णिमा आदि व्रतों का उल्लेख है। विजयादशमी के दिन श्रीरामचन्द्रजी ने रावण के विरुद्ध युद्ध का अभियान आरम्भ किया था और अन्त में विजय पायी थी। इसलिए इसे अपराजिता-दशमी भी कहते हैं। महाष्टमी के दिन दुर्गोत्सव के बाद इस यात्रा

का आरंभ हुआ था—

दुर्गोत्सवानतर वैष्णवर्क्षे तिथौ दशम्यामपराजितायाम् ।
रामौ जिगीषुर्दशदिक्षुवेधं कृत्वा जगामारिपुरं प्रवीरः ।।

श्रीरामचन्द्रजी की विजय-यात्रा की स्मृति में पहले सारे उत्कल में देवता, राजा और राजपुरुषों द्वारा इस अवसर पर उत्सव मनाया जाता था। गाँवों में 'दशहरा पडिआ' (मैदान) में तलवारों का खेल, तीर और बन्दूक से निशाना साधने की करामात तथा युवकों द्वारा कुश्ती-कसरत होती थी। पर बंगीय प्रभाव के कारण पिछली एक शताब्दी से धीरे-धीरे इस पर्व ने अपनी मौलिकता खो दी है और अब मात्र दुर्गापूजा और मूर्त्ति-विसर्जन भर बच रहा है। फिर भी लोग अपने-अपने घरों में निष्ठा के साथ घर की पोथियाँ, नयी खाता-बही, और अपने पेशे या व्यवसाय के लिये आवश्यक ख़ास औजारों की पूजा करते हैं। इस प्रकार आने वाले वर्ष का कार्यारंभ होता है।

विजयादशमी की तरह कुमार-पूर्णिमा भी उड़ीसा का एक जातीय पर्व है। इस दिन युवक-युवतियां, बालक-बालिकाएँ नये वस्त्र-आभूषण पहन कर आनन्द मानते हैं। पुरुष ताश, चौंसर आदि खेलों में रात बिताते हैं और लड़कियाँ 'पुचि' आदि खेलों में रस लेती हैं।

कार्तिक का महीना बारह मासों में पवित्रतम महीना माना जाता है। इस महीने में घर-घर में रात को 'आकाश-प्रदीप' जलाया जाता है और अमावस्या के दिन पितृलोकों के लिये दीपदान की व्यवस्था होती है। इसलिए इस अमावस्या का नाम 'प्रदीपामावस्या' या 'दीपावली-अमावस्या' हुआ है। यथा—

तुलां प्रत्यगते सूर्ये अमावस्यातिथिर्भवेत् ।
उपास्त समये दीपान् पितृन् दद्यात् शुभः शुचिः ।।

सम्पूर्ण उत्कल में आजकल भी यह अमावस्या बहुत समारोहपूर्वक एवं नाटकीय ढंग से मनायी जाती है।

माघ के महीने में बरदा-चतुर्थी और श्रीपंचमी-व्रत का उल्लेख है। माघ शुक्लपक्ष चतुर्थी के दिन गौरी पूजा और पंचमी के दिन सरस्वती पूजा होती है। आजकल बरदा-चतुर्थी का पर्व लुप्त हो चुका है और श्री-पंचमी-पूजा समारोहों के साथ मनायी जाती है। शतानन्द ने इस सम्बन्ध में लिखा है—'पंचम्यांच श्रिया देव्याः पिष्टकैः स्वाध्यायिकछात्रगणैः पूजनम्।' गदाधर टीका के अनुसार 'श्री' का अर्थ यहां सरस्वती है और यह पूजा सरस्वती-पूजा के नाम से प्रसिद्ध है।

फाल्गुन पूर्णिमा या दोल-पूर्णिमा के दिन गोविन्द को झूले में झुला कर 'अबीर-गुलाल-उत्सव' की विधि है—

फाल्गुने पौर्णमास्यां तु कार्यः फागु महोत्सव ।
गोविन्दं दोलया क्रीड़न्.......................॥

प्राचीनकाल से ही 'दोल-महोत्सव' या 'दोल-यात्रा' (होली) उत्कल में प्रचलित है। पर इस शताब्दी में उत्तर-भारत के अनुकरण-स्वरूप फाल्गुन की पूर्णिमा के दूसरे दिन उड़ीसा में भी यह उत्सव मनाया जाता है।

इसके अलावा चैत्र कृष्ण-पक्ष की चतुर्थी के दिन शिवपूजा, चैत्र शुक्लपक्ष की त्रयोदशी के दिन रति-प्रीति समायुक्त कामदेव की पूजा, पौष की अमावस्या के दिन 'बकुल-अमावस्या-व्रत' का विधान है। 'शतानन्द-संग्रह' की तरह प्राचीन उत्कल में प्रचलित धवलाचार्य के 'धवल-संग्रह' नामक धर्मशास्त्र से पता चलता है कि पौष-अमावस या बकुल-अमावस के दिन बकुल-मिश्रित खीर से पूर्वजों की पूजा का एक पर्व था। इसी दिन वाराह अवतार भी हुआ माना जाता है। अब भी उत्कल में 'बकुल-अमावस' पर्व के रूप में प्रचलित है। अन्य दो पर्वों का प्रचलन अब उड़ीसा में नहीं है। 'शतानन्द संग्रह' के मूल ग्रंथों के अभाव में उसमें वर्णित अन्य पर्व अज्ञात हैं।

कृत्य-कौमुदी में वर्णित व्रत और पर्व :

चतुर्दश शताब्दी में आविर्भूत वृहस्पति सूरी द्वारा रचित 'कृत्य कौमुदी' नामक ग्रंथ राज्य संग्रहालय में संरक्षित है। इसमें चैत्रशुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन मनाये जाने वाले उत्सव 'अशोकाष्टमी', 'मेष संक्रांति', 'अक्षय तृतीया', 'शीतल षष्ठी', 'श्री गुण्डिचा यात्रा', 'बलभद्र पूर्णिमा', 'महालया', 'महाष्टमी', 'प्रथमाष्टमी', 'प्रावरण षष्ठी', 'रथ सप्तमी', 'माघ पूर्णिमा' या 'अग्युत्सव', 'शिवरात्रि' आदि लगभग पचास से अधिक व्रतों और पर्वों का वर्णन है। इसमें से अधिकांश पर्व लुप्त हो गये हैं। चैत्र शुक्ल-अष्टमी के दिन, जिसे अशोकाष्टमी भी कहते हैं, भुवनेश्वर में श्री लिंगराज की रथयात्रा अनुष्ठित होती है। महाविषुव-संक्रांति अथवा मेष-संक्रांति पर्व आज भी उत्कल में प्रचलित है। इसका लौकिक नाम 'पणा-संक्रांति' है। इस अवसर पर लोग नाना प्रकार के पणा (जीरे का जल, शरबत, घुला हुआ सत्तू, पंचामृत, पेय पदार्थ, प्रपानक, पना) पीकर अपनी प्यास मिटाते हैं। धार्मिक लोग इसी दिन से जलदान के लिये पौ (प्याऊ) खोलते हैं। धूप से रक्षा पाने के लिये इस दिन से एक मास तक शिव-लिंग और तुलसी-चौरा पर अखंड जलधारा-पात की व्यवस्था की जाती है। इस दिन उड़ीसा

के अनेक स्थानों में 'झम-यात्रा' भी होती है। अक्षय-तृतीया इस देश में युगों से प्रचलित है। यह दिन बीज बोने का काम आरंभ करने के लिये अनुकूल माना जाता है। इसी दिन से 'चंदन-यात्रा' (जलाशयों में नाव द्वारा श्रीकृष्ण-मूर्त्ति की यात्रा) आरंभ होती है जो तीन सप्ताह तक चलती है। इन दिनों लोग अनेक प्रकार के नृत्य-गीत द्वारा आनन्द मनाते तथा खाते-खिलाते हैं। पश्चिम उड़ीसा में यह एक उल्लेखनीय पर्व है। 'शीतल षष्ठी' या 'आरण्यक षष्ठी' उड़ीसा भर में, विशेषतः शिव मंदिरों में, ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष की षष्ठी के दिन बड़े उत्साह एवं विधि-विधान के साथ मनाई जाती है। यह उत्सव शिव-विवाह के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस उत्सव को कई पल्लियों में भी बड़े धूम-धाम से मनाया जाता है।

पुरी में श्री जगन्नाथ जी की रथयात्रा युगों से प्रचलित है। श्री जगन्नाथ जी के विश्रामागार 'श्री गुण्डिचा घर' के नामानुसार यह 'श्री गुण्डिचा-यात्रा' भी कहलाती है। इस मन्दिर को उत्कल के गंगवंशीय सम्राट् श्री चौड़गंगदेव (१०७७-११४७ ई०) की महारानी गुण्डिचोटी पाटदेवी ने बनवाया था। इसलिए यह मन्दिर श्री गुण्डिचा-मंदिर के नाम से भी जाना जाता है। ऐसी कथा प्रचलित है कि महाप्रभु जगन्नाथ पहले श्री गुण्डिचा के महल में ही रहते थे तथा वहीं उसकी पूजा ग्रहण करते थे। एक बार स्वप्न में प्रभु जगन्नाथ ने श्री गुण्डिचा के समक्ष यह इच्छा व्यक्त की कि उनका पृथक् निवास-स्थान बनवा दिया जाय। तदनुसार श्री जगन्नाथ जी के वर्त्तमान मन्दिर का निर्माण हुआ और वे वहीं प्रतिष्ठित हुए। श्री गुण्डिचा को प्रभु की सेवा में कुछ असुविधा महसूस हुई तो उसने अभ्यर्थना की कि कम से कम एक वर्ष में अवश्य ही वे उसके निवास स्थान पर पधारें। प्रभु ने इसे यह कह कर स्वीकार किया कि इसके लिये एक पृथक् भवन की व्यवस्था करवा दी जाय। यह भवन वही 'श्री गुण्डिचा घर' है, जहाँ प्रभु जगन्नाथ रथयात्रा के पर्व पर आज भी सप्त-दिवसीय विश्राम ग्रहण करते हैं।

रथयात्रा का त्योहार उड़ीसा का सर्वाधिक रंगीन, लोकप्रिय एवं गरिमापूर्ण त्योहार है। उड़ीसा की संस्कृति एवं जन-जीवन के प्राण महाप्रभु जनन्नाथ इस पावन पर्व पर मन्दिर की चहार दीवारी को छोड़ सामान्य मार्ग पर यात्रा के हेतु निकलते हैं। उड़ीसा के विभिन्न अंचलों से एवं देश के विभिन्न भागों से हजारों-लाखों की संख्या में श्रद्धालु-जन इस अभूतपूर्व दृश्य को देखने के लिए पुरी में जमा होते हैं। आदि जगन्नाथ शबर देवता माने जाते थे और उसी परिपाटी के अनुकूल आज भी रथयात्रा-पर्व में सात दिन तक उनकी सेवा-सुश्रुषा, पूजा-अर्चना इत्यादि

का सम्पूर्ण भार ब्राह्मण-पुजारियों से हटकर आदिवासी शबरों के हाथ में आ जाता है। पुरी राजवंश के उत्तराधिकारी (पुरी के वर्तमान राजा) यात्रा के सम्पूर्ण मार्ग को झाड़ू हाथ में लेकर साफ करते हैं। एक-एक कर तीनों मूर्त्तियां पृथक्-पृथक् रथ में बिठाई जाती हैं। जगन्नाथ जी की रथ-यात्रा जब आरम्भ होती है तो लाखों नर-नारियों की सामूहिक तुमुल हर्ष-ध्वनि एवं जय-घोष से वातावरण गूँज उठता है। पुरी के प्रशस्त-मार्ग पर असंख्य भक्तों द्वारा स्पर्धा के साथ परिचालित वह विशाल एवं भव्य रथ देखते ही बनता है। सातवें दिन जब विश्रामागार से जगन्नाथ जी लौटते हैं, तब भी ऐसी ही महिमामयी झांकी प्रस्तुत होती है।

श्रावण-पूर्णिमा का अन्य नाम बलभद्र-पूर्णिमा है। श्रावण की पूर्णिमा तक खेतों के काम खत्म हो जाते हैं, इसीलिए किसान इस दिन बैलों की पूजा करते हैं। अनेक प्रकार की मिठाइयाँ घरों में बनती है। कृषकों का यह एक प्रधान पर्व है। प्राचीन काल में राजाओं द्वारा इसी दिन श्रावणाभिषेक उत्सव मनाया जाता था। आश्विन की अमावस्या या महालया के दिन पितृपक्ष समाप्त हो जाता है। इसी दिन पितृ-पितामह के लिए तर्पण-श्राद्धादि के अनुष्ठान होते हैं। यह एक जातीय पर्व है, पर इसका प्रचलन पाश्चात्य-शिक्षा के प्रभाव में क्रमशः संकुचित होता जा रहा है।

सब देवताओं के शयन के बाद भाद्र शुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन श्री दुर्गा देवी का शयनारम्भ होता है तथा आश्विन कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन वे निद्रा त्याग करती है। मूलाष्टमी से आश्विन शुक्लपक्ष की अष्टमी तक के पन्द्रह दिनों को देवी का शयन-पक्ष माना गया है। महाष्टमी का दूसरा नाम वीराष्टमी है। प्राचीन काल में उड़ीसा की 'पाइक बाहिनी' द्वारा मल्लयुद्ध, नागा-नृत्य, दण्ड-बैठक, तलवारों के खेल 'लीतीमरा' (तीर चलाना) आदि खेलों का अनुष्ठान होता था। इस क्रीड़ा-कौतुक द्वारा अपनी सिद्धहस्तता एवं कुशलता प्रदर्शित करने वाले को पुरस्कृत किया जाता था। श्री दुर्गादेवी संग्रामकारिणी और विजयदायिनी देवी के रूप में पूजिता हैं, इसलिए इनकी पूजा के साथ-साथ शस्त्रास्त्रों, आयुधों एवं वाद्ययंत्रों की पूजा भी होती है। प्रमाण है कि—

दुर्गागृहे तु शस्त्राणि पूजितानि च पंडितैः।
वाद्य-भाण्डानि चान्यानि विविधान्ययुधानि च ॥

अंग्रेजी-राज्य के समय बनाए गए Arms Act के कठोर पालन के परिणाम स्वरूप वीराष्टमी के वीरत्व-व्यंजक कार्य-कलापों का सम्पूर्ण रूप से अन्त हो गया। इसके फलस्वरूप लगभग डेढ़-सौ वर्षों तक उत्तर और दक्षिण में भारत-बिजयी

मुसलमानों को युद्ध में परास्त करने वाली उड़िया पाइक सेना पंगुप्राय रह गयी।

मार्गशीर्ष के कृष्णपक्ष की अष्टमी के दिन प्रथमाष्टमी पर्व रज-पर्व की तरह ही मनाया जाता है। यह पर्व केवल उत्कल में है। इस दिन बालक-बालिकाओं, विशेष कर ज्येष्ठपुत्र एवं पुत्री के लिये नये वस्त्र-आभूषणों की व्यवस्था की जाती है तथा वे दीर्घायु हों, इस कामना से पूजा-वन्दनादि होती है। इसलिए इस पर्व के सम्बन्ध में कहा गया है कि—'अत्र उत्कलेषु अधुना पूजा बन्दापनादिकं कुर्वन्ति, देशान्तरे नास्ति'। यह लिंगराज महाप्रभु का प्रथम पर्व-दिन है।

माघ की अमावस्या या त्रिवेणी-अमावस्या के दिन पुण्यतोया प्राची नदी में स्नान के लिये भक्त-जन आते हैं और बड़ा मेला लगता है। कोणार्क में सूर्य मंदिर के निर्माण के बाद (१२४६-१२६० ई०), माघ शुक्ल सप्तमी के दिन मंदिर के समीपवर्ती चन्द्रभागा नदी के मुहाने में स्नान-यात्रा का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। जन-समागम और माहात्म्य की दृष्टि से यह पुरी की गुण्डिचा यात्रा से तुलनीय है। कोणार्क मंदिर अब भग्नावस्था में है, फिर भी यह मेला चन्द्रभागा में पूर्ववत् ही लगता है। प्राचीन-काल में इस दिन सूर्यदेव की रथ-यात्रा होती थी। खण्ड-गिरि में इसी दिन से सप्ताहांत तक मेला लगता है।

माघ की पूर्णिमा या अग्युत्सव-पूर्णिमा अब भी उत्कल भर में मनायी जाती है। इसका लौकिक नाम 'अगि-पोडा' है। इस दिन रात को गाँव और शहरों में अग्निदेव के सन्तोष के लिये लकड़ी, पत्ते और अन्य जलाऊ चीजें जलायी जाती हैं। सौ की संख्या में नारियल आग में जलाये जाते हैं और फिर उसमें से अध-जले नारियलों को प्रसाद के रूप में बाँटा जाता है।

फाल्गुन कृष्णपक्ष की चतुर्दशी के दिन शिवरात्रि या महाशिवरात्रि व्रत अत्यन्त निष्ठा के साथ पालित होता है। इसी दिन रात को भुवनेश्वर के लिङ्गराज मन्दिर में, पुरी के लोकनाथ मन्दिर में, चण्डेश्वर के चण्डीहर शिव-मन्दिर में, मयागड-शरणकुल के लडुकेश्वर मन्दिर में, कटक जिले में चाटेश्वर, महाविनायक और परमहंस मन्दिरों में, ढेंकानाल के कपिलास, गंजाम के महेन्द्रपर्वत, बालेश्वर के आखण्डलमणि, मयूरभंज के कखारुआ और वैद्यनाथ; कालाहाण्डि के बेलखण्डी, सम्बलपुर के बुढ़ाराजा और धमा; बलाँगीर के बिनका, सुन्दरगढ़ के वेदव्यास आदि मन्दिरों में विपुल जन-समागम होता है। सहस्रों की संख्या में नर-नारी उपवास करके इन शिवमन्दिरों में भक्तिपूर्ण हृदय से अपने पापान्धकार को दूर करने के लिये दीपक जलाते हैं। शिवरात्रि का यह प्रदीपोत्सव नास्तिकों के हृदय में भी भक्ति का संचार कर देता है।

अन्यान्य व्रत और पर्व :

गंग-युग से क्रमशः वैष्णव-धर्म की प्रधानता प्रतिष्ठा पाने लगी। इसी से नृसिंह-जन्म, वामन-जन्म, परशुराम-जन्माष्टमी आदि व्रतों का प्रचलन हुआ। वैशाख शुक्लपक्ष चतुर्दशी के दिन नृसिंह-जन्म के उपलक्ष्य में व्रत-पालन होता है। इस दिन उत्कल में कई जगह मेले लगते हैं। इनमें से उड़ीसा के गंगवंशी राजाओं द्वारा निर्मित, और अब आन्ध्र प्रदेश के अन्तर्गत, सिंहाचलम् (सीमाचलम्), और सम्बलपुर जिले में स्थित नरसिंहनाथ के मन्दिर में अनुष्ठित मेलों में विपुल जन-समूह एकत्रित होता है।

भाद्र शुक्लपक्ष द्वादशी के दिन उत्कल भर में वामन-जन्म एक जातीय उत्सव के रूप में मनाया जाता था। इस दिन का लौकिक नाम 'सुनियां' है। इसी दिन से नूतन वर्ष का आरंभ होता था। इसी दिन स्वाधीन-उत्कल के सम्राटों द्वारा स्वर्ण-मुद्राओं पर अपना राजस्व संवत्सर अंकित करवाया जाता था। राजा, जमींदार, मठों के महन्त, 'मकद्दम सरबराकार' चौधुरी, 'गौन्तिआ' 'इनामदार' आदि उड़ीसा भर के भूमिपतियों द्वारा प्रीतिभोजों, मौज-मजलिसों और नृत्य-गीतों का आयोजन किया जाता था। यह उड़ीसा का नववर्ष-दिवस था। उत्तर भारत में दीपावली की तरह उड़ीसा में नयी बही-खाता खोली जाती थी। जमींदारी और मध्य-स्वत्वाधिकारियों के उच्छेदन के बाद से यह पर्व अब लुप्त हो गया है। आषाढ़ शुक्लपक्ष की अष्टमी के दिन मनाया जाने वाला परशुराम-अष्टमी का पर्व भी अब नहीं है।

मकर-संक्रान्ति प्राचीन-काल से एक पर्व के रूप में अनुष्ठित होती आ रही है। अब भी मयूरभंज, केन्दुझर, सिंहभूम, पढ़ेइकला, खरसुआँ, बणेई, गाँगपुर आदि स्थानों में पार्वत्य जाति के लोग यह उत्सव आनन्द के साथ मनाते हैं। इसी दिन भुवनेश्वर, पुरी और हटकेश्वर खुर्दा में मेले लगते हैं।

उस समय सन्तान की आयु, आरोग्य और ऐश्वर्यवृद्धि के लिये स्त्रियाँ षष्ठीदेवी की पूजा करती थीं। भाद्रपद शुक्लपक्ष की तृतीया के दिन आज भी घर-घर में षष्ठी-देवी की पूजा की जाती है। बच्चों को आग्रह पूर्वक खिलाया-पिलाया जाता है। इस तरह के दूसरे एक व्रत का नाम यमद्वितीया है। इसे भ्रातृ-द्वितीया भी कहते हैं। इस पर्व का अनुष्ठान कार्तिक शुक्लपक्ष की द्वितीया के दिन होता है। कथा है कि इस दिन यमराज ने अपनी बहन यमुना के घर पर अपनी आयु-वृद्धि के लिए भोजन किया था। इसलिए इस दिन भाइयों को अपनी-अपनी बहनों के घरों में भोजन करने की परिपाटी आज भी प्रचलित है।

इस देश में प्राचीनकाल से नागपूजा का प्रचलन है। नागलोक के सन्तोष के

लिये श्रावण शुक्लपक्ष की पंचमी के दिन 'नागपंचमी' और कार्तिक शुक्लपक्ष की चतुर्थी के दिन 'नागचतुर्थी' का व्रत निष्ठा के साथ धारण किया जाता है ।

प्रत्येक निष्ठावान् हिन्दू, स्नान के पश्चात् संध्या करते समय और गायत्री मंत्र-पाठ के समय 'जगदेव चक्षु', 'जगत् प्रसूति-स्थिति-नाश हेतु', 'विरंचि नारायण शंकरात्मा' सूर्यदेव की आराधना करता था । इस विधि का प्रचलन इस देश में वैदिक-युग से था । इसी सूर्य-पूजा का लोकप्रिय व्रत है—'शाम्ब-दशमी' । पौष शुक्ल-दशमी के दिन श्री कृष्णचन्द्र के पुत्र श्री शाम्ब सूर्यदेव की पूजा करके कुष्ठ व्याधि से मुक्त हुए थे । इसलिए इस तिथि में सूर्योदय के समय पूजा करने की विधि आज भी प्रचलित है ।

अति प्राचीन काल में कलिंग देश के नाविक पवित्र कार्तिक-पूर्णिमा के प्रातःकाल नदियों के मुहानों में बसे बन्दरगाहों से सहस्रों की संख्या में जहाज़ लेकर सिंहल, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों की, तथा ब्रह्मदेश, श्याम, मालय, चीन आदि देशों की यात्रा समुद्र-पथ से करते थे । 'बोइत' (वहित्र या जलयान) की समुद्र-यात्रा के पहले साधवों (नाविकों) की स्त्रियां और सन्तानगण, निर्विघ्न और शान्तिपूर्ण जल-यात्रा के हेतु, वहित्रों की पूजा और वन्दापना आदि करने के लिए आती थीं । यह उत्सव बड़ी सजधज, हर्षोल्लास एवं निष्ठा के साथ मनाया जाता था । अंग्रेजी राजत्व-काल में देशीय नाविकों की जल-यात्राएँ बन्द हो गई थीं । फिर भी उड़ीसा भर में कार्तिक की पूर्णिमा के प्रात.काल कदली वृक्ष की छाल और कागज़ आदि से बने वहित्र के विकल्प-रूप सहस्रों की संख्या में 'हरिबोल' और 'हुलहुली' ध्वनि के साथ नदी, समुद्र, तालाब आदि में भी बहाए जाते हैं । विदेशी शासन-काल में वहित्र से व्यापार लुप्त हो जाने पर भी आज यह वहित्र-वन्दापना-उत्सव एक जातीय पर्व की तरह मनाया जाता है । आज भी इस दिन सूर्योदय के पहले असंख्य नर-नारी, बालक-बालिकाएँ स्नानादि कर के पवित्र हृदय से पूजा, संकीर्तन, देव दर्शनादि करते हैं । कार्तिक-पूर्णिमा की रात उड़ीसा के प्राचीन वाणिज्य-केन्द्र महानदी के गडगडिया घाट पर तथा गजपति प्रताप-रुद्रदेव द्वारा निर्मित धवलेश्वर मन्दिर पर इस पर्व की स्मृति में 'बालियात्रा' महोत्सव आयोजित किया जाता है ।

कृषि-प्रधान उत्कल-देश में 'नवान्न भक्षण' (नुआखाई) एक जातीय पर्व है । यह उत्सव अत्यन्त निष्ठा के साथ आजकल पश्चिम-उड़ीसा के संबलपुर, बलाँगीर, सोनपुर, कालाहाण्डी, बामण्डा, गाँगपुर, सुन्दरगढ़, बनेई आदि में बनाया जाता है । इस पर्व के पालन की कोई निर्दिष्ट तिथि नहीं है । साधारणतः आश्विन मास की किसी भी पवित्र तिथि में सुविधानुसार लोग इसे मनाते हैं । मुख्यतः विजयादशमी के

पर्वों के साथ ही नवान्न-भक्षण भी हो जाता है। सम्बलपुर, बलाँगीर आदि स्थानों में आज भी यह प्रथा है कि जब तक वहाँ की अधिष्ठात्री देवी (जैसे—सम्बलपुर में समलेश्वरी) का नवान्न-भक्षण संस्कार विधिवत् सम्पन्न नहीं हो जाता, वहां के लोग अन्न ग्रहण नहीं करते।

इस देश के भास्कर्य और साहित्य के माध्यम से रामकथा का विशेष प्रचार हुआ था। कवि सम्राट् उपेन्द्र भंज द्वारा रचित 'वैदेहीश विलास'। प्राचीन उत्कल का अन्यनम या श्रेष्ठतम काव्य है। प्रांतीय भाषा में लिखित काव्यों में यह उड़ीसा का प्राचीनतम काव्य है अर्जुनदास द्वारा लिखित 'राम विभा'। उड़िया भाषा में भगवान रामचन्द्र के सम्बन्ध में शताधिक काव्यों 'कोइलि', 'चउतिशा', छन्दों, चौपाइयों और लीला-चरित्रों आदि के रूप में विविध प्रकार की रचनाएं हुई थीं। राम साहित्य की विशेष लोकप्रियता के कारण 'राम नवमी' समस्त उड़ीसा में एक जातीय पर्व के रूप में स्वीकृत है। रामनवमी-पर्व पालन के समय, मासाधिक काल तक, गंजाम के अधिवासी वैश्य सदाशिव कृत 'रामलीला' अथवा चिकिटि राज्य के कृष्णचन्द्र नरेन्द्र की रचना 'रामलीला' अथवा खुर्दा के अनंग नरेन्द्र और विक्रम नरेन्द्र द्वारा रचित रामलीलाएँ, अथवा पुरी के 'विशि रामायण' आदि का हृदय-स्पर्शी संगीतमय अभिनय उत्कल भर में होता है। इन रामलीलाओं को देखने के लिए उड़ीसा में जगह-जगह हजारों की संख्या में लोग एकत्र होते हैं।

श्री चैतन्य के आगमन के पूर्व देवदासियां जयदेव विरचित 'गीत गोविन्द' को हर रोज रात के समय पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में गाती थीं। उस अवसर पर जगन्नाथ एक स्वतन्त्र वेष धारण करते थे। उसे 'बड़ो शृङ्गार वेष' कहते थे। चैतन्य जब पुरी आये तब वे नित्य 'गीत गोविन्द' सुना करते थे। इसलिए भी इसकी लोकप्रियता काफी बढ़ गई। उस समय से जयदेव के जन्म स्थान पर एक यात्रा प्रचलित हुई। यह स्थान पुरी जिले के पाटणा थाने के अन्तर्गत केन्दुलि-शासन के निकट है, और इसकी सुप्रसिद्ध यात्रा त्रिवेणी-संगम में माघ की अमावस को होती है।

लौकिक व्रत और पर्व :

लौकिक पर्वों में आदिवासियों का 'चैत्र पर्व'—'चइत पर्व' एक उल्लेखनीय पर्व है। नव-किसलयों से शोभित, मलयान्दोलित, पार्वत्य बनांचलों में चैत्र मास में प्रफुल्लचित्त आदिवासी युवक-युवतियाँ सामूहिक नृत्य, गीत और वाद्य-वादनों द्वारा इस पर्व का पालन करते हैं। इसमें इनकी प्राणमयता दर्शनीय होती है।

कृषि प्रधान उत्कल-भूमि में खेती ही मुख्य अवलम्बन है। इसलिए 'अक्षय-तृतीया' 'रज-संक्रांति', 'बलभद्र-पूर्णिमा', 'नवान्न-भक्षण' की तरह 'माणबसा' या 'लक्खी-पूजा' (लक्ष्मी-पूजन) भी एक कृषि संबंधी पूजा है। इस पूजा का अनुष्ठान अगहन मास के शुक्ल पक्ष के आद्य गुरुवार से आरंभ होकर प्रत्येक वृहस्पतिवार को होता रहता है। आसन पर सफेद सुवासित धान के ऊपर लक्ष्मी की प्रतिमा को स्थापित करके या केवल धान रख कर स्त्रियाँ भक्ति-पूर्ण हृदय से पुष्प-चन्दन-धूप-दीप से श्री लक्ष्मी की पूजा घर-घर में करती हैं। यह इस प्रांत का कृषि-उत्सव Harvest Festival है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि स्ववंश की वृद्धि, आयु, आरोग्य और ऐश्वर्यलाभ के लिये; कृषि, वाणिज्य, व्यवसाय से धनागम के लिये; शत्रु-आक्रमण और अन्तर्विप्लव को रोकने के लिये; देश में शान्ति प्रतिष्ठा के लिये और सर्वोपरि इहकाल में सुख-भोग और परिकाल में मुक्तिलाभ के लिये; इन पूजा, व्रत और पर्वों का प्रचलन प्राचीन काल से भारत के दूसरे प्रान्तों की तरह पवित्र-भूमि उत्कल में भी होता आया है।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्गाता

डॉ० नवीनकुमार साहू

उड़ीसा में धर्म और दर्शन का प्रवाह तथा अन्तर्प्रवाह

शतपथ-ब्राह्मण में उल्लिखित वैश्वानर अग्नि द्वारा दृषद्वती के तट से सदानीरा तक भू-विजय का दृष्टान्त मध्यदेश में वैदिक यज्ञ-हुताशन के प्रसार का प्रतीक है। जनश्रुति के अनुसार सदानीरा (आधुनिक गण्डक) से आगे एक ऊर्जस्वी संस्कृति से मुठभेड़ के भय से अग्नि को थम जाना पड़ा। यह घटना स्पष्ट रूप से ब्राह्मण-साहित्य के काल में भारतवर्ष में पूर्व तथा पश्चिम में दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों के अस्तित्व की द्योतक है। पहली संस्कृति धान्य-भोजी प्रदेश की थी, जिसमें परिव्राजकों का प्राधान्य था, जब कि दूसरी संस्कृति गेहूं-बहुल प्रान्त की थी, जिसमें आर्यों की प्रभुसत्ता थी। पहली संस्कृति का क्षेत्र पार्श्वनाथ, महावीर तथा बुद्ध की क्रीड़ा-भूमि था, जबकि दूसरी ओर उस समय उद्दालक, आरुणि, याज्ञवल्क्य और जनक जैसे दार्शनिकों का प्राधान्य था। आर्य नीतिकारों ने आपस्तम्ब, गौतम तथा बौद्धायन के समय तक आर्यों के पश्चिम से पूर्वगमन पर प्रतिबन्ध लगाये थे। यदि कोई यदा-कदा परिव्राजकों की भूमि में प्रविष्ट होता था, तो उसे प्रायश्चित-स्वरूप बलि देनी होती थी। अंग, बंग, कलिंग, पुन्ड्र तथा सुम्ह जैसे प्रान्त तब आर्यों के लिये वर्जित प्रदेश थे। इन सब धार्मिक प्रतिबन्धों के बावजूद आर्यों का पूर्ववर्ती प्रदेशों में प्रवेश रोका नहीं जा सका। महाभारत-युद्ध के पूर्व-काल में आर्य-नृपति, कलिंग जैसे शक्तिशाली राज्यों से विवाह सम्बन्ध तथा उनसे मैत्री के लिये लालायित थे। पौरव-नरेश अक्रोधन ने कलिंग राजकुमारी करम्भा

से विवाह किया था तथा भरत (जिनके नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा) के पितामह इलिना भी कलिंग की एक राजकन्या के पुत्र थे। महाभारत के सभा-पर्व में कलिंग-राजकन्या चित्रांगदा के स्वयम्बर से अपहरण की रोमांचक घटना का उल्लेख है। कौरव राजकुमार ने उससे विवाह कर स्वयं को गौरवान्वित किया था। धीरे-धीरे पूर्व देश में कई आर्य बस्तियाँ बसती गईं। कलिंग का ब्राह्मण-ग्राम दुभिविरथ एक ऐसी ही बस्ती थी। इनके कारण आर्य-अनार्य-सभ्यताओं तथा आर्य-परिव्राजक संस्कृतियों का संगम अवश्यम्भावी था। आर्यऋषि अगस्त्य के आश्रम तथा जैनअर्हन-सारभंग के आवास, जो दोनों ही गोदावरी के तट पर स्थित थे, ने इस सांस्कृतिक मैत्री में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। ब्राह्मण-श्रमण-संस्कृति का उल्लेख न सिर्फ महाभारत में, वरन् अशोक के शिलालेखों तथा कलिंग-नरेश खारबेल के हाथीगुम्फा अभिलेख में भी पाया जाता है।

कलिंग का प्रथम ज्ञात संगठित-धर्म जैन-धर्म था। यद्यपि इसी धर्म के परम्परागत वृत्तान्तों में प्राचीन-काल के ऋषभदेव से प्रारम्भ होकर २४ तीर्थंकरों का उल्लेख है, इतिहास पार्श्वनाथ को ही इस धर्म के प्रणेता के रूप में जानता है। वाराणसी के इस राजकुमार ने सिद्धि-प्राप्ति के पश्चात् चतुर्याम-धर्म का प्रतिपादन किया, जिसे परिमार्जित तथा पुनर्गठित कर महावीर ने पंचयाम-धर्म के रूप में अभिहित किया, जो कालान्तर में जैन-धर्म के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जिन उल्लेखनीय राजाओं ने पार्श्वनाथ के इस धर्म को अंगीकार किया, उनमें विदेह के निमि, कलिंग के कर्कन्दु, गान्धार के नग्नजित्, विदर्भ के भीम, उत्तर-पांचाल के दुर्मुख तथा दक्षिण-पांचाल के सोमक प्रमुख थे। यह सभी पार्श्वनाथ के समकालीन थे। 'उत्तराध्ययन-सूत्र' कर्कन्दु, निमि, दुम्मुख (दुर्मुख) तथा नग्गति (नग्नजित्) को 'राजाओं में वृषभ' बताते हुए कहता है कि इन्होंने जैन-धर्म अंगीकार कर सिंहासन-त्याग कर श्रमण-जीवन स्वीकार किया। इस प्रकार कर्कन्दु कलिंग का प्रथम जैन-नरेश था। वैभव, धार्मिक-चेतना तथा सद्बुद्धि के कारण जैन-परम्परा ने उसे राजर्षि माना तथा बौद्धों ने 'पच्छक-बुद्ध' कहा।

पार्श्वनाथ ने ईसा से ७१७ वर्ष पूर्व निर्वाण प्राप्त किया (महावीर के निर्वाण संवत्—४६७ ई० पू० से २५० वर्ष पहले)। पार्श्वनाथ के समान महावीर ने भी व्यक्तिगत रूप से कलिंग-यात्रा की, जैसा कि आवश्यक-सूत्र तथा आचार्च हरिभद्रकृत टीका से ज्ञात होता है। राजा खारबेल ने भी हाथी गुंफा अभिलेख में इस सत्य का उद्घाटन किया है कि महावीर स्वामी ने कुमारी पर्वत के शिखर से धर्म-चक्र का प्रवर्तन किया। राजा कर्कन्दु के समय से ही कलिंग में इस धर्म के लिये आधार-भूमि

बनाई गई थी। महावीर के व्यक्तिगत सम्पर्क से जैन-धर्म को स्फूर्ति तथा लोकप्रियता अवश्य मिली होगी। ईसा पूर्व ६ठी शताब्दी न केवल भारतीय इतिहास में ही, वरन् कलिंग-संस्कृति के लिये भी एक महत्त्वपूर्ण कालक्षेप था। इसी शताब्दी में उत्कल में पुराणकश्यप—जो एक विदेशी कन्या के गर्भ से एक सभ्य ज़मींदार के घर पैदा हुए थे—द्वारा प्रतिपादित एक नया दार्शनिक आन्दोलन शुरू हुआ। पुराणकश्यप का जन्म इस परिवार के १००वें दास के रूप में हुआ था। आयु के साथ ही उनका चिन्तक-दृष्टि-कोण प्रखर होता गया। वस्त्र-प्रदान किये जाने पर उन्होंने यह विचार कर उन्हें अस्वाकार कर दिया कि दिगम्बर-रूप में रहना अधिक सम्मानजनक होगा। उन्होंने कहा—'वस्त्र लज्जा ढांकने के लिये होते हैं, लज्जा पाप से उत्पन्न होती है, मैं चूंकि वासनाओं से मुक्त, पवित्र व्यक्ति हूं, मुझ में कोई पाप नहीं है।' धार्मिक मतान्तरों से परिपूर्ण उस समाज में उनका पंथ चल निकला। शीघ्र ही उनके अस्सी हज़ार शिष्य हो गये। पुराणकश्यप ने एक ऐसे दर्शन का प्रतिपादन किया, जिसने निश्चित रूप से कारण, परिणाम तथा वास्तविकता को नकारा। इसलिये उनके अनुयायियों को अहेतुकवादी, अक्रियावादी तथा नत्तहिकवादी कहा गया है। अक्रियावाद आत्मा के गतिहीन स्वभाव को स्वीकार करते हुए यह मानता है कि व्यक्ति ही कोई कार्य करता या करवाता है, न कि उसकी आत्मा। इसलिये कार्य के अच्छे या बुरे परिणाम का आत्मा पर तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ता। दूसरी ओर अहेतुवाद, कारण तथा परिणाम के सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए संयोग पर ज़ोर देता है। उत्कल-भूमि पुराणकश्यप के सिद्धान्तों का गढ़ रही। वहां की प्रमुख जन-जातियां वस्स तथा भन्न उनकी अनु-यायी हो गईं।

इस प्रकार उत्कल के अहेतुवाद तथा अक्रियावाद के तथा कलिंग के जैन-धर्म का अनुशीलन करने के कारण बौद्ध-धर्म को इस क्षेत्र में अपनी धर्म-प्रचार की गतिविधियों के लिये अच्छा अवसर मिला। महावीर के समान बुद्ध की कलिंग या उत्कल यात्रा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इन दोनों क्षेत्रों में उत्कल ने बौद्ध-धर्म का सत्वर स्वागत किया। वस्स तथा भन्न लोगों ने—जो पुराणकश्यप के अनुयायी थे—खण्डों को भूत, वर्तमान तथा भविष्य में विभाजित करने के बौद्ध-सिद्धान्त को स्वीकार किया। कहा जाता है कि यह सन्देश तथा धार्मिक प्रेरणा उन्हें महाछत्तारिसक सूत्र, जो भगवान बुद्ध ने जेतवन में प्रतिपादित किया था, से प्राप्त हुई थी। इन लोगों ने कारण, परिणाम, अक्रोध, अमोह, सम्यक्-विवेक तथा उचित ध्यान को अर्हत्-पद प्राप्त करने हेतु आवश्यक गुणों के रूप में स्वीकार किया। इस प्रकार बुद्ध के जीवनकाल में ही

उत्कल-प्रदेश में उनका प्रभाव परिलक्षित होने लगा था।

बौद्ध जातक-कथाओं में उत्कल के दो व्यापारी-बन्धुओं—तपस्सू तथा मल्लुक—को भगवान बुद्ध का प्रथम जन शिष्य माना गया है। उरुवेला के वन में जब तथागत मुक्ति के आनन्द का अनुभव कर रहे थे, ये दोनों व्यापारी ५०० गाड़ियों के सार्थ के साथ मज्झिम (मध्य) देश जाने के लिये उनके निकट से गुजरे। उन्होंने बुद्ध को प्रणाम किया तथा उन्हें मधु तथा भोजन प्रस्तुत किया, जिसे बुद्ध ने ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् प्रथम भोजन के रूप में स्वीकार किया। ये दोनों व्यापारी बौद्ध-धर्म स्वीकार करने वाले पहले व्यक्ति थे। बुद्ध ने अपने मस्तक पर हाथ फेर कर उन्हें आठ मुट्ठी केश दिये, जिन्हें वे अपने देश ले गये तथा सुंदर चैत्य बनवा कर उसमें उन्हें रखा। कालावधि में तपस्सू एक श्रोतापन्न तथा देवाश्रिक उपासक के रूप में प्रमुख उपासक बन गया और मल्लिक ने संघ में प्रविष्ट होकर अर्हत्-पद प्राप्त किया।

श्रीलंका की एक आंशिक धार्मिक-ऐतिहासिक कृति 'दातावंश' में कलिंग में बौद्ध धर्म के प्रसार के मनोरंजक प्रमाण मिलते हैं। इस कृति के अनुसार क्षेम थेरा ने कुशीनारा में बुद्ध की चिता से उनका एक दांत लेकर कलिंग नरेश ब्रह्मदत्ता को भेंट किया, जिसने अपनी राजधानी दन्तपुर में एक भव्य चैत्य बना कर उसे स्थापित किया। यदि इस कथन को इतिहास-सम्मत माना जाय तो बुद्ध के जीवन-काल में ही कलिंग पर बौद्ध-धर्म के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता।

किन्तु उस समय तक कलिंग जैन-धर्म का गढ़ बन चुका था, और संघर्ष करते हुए बौद्ध-धर्म ने धीरे-धीरे अपनी जड़ें जमाना प्रारम्भ किया। जन-मानस पर अपना प्रभाव तथा लोकप्रियता बनाये रखने के लिये जैनों ने मूर्त्ति-पूजा का श्रीगणेश किया। पिथुन्दा में कलिंग की सबसे महत्त्वपूर्ण जैन-प्रतिमा आदि-जिन ऋषभदेव की प्रतिमा स्थापित की गई। यह प्रतिमा, जो कलिंग-जिन के नाम से प्रसिद्ध है, भारत में मूर्त्ति-पूजा का पहला ऐतिहासिक उदाहरण है। पिथुन्दा उस समय कलिंग का प्रसिद्ध बन्दरगाह था, वहां दूर-दूर से, समुद्रपार से लोग कलिंग-जिन की पूजा करने आया करते थे। महावीर स्वामी के काल में सुदूर चम्पा से एक जैन व्यापारी तीर्थ-यात्रा हेतु पिथुन्दा आया और वहीं एक युवती से विवाहबद्ध हो गया।। ईसा-पूर्व ४थी शताब्दी में महापद्मनन्द कलिंग-विजय के पश्चात् इस प्रतिमा को अपनी राजधानी पाटलिपुत्र ले गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि अशोक के पूर्व-काल से ही कलिंग में जैन-धर्म की प्रधानता रही है।

अशोक का कलिंक-युद्ध भारतीय संस्कृति के इतिहास का एक परिवर्तन बिन्दु था।

इसका महत्त्व अशोक के चण्डाशोक से धर्माशोक में व्यक्तिगत परिवर्तन में नहीं, वरन् युद्धोत्तर-काल में बौद्ध तथा ब्राह्मण-धर्म में हुए क्रान्तिकारी परिवर्तनों में निहित है। अशोक के पहले बौद्ध-धर्म गंगाघाटी-प्रदेश का एक नगण्य-सा धर्म था, जो अशोक के धर्म-परिवर्तन के पश्चात् एक अत्यन्त सशक्त तथा लोकप्रिय धर्म बन गया। यह धर्म न केवल हिमालय से कन्याकुमारी तक भारत में फैला, वरन् उस समय ज्ञात पृथ्वी के समस्त भू-भागों में फैल गया। यह धर्म-प्रसार २६१ ईस्वी पूर्व के ऐतिहासिक-युद्ध में कलिंगवासियों के बलिदान का प्रत्यक्ष परिणाम था, जिससे अशोक का हृदय परिवर्तन हुआ था। अशोक के समय में कलिंग में बौद्ध-धर्म का सम्यक् प्रचार हुआ। उस समय बौद्ध-धर्म में कम से कम १६ भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय थे, जिनमें थेरवाद, महासांघिक तथा सर्वास्तिवाद प्रमुख थे। इन तीनों वादों के आचार्यों ने कलिंग में काफी प्रवचन किये तथा इस क्षेत्र में सर्वास्तिवादियों का प्रमुख प्रभाव रहा। सर्वास्तिवादी आचार्य धर्म-रक्षित, उनके शिष्य धीतिककुमार तथा उसके शिष्य पोषाध ने अशोक तथा उसके परवर्ती-काल में इस सम्प्रदाय को कलिंग में लोकप्रिय बनाया। इसी कारण कलिंग में महायान-शाखा जन्मी तथा पनपी।

अशोक के शासन-काल से खारबेल के शासन-काल तक के समय में भारतीय धर्म तथा संस्कृति के इतिहास में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए। इसी काल में ब्राह्मण-धर्म के अन्तर्गत शैव, भागवत तथा शक्ति-सम्प्रदायों का विकास हुआ, जिन्होंने बौद्ध धार्मिक-प्रभाव का प्रतिकार करने का यत्न किया। दूसरी ओर बौद्ध-धर्म ने भी लोक-मानस पर अपना प्रभाव बनाये रखने के लिए अपने आप में मौलिक परिवर्तन तथा पुनर्गठन किया। बौद्ध-धर्म की प्रधानता बनाये रखने के थेरवादियों, महासांघिकों तथा सर्वा-स्तिवादियों के प्रयत्नों में सर्वास्तिवादी सर्वाधिक सफल रहे। सर्वास्तिवादी आचार्यों ने प्राचीन पुद्गल-शून्यता के स्थान पर धर्मशून्यता तथा तथता के सिद्धान्त प्रतिपादित कर प्रज्ञापारमिता-साहित्य-निर्माण में सफलता प्राप्त की। थेरवादी तथा महासांघिक सामान्य जनों के बुद्धत्त्व प्राप्त करने की कल्पना नहीं कर सके, वे केवल उसके अर्हत बनने की सीमा तक ही पहुंच सके। जबकि सर्वास्तिवादी प्रज्ञापारमिता-कृतियों में मनुष्य के सद्धर्म-पालन से जन्मान्तरों में स्वयं बुद्ध बनने की सम्भावना प्रकट कर सके। इस प्रकार महायान का मूलदर्शन प्रज्ञापारमिता कृतियों में स्पष्ट रूप से परिलक्षित हुआ। 'अष्ट सहस्रिका' प्रज्ञापारमिता साहित्य की सबसे प्राचीन कृति है। यह कहा जा सकता है कि बौद्ध-धर्म की महायान शाखा ने, जो अशोक के बाद से विकसित हो रही थी, 'अष्ट सहस्रिका प्रज्ञापारमिता' में अपने चरम विकास को प्राप्त किया। अतः इस

कृति के काल तथा स्थान को ही महायान का जन्म तथा स्थान माना जा सकता है। यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो चुका है कि 'अष्ट सहस्त्रिका' का प्रणयन कलिंग (उड़ीसा) में ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में हुआ। अतएव कलिंग को महायान का जन्म-स्थान माना जाता है।

ईसा-पूर्व पहली शताब्दी में कलिंग में आर्य-महामेघ वंश का शासन था। खारबेल इस वंश का तीसरा शासक था। खारबेल के समय में कलिंग भारत का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न राज्य था तथा उसकी शक्ति का लोहा पश्चिम में पंजाब तथा दक्षिण में तमिलप्रान्त तक माना जाता था। उस समय सातवाहन कुण्ठित थे, अंग तथा मगध-नरेश वृहस्पतिमित्र ने हथियार डाल दिये थे, अजेय तमिलराज्य-संघ टूट गया था तथा यवन भारत की सीमा के बाहर थे। इस महान राजा के आश्रय में बौद्ध-धर्म अपूर्व रूप में फला-फूला। कलिंग-जिन की जिस प्रतिमा को महापद्मानन्द ले गया था, उसे वापिस पिथुन्दा में स्थापित कर उसकी प्राण-प्रतिष्ठा की गई। चातुर्मास्य में जैन अर्हतों के निवास के लिए राजा, रानी तथा राज्याधिकारियों द्वारा कुमारी पर्वत में अनेक गुफाएँ तैयार की गईं। खारबेल की पटरानी, जो वजीरघर की रानी कहलाती थी, श्रद्धालु जैन थी तथा जैन-धर्म एवं संस्कृति को प्रश्रय देने में राजा पर उसका बहुत प्रभाव था। उसकी दूसरी रानी, सिंहपथ की रानी, सहिष्णु विचारों की थी तथा उसने राजा को सभी धर्मों को बराबर सम्मान देने के लिए प्रेरित किया। इस प्रकार इन दोनों रानियों के प्रभाव से खारबेल न सिर्फ जैन-धर्म का संरक्षक बना, वरन् उसने स्वयं को सभी धर्मों का पुजारी घोषित किया। उसने जैनों के लिए गुफाएँ खुदवाईं। तथा अन्य धार्मिक स्थानों की मरम्मत करवाई। सिंहपथ की रानी के अनुरोध पर उसने ब्राह्मण, बौद्ध, जैन तथा अन्य धर्मावलम्बी श्रमणों के लिए कुमारी पर्वत के निकट एक भव्य विश्रामगृह का निर्माण करवाया। स्वाभाविक था कि इस प्रकार के सहिष्णुता तथा धार्मिक-सद्भाव के वातावरण में कलिंग में प्रज्ञापारमिता-साहित्य अपने चरम उत्कर्ष पर पहुंचा, जिससे महायान शाखा की उत्पत्ति हुई। इसने न सिर्फ भारत, वरन् सम्पूर्ण एशिया में एक नये सांस्कृतिक-युग का सूत्रपात किया।

खारबेल के पश्चात्-काल में जैन-धर्म की कुछ अवनति हुई, जब कि बौद्ध-धर्म को, विशेषकर महायान शाखा की पर्याप्त उन्नति हुई। कनिष्क के शासन-काल में कश्मीर के कुण्डल-बन-विहार में जो महाबोधि-गोष्ठी हुई थी, उसने महायान के सिद्धान्तों का अनुमोदन किया तथा शीघ्र ही कनिष्क ने उसे अपना राजकीय-धर्म घोषित कर दिया। प्रज्ञापारमिता-साहित्य में प्रतिपादित महायान-दर्शन ने त्वरित प्रगति की तथा ईसा

की दूसरी शताब्दी में नागार्जुन के योगदान से यह एक उच्चकोटि की चिन्तनधारा बन गया। महान् दार्शनिक नागार्जुन राजा गौतमी पुत्र सातकर्णी का मित्र था, जिसने उसके लिये दक्षिण-कौशल में परिमलगिरि में एक भव्य विहार का निर्माण करवाया था। परिमलगिरि आज का गन्धगिरि (गन्धमादन पर्वत) है, जो बोलांगीर तथा सम्बलपुर जिलों की सीमा पर स्थित है। इस प्रेरणादायी विहार से ही नागार्जुन ने प्रज्ञापारमिता-दर्शन के आधार पर अपने माध्यमिक दर्शन का प्रतिपादन किया। इस बहुमुखी प्रतिभा के धनी विद्वान ने माध्यमिक दर्शन पर अनेक प्रबन्ध लिखे तथा उनकी 'अष्टमहस्रिका प्रज्ञापारमिता' की टीका 'प्रज्ञापारमिता-शास्त्र' अतिश्रेष्ठ ग्रन्थ है, जिसने शंकराचार्य के समय तक भारतीय-दर्शन को प्रभावित किया। योरपीय विद्वान नागार्जुन को महायान का ईसामसीह तो नहीं—सन्तपाल अवश्य मानते हैं।

नागार्जुन के योग्य शिष्य आर्यदेव ने उसके माध्यमिक-दर्शन का परिष्कार किया। आर्यदेव कलिंग के सिंहपुर में पैदा हुए थे, उन्होंने कौशल के परिमल गिरि विहार में अध्ययन किया था। उनकी प्रसिद्ध कृति 'चतुष्टक' इस विचार-दर्शन में एक महत्त्व-पूर्ण योगदान है। इस कृति ने तथा इसके बाद की चन्द्रकीर्ति की टीका ने आधुनिक जापान के सोनरों-दर्शन की आधार-भूमि तैयार की। नागार्जुन तथा आर्यदेव द्वारा प्रतिपादित माध्यमिक दर्शन मूलतः बुद्ध के उपदेशों पर, उनके मध्यम-प्रतिपाद पर आधारित है। यह दर्शन दोनों अतियों—अत्यधिक मोह तथा अत्यधिक निग्रह—से बचता है तथा दोनों विरोधी विचारों—अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, आत्मा-अनात्मा, सुख-दुख, शून्य-अशून्य—से भी बचता है। यह दोनों अतियाँ नागार्जुन की 'मूल मध्यम-कारिका' में स्पष्ट की गई हैं तथा आर्यदेव ने अपने 'ज्ञान-शास्त्र समुच्चय' में इन चारों अतियों या अन्तों को और भी विकसित किया है। इस कृति के अनुसार माध्यमिक जानता है कि सत्य, 'अस्तित्त्व, अनस्तित्त्व, अस्तित्त्व तथा अनस्तित्त्व के समन्वय तथा अस्तित्त्व व अनस्तित्त्व के नकार के चारों अन्तों से मुक्त है। 'अवतंशक सूत्र' सीमातीत-शून्य में भी नागार्जुन के माध्यमिक विचारों की सकारात्मकता को प्राप्त करता है। इस प्रकार का तमाम साहित्य प्रज्ञा के पूर्ण विकास, प्रज्ञापारमिता के माध्यम से स्वयं का अपने मन से तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करवाता है।

माध्यमिक शून्यवाद के साथ ही साथ महायान सम्प्रदाय में एक और दार्शनिक विचारधारा का जिसे विज्ञानवाद की आदर्शवादी विचारधारा कहते हैं—विकास हुआ। यह विचारधारा तीसरी शताब्दी में मैत्रेयनाथ ने प्रतिपादित की तथा चौथी शताब्दी में आसंग तथा वसुबन्धु ने इसे परिपुष्ट किया। इन दोनों कर्मठ बन्धुओं ने

बौद्ध-धर्म को एक सशक्त आधिभौतिक आधार दिया, जिससे वस्तुओं की नश्वरता तथा संसार के तात्कालिक-स्वभाव का विश्लेषण संभव हुआ। इस विचारधारा के अनुसार संस्कार अथवा रूप के रचनात्मक तत्त्व तात्कालिक हैं, क्योंकि रूप सतत परिवर्तनशील तथा विकासशील है। यह सिद्धान्त आलय-विज्ञान को भी मानता है, जिसके अनुसार भौतिक-जगत का अस्तित्त्व केवल मस्तिष्क में है। इसलिए बाह्य वस्तुओं में जो वास्तविकता दीखती है. वह भ्रामक एवं अज्ञान-रूप है। इस प्रकार इन्द्रियगम्य-जगत की अवास्तविकता एक आश्चर्यजनक-मनोभौतिक पद्धति से निश्चित होती है, जो विज्ञानवाद का आधार बनती है।

वसुबन्धु के शिष्य दि:नाग कवि कालिदास के समकालीन थे और विज्ञानवाद के प्रमुख प्रवर्तक थे। उनका आश्रम उड़ीसा में भोर शैल के निकट स्थित था। जहाँ उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'प्रमाण-समुच्चय' की रचना की। दि:नाग को भारतीय तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है। उनकी इस कृति ने भारतीय चिन्तन-धारा में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। सांख्यकारिका के रचयिता ईश्वरकृष्ण ने तर्क की इस नवीन-पद्धति को चुनौती तो दी, किन्तु उन्हें अनेकबार मुँहकी खानी पड़ी। वसुबन्धु के दूसरे शिष्य वसुमित्र ने भी उड़ीसा में धर्म-प्रचार किया। उन्होंने प्रख्यात ब्राह्मण दार्शनिक मक्षिक को शिष्यों के साथ प्रव्रज्या दी। वसुमित्र के शिष्य त्रिरत्नदास ने 'अंगतगुण' नामक एक स्तोत्र लिखा, जिसकी दि:नाग ने बहुत प्रशंसा की तथा सामान्य-जनों के लिये उसका संक्षिप्तीकरण भी किया।

दर्शन की दोनों धाराओं—माध्यमिका तथा विज्ञानवाद—ने उड़ीसा के धार्मिक तथा दार्शनिक-जीवन को प्रभावित किया तथा वहीं लोकविश्रुत आचार्यों ने महायान पर अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया। सातवीं शताब्दी में माध्यमिक शून्यवाद के प्रवर्तक चन्द्रकीर्ति तथा विज्ञानवाद के समर्थक धर्मकीर्ति—दो दार्शनिक अन्तर्दृष्टि वाले महान् आचार्य हुए। चन्द्रकीर्ति-कृत आर्यदेव की प्रसिद्ध टीका 'चतु:शतक' ने चीन, जापान तथा कोरिया तक के दार्शनिक-विचारों को प्रभावित किया। धर्मकीर्ति ने आचार्य दि:नाग के तर्क-सिद्धान्तों का परिष्कार एवं परिवर्द्धन किया और कुमारिल भट्ट जैसे महान् तार्किक ब्राह्मण को पराभूत किया। विचारों की मौलिकता तथा सारगर्भितता की दृष्टि से उनका 'न्याय-बिन्दु' एक महान् ग्रन्थ माना जाता है। कुछ वर्ष पूर्व कोरापुट जिले में जगमन्दा पर्वत पर धर्मकीर्त्ति के विहार के भग्नावशेष मिले, जिनमें सातवीं शताब्दी के एक शिलालेख में आचार्य चन्द्रलेख (चन्द्रकीर्त्ति) तथा भदन्त धर्मकीर्त्ति के नामों का उल्लेख है। कुछ तिब्बती कृतियों में दार्शनिक-

त्रयीद्वय नागार्जुन, आर्यदेव तथा आसंग एवं वसुबन्धु, दिङ्नाग तथा धर्मकीर्त्ति को जम्बूद्वीप के छः रत्नों के रूप में अभिहित किया गया है।

सन् ३०० ई० तक बौद्ध-धर्म जन-प्रिय रहा, दन्तपुर में भगवान बुद्ध के दन्तावशेष की पूजा होती रही। तीसरी शताब्दी के अन्त में दन्तावशेष प्राप्त करने के लिए पड़ोसी राजाओं ने कलिंग पर आक्रमण किया। तत्कालीन कलिंग-नरेश गुहशिव युद्ध में लड़ते हुए वीरगति को तो प्राप्त हुए, किन्तु मृत्यु के पूर्व वह दन्तावशेष को अपनी पुत्री हेममाला तथा जामाता दन्तकुमार के साथ श्रीलंका भेजने में सफल रहे। दन्तपुर के पतन के पश्चात् पुष्पगिरि बौद्ध-धर्म के लोकप्रिय केन्द्र के रूप में विकसित हुआ और श्रद्धालुओं के मन पर उसने प्रेरक आध्यात्मिक प्रभाव डाला। सातवीं शताब्दी तक इस विहार को बौद्ध-जगत का अनुपम तथा अद्भुत् विहार माना जाता था। चीनी यात्री ह्वेन-साँग इस विहार की चमत्कारी शक्तियों से इतना प्रभावित हुआ था कि वह इसे मानवीय हाथों की कृति न मानकर अतिमानवीय रचना समझता था।

चौथी शताब्दी के अन्त में कलिंग में माठर-वंश शक्तिसम्पन्न हुआ, उसने वैभव की परम्परा को पुनरुज्जीवित किया। इस माठर-वंश का साम्राज्य उत्तर में गोदावरी से लेकर दक्षिण में महानदी तथा कभी-कभी कृष्णा नदी तक फैला हुआ था। माठर-राजाओं ने ब्राह्मण-धर्म तथा संस्कृति को राज्याश्रय दिया और संस्कृत भाषा को राज-भाषा बनाया। इस सांस्कृतिक-उत्थान से धर्म-शास्त्र तथा पुराण लोकप्रिय हुए। फलतः ब्राह्मण-धर्म फिर से जन-जीवन को प्रभावित करने लगा। अनेक नृपतियों ने अपने आपको परम ब्रह्मण्य घोषित किया तथा शैलोद्भव राजाओं ने विशेष रूप से ब्राह्मण आचारों-व्यवहारों, बलिदानों तथा वेदाध्ययन का पुनः प्रचार-प्रसार किया। उड़ीसा में पहली बार अश्वमेध-यज्ञ राजा माधव वर्मन द्वितीय (६१०-६६० ई०) द्वारा सम्पन्न किया गया। तदनन्तर उसके पुत्र तथा उत्तराधिकारी मध्यमराय प्रथम ने वाजपेय तथा अश्वमेध दोनों यज्ञ पूर्ण कर अवभृत स्नान किया। फलतः यज्ञादि द्वारा ब्राह्मण-धर्म का पुनरुत्थान हुआ तथा बौद्ध-धर्म एवं बौद्ध-संस्कृति को कुछ धक्का पहुंचा।

चौथी शताब्दी के बाद से शास्त्रानुसार समाज का नियमन हुआ मानव-धर्म-शास्त्र को प्रमुख एवं समाज-व्यवस्था एवं वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान मिला। चौथी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उस काल में ब्राह्मण विभिन्न गोत्रों में विभाजित थे, यथा—भारद्वाज, कौशिक, आत्रेय, वत्स, कौत्स, हारीतक, मुद्गल, शाण्डिल्य, कौण्डिल्य, चातुकर्ण, गार्गेय, गौतम आदि।

वे अपनी विशेष शाखाओं तथा चरणों से ही जाने जाते थे। वाजसनेय चरण के ब्राह्मण वत्स, शाण्डिल्य, कौशिक तथा जातुकर्ण गोत्रों में विभाजित थे, जब कि छान्दोग्य चरण के ब्राह्मण मौद्गल्य, कौत्स, गौतम, गार्ग्य तथा वत्स गोत्रों में विभाजित थे। वत्स-गोत्रीय ब्राह्मण भारद्वाज-गोत्रियों के समान कण्व-शाखा के वाजसनेय-पाठ के अध्येता थे। वत्स गोत्रीय ब्राह्मण यजुर्वेद के कठ-चरण के अनुयायी थे तथा कण्व शाखा के कुछ ब्राह्मण भट्टीनारद गोत्र के थे। कलिंग में विष्णुविद्ध तथा कृष्णात्रय गोत्रों की तैत्तिरीय शाखा के छान्दोग्य चरण के ब्राह्मण तथा ऋग्वेद की ब्रह्म शाखा के वशिष्ठ और उद्वहिस गोत्र के ब्राह्मण भी वहां थे।

ब्राह्मणों में अधिकांश ब्रह्मचारी थे, जो अविवाहित रहकर वेदाभ्यास में जीवन व्यतीत करते थे। बौद्ध-भिक्षुणियों के समान ब्राह्मण-ब्रह्मचारिणियाँ भी थीं, किन्तु उनकी संख्या इतनी अधिक नहीं थी। ब्रह्मचारी पिल्ल की बहिन ब्रह्मचारिणी पिल्लक स्वामिनी को महाराज देवेन्द्र बर्मन के शासन (६८२ ई०) में, समाज में उच्च आदर का स्थान प्राप्त था।

माठरों के शासन-काल में ब्राह्मण-धर्म के साथ-साथ भागवत-धर्म ने भी कलिंग में सचमुच प्रगति की। इस वंश के राजाओं ने अपने आपको परम देवता या परम भागवत घोषित किया। कुछ ने स्वयं को भागवत नारायण स्वामी पदभक्त भी कहलाया। कलिंग में माठर राजाओं के उत्कर्ष के पूर्व किसी भी राजा ने भागवत धर्म का अनुसरण नहीं किया था। माठरों के राज्य काल के पश्चात् भी उड़ीसा के विभिन्न भागों में यह धर्म बहुत लोकप्रिय रहा।

महाभारत के शान्तिपर्व के मोक्ष-धर्म अनुच्छेद में नारायण-मत का विकसित रूप मिलता है, जिसमें इसे नारायण विधि, भगवत, पंचरात्र, एकान्तिक-मत इत्यादि नामों से पुकारा गया है। प्राचीन तमिल कविताओं में भी नारायण को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है; इन कविताओं का संग्रह 'परिपादल' है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत कलिंग में माठर राजाओं के शासन काल में उत्तर से न आकर दक्षिण से आया था।

गंग-शासन-काल के प्रारम्भिक काल में कलिंग में नारायण-मत का अधिक प्रसार हुआ। गंग राजा हस्तिवर्मन ने अपने ई० ५७७ के नरसिंहपल्ली प्रपत्र में नारायण को ऐसा भगवान बताया, जो सप्तसागर में शयन करता है, सप्त सामगान श्रवण करता है तथा सप्त संसारों पर शासन करता है। माधवराय तृतीय के टेक्काली अभिलेख में मधुसूदन को लक्ष्मी के साथ क्षीरसागर में रमण करते हुए बताया है तथा 'श्री' को

नारायण की संगिनी अभिहित किया है। माठर-पश्चात् काल में उड़ीसा में लक्ष्मी-नारायण की पूजा काफी प्रचलित रही। विष्णु को नारायण, मधुसूदन, माधव, श्रीनिवास आदि नामों से एवं लक्ष्मी को श्री, श्रीमाँ इत्यादि नामों से सम्बोधित किया गया। इस प्रकार १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में श्री वैष्णव-सम्प्रदाय (विष्णु के साथ लक्ष्मी) प्रचलित हुआ, जिसे रामानुज तथा चोडगंगदेव ने प्रश्रय दिया।

इस काल में विष्णु के अवतारों की कल्पना भी अत्यंत लोकप्रिय हुई। वराह, वामन, राम तथा कृष्ण की पूजा प्रचलित हुई। उडीसा के विभिन्न भागों में वामनावतार के विष्णु के पद-चिह्नों की पूजा भी होने लगी। नल-नरेश स्कन्दवर्मन ने त्रिकलिंग की राजधानी पुष्करी में विष्णुपाद-पूजा हेतु एक भव्य-मन्दिर का निर्माण करवाया। पादगड शिलालेख में राजा ने घोषित किया—हरि विजयी थे, विजयी हैं और विजयी रहेंगे....पवित्र हरि स्वयं विजेय हैं, विजय-श्री हैं, और विजेता हैं। इन शब्दों से भागवत-धर्म के उन सिद्धान्तों का ज्ञान होता है, जो प्राचीन मध्ययुगीन रहस्य-परम्परा से उड़ीसा में इस संक्रमण-काल में विकसित हुए।

ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में विष्णुमत से सम्बद्ध मानकर सूर्य-पूजा को भारत में विशेष प्रचलन मिला। भागवत-धर्म की प्रबलता के साथ कलिंग में भी सूर्य-पूजा लोकप्रिय हुई। धर्मराज प्रथम ने अपने ताम्रपत्र के अभिलेख ५७० ई० में स्वयं को सहस्ररश्मि के चरणों का पुजारी घोषित किया। ताम्रपत्र पर अंकित राजकीय मुद्रा में, सूर्य को चक्रहीन-रथ का वायुवाही रूप दिखाया गया है। स्पष्ट है कि सूर्य के मानवी-रूप की कल्पना, जिसमें उसके रथ को सात घोड़े खीचते हैं, उड़ीसा में बहुत देर से पहुंची। सूर्य देवता का रथ-पर्व उड़ीसा में माघ सप्तमी को मनाया जाता था। चिककोल लेख (६३६ ई०) में राजा इन्द्रवर्मन तृतीय द्वारा कौत्सगोत्रीय ब्राह्मणों को माघ के सातवें दिन (जिसे शुभ माना जाता था) दान देने का उल्लेख है। उस समय तक सूर्य का रथोत्सव भारत के विभिन्न भागों में मनाया जाने लगा था। चीनी यात्री ह्वेनसाँग ने ६४१ ई० में मुल्तान में इसे देखने का उल्लेख किया है। सातवीं शताब्दी में सूर्य-पूजक ब्राह्मणों को उड़ीसा में राज्याश्रय प्राप्त था। हमारे अभिलेखों से पता लगता है कि कई मैत्रेयानीय छात्र ब्राह्मण, मित्र (सूर्य) विषयक शास्त्रों के अध्ययन में रत थे। उड़ीसा में आँगिरस भारद्वाज-ब्राह्मण अधिक संख्या में थे, जो मूलतः शकद्वीप के मग ब्राह्मणों के वंशज थे, इन्होंने भारत के विभिन्न भागों में सूर्य-पूजन को लोकप्रिय बनाया। शैलोद्भव राजा माधवराय द्वितीय ने ६२० ई० में एक सूर्यग्रहण के अवसर पर भारद्वाज गोत्रीय छरम्पदेव तथा आँगिरस प्रवर

को भूमिदान दिया था।

कलिंग में शैवमत का प्रादुर्भाव सन् ३०० ई० में हुआ। असनपाट शिलालेख (३-४ शताब्दी) अष्ट-भुजा युक्त नटराज शिव की मूर्त्ति के चरण देश में उत्कीर्ण किया गया था। यह शिलालेख नागवंश के महाराज शत्रुभंज जो विंध्याटवी (आधुनिक मयूरभंज केऊनझर तथा सिंघभूम के शासक थे, ने उत्कीर्ण करवाया था। शत्रुभंज ब्राह्मण-धर्म के आश्रयदाता भी थे; उन्होंने पाटलीपुत्र, गया, क्रिमिला, दधवर्धन, पुन्ड्रवर्धन, वर्धमान, गौहाटी, खद्रंग, ताम्रलिप्ति तथा उभय तोशली में एक लाख गौएँ दान की थीं। उन्होंने अहिच्छत्र के शंकर मठ और लखेश्वर के मणिभद्र की विहार संस्थाओं के प्रबन्ध के लिए लाखों स्वर्ण मुद्राएँ प्रदान की थीं। उसने ब्रह्मचारियों, चरकों, परिव्राजकों, भिक्षुओं, निग्रंथियों, वृत्तान्तकों के लिये आवासगृह, विहार आदि निर्मित करवाये थे। इस महान् राजा ने भारत, पुराण, इतिहास, व्याकरण, उपशिक्षा, न्याय, मीमांसा, छन्द, स्मृति, वेदोपकरण, कला तथा विज्ञान का अध्ययन किया था। भगवान शिव के लिए एक भव्य मन्दिर का निर्माण भी इसने करवाया था। इस मन्दिर के अलावा कलिंग में दूसरे प्राचीन शिव-मन्दिर दमनेश्वर (३५० ई०), रामेश्वर (४०० ई०) तथा गोकर्णेश्वर (५०० ई०) के हैं।

गंग राजा, जिन्होंने कलिंग पर लगभग ५०० ई० से राज्य किया, शिव के उपासक थे। महेन्द्रगिरि पर गोकर्णेश्वर स्वामी की स्थापना इन्हीं के शासन-काल में हुई थी। यह राजा शिव को समग्र संसार का स्रष्टा मानते थे। उत्कल में शैव-धर्म, कर्ण-सुवर्ण के राजा शशांक—जो बौद्ध धर्म का कट्टर शत्रु था—के आश्रय में फला-फूला। इसी नरेश द्वारा ६१० ई० में एकाम्र नामक स्थान पर त्रिभुवनेश्वर शिव का मन्दिर बनवाया गया, जिससे यह स्थान भुवनेश्वर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। शशांक के कुछ समय बाद ही भुवनेश्वर में शिव के अनेक सुन्दर मन्दिर बने तथा उसे एक प्रमुख शैव-क्षेत्र माना जाने लगा। सातवीं शताब्दी में इस स्थान के प्रसिद्ध शिव मन्दिर शत्रुघ्नेश्वर, लक्ष्मणेश्वर, भरतेश्वर, परशुरामेश्वर तथा स्वर्ण जलेश्वर थे।

सातवीं शताब्दी में उड़ीसा में जिस शैव-मत का प्रसार हुआ था, वह मत्त-मयूर धारा का था। चंन्द्रेहे लेख से ज्ञात होता है कि मत्त-मयूर धारा के शैव-मत में शिव को मुण्डमाल, सर्प विभूषित, जटाजूट, गंगा तथा चन्द्रमा से युक्त दिखाया गया है। कांगोद के शैलोद्भव राजा, जिन्होंने इस शैव-मत को प्रश्रय दिया, शिव के चरणों के स्थान पर उनकी जटाओं की वन्दना करते थे। उनके लेख में इस प्रकार का विवरण प्राप्त होता है—'शिव की जटाएँ, जिनमें चन्द्रमा अपनी पद्म-राग-सी किरणों से सुशोभित है,

जो नागमणि से प्रदीप्त हैं तथा जिनके भस्मकरण गंगाजल से धुल जाते हैं, हमारी रक्षा करें !'.......।'

शैव-मत की मत्त-मयूर शाखा की आचार्य-परम्परा हमें राणोद के शिलालेख में मिलती है । इससे यह भी ज्ञात होता है कि मत्त-मयूरनाथ, जिन्हें पुरन्दर भी कहा जाता था, से पूर्ववर्त्ती चार आचार्य थे, जिनमें पहले का निवास-स्थान कदम्बगुहा था, दूसरे का शंखमठ, तीसरे का तेरम्ब तथा चौथे का आमर्दक तीर्थ । कदम्बगुहा आन्ध्र-प्रदेश के श्रीकाकुलम् जिले का कदम्बगिरि है, शंखमठ अहिच्छत्र, आधुनिक रामनगर (उत्तरप्रदेश) का शंखमठ है, तेरम्ब बोलानगिरि जिले का टेमरा (रानीपुर झरिया के निकट) है तथा आमर्दक तीर्थ मयूरभंज जिले का आधुनिक आमर्दा है, जो काल भैरव की पूजा से सम्बद्ध है । मत्त-मयूरनाथ की परम्परा में पाँचवें आचार्य व्योमशिव अथवा गगनशिव थे, जिनके शिष्य पतंगशिव कलिंग के गंग-नरेश देवेन्द्रवर्मन प्रथम के गुरु थे । धर्म लिंगेश्वर शिलालेख से पता चलता है कि इनकी मंत्र दीक्षा ६८२ ई० में हुई थी । पतंगशिव वेद-वेदांग, इतिहास-पुराण आदि के विद्वान थे । राणोद शिक्षालेख में उल्लिखित व्योमशिष, द्वितीय व्योमशिव हैं, क्योंकि उक्त लेख में उनकी तुलना शंकराचार्य से की गई है, जो व्योमशिव प्रथम के परवर्त्ती थे । गगनशिव (व्योमशिव) द्वितीय ने रानीपुर झरिया में सोमेश्वर मन्दिर बनवाया था तथा सम्भवतः भुवनेश्वर के मेघेश्वर मन्दिर का नाम भी उनसे संबद्ध हो ।

मत्त-मयूर धारा के प्रसार के साथ ही साथ सातवीं शताब्दी के पूर्व-काल में उड़ीसा में शैव-मत की लकुलीश-पाशुपत धारा का प्रभाव भी पड़ रहा था । पाशुपत-मत के प्रवर्तक लकुलीश का जन्म कायारोहण, आधुनिक गुजरात के करवान् जिले में, पहली शताब्दी में हुआ था । उनके चार प्रमुख शिष्य थे—कुशिक, गर्ग, मित्र तथा कौरुष्य । इनमें कुशिक का कार्य-क्षेत्र मथुरा था तथा गर्ग का काठियावाड़ में सोमनाथ । मथुरा स्तम्भ लेख (३८१ ई०) में आचार्य उदित जो कुशिक-परम्परा के दसवे आचार्य थे, का उल्लेख है । किन्तु उदित के काल में भी शैव-मत की यह धारा मथुरा नहीं आ पाई तथा इसका प्रभाव इस क्षेत्र में दो शताब्दियों बाद ही परिलक्षित हुआ । आचार्य हरिभद्र प्रणीत 'सद् दर्शन समुच्चय' के अनुसार पाशुपत मत के मानने वाले शिव के उस रूप की पूजा करते थे जो जटा-जूट, गंगा, नाग, चन्द्रकला, मुण्डमाल, भस्म तथा पार्वती से सम्बद्ध नहीं है । भुवनेश्वर से भरतेश्वर मन्दिर लकुलीश की प्रतिमा को प्रमुख स्थान मिला तथा तदनन्तर पाशुपत आचार्यों को अधिकाधिक लोकप्रियता प्राप्त होती गई ।

दक्षिण कौशल में सोमवंशीय राजाओं के प्रारम्भिक काल में शैवमत की मत्त-मयूर शाखा काफी शक्ति-सम्पन्न हुई। बालार्जुन के शासन-काल में शिवभक्त सद्य शिवाचार्य आमर्दक तपोवन से आये। उनके आध्यात्मिक उत्तराधिकारी सदा शिवाचार्य को भी बहुत सम्मान प्राप्त हुआ। एक और शैव आचार्य शूलपाणि को भी बालार्जुन से राज्याश्रय प्राप्त हुआ। उनके गुरु प्रमथाचार्य का उल्लेख भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मन्दिर के शिलालेख में मिलता है। ऐसी जनश्रुति है कि वे द्वैतवन के पंचयज्ञ-तपोवन से उड़ीसा आये थे। १०वीं तथा ११वीं शताब्दी में उड़ीसा में लकुलीश-पाशुपत मत बहुत प्रबल रहा तथा भुवनेश्वर के प्रसिद्ध लिंगराज तथा ब्रह्मेश्वर मन्दिर इसी मत के आचार्यों के थे।

शैवमत के साथ शाक्तमत तथा नागपूजा भी उड़ीसा के विभिन्न भागों में लोकप्रिय हुई। शक्तिपूजा का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र विरजा था, जहाँ हमें दुर्गा तथा चामुण्डा की प्राचीन प्रतिमाएँ मिलती हैं। परशुरामेश्वर मन्दिर की दीवालों पर शस्त्रधारिणी, सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी दुर्गा की छः प्रतिमाएँ हैं। पूर्व मध्यकाल में पूर्वी-भारत में दुर्गा-पूजा अधिक प्रचलित थी। यह पूजा प्रायः चामुण्डा तथा सप्त मातृकाओं—ब्रह्माणी, इन्द्राणी, वैष्णवी, वाराही, नरसिंही, ईशानी तथा कौमारी—से संयुक्त रहती थी। पश्चिमी-उड़ीसा में बोलानगीर जिले में सैंतला तथा सालेभटा में तथा कालाहांडी जिले में बेलखण्डी में दुर्गा-मन्दिरों के खण्डहर मिलते हैं। स्तम्भेश्वरी देवी की पूजा कौशल में छठी शताब्दी तक प्रचलित थी, महाराज तुष्टीकार इस देवी के भक्त थे। पूर्व मध्यकाल में स्तम्भेश्वरी देवी उड़ीसा की अत्यंत लोकप्रिय देवी थी।

सातवीं शताब्दी में कौशल तथा उत्कल दोनों प्रदेशों में योगिनी-मत लोकप्रिय था। बोलानगीर जिले में रानीपुर झरियाल में तथा पुरी जिलों में हीरापुर में चौंसठ योगिनी मन्दिरों के अस्तित्व से उड़ीसा में इस मत का लोकप्रिय होना परिलक्षित होता है। इसी काल में मध्य-भारत में कलचुरि तथा चन्देल राजाओं ने भी इस मत को प्रश्रय दिया, जिससे नर्मदा के तट पर भेड़ाघाट पर तथा खजुराहो में चौंसठ योगिनी-मन्दिर बनाये गये। योगिनी-सम्प्रदाय शाक्तमत के तांत्रिक रूप का उदाहरण है। पश्चिमी-उड़ीसा के सोमवंशीय राजाओं ने शक्तिपूजा को राज्याश्रय दिया तथा उनके शासन में सुवर्णपुर (आधुनिक सोनपुर) पश्चाम्बरी भद्राम्बिका देवी का प्रसिद्ध पीठ था।

नागपूजा उड़ीसा मे प्राचीन काल से प्रचलित थी। ईस्वी सन् की प्रारम्भिक शताब्दी में वहां नागपूजा के प्रमाण मिलते हैं। तीसरी-चौथी शताब्दियों में एकाम्र

(भुवनेश्वर) नागपूजा का प्रमुख केन्द्र था। सुन्दरपद (भुवनेश्वर का एक भाग) में नागराज तथा उनकी दो रानियों की मूर्त्तियां मिलती हैं, जो सम्भवतः इसी काल की हैं। छठी-सातवीं शताब्दियों में, जब एकाम्र के नागराज को अकाम्बकीय मणि-नागेश्वर कहा जाता था, नागपूजा को बहुत लोकप्रियता प्राप्त थी। सूर्य-पूजक ब्राह्मण मणिन.गेश्वर की परिसीमा में रहते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य पूजा तथा नागपूजा में उस काल में कोई आध्यात्मिक साम्य था।

सातवीं शताब्दी में बालकृष्ण की पूजा उड़ीसा में अत्यन्त लोकप्रिय हुई। कृष्ण के कलियदमन की कथा का चित्रण इस काल की कला तथा साहित्य में प्रचुरता से मिलता है। कृष्ण-पूजक सम्प्रदाय ने नाग-सम्प्रदाय को अपने अन्तर्गत घोषित किया, जबकि शैवमत नाग-पम्प्रदाय को अपने अन्तर्गत मानता था। इनके बावजूद, पृथ्वी के वासुकि-नाग के फन पर अवस्थित होने की जनश्रुति से नाग-सम्प्रदाय का सम्मान बना रहा।

उड़ीसा में धार्मिक-धाराओं के इस सम्मिलन में जैन-धर्म की कुछ अवनति हुई। यद्यपि दक्षिण में चौथी-पांचवीं शताब्दी में इसे पर्याप्त महत्त्व प्राप्त था। सातवीं शताब्दी में शैलोद्भव राजा धर्मराज द्वितीय की रानी राज्ञी कल्याण देवी ने जैन-धर्म को पुनरुज्जीविन करने का यत्न किया। उसने जैन-धर्म को पुनर्जागृत करने के लिये अर्हताचार्य नासिचन्द्र के शिष्य सात प्रबुद्धचन्द्र को भूमिदान दिया। उसके प्रयत्नों को कुछ सफलता मिली। उसके बाद कई शताब्दियों तक उड़ीसा के धार्मिक-जीवन पर जैन-धर्म का प्रभाव बना रहा। ११ वीं शताब्दी में जब उत्कल पर सोमवंशीय राजा उद्योत केशरी का शासन था, तब शैव-धर्म के साथ जैन-धर्म भी राज्य का एक महत्त्वपूर्ण धर्म था। प्रख्यात आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य आचार्य शुभचन्द्र ने उसी समय उत्कल की यात्रा की थी। सम्भवतः उसीने खण्डगिरि में नव-मुनि गुफा का पुनरुद्धार करवाया था। उन्हीं की प्रेरणा से खण्डगिरि में मन्दिरों तथा तालाबों का नवीनीकरण हुआ एवं एक यशनन्दी ने वहां कुछ गुफाओं में चौबीस तीर्थंकरों की प्रतिमाएं स्थापित कीं।

सातवीं शताब्दी से बौद्ध-धर्म का विकास तांत्रिक मार्ग पर होने लगा। बौद्ध-धर्म ग्रन्थों ने मंत्रों की शक्ति तथा धारणियों की सफलता पर बहुत जोर दिया। अद्वयवज्र में संकलित 'तत्त्व-रत्नावली' में महायान को दो धाराओं में विभाजित माना गया है—पारमितानय तथा मंत्रानय। मंत्रानय को पारमितानय से श्रेष्ठ माना गया है। महायान की मंत्रानय धारा स्वाभाविक रूप से मंत्रायान में परिवर्तित हो गई, जिसमें

रहस्यमय विधियाँ यथा—मुद्रा, मण्डल, अभिषेक तथा समाधि जैसी व्यवस्थाएँ आ गईं। गुह्य-क्रियाओं के षट्-प्रकारों तथा अभिचारों यथा—मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा वशीकरण—ने तांत्रिक-प्रणाली में अपना स्थान बना लिया तथा पंचमकारों—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा व मैथुन—के साथ मिल गये। इस प्रकार मंत्रयान में बौद्ध धर्म अपने अस्तित्व को खो बैठा और उसके प्राचीन आदर्श पूर्णतया परिवर्तित हो गये।

पाग-साम-जोन-जाँग की परम्पराओं के अनुसार तंत्रयान-बौद्ध-धर्म का विकास उड्डीयान (जिसे सामान्यतया उड़ीसा माना जाता है) में हुआ। बहुत से तांत्रिक-बौद्ध विद्वान जो कुछ मौलिक तांत्रिक उद्भावनाओं से सम्बद्ध रहे, उड्डीयान से आये थे। तिब्बती सूत्रों से ज्ञान होता है कि सरह, जिन्होंने बुद्ध-कपाल तंत्र का श्रीगणेश किया, कमवल तथा पद्मवज्र, जिन्होंने हेवज्र तंत्र स्थापित किया, लुईपा, जो सम्पुट तिलक के प्रारम्भकर्त्ता थे, ललितवज्र, जिन्होंने कृष्णयमारि तंत्र के तीन भागों का—गम्भीरवज्र के वज्रामित्र का, कुक्कुरी के महामाया का तथा पितो के कालचक्र का—प्रणयन किया, सब किसी न किसी रूप में उड्डीयान की तांत्रिक भूमि से सम्बद्ध रहे। सम्भल (सम्बलपुर) नरेश इन्द्रभूति ने सातवीं शताब्दी में उड्डीयान में मंत्रयान बौद्ध-मत का वज्रयान के रूप में गठन किया तथा उनकी बहिन लक्ष्मींकरा ने इसे सहजयान में विकसित किया।

वज्र का अर्थ शून्यता तथा वज्रयान का शून्यमार्ग है। यह विचारधारा बुद्ध के पाँच कुलों—मोह, द्वेष, राग, चितामणि तथा समय के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। मोहकुल का प्रमुख वैरोचन है, जिसकी शक्ति वज्रधात्वीश्वरी है; द्वेष का प्रमुख अक्षोभ्य है, जिसकी शक्ति लोचना है; राग का प्रमुख अमिताभ है, जिसकी शक्ति पण्डरा है; चिन्तामणि का प्रमुख रत्नसम्भव है, जिसकी शक्ति मामकी है तथा समय-कुल का प्रमुख अमोघसिद्धि है, जिसकी शक्ति आर्यतारा है। पाँच विभिन्न कुलों के ध्यानी बुद्ध अपनी शक्तियों, स्कन्धों, मुद्राओं, वाहनों, वर्णों तथा बोधिसत्त्वों के साथ हैं। प्रत्येक बुद्ध तथा बीजमंत्र को वज्रसत्त्व आदिबुद्ध का रूप माना जाता है। इसकी प्रकृति न सिर्फ शून्यता, वरन् शून्यता तथा करुणा के अद्वैत की स्थिति है। वज्रसत्त्व विज्ञानवाद-दर्शन की 'अभूतपरिकल्प' कल्पना का एक प्रतीक है, जहां शून्यता तथा विज्ञप्तिमात्रता का अप्रकट एकीकरण है।

इन्द्रभूति का पुत्र पद्मसम्भव एक महान् धार्मिक सुधारक था, जिसने तिब्बत में तंत्रायन का उपदेश दिया तथा उस बर्फीले प्रदेश में जाकर लामाओं को संघबद्ध किया।

उसने प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक शान्तिरक्षित, जो उसका बहनोई था, के साथ (७८० ई० से ७९५ ई० के बीच) तिब्बत की यात्रा की और वहां ओदन्तपुर विहार के समान साम-ये में एक विहार की स्थापना की। लामा-धर्म के प्रवर्तक गुरु पद्मसम्भव को तिब्बत में द्वितीय बुद्ध के रूप में जाना जाता है।

इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मींकरा का विवाह बंकापुरी (सम्भवत आधुनिक सोनपुर) के राजा जलेन्द्र के पुत्र से हुआ था। वह तांत्रिक बौद्ध-धर्म की प्रसिद्ध नेत्री थी। भारत के ८४ सिद्धों की पारम्परिक सूची में इन्द्रभूति के साथ उसका उल्लेख भी है। वह इन्द्रभूति की शिष्या थी, किन्तु बाद में उसने एक ऐसी धार्मिक-व्यवस्था का प्रतिपादन किया, जो वज्रयान की प्रतिक्रिया के रूप में मानी गई। इन्द्रभूति का कथन था कि मुक्ति केवल मुद्रा, मन्त्र तथा मण्डल से नहीं मिल सकती, उसके लिये साधक को पांचों तथागतों का ज्ञान होना आवश्यक है तथा बिना बौद्ध-ज्ञान के मूर्ख या विद्वान किसी को भी संसार से मुक्ति नहीं मिल सकती। परन्तु लक्ष्मींकरा ने ज्ञान तथा योग की कठिन प्रक्रियाओं के स्थान पर एक सहज व्यवस्था बताई, जो न सिर्फ बौद्ध-ज्ञान व तथागत की पूजा के विपरीत थी, वरन् सभी परम्परागत भौतिक तथा सामाजिक विचारों के भी विरुद्ध थी।

'सहज' का शाब्दिक अर्थ है—वह है जो, व्यक्ति में जन्म से साथ रहता है तथा अपने आपको आदिम प्राकृतिक प्रवृत्तियों के रूप में प्रकट करता है। उसका मार्ग वह है—जो, मनुष्य को इस जन्मजात मूलभूत प्रकृति के माध्यम से सत्य का बोध कराता है, यही सहज-मार्ग या सहजयान है। परन्तु लक्ष्मींकरा के अनुसार 'सहज' सभी सम्भव परिभाषाओं के ऊपर है तथा अज्ञात एवं अज्ञेय है, क्योंकि यह जीवों तथा वस्तुओं की जन्मना मूल प्रवृत्ति है। सहजयानियों के 'सहज' की परिभाषा देना वास्तव मे कठिन है। यह वेदान्त-उपनिषद का ब्रह्म, माध्यमिका का मध्यम प्रतिपाद, विज्ञानवादियों की अभूत परिकल्पा, वज्रयानियों का वज्रधातु तथा सहजयानियों का महासुख है।

यह नहीं भूलना चाहिये कि सहजयानी यौन-प्रवृत्ति तथा आदिम-वासना के प्राथमिक महत्त्व को स्वीकार करते हैं तथा इन प्रवृत्तियों का प्राकृतिक यौगिक-साधना के माध्यम से परिशोधन करने हेतु स्त्री-शक्ति, जिसे चण्डाली, डोम्बी, सावरी, योगिनी, नैरात्मा, सहज-सुन्दरी इत्यादि नामों से जाना जाता है, का संग करवाते हैं। जो आनन्द इस योग-यौन-सम्प्रयोग से प्राप्त होता है, उसे चार अवस्थाओं में विभाजित किया गया है—आनन्द, परमानन्द, विरमानन्द तथा सहजानन्द। आनन्द की अन्तिम अवस्था को

महासुख कहते हैं, जिसमें विचार-पद्धति का अस्तित्त्व ही समाप्त हो जाता है ।

लक्ष्मीकरा के बाद अनेक सहजयानी (सहजिया) सिद्ध हुए, जैसे—कन्हुपा, तिलोपा, नारोपा, जालन्धरीपा, दरीपा आदि । इन्होंने सुन्दर दोहों की रचना कर सहजदर्शन के सिद्धान्त समझाये । इन दोहों को चर्यागान कहा जाता है तथा यह सान्ध्य भाषा में लिखे गये हैं । कुछ महिलाओं ने भी लक्ष्मींकरा के पदचिह्नों पर चल कर सिद्धि प्राप्त की, जिनमें प्रमुख हैं नेताई धोबन, ज्ञानदेई-मालिन, सुआ तेलन, लाहुकुती, लुहारन, सुकुती चमारन, गांगी गौडुनी तथा पत्रपिन्धी सहरन । इन सातों तांत्रिक महिलाओं ने मध्ययुग में उड़ीसा में गुह्यदर्शन के प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया ।

जगन्नाथ (जो आदिबुद्ध या वज्रसत्त्व ही हैं) की पूजा में इन्द्रभूति का महान् योगदान है । अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ज्ञान-सिद्धि' में इन्द्रभूति ने जगन्नाथ की प्रार्थना सर्व-व्यापी, सर्वात्मा, सर्वजिन-पूजित ईश्वर की वन्दना के रूप में की है । इस प्रकार श्री क्षेत्र में पुरुषोत्तम-विष्णु की पूजा के साथ ही सम्भल में जगन्नाथ-बुद्ध की पूजा प्रचलित हुई । यह दोनों सम्प्रदाय धीरे-धीरे एक में मिल गये और उड़ीसा आगमन पर रामानुज (१२वीं शताब्दी) ने जगन्नाथ पूजा में पंचरात्र-संस्कार सम्मिलित करने का यत्न किया । इसका उल्लेख अनन्ताचार्य कृत प्रपन्नामत में प्रच्छन्न रूप में किया गया है । चोड गंगदेव (१०७७ से ११४७ ई०) के रामानुज का शिष्यत्त्व स्वीकार करने की बात भी ज्ञात है, उन्होंने सम्भवतः रामानुज के सुझाव पर ही पुरी में लक्ष्मी-मन्दिर के साथ पुरुषोत्तम-जगन्नाथ का मन्दिर बनवाया था । गंग-सम्राटों के राज्य काल में पुरुषोत्तम-जगन्नाथ की पूजा को केन्द्र बनाकर वैष्णव-धर्म का विकास हुआ । शैवमत पर, जो अभी तक लोकप्रिय था, अब वैष्णव-धर्म छा गया । धार्मिक-केन्द्र भुवनेश्वर से हट कर पुरुषोत्तम पुरी हो गया । सूर्यवंशी गजपति राजाओं के शासन-काल में जगन्नाथ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण देव हो गये तथा वज्रयानी सिद्धान्तों के समान ही उनके दर्शन का भी विकास हुआ । जगन्नाथ-मत को मध्ययुगीन वैष्णव-मत के रूप में जाना जाता है । १६वीं शताब्दी के जिन कवि दार्शनिकों ने इसमें महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया, वे हैं–बलरामदास, जगन्नाथदास, यशवन्तदास, अच्युता नन्ददास, तथा अनंत दास जो पंचसखा के रूप में प्रसिद्ध हैं । १५वीं शताब्दी में महाकवि सरलादास ने अपने 'महाभारत' द्वारा इस मत की आधार भूमि प्रस्तुत की थी, जिस पर पंचसखाओं ने प्रासाद निर्माण किया । इन पाँचो के अतिरिक्त अन्य सशक्त लेखकों ने भी उड़ीसा के वैष्णव-मत के प्रसार में योग दिया, जिनमें प्रमुख थे—चैतन्यदास, देव दुर्लभदास, दिवाकरदास, ईश्वरदास तथा सालबेग । सालबेग एक मुस्लिम कवि था, जो बाद में यशवन्तदास द्वारा

वैष्णव धर्म में दीक्षित किया गया था ।

उपर्युक्त कवि-दार्शनिकों ने उड़ीसा में एक सशक्त धार्मिक-आंदोलन का सूत्रपात किया एवं भगवान जगन्नाथ पर केन्द्रित सम्प्रदाय तथा दार्शनिक-धारा का सुगम प्रतिपादन किया । वज्रयान, जो इसके तुरन्त पहले प्रचलित था, के धार्मिक साहित्य का प्रभाव इस धारा पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है । उड़ीसा के वैष्णव-सम्प्रदाय के जगन्नाथ आदिबुद्ध या वज्रयान के वज्रसत्त्व ही हैं । उनकी परिकल्पना शून्य पुरुष के रूप में की गई है तथा उन्हें अनादि, निर्गुण-ब्रह्म माना गया है । लक्ष्मींकरा द्वारा प्रतिपादित पिण्ड-ब्रह्माण्ड का सिद्धान्त पूरी तरह स्वीकार कर लिया गया तथा पतञ्जलि का अष्टांग-योग न मानकर पितोपाद द्वारा प्रतिपादित कालचक्रायन को आधार बनाया गया था । पितोपाद रत्नगिरि विश्वविद्यालय में ८वीं शताब्दी में शिक्षक थे, उनकी सिद्धि सम्भल में हुई थी । जगन्नाथ-मत की योग-प्रणाली में गुदा, लिंग, नाभि, ग्रीवा, तथा हृदय को षट्चक्र माना गया है, जिनके माध्यम से प्राणवायु इड़ा तथा पिंगला की दो धाराओं से सुषुम्ना में जाती है । इन तीनों का संगम, त्रिकूट, दोनों नेत्रों के मध्य में स्थित है । त्रिकूट के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र है, जो सहस्रार कमल के समान है तथा गोलक मण्डल कहलाता है । यह शून्य स्थान चिरन्तन राधा तथा चिरन्तन कृष्ण का रास क्षेत्र है । राधाकृष्ण जगन्नाथ के—जो स्वयं आदिब्रह्म या आदिबुद्ध, अलेख, अनाकार तथा अनादि हैं—अवतार हैं ।

जब तक वज्रयान जगन्नाथ-मत में परिवर्तित हुआ, प्राचीन वासुदेव-कृष्ण सम्प्रदाय में अनेक परिवर्तन हो चुके थे । उसका रूपान्तर गौडीय-वैष्णव नामक एक नव-वैष्णव-सम्प्रदाय में हो चुका था । हर्षवर्द्धन के पश्चात् अनेक विदेशी जन-जातियों—शक, कुषाण, हूण, पल्लव तथा अभीरों—का हिन्दूकरण हो गया था । एक नई राजपूत जाति बन गई थी । आठवीं-नौवीं शताब्दी में राजपूताना-सौराष्ट्र क्षेत्र में राजपूत सांस्कृतिक परम्परा से राधा-सम्प्रदाय की उत्पत्ति हुई । मध्य-युग में राधा के कृष्णमत से सम्बद्ध हो जाने से वैष्णव-धर्म में क्रान्तिकारी परिवर्तनों का श्रीगणेश हुआ । नवीं शताब्दी के परमार राजा वाक्पति मुञ्ज के लेख में हम विष्णु को लक्ष्मी के कमल-मुख से असंतुष्ट होकर राधा के प्रेम की कामना करते हुए पाते हैं । जयदेव, जो उड़ीसा में १२वीं शताब्दी में पनपे, ने 'गीत-गोविन्द' में राधा-कृष्ण के प्रेम को वाणी दी । परवर्त्ती वैष्णव साहित्य पर 'गीत-गोविन्द' का बहुत प्रभाव पड़ा, यद्यपि जयदेव ने राधा को परकाया नायिका के रूप में चित्रित नहीं किया, गीत-गोविंद के पश्चात्-काल में भी वैसा ही माना गया । गजपति प्रताप रुद्रदेव (१४९७-१५४०ई०) के अधीनस्थ राय

रामानन्द ने परकीया नायिका के रूप में राधा के कृष्ण-प्रेम का वर्णन किया। इस प्रेम का प्रेम अप्राकृतिक या अतिप्राकृतिक माना जाता है। राय रामानन्द के नाटक 'जगन्नाथ-वल्लब' में तथा चण्डीदास और विद्यापति की पदावली में इसके मधुर-चित्रण हैं। वास्तव में राय रामानन्द का सम्मान गौडीय वैष्णव मत, जिसका पूर्व-भारत के धार्मिक-जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा, के ऐतिहासिक संस्थापक के रूप में किया जाता है। श्री चैनन्य के आगमन से उड़ीसा में नव-वैष्णव-मत में उत्साह का संचार हुआ।

तेरहवीं शताब्दी से त्रिभंगी मुद्रा में बंशी बजाते हुए द्विभुजा कृष्ण की मूर्त्ति की पूजा उड़ीसा में बहुत लोकप्रिय हुई। परन्तु इस मूर्त्ति का राधा के साथ बहुत समय तक सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया। चैतन्य-पश्चात् काल में जब रूप गोस्वामी तथा सनातन गोस्वामी ने वन्दावन का पुनरुद्धार तथा पुर्ननिर्माण किया, तब वहां मदन-गोपाल तथा गोविन्द उड़ीसा की कृष्ण-प्रतिमाओं जैसे ही बनाये गये थे। परन्तु मदनगोपाल तथा गोविन्द का भी राधा की मूर्त्ति से सम्बन्ध स्थापित नहीं किया गया था। सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में जीव गोस्वामी के शिष्य श्यामनन्द ने तरुण रसिकानन्द को वैष्णव-धर्म में दीक्षित किया और इन दोनों ने स्वर्ण रेखा के तट पर गोपी वल्लभपुर में एक मठ की स्थापना की। यह मठ पूर्व-भारत में आध्यात्मिक प्रेरणा का केन्द्र-बिन्दु था। लगभग १६१० ई० में रसिकानन्द ने महाराज वैद्यनाथ भंज को अपना शिष्य बना लिया, जिसके बाद गोपी वल्लभपुर की गोविन्द-मूर्त्ति का, महाराज वैद्यनाथ भंज की मानी हुई पुत्री राधा-मूर्त्ति के साथ विवाह किया गया और महाराज द्वारा खदिआसुल ग्राम दहेज में दे दिया गया था। इस प्रकार गोपी वल्लभपुर मठ में गोविन्द के साथ राधा की प्रतिमा रख दी गई। चूँकि यह राधा विवाहित पत्नी थीं एवं परकीया नहीं थीं, इसलिए इसे गौडीय-मत के अनुयायियों ने स्वीकार नहीं किया।

कटक के निकट एक ग्राम में वृषभानु नाम के ब्राह्मण व्यापारी के पास एक राधा की प्रतिमा थी, जिसे वह अपनी पुत्री मानता था, उसकी मृत्यु के पश्चात् इस प्रतिमा को भोई-वंश के राजा गजपति पुरुषोत्तम देव ने (१६०७-१६२६ ई०) पुरी लाकर जगन्नाथ मन्दिर के चक्रवेध में रखा। इस राजा को रसिकानन्द ने स० १६२० ई० में दीक्षित किया। इसके कुछ समय पश्चात् यह राधा-मूर्त्ति वृन्दावन ले जाकर गोविन्द-प्रतिमा (मदन गोपाल) के बाँई ओर स्थापित की गई। उड़ीसा की ही जाह्नवीदेवी द्वारा प्रदत्त एक और राधा-प्रतिमा वृन्दावन की गोपिनाथ प्रतिमा के साथ स्थापित की गई।

औरंगजेब के शासन-काल में ही शाही फरमान द्वारा मन्दिर तथा प्रतिमाएँ

विनष्ट किये जाने से नव-निर्मित 'वृन्दावन-धाम की बहुत हानि हुई। मदनगोपाल, गोविन्द तथा गोपीनाथ प्रतिमाएँ उस समय तक राजपूताना के अम्बर राज्य में भेजी जा चुकी थीं। अम्बर नरेश सवाई जयसिंह (१६९९-१७४३ ई०) ने स० १७२८ ई० में अपनी नई राजधानी जयपुर में बसाई। जयपुर में एकत्रित वैष्णवों ने वृन्दावन से लाई गई राधाकृष्ण की युगल-प्रतिमा की पूजा में आपत्ति की। सवाई जसंसिंह के इस विषय में वृन्दावन के किसी विद्वान से व्यवस्था लेने के निर्णय के अनुसार, गौडीय सम्प्रदाय के प्रमुख विश्वनाथ चक्रवती द्वारा, उड़ीसा से आए हुए बलदेव विद्याभूषण को जयपुर भेजा गया। बलदेव विद्याभूषण ने ब्रह्मसूत्र तथा भागवत पर गोविन्द-भाष्य की रचना की तथा राधा-कृष्ण प्रतिमाओं के प्रतीकत्त्व को अचिन्त्य भेदाभेद के सिद्धान्त से स्पष्ट किया। उन्होंने कृष्ण को साक्षात् भगवान तथा राधा को उनकी शक्ति घोषित किया। अचिन्त्य भेदाभेद-सिद्धान्त पर आधारित वेदान्त-दर्शन को सम्प्रदाय में स्वीकार किया गया, फलतः १८ वीं सदी के मध्य से सारे भारत में राधा-कृष्ण की युगल-जोड़ी बहुत लोकप्रिय हुई। इस प्रकार राधा-कृष्ण पूजा तथा गौडीय-वैष्णव-दर्शन में उड़ीसा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।

स० १७५१ ई० में मराठों ने उड़ीसा पर अधिकार कर धर्म-विरोधी मुस्लिम-शासन का अन्त कर दिया। मराठा शासन स० १८०३ ई० में ब्रिटिश शासन द्वारा समाप्त कर दिया गया। इसके बाद ईसाई-मिशनरी, लोगों का धर्म-परिवर्तन कर उन्हें ईसाई बनाने में सक्रिय हो गयी। स० १८५० ई० तक तटवर्त्ती क्षेत्र की पर्याप्त जनसंख्या ईसाई बन चुकी थी। यह धर्म पश्चिमी पहाड़ियों में भी फैलने लगा था। सम्भवतः इस धर्म-प्रसार का प्रतिरोध करने हेतु ही १९ वीं शताब्दी के मध्य में एक नया धार्मिक आंदोलन प्रारम्भ हुआ। यह धर्म महिमास्वामी-प्रणीत होने के कारण महिमा-धर्म कहलाया। उद्भट साहित्यिक विद्वान खण्डकवि भीमाभोई इस धर्म के प्रमुख प्रसारक थे। उनके गीतों, चौतीसों तथा भजनों में महिमा-धर्म के अनुयायियों की आध्यात्मिक प्रेरणा के स्रोत प्रवाहित होते हैं। महिमा-धर्म न सिर्फ ईसाई-धर्म-प्रचार के विरुद्ध सुरक्षा का साधन था, वरन् सामन्तवाद तथा रूढ़ ब्राह्मण-संस्कारों के विरोध का माध्यम भी था। सम्भवतः इसीलिए ब्राह्मण तथा सामन्तवादी शासक इसे पसन्द नहीं करते थे। भीमाभोई ने समग्र मानव-जाति के दुःखों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की तथा उस महात् शून्यवासी महिमा के लिये आत्मार्पण करने हेतु अबाध रूप से सब का आह्वान किया, जिसे अलख, निरंजन तथा कलंकी पुरुष भी कहते हैं। वह जीव तथा परम के सिद्धान्त तथा जीव द्वारा परम से मिल एकाकार

होने के यत्न का प्रतिपादन करते हैं। भीमाभोई के भजन तथा गीत मीरा, तुलसी, तुकाराम तथा कबीर के समान ही महान् दार्शनिक तथा साहित्यिक महत्त्व के हैं। भीमाभोई के साहित्य में दार्शनिक सौन्दर्य तथा गहन मानवीय गुण हैं। अपने गीतों में वे बराबर महिमा-अलख-ब्रह्म से अज्ञान-अन्धकार दूर कर, सद्धर्म स्थापित कर मानव जाति की मुक्ति की प्रार्थना करते हैं। स्पष्ट रूप से भीमाभोई का स्थान भारत के युगातीत मसीहाओं की श्रेणी में है।

अनुवाद : विष्णु स्वरूप

केदारनाथ महापात्र

उड़ीसा के धर्म, साहित्य और स्थापत्य पर तंत्र का प्रभाव

तांत्रिक-धारा और शक्ति-परंपरा का संबंध इतना निकट का है कि शक्ति-परंपरा की प्राचीनताओं और विशेषताओं के ज्ञान के बिना तांत्रिक-धारा के इतिहास, विकास और प्रचार के बारे में ठीक-ठीक धारणा नहीं बनाई जा सकती। अतः शक्ति-परंपरा पर कुछ विचार यहां कर लेना उचित होगा। वैदिक-युग से ही गायत्रीदेवी की उपासना प्रचलित है। उनका आह्वान मंत्र इस प्रकार है :

आगच्छ वरदे देवि त्र्यक्षरे ब्रह्मरूपिणि।
गायत्रि छन्दसां माता ब्रह्मज्योतिर्नमोस्तुते।।

अर्थात्—'हे वरदायिनी, त्र्यक्षर में समाहित, ब्रह्मरूपिणि, छन्दों की माता, ब्रह्म-ज्योतिस्वरूपा हे गायत्रीदेवि, आपको मेरा नमस्कार।' इससे यह पता चलता है कि अतिप्राचीन गायत्री-मंत्र शक्तिधारा की भावनाओं से प्रतिष्ठित है। वैदिक-साहित्य में 'देव्यसूक्त' नाम के एक और प्रधान मंत्र में भी ब्रह्म की परा-शक्ति विभिन्न प्रकार की होने की बात कही गई है। जैसे कि 'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।' उसके पश्चात् लिखे गए 'देवी भागवत' में इस उक्ति की व्याख्या देखने को मिलती है :

शक्तिः करोति ब्रह्माण्डं सा वै पालयतेऽखिलम् ।
इच्छया संहरत्येषा जगदेकचराचरम् ।।
न विष्णुर्नहरःशक्रो न ब्रह्मा न च पावकः ।
न सूर्योवरुणः शक्ताः स्वे स्वे कार्ये कथंचन ।।
यया युक्ता हि कुर्वन्ति स्वानि कार्याणि ते सुराः ।
कारणं सैव कायेषु प्रत्यक्षेणावगम्यते ।।
वस्तुजालं शक्तिहीनं शक्तं कर्तुं न किंचन ।
शक्तं तु परमेशानि शक्त्यायुक्तं यदा भवेत् ।।

अर्थात्—'शक्ति स्वेच्छा से इस चराचर जगत की सृष्टि, स्थिति और संहार करती है। ब्रह्मा, विष्णु, शिव, सूर्य, वरुण आदि शक्ति के बिना अपना-अपना सामान्य कार्य भी कर नहीं सकते और शक्ति-युक्त होने पर कार्यकुशलता के अधिकारी होते हैं। शक्ति ही प्रत्येक कार्य का कारण है—और यही प्रत्यक्ष-ज्ञान की बात भी है।' अगस्त्य-संहिता में कहा गया है कि शक्ति के अभाव में शिव और परब्रह्म की भी सार्थकता नहीं रह जाती और वे कुछ भी काम नहीं कर सकते—

यया देव्या विरहितः शिवोऽपि हि निरर्थकः ।

'सूत-संहिता' में इसका उल्लेख इस प्रकार है—मंगलमयी शक्तिरूपिणी सत् और परमानन्द-स्वरूपा मुक्तिदायिनी-शक्तिदेवी शिव और ब्रह्म से भिन्न नहीं है। शिव और ब्रह्म भी शक्तिहीन होने पर संसार की कोई भी आवश्यकता पूरी नहीं कर सकते। जैसे कि इसी संहिता में आगे कहा गया है—

सदाकारा परानन्दा संसारोच्छेदकारिणी ।
सा शिवा परमा देवी शिवाभिन्ना शिवंकरी ।।
शिवाभिन्ना तया भिन्न शिवोऽपि हि निरर्थकः ।

हिन्दुओं की नित्यपाठ्य 'श्रीमद् भगवद्गीता' में प्रकृति माया के रूप में, और महेश्वर ब्रह्ममायी अर्थात् माया के अधिष्ठाता के रूप में वर्णित है—

मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिकं तु महेश्वरम् ।

यहां माया का अर्थ है परब्रह्म की शक्ति। यह माया सब अघटन को घटा सकती है और इसका 'अघटन-घटन-पटीयसी' के नाम से उल्लेख किया जाता है।

शक्तिधारा का एक प्रधान ग्रन्थ 'श्रीचंडी' में शक्ति के महात्म्य का मार्मिक वर्णन इस प्रकार किया गया है—

त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया ।
सम्मोहित देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ।।

अर्थात्—'हे देवि, तुम वैष्णवी-शक्ति हो, तुम्हारा सामर्थ्य उन्नत है । तुम ही जगत का मूल हो । तुम ही वही माया हो जो अविद्या के रूप में सबको सम्मोहित करके रखती है । तुम जब प्रसन्न होती हो, विद्या रूप में मुक्ति का कारण बन जाती हो ।'

पुनश्च.—

विद्याः समस्तास्तव देवि भेदाः
स्त्रियः समस्ताः सकला जगत्सु ।
त्वयैकया पूरितमम्बमेतत्
कालेस्तुति स्तव्यपरा परोक्तिः ।।

अर्थात्—'हे देवि, यह सब विद्या तुम्हारे ही अन्य रूप हैं, समस्त स्त्री-जाति तुम्हारा ही प्रकार-भेद है । तुम सारे जगत में परिपूर्ण हो । मैं किस भाषा में तुम्हारी स्तुति करूं ?'

शक्ति सारे संसार में व्याप्त है, ब्रह्म इस शक्ति का आधार है । शक्तिमान शिव और ब्रह्म को छोड़कर शक्ति अन्य स्थान पर नहीं रह सकती । शिव और शक्ति का संबंध अविच्छेद्य है । एक के अभाव में दूसरे की स्थिति असम्भव है । इसलिए महाकवि कालिदास भी सकल जगत के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर के स्तुतिगान से ही अपना महाकाव्य 'रघुवंशम्' का आरंभ करते हैं । यथा :

वागर्थाविव संपृक्तो वागर्थप्रतिपत्तये ।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ ।।

शब्द और अर्थ जैसे अंतरंग संबंध से जुड़े जगत के पिता-माता पार्वती परमेश्वर को वचन और अर्थ की प्रतिपत्ती पाने के लिए महाकवि प्रार्थना करते हैं । ब्राह्मण्य धर्म के पुनरुत्थानकारी, महामनीषी, परिव्राजकाचार्य श्रीमत् शंकराचार्य भी अपनी 'आनंदलहरी' में भक्ति भावना से ओत-प्रोत होकर शक्ति की आराधना इन शब्दों में करते हैं—

शिवः शक्त्यायुक्तो यदि भवति शक्तः प्रभवितुं
नचेदेवं देवो न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि ।

अर्थात्—'शिव शक्तियुक्त अवस्था में ही प्रभुत्व या ईश्वरत्त्व प्राप्त करने का सामर्थ्य रखते हैं। शक्तिहीन होने पर स्पन्दन करने का भी सामर्थ्य भी उनमें नहीं रह जाता।'

उन्होंने आगे उसी स्तुति में कहा है—

मनस्त्वं व्योम त्वं मरुदसि मरुत्सारथिरसि
त्वमापस्त्वं भूमिस्त्वयि परिणतायां नहि परम्।
त्वमेव स्वात्मानं परिणमयितुं विश्ववपुषा
चिदानन्दाकारं हरमहिषिभावेन विभृषे ।।

अर्थात्—'हे हर महिषि दुर्गे, तुम मन हो, आकाश हो वायु हो, अग्नि हो, जल हो, भूमि हो। तुम्हारे स्थूल रूप लेने पर अवशेष कुछ नहीं रह जाता। तुम अपने को ईश्वर रूप देने के लिये स्वेच्छा से चिन्मयी और आनन्दमयी बन जाती हो।'

शाक्तमतावलम्बियों के अनुसार शक्ति देवी में सब देवताओं का समाहार है, शक्ति समग्र-जगत में व्याप्त है, अतः अनन्त है।

शाक्त और तांत्रिक-धारा :

उपरोक्त आलोचना से यह निःसन्देह प्रतिपादित हो जाता है कि महापुरुष शंकर का जब अभ्युदय हुआ (अधिकतर ऐतिहासिक इनका समय आठवीं शताब्दीं मानते हैं) तब तक शाक्त-मत समग्र भारत में प्रतिष्ठित हो चुका था। प्रसिद्ध टीकाकार कुलुक भट्ट ने श्रुति को द्विविध अर्थात् वैदिकी और तांत्रिकी माना है। कलियुग में तंत्र का प्राधान्य स्वीकृत है और इस संदर्भ में इसे 'पंचम वेद' का नाम भी दिया गया है। चौथी शताब्दी के प्रसिद्ध कोषकार अमरसिंह सब शास्त्रों का पर्याय तंत्र के रूप में ही कर वर्णना करते हैं:—

समाहृत्यान्यतंत्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः।
संपूर्णमुच्यते वर्गैर्नामलिंगानुशासनम् ।।

अमरकोष, कांड–१, श्लोक–२

यद्यपि यहां पर तंत्र शब्द का व्यवहार व्यापक अर्थ में किया गया है, इसके बाद इस शब्द का व्यवहार एक निर्दिष्ट अर्थ में ही किया जाने लगा, जिसका अन्य नाम

1. H. H. Wilson, 'Essays and Lectures on the Religion of Hindus', P 248.

'आगम' है। जैसे कि:—

'आगतं पंचवक्त्रात्तु गतं च गिरिजानने ।
मतंच वाम देवस्य तस्मादागममुच्यते' ।।

शिव अर्थात् ईश्वर से पार्वती को प्राप्त धर्मोपदेश का संकलन आगम या तंत्रशास्त्र कहलाता है। यह निगम या वेद से भिन्न है।

तंत्र शास्त्रों में अनेक प्रकार की पूजा-विधियों और साधन-प्रणालियों के वर्णन पाये जाते हैं। इसका उद्देश्य संभवतः शाक्तमत का प्रचार करना और उसे जनप्रिय बनाना ही रहा हो। तंत्र के अनुसार 'मिथुन' का अर्थ शिव और शक्ति का मिलन है। श्री शंकर की आनन्द लहरी में मिथुन का इस प्रकार वर्णन हैः—

महीं मूलाधारे कमपि मणिपुरे हुतवहम्
स्थितं स्वाधिष्ठाने हृदि मरुतमाकाशमुपरि ।
मनोऽपि भ्रूमध्ये सकलमपि भित्त्वा कुलपथम्
सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसि ।।

अर्थात्—'हे देवि, तुम कुंडलिनी रूप में मूलाधार स्थित महीमण्डल, स्वाधिष्ठान स्थित जलमण्डल, मणिपुर स्थित अग्निमण्डल, अनाहत स्थित वायुमण्डल, विशुद्धमण्डल, भ्रूमध्य स्थित मनश्चन्द्र—यह समस्त कुलपथ (षट्चक्र) अतिक्रम करके सहस्रार के पद्म में पति के साथ एकांत में विहार करती हो।'

इससे पता लगता है कि शंकराचार्य 'आनन्दलहरी' में शाक्तमत का समर्थन करते हैं।

श्रीक्षेत्र (पुरी) में तांत्रिक-धारा का आगमन :

पुरी में स्थापित गोवर्धनमठ, श्री शंकर के प्रसिद्ध चतुष्पीठों में एक है। इसकी स्थापना के साथ-साथ उत्कल में तांत्रिक और शाक्तमत को पर्याप्त समर्थन और सम्मान मिला। जगन्नाथजी के मन्दिर को भी एक शाक्त-पीठ के रूप में माना जाने लगा। श्री जगन्नाथ को भैरव या शिव के रूप में और विमला देवी को भैरवी या शक्ति के रूप में मान्यता मिलने लगी, जैसा कि निम्नलिखित प्रमाण से प्रकट है—

विमला भैरवी यत्र जगन्नाथस्तु भैरवः ।

पुरी मन्दिर में विमला के आगे जब तक महाप्रसाद का समर्पण नहीं होता, तब तक उसे महाप्रसाद नहीं कहा जाता। प्रधान वैष्णव-देवता श्री जगन्नाथ के मन्दिर में शक्ति की श्रेष्ठता और अधिकार की कल्पना और आराधना तथा श्री जगन्नाथ को भैरव का अन्य रूप मान लेना शक्तिधारा के प्रभाव का द्योतक है। प्राचीन उत्कल के धर्म-विश्वास में यह एक मौलिक परिवर्तन का प्रारम्भ है।

विरजा—उत्कल में तांत्रिक और शाक्त-धारा के प्रचार और प्रगति में विरजा-क्षेत्र का विशेष स्थान है। इस क्षेत्र की प्राचीनता के प्रमाण 'महाभारत' के वन पर्व में मिलते हैं, जैसे कि—

ततो वैतरणीं गत्वा सर्वपाप प्रमोचनीम्।
विरजा-तीर्थ-मासाद्य विराजति यथा शशी॥

विष्णुपुराण, ब्रह्मपुराण, कपिलसंहिता आदि प्राचीन ग्रन्थों में भी इस तीर्थ की महत्ता के प्रमाण मिलते हैं। कुब्जिकातंत्र में विरजा-तीर्थ को द्विचत्वारिंश—४२ पीठों में से एक कहा गया है। 'ज्ञानार्णवतंत्र' में पंचाशत—५० तीर्थों में इस तीर्थ का नाम है। 'ब्रह्मनील तंत्र' और शंकराचार्य के 'अष्टादश 'पीठ' और 'पीठ निर्णय' आदि ग्रन्थों में भी विरजापीठ का उल्लेख है[2]। अन्य प्राचीन शिलालेख और ताम्रलेखों में भी इस तीर्थ का नाम देखने को मिलता है। इनमें पृथ्वीमहाराज (६ठी शताब्दी) का पारला-खेमुण्डि ताम्रशासन[3] और भानुदत्त का सोर दानपत्र[4] (७वीं शताब्दी) उल्लेखनीय हैं। ७वीं शताब्दी से नवीं शताब्दी तक समग्र उत्कल में सार्वभौम अधिकार-प्राप्त भौम-सम्राटों ने विरजा-क्षेत्र के पास गुहेश्वर पाटक या गुहदेव पाटक को अपनी राजधानी बनाया था[5]। इसी वंश के राजा उन्मट्टकेशरी विरजा से राजत्व करने का विवरण उनके एक सामन्तराजा गंगवंशी जयदेव वर्मदेव के ताम्रशासन में मिलता है, यथा—

विरजसि राज्ञः उन्मट्ट केशरी विज्ञेप्त्या[6]।

विरजा क्षेत्र की अधिष्ठात्री देवी विरजा का रूप है, द्विहस्ता महिषासुर मर्दिनी का। प्रसिद्ध इतिहासकार स्व. रमाप्रसाद चाँद का कहना था, कि यह मूर्ति अति प्राचीन है और संभवतः गुप्तपूर्व युग की है[7]। इससे प्रतीत होता है कि यह क्षेत्र प्राचीन काल से ही तंत्रमत का एक प्रधान केन्द्र रहा है।

सप्तमातृका—६ठी शताब्दी में लिखित 'मार्कण्डेय पुराण' के अन्तर्गत 'देवी-महात्म्य या 'सप्तशती चंडी' में सप्तमातृकाओं का विस्तृत विवरण मिलता है। उसमे सप्त-मातृकाओं के नाम इस प्रकार हैं :

---

2. The Sakta Pithas, Dr. D.C. Sircar, J.R.A.S., Bengal, Vol. XIV, P 108.
3-4. Inscriptions of Orissa, Vol. I, Part II, P 54-56.
5. Orissa under the Bhauma Kings, Pt B. Misra, P 87-89.
6. Indian Historical Quarterly, Vol. XII, P 87-89.
7. Memoirs of the Archaelogical Survey of India, no 44, P 5.

ब्राह्मी माहेश्वरी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।
वाराही च तथेन्द्राणी चामुण्डा सप्तमातरः ।।

पाँचवीं सदी के गुप्तसम्राट् समुद्रगुप्त के विहार लेख में जो मातृगण का वर्णन मिलता है, उसमें उन्हें कार्तिकेय की धात्रीस्वरूपा[८] कहा गया है । विश्ववर्मन् के गंगाधर शिलालेख से[९] पता चलता है कि उनके मंत्री मयूराक्ष ने मातृकाओं का एक मंदिर बनवाया था । इसमें यह भी वर्णित है कि मातृकाओं ने मंत्र के बल से प्रबल प्रभंजन द्वारा समुद्र के वक्ष में उत्ताल तरंगों की सृष्टि की थी । अतः मातृकाओं को तांत्रिक-देवियाँ माना जाना उचित है । दक्षिण-भारत के प्राचीन चालुक्य राजाओं का भी सप्तमातृकाओं की शक्ति पर विश्वास था । इनके बारे में यह कहा गया है : 'सप्तलोक मातृभिः सप्तमातृभिरभिवर्धितानां'[१०]। इससे लगता है कि गुप्तयुग में सप्तमातृकाओं की पूजा भारत के अनेक स्थानों पर प्रचलित थी । उत्कल में अब तक पाये गये सप्त-मातृकाओं के विग्रहों में प्राचीनतम है, भुवनेश्वर-स्थित परशुरामेश्वर मन्दिर की उत्तरी दीवार पर उत्कीर्ण सप्तमातृकाओं की मूर्ति । यह मन्दिर ६ठी शताब्दी का है । भुवनेश्वर में ही लिंगराज मन्दिर के पास सप्तमातृकाओं का एक मन्दिर था, जो अब नहीं है । स्व. मनमोहन गांगुली (१९१२ ई० में प्रकाशित) अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख करते हैं[११]। यहाँ पर एक और तांत्रिक मन्दिर है, जिसका नाम 'कपालिनाम मन्दिर' है । इसके तहखाने की दीवार पर अन्य मूर्त्तियों के साथ-साथ सप्तमातृकाओं की प्रतिमा भी उत्कीर्ण है । इस मन्दिर की अधिष्ठात्री-देवी (कपालिनी) का स्वरूप विकटवदना, भीमरूपा, नृमुण्डमालिनी, अस्थिकंकाल-सारा एवं शवशिवारुढ़ा चांमुडा है । प्रवेशद्वार पर एक यूपस्तंभ है, जिसे किंवदन्तिओं के अनुसार नरवलि के लिये व्यवहार किया जाता था । परशुरामेश्वर मन्दिर के पास एक सुन्दर क्षुद्र मन्दिर है, जिसका नाम मुक्तेश्वर मन्दिर है । इसकी मुखशाला की छत पर एक सुन्दर चित्र है, जिसमें अष्टदल-पद्म के भीतर सप्तमातृकाओं की मूर्त्ति का चित्रण किया गया है । श्री क्षेत्र में मार्कण्डेश्वर मन्दिर के पास भी सप्तमातृकाओं के विग्रह पाये गये हैं । कटक जिले में जगतसिंहपुर सब डिविजन के अन्तर्गत अलका नदी के किनारे एक छोटा सा सप्तमातृका का मन्दिर है, जहाँ अब भी इनकी पूजा की जाती है । ब्राह्मणी नदी के किनारे धर्मशाला इलाके में भी एक सप्तमातृका का मन्दिर था, जिसे मुसलमानों ने अपने

8. Fleets' Corpus, Vol. III, P 48.
9. Fleets' Corpus, Vol. III, P 78.
10. Indian Antiquary, Vol. VI, P 76.
11. Orisa and Her Remains, P 237.

आक्रमण काल में ध्वंस कर दिया था। वहां से लायी गयी चार काले पत्थर में तराशी गयी मूर्त्तियां—वैष्णवी, वाराही, इन्द्राणी और चामुण्डा—अब ओड़िशा राज्य-संग्रालय में संरक्षित हैं। विरजा-क्षेत्र या जाजपुर में जो सप्तमातृकाओं के विग्रह मिलते हैं, उनमें विरजा, सप्तमातृका, चामुंडा आदि की प्रस्तरमूर्त्ति प्रधान हैं। इनके तराशने की कला और भास्कर्य के विशेष वर्णन स्व. रमाप्रसाद चांद[१२] और स्व. राखालदास बनर्जी[१३] के शोधलेखों में मिलते हैं। इन मूर्त्तियों को देखकर ये ऐतिहासिक मुग्ध हो गये थे। यहां पर परित्यक्त अवस्था में प्राप्त चामुण्डा मूर्त्ति के नीचे जो शिलालेख है, उससे पता चलता है कि उसे वत्सादेवी ने बनवाया था[१४क]। यह सम्भवतः भौमवंश की एक रानी थीं। भुवनेश्वर में अनेक मन्दिर हैं, जिनका संबंध निश्चय ही तंत्रमत से था। यहां पर बिन्दुसागर के दक्षिण में भौमवंश की एक रानी[१४ख] मोहिनी द्वारा निर्मापित मोहिनी मन्दिर की अधिष्ठात्री-देवी भीमरूपा, दशभुजा चामुण्डा है। इसके पास ही चित्रकारिणी मन्दिर में भी चामुण्डा की मूर्त्ति है। मार्कण्डेश्वर, उत्तरेश्वर, कपालिनी, शिशिरेश्वर, रामायणी, दक्षिणचंडी, द्वारवासिनी आदि मन्दिरों में विभिन्न रूप में महिषासुरमर्दिनी दुर्गामूर्त्ति की पूजा की जाती है। षोडश-मातृगणों में अग्रगण्या गौरी की पूजा भी एक लघु किन्तु कमनीय मन्दिर में की जाती है।

पश्चिम ओड़िशा की उच्चसम-भूमि में भी कई स्थानों से सप्तमातृकाओं के विग्रह प्राप्त हुए हैं। उनमें टिटलागढ़ के पास घोडाल गांव में पायी गयी पत्थर पर उत्कीर्ण सप्तमातृकाओं की प्रतिमा उल्लेखनीय है। इसके गवेषक वेगलार साहब इसे नवग्रह की मूर्त्ति मानते हैं किन्तु लेखक के अनुसार यह सप्तमातृका के ही विग्रह हैं[१५]। पूर्वतन कालाहांडी राज्य के पुरातत्त्व-अधिकारी की हैसियत से लेखक ने (१९४७ ई० में) तेल और उरेइ नदी के संगमस्थल बेलखंडी गांव में खुदाई करवा के एक सप्तमातृका मन्दिर का पता लगाया था[१६]।

वैतरणी नदी के किनारे उत्कल के प्राचीन भंज-राजाओं की राजधानी खिजिंगकोट्ट

12. Exploration in Orissa, R. P. Chand, plates I, VI, VII, IX.
13. History of Orissa, Vol. II, P 400-401, 404, 405, 146-17.
14. क और ख. Ed. by D. C. Sircar, E Vol. XXVIII, P211-216.
15. Archaelogical Survey of India, A. Cunningham, Vol. XIII, P 138.
16. J. K. H. R. Society, Vol. II, P3 & Excavation at Belkhandi in Kalahandi South, K. N. Mohapatra.

(ग्राज का खिचिंग) में चामुण्डा की मूर्त्ति की अब भी एक मन्दिर में पूजा की जाती है। उस मन्दिर में एक चतुर्हस्ता वैष्णवी-प्रतिमा भी है। जिसके ऊपर में दो हाथों में शंख ग्रौर चक्र तथा नीचे के दायें हाथ में अभय-मुद्रा ग्रौर वायें हाथ में शिशु-संतान दिखाये गये हैं।

प्राची-उपत्यका की तांत्रिक मूर्त्तियां :

उत्कल की समभूमि में महानदी की शाखा प्राची की उपत्यका ऐतिहासिक कीर्त्तियों के लिये प्रसिद्ध है। यहां बौद्ध, जैन, शैव, तांत्रिक, शाक्त ग्रौर वैष्णव सभी प्रकार के पुराने मन्दिर, मूर्त्तियां ग्रादि प्राप्त हुए हैं। उनमें से कुछ तांत्रिक ग्रौर शाक्त-परंपरा की कीर्त्तियों का उल्लेख यहां किया जा रहा है।

प्राची नदी के किनारे चौराशी गांव में वाराही का मन्दिर है। इस मन्दिर का तहखाना भुवनेश्वर का गौरी-मन्दिर जैसा ग्रौर 'जगमोहन' परशुरामेश्वर मन्दिर जैसा है। यहां की ग्रधिष्ठात्री देवी द्विहस्ता शूकरमुखी वाराही हैं, जिनके बायें हाथ में कपाल ग्रौर दायें हाथ में मछली दिखाये गए हैं। मछली तांत्रिकों की 'पंचमकार' में एक है ग्रौर इस कारण इस मूर्त्ति के एक हाथ में मछली का होना तात्पर्यपूर्ण है। तांत्रिक बौद्धों की उपास्य वाराही-मूर्त्ति चतुर्भुज होती है—ऊपर के हाथों में कपाल ग्रौर मछली, ग्रौर नीचे के हाथ ग्रंजली की मुद्रा में बद्ध होते हैं।

दुर्गा तांत्रिकों की प्रधान ग्राराध्य-देवी हैं। इनकी ग्रनेक प्रतिमाएं प्राची उपत्यका में पायी गयी हैं। इनमें द्विभुजा, चतुर्भुजा, षड्भुजा, दशभुजा ग्रौर षोडशभुजा ग्रादि विभिन्न प्रकार की मूर्त्तियां हैं। द्विभुजा मूर्त्तियों की संख्या कम है ग्रौर ऐसी मूर्त्तियां सामान्यतः ग्रति प्राचीन हैं। जाजपुर की विरजा ग्रौर प्राची उपत्यका की महिषासुर-मर्दिनी दुर्गा द्विहस्ता हैं। इनमें वाहनसिंह देखने को नहीं मिलता। साड़ी, उत्तरीय ग्रौर जटामुकुट इनकी पोषाक की विशेषता है। माधव ग्राम के मन्दिर में चतुर्भुजा दुर्गा-मूर्त्ति है। पद्मासन पर खड़ी इस मूर्त्ति के पांव महिषासुर ग्रौर सिंहवाहन के पास, ग्रौर ऊपर के बायें हाथ में घंटी ग्रौर दाहिने हाथ में खड्ग तथा नीचे के दो हाथों से महिषासुर को भोंके गये त्रिशूल दिखाये गये हैं। ग्रसुर का कटा हुग्रा सिर जमीन पर लुढ़कता दिखाया गया है।

मोतिग्रारिग गांव में जो चतुर्भुज मूर्त्ति है, उसके ऊपर के दो हाथों में शंख ग्रौर चक्र ग्रौर नीचे के दो हाथों में महिषासुर का वक्षभेद करता हुग्रा त्रिशूल दिखाये गये हैं। ग्रस्तरंग गांव में एक षड्भुजा दुर्गा की मूर्त्ति (ग्राकार ४४" × १७") मिली है।

जिसके एक दाहिने हाथ के त्रिशूल में महिषासुर को मारा जा रहा है और बायें हाथ में असुर का सिर है। दो और दायें हाथों में खड्ग और बाण तथा दो और बायें हाथों में धनुष और ढाल दिखाये गये हैं। पास मे असुर की मूर्त्ति है, जिसके दाहिने हाथ में खड्ग, बायें हाथ में ढाल और कमर में लटकती हुई छुरी दिखाये गये हैं। असुर के महिषमुख और पूँछ है। पास में वाहनसिंह नहीं दिखाया गया है। ऐसी मूर्त्तियां कम ही देखने को मिली हैं, यह मूर्त्ति पंचम या शष्ठ शताब्दी की मानी जा सकती है। अष्टभुजा और दशभुजा मूर्त्तियों की संख्या पर्याप्त है। प्राची के किनारे निआली के पास अमरकुदा, रामेश्वरगढ़ का रामेश्वर और काकटपुर के पास मंगलपुर में अष्टभुजा विग्रह मिले हैं, जो टूटे हुए हैं। लताहरण गांव में एक दशभुजा मूर्त्ति है। इनके पांच दाहिने हाथों में खड्ग, बाण, त्रिशूल, छुरा, और चक्र तथा पांच बायें हाथों में, ढाल, धनुष, घंटी, सर्पपाश और असुर का सिर दिखाये गये हैं।

चौराशी ग्राम के पास अम्बापडा में काले पत्थर में तराशी गयी त्रिभंग मुद्रा में खड़ी दशहस्ता मूर्त्ति के दश हाथों में भी अस्त्र-शस्त्र दर्शाये गये हैं। इसके नीचे खुदे लेख से यह किसी युवराज की बनवायी गयी प्रतीत होती है। रक्तबीज असुर को मारने में विशेष सहायता करने वाली चामुण्डा की कुछ मूर्त्तियों की पूजा प्राची-उपत्यका में अभी भी की जाती है। पितापड़ा ग्राम का अंगेश्वर मन्दिर, मोतिआणि का दुर्गा मन्दिर, लताहरण का ग्रामेश्वर मन्दिर आदि में स्थापित चामुण्डा मूर्त्ति चतुर्भुज है। कपिलेश्वरपुर और तुलसीपुर के पास षड्भुजा चामुण्डा पूजित हो रही हैं। काकटपुर के पास सोमनाथ मन्दिर में दो अष्टभुजा चामुण्डा संरक्षित हैं। काकटपुर में मंगला—मन्दिर की दीवार पर उत्कीर्ण और चौराशी ग्राम में पायी गयी चामुण्डा दशभुजा हैं। निआली के शोभनेश्वर मन्दिर के पास एक विशाल चामुण्डा मूर्त्ति है। वह भीमरूपा देवी चंद्रघंटा या कात्यायिनी के नाम से प्रसिद्ध हैं। 'प्राची-महात्म्य' में कहा गया है कि मद्य और मांस इनका आहार है। 'मद्य मासरे होइ तुष्टा, नाम वहिले चंद्रघंटा'[१७] जिन चतुर्भुजा चामुण्डा की बात पहले कही गयी है, उन्हें शव के ऊपर नाचने की मुद्रा में दिखाया गया है। षड्भुजा चामुण्डा सामान्यतः भीमरूपा, नृमुंडमालिनी, विकटवदना, और शवारुढ़ा रूप में दिखायी गयी हैं। अष्टभुजा दुर्गा के हाथों में भी वस्त्र-शस्त्र, छिन्न-मस्तक आदि, गले में मुंडमाला और सांपों के हार एवं सिर पर प्रज्ज्वलित अग्निशिखा दिखायी गयी है। प्राची उपत्यका में जितने प्रकार के और जितनी संख्या

---

१७. गोविन्द रथ द्वारा मुद्रित 'प्राची महात्म्य', पृष्ठ—४५।

में तांत्रिक और शाक्त-विग्रह मिले हैं, उतने भारत के किसी और प्रदेश में अब तक नहीं मिले ।

प्राचीन उत्कल के योगिनी-पीठ :

दुर्गा और सप्तमातृकाओं की तरह योगिनी-पूजा भी प्राचीन उत्कल में की जाती थी। भारत के चार योगिनी-पीठों में से दो उत्कल में ही हैं। इन चार पीठों में तीन—जबलपुर के पास भेड़ाघाट, खजुराहो, और टिटलागड़ (उत्कल) के पास रानीपुर झरिआ—पहले ही प्राप्त हो चुके थे। चौथी पीठ की खोज भुवनेश्वर के पास हीरापुर ग्राम में लेखक ने १९५३ ई० में की। भेड़ाघाट के योगिनी-मन्दिर के निर्माण-काल और मूर्त्तियों के संबंध में प्रसिद्ध पुरातत्त्वविद् कनिंघम ने[18] सबसे पहले प्रकाश डाला। इस विषय पर राखालदास बनर्जी ने भी कुछ साल के बाद खोज की थी और अनेक नये तथ्य वे सामने लाये थे। [19]। रानीपुर-झरिआ के बारे में बेगलार[20] साहब का विवरण सर्वप्रथम है। कुछ साल बाद डॉ. छावड़ा[21] भी यहां के शिलालेखों को पढ़कर कुछ और तथ्य सामने लाने में सफल हुए थे। इस लेखक द्वारा ही हीरापुर में वृत्ताकार योगिनी-पीठ को प्राप्त किया गया था और यहां की ८० योगिनियों, कात्यायिनी, भैरव और भैरवी आदि के संबंध में विवरण प्रकाशित करवाया गया था[22] इसके कुछ तथ्य इस प्रकार हैं।

यह एक गौरी पट्टाकृति पीठ है। वृत्त भाग की परिधि करीब १० फीट, जमीन की सतह से ऊँचाई ८ से ९ फीट, पूर्वी ओर का आयातकार प्रवेश मार्ग ८ फीट लंबा और २½ फीट चौड़ा, भीतर के वृत्ताकार क्षेत्र का व्यास २५ फीट, दीवार की ऊँचाई ६½ फीट वृत्ताकार क्षेत्र के केन्द्र में चार दरवाजों वाला एक मंडप था। वृत्ताकार दीवार के ६० खानों में ६० योगिनी की खड़ी मूर्त्तियां हैं। केन्द्र के मंडप में ८ मूर्त्तियाँ थीं, जिनमें एक अब नहीं है। प्रवेश मार्ग के दोनों ओर दो भैरव-मूर्त्तियाँ और दो द्वारपाल-मूर्त्तियाँ देखने को मिलती हैं। वृत्ताकार क्षेत्र की बाहरी दीवार पर नौ-कात्यायिनियों का विग्रह उत्कीर्ण है। सब मिलाकर कुल ६०+७+४+९=८०

---

18. Archaelogical Survey of India, Vol. IX, by A. Cunningham.
19. The Haihayas of Tripuri & their Monuments.
20. Archaelogical Survey of India, Vol. XIII, by A. Cunningham.
21. Ranipur Jharial Inscriptions, Epigraphics Indica, Vol. XXIV, P239-245.
22. The Orissa Historical Research Journal, Vol. II, No 2, P23-24.

मूर्त्तियाँ यहां पाई गई हैं। इस पीठ की अधिष्ठात्री-देवी हैं—दशभुजा महामाया। उपर्युक्त ८० मूर्त्तियाँ में से ५६ द्विभुजा, २० चतुर्भुजा और ४ दशभुजा हैं। तीन और दशभुजा मूर्त्तियाँ केन्द्र के मंडप में उत्कीर्ण हुई हैं, जिनमें २ ऊर्ध्वलिंग शिव की और एक नग्न-शिव की है। पहली के चरण के पास जो परिचारिका है, उसके दाहिने हाथ में शंख और बायें हाथ में खप्पर दिखाए गए हैं। दूसरी परिचारिका विकट-वदना, ऊर्ध्वकेशा, भीमरूपा है और इसके बायें हाथ में भी खप्पर है। तीसरी परि-चारिका के हाथों में खड्ग और खप्पर हैं। अधिष्ठात्री देवी दशभुजा महामाया अपूर्व रूप-लावण्य-संपन्ना हैं और मुकुट, किरीट, रत्नहार, रत्न कटिबंध, कंकण, नुपूर आदि से अलंकृत हैं। उनके हाथ टूटी हुई अवस्था में पाये गये थे, अतः उनमें कैसे अस्त्र-शस्त्र दिखाये गये थे, इसका पता नहीं चल सका। यह मूर्त्ति, अन्य मूर्त्तियों से ऊँची है—इसकी ऊँचाई करीब २ फीट २ इंच की और अन्य मूर्त्तियों की ऊँचाई करीब २ फीट की है। इस मन्दिर का नाम देवी के नामानुसार महामाया-मन्दिर और समीपस्थ पुष्करिणी का नाम महामाया-पुष्करिणी है। प्रवेशमार्ग के दाहिनी ओर जो भैरव मूर्त्ति है (३″ ८″×२″), वह मुंडमालधारी भीमरूपा, क्षीणकाय और जटाजूट संयुक्त है। दाहिने हाथ में खप्पर है और बायां हाथ टूटा हुआ है। पादपीठ पर दो परिचर हैं, जिनको क्षीणकाय एवं हाथों में कटारी और खप्पर धारण किये हुए दिखाया गया है। बायीं ओर की भैरवमूर्त्ति के बाये हाथ में छिन्न-मस्तक और पादपीठ के दो परिचरों में से एक को रक्तपान करते हुए तथा दूसरे को दोनों हाथों में खप्पर पकड़े हुए दिखाया गया है। बाहर की नौ-कात्यायिनी-मूर्त्ति छिन्न-मस्तकों पर खड़ी दिखाई गई हैं। पहली के परिचरों को बाजा बजाते हुए, दूसरी के परिचरों को, छत्र थामे हुए दिखाया गया है। पीठ की एक ओर श्वान और दूसरी ओर शृगाल दिखाए या अंकित किये गए हैं।

हीरापुर के योगिनीपीठ की कुछ विशेषताएँ हैं। रानीपुर झरिआ और भेड़ा-घाट के पीठों पर यहां की तरह प्रवेशमार्ग के दो द्वारपाल, दो भैरव और बाहर की कात्यायिनी मूर्त्ति देखने को नहीं मिलती। रानीपुर झरिआ की योगिनी वाहन-रहित हैं। हीरापुर की ८० मूर्त्तियों में से ७७ खड़ी हैं। बाकी ३ शिव की मूर्त्तियां पद्मासन पर दिखाई गई हैं। रानीपुर झरिआ के अधिकांश विग्रह दण्डायमान् या नृत्यरत अवस्था में दिखाये गये हैं। भेड़ाघाट की ८१ मूर्त्तियों में केवल ५ ही खड़ी हैं। हीरापुर में द्विहस्त-विग्रहों की अधिकता, शास्त्र-सम्मत पट्टाकृति पीठ निर्माण की 'शैली' और योगिनियों के पास परिचर-उपासक आदि का अभाव प्रमाणित करते हैं

कि यह प्राचीनतम पीठ है। इसका निर्माण संभवत: ९ वीं शताब्दी में हुआ था।

'कालिक-पुराण' में योगिनियों के नाम, महात्म्य, पूजा-प्रणाली आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस पुराण में कहा गया है कि उड्र-देश की योगिनी-पीठ सर्वप्रथम या आदि पीठ हैं :—

> ओड्राख्यं प्रथमं पीठं द्वितीयं दालशैलकम्।
> तृतीयं पूर्णपीठन्तु कामरूपं चतुर्थकम्॥
> ओड्रपीठं पश्चिमेतु तथैवौड्रेश्वरीं शिवाम्।
> कात्यायिनीं जगन्नाथमोड्रेशंच प्रपूजयेत्॥

केवल हीरापुर में ही कात्यायिनी पूजा का विशेष स्थान था। अत: नि:सन्देह कालिका पुराण का तीर्थ जिसे उड़ देश का पीठ कहा गया है, वह हीरापुर ही है [२३]। कालिका-पुराण कामरूप के राजा धर्मपाल (११ वीं सदी) के समय का है [२४]। इसके लेखन के बहुत पहले ही हीरापुर का योगिनीपीठ प्रसिद्ध हो चुका था। भौम-वंश की महारानी त्रिभुवन महादेवी के ढेंकानाल ताम्रशासन में कहा गया है कि वे पति की मृत्यु के बाद महासामन्त चक्र के अनुरोध से कात्यायिनी कीं तरह सिंहासना-रूढ़ा हुईं, जैसे—'महासामन्त चक्रेण निवेद्यमाना कात्यायिनी व सिंहानारूढा' [२५]। इस दानपत्र का समय ११० भौमाव्द अर्थात् ७२४ ई० है। अत: यह मानना उचित होगा कि तब तक उड्रदेश अर्थात् उत्कल में कात्यायिनी-पूजा प्रचलित थी। उक्त तथ्यों के आधार से यह भी माना जा सकता है कि योगिनी और कात्यायिनी पूजा का प्रारभ उत्कल की समभूमि में हुआ था और धीरे-धीरे अन्य अंचलों में भी उसका प्रसार हुआ था [२६]। चालुक्य सम्राट् षष्ट विक्रमादित्य के एक 'सामन्त' राजा द्वारा उत्कीर्ण १०९३ ई० के एक लेख में यह कहा गया है कि उन्होंने चतु:षष्ठी योगिनी वर-प्रसाद प्राप्त किया था [२७]।

तांत्रिक शाक्त-मत का विकास :

भौम-सम्राट् शुभाकर देव को १०३ भौमाब्द अर्थात् ७१७ ई० के एक ताम्र-लेख में

२३. बंगला में पंचानन तर्करत्न द्वारा मुद्रित 'कालिका पुराण' अध्याय ६३ श्लोक ४३ व ४४।
24. The Indian Historical Quarterly, Vol. XXIII, P 322-326.
25. Orissa under the Bhauma Kings, P26.
२६. इस लेखक द्वारा प्रस्तुत रानीपुर-झरिआ पर निबंध O. H. R. J., Vol. III, No 2 PP 65-75.
27. South Indian Inscriptions, Vol. IX of I NO-163.

'निखिला गमान्तसार गंभीर प्रज्ञासंभार' कहा गया है। अर्थात् वे आगम शास्त्र में विद्वान् होने के कारण प्रज्ञा-संभार थे।[२८] गणपति प्रतापरुद्र देव के राजगुरु कवि डिंडिम जीवदेव आचार्य के 'भक्तिभागवत' महाकाव्य में कहा गया है कि भोज या भौमवंश के राजाओं का उत्कल की शक्तिस्वरूपा विरजा देवी में गंभीर विश्वास था। यथा—'तद्देश शक्ति विरजा पदपद्मा भक्ताः' । इन राजाओं के गुरु 'सकलागमज्ञः' मृत्युंजय आचार्य ने मृत राजपुत्र को मन्त्र के बल से पुनर्जीवित कर दिया था—

यं पंचतामुपगतं नरपालसूनुम्
मृत्युं विजित्य सहसा पुनरानिनाय ।

ये गुरु वत्सवंश के थे, पार्वती भक्त थे तथा मंत्रों से बलीयान् थे। इसके विषय में 'हरार्धतनुभाग पदाब्जा सेवाख्यातः मन्त्रैकसाधनापराः' कहा गया है। अतः भौम राजाओं के समय उत्कल में तांत्रिक शाक्तमत का पर्याप्त प्रभाव था।[२९] भौमवंश के पतन के बाद ११११० ई० तक उत्कल का शासन प्रबल पराक्रमी सोमवंश के सम्राटों के हाथों में था। मादलापांजी[३०] से पता लगता है कि सोम या केशरी वंश के राजा ययाति केशरी ने पुरी में जगन्नाथ, विमला देवी और लक्ष्मी के मन्दिर बनवाये थे।[३१] इस वंश के भीमकेशरी देवी के उपासक थे। इन्होंने ही मार्कण्डेश्वर मन्दिर के पास सप्तमातृकाओं की स्थापना की थी। यह भीमकेशरी प्रथम ययाति के पुत्र भीमरथ ही थे[३२]। भक्तिभागवत महाकाव्य से पता चलता है कि केशरी वंशीय सोमेश्वर ने 'तंत्रार्णव' नामक उपादेय ग्रन्थ की रचना की थी —

येनोद्धते सकल विस्तृत यन्त्रसारे
तंत्रार्णवे महति मद्पति सर्वलोकः[३३]

मादलापांजी से यह ज्ञात होता है कि सोमवंश के पतन के पश्चात् चोल गंगदेव 'नेताई धोवणी' नाम की तंत्र साधिका से प्राप्त सिद्धि के कारण उत्कल सिंहासन पर अधिकार करने में सफल हो सके थे।[३४] भक्तिभागवत महाकाव्यम् में भी इस बात

28. Orissa under the Bhauma Kings, P14.
29. A Des cat of Sanskrit Manuscripts of Orissa, Vol. II, edt by Shri K. N. Mohapatra, P75.
३०. मादलापांजी, पृष्ठ ६.
३१. मादलापांजी, पृष्ठ ३२.
३२. मादलापांजी, पृष्ठ १९.
33. Des Cat, Vol. II, P76.
३४. मादलापांजी, पृष्ठ २२.

की पुष्टि इन शब्दों में की गई है—

तेष्वादिमः समभवद् धृतमंत्रसिद्धिः
शक्तिप्रसादपरमो भुवि चोडगंगः ।
गौरी गुरुर्गु रुरभूत प्रथितोऽस्य वत्स
वंशे गुरुः सुरपतेरिव तंत्रचित्तः ।।[३५]

उस युग में पटना राज्य की सप्तकुमारी तंत्र-मंत्र में विशेष सिद्धि की अधिकारिणी थीं । उनके नाम इस प्रकार थे—मदना या ज्ञानदेई मालन, निताइ धोबिन, लुहुकुटी लोहारन, शुकुटी चमारन, पत्रपिन्धी शबरी, गांगी ग्वालन और शुआ तेलिन । इनके ही वजह से पटना राज्य का अन्य नाम 'कुमारी पाटना' वन गया था । आज भी इनके नाम से अनेक ओड़िआ-मंत्र प्रचलित हैं । उनकी अपूर्व तांत्रिक शक्ति के वारे में हजारों कहानियां सुनने को मिलती हैं ।

वारहवीं शताब्दी में गंग वंश के शासनकाल में प्रमुख वैष्णव चतुष्टय—श्री रामानुजाचार्य, श्री निम्बाकाचार्य, श्री विष्णुस्वामी और श्री मध्वाचार्य—ने पुरी में अपने-अपने मत के प्रसार के लिये मठों की स्थापना की थी । इसके फलस्वरूप ओड़िसा में लक्ष्मीनारायण, लक्ष्मीनृसिंह और गोपीनाथ आदि वैष्णव देवताओं की पूजा और प्रभाव का विस्तार हुआ था । प्रसिद्ध कवि जयदेव की अमर कृति 'गीत गोविन्दम्' पुरी जगन्नाथ मंदिर में दैनिक गाया जाने लगा था और इसकी संगीत मधुर पदावली जनप्रिय होने के साथ-साथ राधा-कृष्ण प्रेम को भी उजागर करने में काफी सफल हुई थी । अतः १३वीं शताब्दी से वैष्णव मत के प्रसार के साथ-साथ तांत्रिक और शाक्त-मतों का ह्रास उत्कल में होने लगा था । परन्तु तांत्रिक और शाक्त मतों की प्रधान अधिष्ठात्री देवी दुर्गा की पूजा में कोई कमी नहीं आई ।

गंग-वंश के प्रधान सम्राट् प्रतापनरसिंह देव ने कपिलेश्वर पर्वत स्थित शिखरेश्वर मन्दिर के शिलालेख में अपने को 'दुर्गापुत्र अपि पुरुषोत्तम पुत्र' कहा है[३६] । कांची विजेता सूर्य वंश के पराक्रमी सम्राट् गजपति पुरुषोत्तम देव (१४६६-१४६६ ई०) दुर्गाभक्त थे । पोतेश्वर भट्ट को दिया हुआ १४७१ ई० का ताम्रशासन का आरंभ 'श्री दुर्गायै नमः' [३७] से किया गया है । आंध्र राज्य के बेजवाड़ा के पास उनके एक शिलालेख में उन्होंने अपने पुत्र प्रतापरुद्र को 'दुर्गावरपुत्र' के नाम से अभिहित किया

35. Des Cat of Sans Mss, Vol. II, P76, by K. N. Mohapatra.

३६. उत्कल साहित्य, ४४वां भाग, पंचम संख्या, सन् १३३८.

37. Journal of Bihar and Orissa Research Society, Vol. IV, P363.

है [३८]। उनका लिखा हुआ 'भुवनेश्वरी पूजा पल्लव' ग्रन्थ से पता चलता है कि देवी की कृपा से समस्त शत्रुओं को ध्वंस करने के बाद, वे १७ वर्ष की उम्र में पिता कपिलेन्द्र देव की मृत्यु के बाद कृष्णा नदी के किनारे उत्कल सम्राट् बनने के लिये अभिषिक्त हुए थे, जिसका प्रमाण ग्रन्थ में इस प्रकार मिलता है—

तस्याः प्रभाव महिमा कृष्णातीरे मम प्राजात........"कपिलेन्द्र नन्दनोऽहं तत्कृपा मात्र लब्ध साम्राज्य स्वयमनुभूय तदीय महात्म्यं शास्त्रतो विदित्वापि पद्धतिमेतां करिष्यामि [३९]।

इन्होंने 'दुर्गास्तव' नाम से एक स्तुति-शास्त्र की भी रचना की थी [४०]। यह पुस्तक दुर्गा पूजा के संबंध में एक प्रामाणिक ग्रन्थ है।

गजपति प्रतापरुद्र के मंत्री, पंडित और कवि, गोदावर मिश्र एक प्रख्यात तांत्रिक थे। कहा जाता है कि उन्होंने गजपति के दाक्षिणात्य अभियान के दौरान गोदावरी-नदी में मन्त्र के बल से बाढ़ की सृष्टि की थी और उन्हें 'गोदावरीवर्धन' का खिताब मिला हुआ था। उनके 'जय चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में सैनिक दांवपेंच के साथ-साथ मन्त्र के प्रयोग से शत्रु को भी पराजित करने की विधियों का उल्लेख है। उनके एक और ग्रंथ का नाम है 'तंत्र चिन्तामणि।' शारदीय दुर्गोत्सव को नियमित करने के लिये उन्होंने 'शारदा शरदर्चनपद्धति' नामक ग्रन्थ की भी रचना की थी [४१]।

खुर्धा राज्य के प्रतिष्ठाता गजपति रामचन्द्र देव (१५६८-१६०० ई०) के मंत्री और पुरोहित कवि डिंडिमजीव देवाचार्य के पुत्र श्रीवर्धन महापात्र ने 'दुर्गोत्सव चन्द्रिका' की रचना की थी[४२]। १७वीं शताब्दी में श्रीपुरुषोत्तम क्षेत्र के वत्सकुल में जन्मे जगन्नाथ आचार्य ने आगम, पुराण श्रुति, स्मृति आदि से तथ्यों का आहरण करके 'दुर्गायजन दीपिका' नाम से संकलन प्रकाशित किया था।

१८वीं शताब्दी से पहले ही श्री रामचन्द्र उद्गाता का 'तारिणी कुल सुधा-तरंगिणी' नाम का ग्रन्थ लिखा जा चुका था [४३]। १८वीं सदी के प्रारम्भ में श्री रघुनाथ दास ने 'वन दुर्गापूजा' की रचना की थी [४४]। इसी समय महामहोपाध्याय

३८. ओडिशा इतिहास, डा० हरेकृष्ण मेहताब.
39. Des Cat of Sans Mss, Vol. II, Preface Page XCII by K. N. Mohapatra.
40. Des Cat of Sans Mss, Asiatic Society of Bengal, Vol. III, Preface Page LXIII.
41. O. H. R. J., Vol. II, No. 4.
42. Des Cat of Sans Mss, Vol. I, Preface page XXVIII-XXIX
43. O. H. R. J., Vol. XII, No 1, P55.
४४. लेखक का निबन्ध, O. H. R. J., Vol. XI, No 2, P73-85.

कवि कोविद कृष्णमिश्र ने भी 'कौलिक और तांत्रिक समाज को तुष्ट करने के लिये' 'विद्यापद्धति' नामक ग्रन्थ की रचना की थी, जिसका प्रमाण निम्नलिखित श्लोक है—

ज्ञानार्णव मतेनैव कौलिकानांच तुष्टये ।
मिश्रेण कृष्णसंज्ञेन श्री विद्या पद्धतिः कृता ।।

लक्ष्मेश्वर नाम का इस समय का एक पंडित भी 'उड्रदेश निवासिनी भुवनेश्वरी को प्रणाम करने के बाद, 'ज्ञानवल्ली तंत्र' ग्रन्थ का आरंभ करता है—

कुलदेव्यं……………मोड्रदेश निवासिनीम् ।
जगतःकारिणींमायां वन्दे तां भुवनेश्वरीम् ।।

उस समय का एक और प्रख्यात पंडित वीर हरेकृष्णपुर का वासुदेव रथ कई ग्रन्थों का रचयिता था । उसके प्रधान ग्रन्थ 'भुवनेश्वरी प्रकाश' में कहा गया है—

भुवनेशीं नमस्कृत्य तत्प्रसादावलम्बनात् ।
भूवनेशीप्रकाशोऽयं वासुदेवेन उच्यते ।।

श्री वासुदेव पट्टजोशी के संलकन ग्रन्थ 'श्री श्यामार्चन-पद्धति' में कहा गया है—

तंत्राणां सारमुद्धत्य वासुदेवेन धीमता ।
क्रियते शिश्यवोधाय श्री श्यामार्चनपद्धतिम् ।।

इन सब वर्णनों से लगता है कि तंत्र-शास्त्र के अनेक पंडित उत्कल में थे और उन्होंने तंत्र-शास्त्र के अनेक उपादेय ग्रन्थों की रचना की थी । यह भी निश्चित है कि तत्र-मंत्र की महत्ता को बनाये रखने के लिये इन लोगों ने पर्याप्त कोशिश की थी ।

ओड़िया-साहित्य में तंत्र का प्रभाव :

भौम-युग से सूर्य-वंश के अभ्युदय लगभग ८०० वर्षों तक ओड़िशा में तंत्र और शाक्त-धर्म का प्राधान्य रहा और इसका तत्कालीन धार्मिक विचार और साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा । ओड़िशा के मुख्य देवता श्री जगन्नाथ वैष्णव-मत के भगवान हैं, फिर भी उनकी पूजा-पद्धति में तांत्रिक प्रभाव स्पष्ट है । षडंगन्यास, सृष्टि-स्थिति-संहार-न्यास, मातृका-न्यास, श्रीयंत्र, भुवनेश्वरीयंत्र, विभिन्न-मुद्रा और बीज-मंत्र आदि जगन्नाथ पूजा के कुछ अंश निश्चय ही तांत्रिक प्रभाव के द्योतक हैं । जगन्नाथ मन्दिर में विमला का भैरवी के रूप में पूजा करना एक तरह से वैष्णव और तांत्रिक मतों में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा है । वैसे ही एकाम्र (भुवनेश्वर), विरजा-क्षेत्र (जाजपुर), अर्क-क्षेत्र

(कोणार्क), पार्वती-क्षेत्र (केन्द्रापड़ा) आदि स्थानों पर भी देवी-पूजा को अग्राधिकार प्राप्त था। कुछ और विशेष महत्त्व के देवी-पीठों के नाम इस प्रकार हैं—भद्रक की भद्रकाली, खिचिंग की कीचकेश्वरी, झंकर की सारला, काकटपुर की मंगला, पुरी-समुद्र के किनारे की रामचंडी तथा हरचंडी, बांकी की चर्चिका, बाणपुर की भगवती, पाटना की पट्टनेश्वरी, कालाहाण्डी की लंकेश्वरी और माणिकेश्वरी, सम्बलपुर की संभलेश्वरी एवं पार्वत्व-अंचलों की स्तम्भेश्वरी। १५वीं शताब्दी में आविर्भूत ओड़िआ भाषा के आदि कवि श्री सारलादास की महान् कृति सारला महाभारत में अनेक तांत्रिक मतों और घटनाओं के वर्णन मिलते हैं।

सारलादास, झंकर की अधिष्ठात्री शारला-चंडी के प्रधान व्यक्ति थे, और उनके 'विलंका रामायण', 'महाभारत' और चण्डीपुराण' में सारला-देवी की भूयसी प्रशंसा और अनेक स्तुतियां पाई जाती हैं। चण्डीपुराण तो शाक्त-ग्रन्थ है ही—उसमें चौसठ योगिनियों और नव कात्यायनियों की भी महिलाओं का वर्णन है। विलंका-रामायण में शक्ति की प्रतिभा और सामर्थ्य की कई कहानियां हैं। सारलादास की आस्था तांत्रिक-धारा में थी और उनके महाभारत में सुप्रतिष्ठित देवियों के साथ-साथ छोटी-छोटी जगहों में ग्राम देवती के रूप में पूजिता वासुलेइ, जागुलेइ हिंगुला, डाकेश्वरी, उग्रतारा, कालिका आदि की महत्ता के वर्णन पाये जाते हैं। प्राची नदी के संगम में पूजित गोमुखी केशव की आख्यायिका में भी वैष्णव और तांत्रिक मतों के समन्वय का आभास मिलता है। स्तंभन, मोहन, वशीकरण, मारण, तारण, उच्चाटन आदि तांत्रिक-क्रियाओं और रोगों के निराकरण के लिए किये जाने वाले ग्राम देवताओं की पूजा-विधि और बलि-दान आदि विभिन्न उपायों के विस्तृत वर्णन 'महाभारत' ग्रन्थ में पाये जाते हैं। मन्त्र के प्रयोग से भूत-प्रेत डाकिनी आदि को भगाने के, झाड़-फूक से घाव आदि को ठीक करने के, सर्प विष को शरीर से निकलने के विभिन्न उपायों और घटनाओं के भी विस्तृत वर्णन पाये जाते हैं। सामाजिक-जीवन में तन्त्र का प्रभाव १९वीं शताब्दी तक यथावत् रहा।

श्री चैतन्य के समसामयिक भक्तकवि वलरामदास के 'वट अवकाश' में जगन्नाथ महाप्रभु की सभा का वर्णन किया गया है, जिसमें चौंसठ योगिनी कात्यायिनी, सप्त-मातृका, विमला, विरजा, काली, रामचंडी, भगवती, सारला, चंडी, हिंगुला, कालि-जायी, चर्चिका, चंडघंटा, जागुलेइ, समलाइ, मंगला, करुणेइ, त्ररुणेइ, तारेणी आदि ओड़िशा के विभिन्न अंचलों की देवियों की उपस्थिति बताई गई है। हो सकता है कि कवि इससे श्री जगन्नाथ और वैष्णव-मत की महत्ता प्रमाणित कर रहे हों और शाक्त

मत पर वैष्णव धर्म का प्राध्यान्य दिखा रहे हों।

श्री चैतन्य महाप्रभु का १५०६ ई० में श्री-क्षेत्र में आगमन हुआ और १५३३ ई० में महाप्रयाण। इस अवधि में हजारों भक्तों के साथ पुरी में उनका रहना और वैष्णव-धर्म का प्रचार करना तांत्रिक और शाक्त मतों के पतन का प्रधान कारण बना। चैतन्य के परवर्त्ती-युग के साहित्य और चिन्तन में शाक्त एवं तांत्रिक मनोभाव बहुत ही गौण रूप में स्थान पा सका। इस युग के चार प्रधान कवियों में से दीनकृष्णदास, अभिमन्यु सामन्तसिंहार, कविसूर्य वलदेव रथ परम कृष्ण भक्त थे तथा कवि सम्राट् उपेन्द्र भंज राम-उपासक थे। इस ज़माने में राम और कृष्ण भक्ति के हजारों काव्य, कविता, छन्द, चौपदी, चौतिषा, भजन, जणाण आदि लिखे गये। साथ ही शाक्त ग्रन्थों के कुछ लेखक भी सामने आये जिन्होंने पतनोन्मुखी मत को जीवित रखने की कोशिश की[४५]। उनमें महादेवदास का 'चंडीपुराण', नीलाम्वरदास का 'चंडी चरितामृत', भगवानदास का 'चंडीपुराण', कवि विप्ररामचन्द्र का 'चंडीपुराण' तथा 'विचित्र चंडी' और नटवर द्वीप का 'चंडी वेहार' आदि उल्लेखनीय हैं। चैतन्यसखा वलरामदास का 'विलंका कांड' और चैतनोत्तर काल के कवि वारानिधिदास का 'विलंका रामायण' तथा भगवतदास का 'विलंका विहार' एवं चैतन्य गुरु का 'विलंका रसामृत' आदि भी इस स्तर के ग्रन्थ हैं।

ओड़िशा में 'दुर्गा-पुजा' का सामाजिक महत्त्व काफी है। दुर्गा-पूजा एक प्रधान पर्व है और इसकी महत्ता के बारे में अनेक ग्रन्थ लिखे गये है। गंजाम-आठगड़ के राजा मधुसूदन हरिचंदन (१७६० ई० का 'दुर्गा रहस्य', वापिदास रचित 'दुर्गा कवच', दीन जगन्नाथ कृत 'दुर्गा स्तुति' तथा दुर्गाव्रत कथाओं के अनेक संकलन इनमें प्रधान हैं। दुर्गा की तरह मंगला की भी कई स्तुतियां उपलब्ध हुई हैं, जिनमें भक्तिकवि वलराम-दास रचित 'मंगला स्तुति', अच्युतानन्ददास कृत 'सर्वमंगला जणाण', खल्लिकोट राजा बालुकेश्वर मर्दराज लिखित 'मंगला मालश्री' उल्लेख योग्य हैं।

इस युग की रचनाओं में बलरामदास के 'लक्ष्मीपुराण' का विशेष स्थान है। इस पुराण की कथा में ओड़िआ जनता का काफी विश्वास है। इसमें अपमानिता लक्ष्मी का चांडाल के घर में निवास और उसकी ऐश्वर्यप्राप्ति, तथा श्रीच्युत जगन्नाथ और बल-भद्र की दरिद्रता और यातनाओं के वर्णन हैं। इसमें लक्ष्मी की शक्ति-रूप में कल्पना की गयी है और उनकी महत्ता और प्रभाव प्रतिपादित किया गया है। काव्य रचनाओं

45. An Alphabetical Catalogue of Oriya and other Manuscripts—Ed. Pt. Nilamani Misra.

में प्रताप राय की 'शशिसेणा' (१६वीं शताब्दी) में तांत्रिक और शाक्त-धारा के प्रभाव स्पष्ट हैं। कविसम्राट् उपेन्द्रभंज के 'लावण्यवती' में इन्द्रजाल के जो वर्णन हैं, वे तंत्र सम्मत हैं। कवि कर्ण द्वारा लिखित 'पाला' ग्रंथों में सत्यपीर या सत्यनारायण की महत्ता प्रतिपादित की गई है, किन्तु इनमें भी सारला आदि देवियों की प्रार्थना और भजन पाये जाते हैं। ओड़िशा की नारियों में अब भी गौरीव्रत, कुक्कुटीव्रत, सावित्रीव्रत, षष्ठी ओषा, सुदुशाव्रत, गुरुवार पूजा आदि प्रचलित हैं, जिनमें देवियों की पूजा की जाती है। दुर्गा पूजा का सामाजिक महत्त्व अब भी पूर्ववत् है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि शैव और वैष्णव-मत के साथ-साथ शाक्त-मत का प्रभाव भी समानान्तर रूप में विद्यमान है।

अनुवाद : वृन्दावन जोशी

गणेश प्रसाद पारिजा

उड़ीसा में तंत्र और मंत्र

'तन्त्र' का अर्थ है वह विधि अथवा अभ्यास, जो ज्ञान का विस्तार करे। 'तन्यते विस्तार्यते' ज्ञानं अनेन इति तंत्रम्।' यद्यपि तंत्र, ज्ञान की उपलब्धि अथवा उसके विस्तार का एकमात्र साधन या मार्ग नहीं है। अन्य मार्ग या साधन भी अनेक हैं। अन्तर केवल उन साधनों के कारण हैं, जो विभिन्न-मार्गी साधक उपयोग में लाते हैं। तन्त्र-साधना भक्ति या उपासना का सामान्य मार्ग नहीं है। तन्त्र में तत्त्व और मन्त्र के विषय निरूपित होते हैं और मान्यता यह है कि उन मन्त्रों के अभ्यासपूर्ण विशुद्ध पाठ द्वारा उन निरूपित विषयों के सम्यक्-ज्ञान की प्राप्ति होती है। मन्त्रों का विशुद्ध, त्रुटिशून्य उच्चारण तन्त्र-साधना की सर्वप्रमुख आवश्यकता है। तन्त्र-साधना का पथिक मन्त्रों के उच्चारण, अनुशीलन एवं चिन्तन द्वारा तथा शरीर की क्रियाओं से मन के कठिन नियंत्रण द्वारा भीतर में सोई हुई शरीर की सूक्ष्म शक्तियों को जगाता है। यह शक्तियां जागती हैं तो चमत्कार की विपुल-सम्पदा का द्वार साधक के लिये खुल जाता है। साधना में योग के समन्वय की यह परम्परा प्राग्वैदिक ही है। अथर्ववेद में योग व मन्त्र के चमत्कार के अनेक उल्लेख हैं।

सामान्य बोल-चाल की भाषा से 'तंत्र' से अर्थ लिया जाता है अपनी अभीप्सित वस्तु प्राप्त करने का आनुष्ठानिक प्रयास। प्रयास कैसा भी हो, उसमें शक्ति की अपेक्षा होती है। इसलिए तन्त्र भी अपने सीमित अर्थ में, शक्ति की पूजन-पद्धति का

बोध कराता है। शाक्त मतावलम्बियों ने मोक्ष की कामना तो की, पर अपना ध्येय सिद्धि को ही माना। उनके साधनों में इसलिए मंत्र व योग की प्रमुखता हुई। शाक्त, योग अथवा तंत्र-मार्गी-साधना की विधि पर विशेष जोर देते थे। हठ-योग का सर्वाधिक प्रयोग अथवा उपयोग भी तंत्रमार्गियों द्वारा ही हुआ। शक्ति-पूजन की वैदिक-पद्धति (दक्षिणाचार) तो प्रचलित थी ही, लेकिन बौद्ध-धर्म की विकृति के साथ उसमें वामाचार का भी प्रवेश हुआ——मत्स्य, मदिरा एवं मांस की आहुति का जो विधान वामाचार ने दिया, वह अब अपेक्षाकृत बदल गया है तथा सामाजिक मूल्यों की परिष्कृति के कारण अनेक स्थानों पर वह अब मात्र प्रतीकात्मक ही रह गया।

तंत्र ने उड़ीसा में कब घर किया यह कहना तो कठिन है। पर यह निश्चित है कि वैदिक जाति के यहां आने के पूर्व ही तंत्र इस प्रदेश के कण-कण में घुल चुका था। परवर्ती वैदिक-साहित्य और वेदान्त में तंत्र की प्रतिपाद्य वस्तु की विशद चर्चा मिलती है। वेद तथा वेदोद्भूत शास्त्रों को 'निगम' तथा 'तंत्र' को 'आगम' कहा गया है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों अपौरुषेय हैं। दोनों के आधार वेद हैं। 'निगम' ज्ञान का व 'आगम' विज्ञान का शास्त्र है। ज्ञान को प्रतिपाद्य विषय-वस्तु को जब विज्ञान के माध्यम द्वारा प्रस्तुत किया जाता है, तभी उसका वास्तविक स्वरूप बोधगम्य हो पाता है।

प्राचीनतम काल में, ज्ञान के प्रकाशन अथवा प्रसार का माध्यम, आज की तरह, पुस्तकें या ग्रंथ नहीं थे। गुरु बताते थे और शिष्य उसे सुनते थे और ग्रहण करते थे। जब शिष्य स्वयं गुरु बनते थे, तब वे भी इसी प्रकार अपने शिष्य को वह संजोई-सहेजी हुई निधि देते थे। वेदों को इसी परम्परा ने जीवित रखा। तंत्र भी वेदों के समान गुरु-शिष्य की इस परम्परा में ही सुरक्षित रहे। पर तब भी दोनों में एक अंतर था। वैदिक गुरु जहां एक साथ कितने ही शिष्यों को समसामयिक रूप से ज्ञान दे सकते थे, तांत्रिक गुरु का केवल एक ही शिष्य होता था। अपने गुरु से प्राप्त तंत्र-ज्ञान को, स्वयं किसी का गुरु न बनने तक, शिष्य को गोपन ही रखना होता था। संस्कृत की 'षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रः' और उड़िया की यही कहावत 'षड़ कान मंत्र भेद' यह सिद्ध करती है कि चार कानों के सिवाय छः कान अर्थात् तीन व्यक्ति एक ही समय किसी एक मंत्र को सुन नहीं पाते थे, क्योंकि इससे मंत्र की गोपनीयता नहीं रह सकती। लिपि के अभाव में तंत्र-मंत्र यद्यपि उस समय लिपिबद्ध नहीं हो पाए, तथापि आज जो कुछ भी उपलब्ध है, वह प्राचीन तंत्र-मंत्रों का निकटस्थ रूप ही है।

तांत्रिक-पूजन चाहे दक्षिणाचार पद्धति (जो वैदिक पूजा विधि के अत्यन्त निकट

है, तथा मूल रूप से सात्विक है) द्वारा सम्पन्न हो अथवा वामाचार-पद्धति द्वारा आरंभ में पठित स्वस्तिवाचन के मंत्रों में, प्राय: कोई अन्तर नहीं है—

'श्री मन्महागणाधिपतये नम: १। लक्ष्मीनारायणाभ्यां नम: २। उमामहेश्वराभ्यां नम: ३। वाणी हिरण्यगर्भाभ्यां नमः ४। शची पुरन्दराभ्यां नमः ५। माता-पितृचरण-कमलेभ्यो नम: ६। इष्टदेवताभ्यो नमः ७। कुल देवताभ्यो नमः ८। ग्रामदेवताभ्यो नमः ९। वास्तुदेवताभ्यो नम: १०। स्थानदेवताभ्यो नम: ११। एतत्कर्म प्रधानदेवताभ्यो नमः १२। सर्वेभ्यो देवेभ्यो नमः १३...........।'

इस परिपाटी के मान्यता स्वरूप उड़ीसा के प्रत्येक गांव में अथवा उससे भी सूक्ष्मतर अंचल में ग्राम-देवी (ग्राम-देवता) से लेकर पीठ-देवी (पीठ-देवता) की प्रस्थापित एवं निरंतर-पूजित प्रतिमाओं के दर्शन हमें होते हैं। पुरी में जगन्नाथ की भैरव रूप में प्रतिष्ठा ने तो उड़ीसा की तांत्रिक-प्रणाली एवं चिन्तन को एक विशिष्ट मोड़ ही दे दिया है। उड़ीसा के रोम-रोम में यह चिन्तन-धारा समा गई है। 'विमला भैरवी यत्र जगन्नाथस्तु भैरवः'—जैसे यहां के जन-जीवन के विविध पक्षों का एकाकी मार्ग-दर्शक है।

उड़ीसा का महान् तंत्राचल मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है। सुवर्णरेखा से ऋषिकुल्या तक विरजा-मण्डल को 'महोदधि तंत्र भाग,' ऋषिकुल्या से सम्पूर्ण दक्षिण उड़ीसा को 'शाबरी तत्र भाग' तथा सारे पश्चिम उड़ीसा को 'बौद्ध तंत्र भाग' के नाम से जाना जाता है। इसी 'बौद्ध तत्र भाग' के विख्यात राजा इन्द्रभूति व उनकी बहन लक्ष्मींकरा ने अपनी अद्भुत् तांत्रिक उपलब्धियों से सम्पूर्ण भूलोक को चमत्कृत किया था। इन्द्रभूति के महायान-तंत्र ने सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। उसी प्रकार 'शाबरी तंत्र भाग' के आदिवासी आज भी तंत्र में अपनी अद्भुत चामत्कारिक कला-कौशल से उड़ीसा ही नहीं, सम्पूर्ण भारत को आश्चर्य चकित कर रहे हैं। उन आदिवासियों के तंत्र देवता हैं—'जगन्नाथ', जिनकी महिमा सम्पूर्ण पृथ्वी पर व्याप्त है। महोदधि तत्र भाग के बहुत से सिद्धाचार्यों के सिद्ध मंत्र आज भी छोटे-छोटे गुणियों से लेकर बड़े-बडे साधकों के बीच में प्रतिध्वनित हो रहे हैं।

'मननान्मत्र.' मंत्र की उत्पत्ति 'मनन' शब्द सेहुई है। जिसका मनन अपेक्षित हो, उसे मंत्र कहा जाता है। मनन करते-करते इष्ट की सिद्ध या प्राप्ति होती है। संस्कृत में मंत्र शब्द की परिभाषा है—'मन्त्रयते गुप्तं परिभाषयते इति मन्त्रः'। मन् धातु का बोधन यानि चेतना-शक्ति अर्थ में व्यवहार किया गया है। इसलिए जिस शब्द या शब्द-समूह द्वारा जिसकी चेतना जागृत हो, उसको उसका मंत्र कहा जाता है। ये मंत्र सिद्धाचार्यों द्वारा रचे गये हैं। मूर्त्ति-पूजा प्रचलन के पूर्व से ही मानव-देह में यंत्रादि धारण करने

की परम्परा है। आदिवासी सम्प्रदाय में यह परम्परा आज भी जीवित है। इन सब को तांत्रिक धारणाओं के समुचित मूल्यांकन के अभाव में निरा अन्धविश्वास कह कर त्याज्य बताना उचित नहीं होगा। वेदों में भी इस प्रकार के कथानक देखने में आते हैं। वैदिक ऋषि मंत्र-कर्त्ता नहीं, मंत्र-द्रष्टा थे। उन्होंने ब्रह्म का जिस भाव से दर्शन किया, उसी भाव को अपनी वाणी अथवा लेखनी से बांधा। इसलिए वेद अपौरुषेय हैं। तंत्राचार्यों को पहले भैरव नाम से जाना जाता था। जब तांत्रिक-साधक लम्बे समय तक साधना करने के उपरान्त देवी की अपार शक्ति प्राप्त कर लेते थे, तब उन्हें भैरव कहा जाता था। भैरव और शिव, यह दोनों अभिन्न हैं। शक्ति-संचार होने से 'शव' अर्थात् ज्ञानशून्य देह 'शिव' बन जाता है। जगन्नाथ-पीठ पुरी में अक्षोभ्य भैरव ने अपनी साधना द्वारा भगवती तारा के दर्शन किये थे। दश महाविद्याओं में द्वितीय महाविद्या है—देवी-तारा। उनका अंगराग नीला होने से उनको नील-सरस्वती के नाम से जाना जाता है। इस विषय का वर्णन आगे किया जायगा। फिर भी इतना जान लेना आवश्यक है कि पुरी में नील-सरस्वती का आविर्भाव होने के कारण ही उस महान् क्षेत्र को नीलगिरि कहा जाता है।

महान् बौद्ध-तांत्रिक इन्द्रभूति ने उड़ीसा के प्रसिद्ध तांत्रिक कम्बलपाद और राज-गोपाल के पुत्र अनंगवज्र से तंत्र-शिक्षा ली थी। इन्द्रभूति सम्वल यानि सम्वलपुर के राजा थे। डा० नवीन कुमार साहू ने अपनी पुस्तक 'ओड़िसा में बौद्ध-धर्म' में लिखा है कि लक्ष्मींकरा ने इन्द्रभूति से तंत्र की दीक्षा ली थी। इन्द्रभूति और लक्ष्मींकरा दोनों पंचमकार तंत्र-मार्गी साधना के अनुयायी थे। पंच 'म' कार के मैथुन उपचार में दोनों परस्पर एक दूसरे के सहयोगी थे। यह सब सामाजिक-जीवन में अश्लील लग सकता है, परन्तु तांत्रिक-साधना में इसका यथेष्ट औचित्य (Justification) है। शिव और पार्वती इस पंचमकार पूजा-प्रणाली के आदि साधक-साधिका हैं। इसमें मैथुन-सुख किसी भी प्रकार अनुभव गम्य नहीं होता। साधक का मन सभी प्रकार के इन्द्रिय-सुखों से विलग और अलिप्त रहता है। इसके द्वारा अविलम्ब सिद्धि प्राप्त होती है। मैथुन की आध्यात्मिक व्याख्या इसमें समाविष्ट होते हुए भी इस श्लोक से तंत्र की मैथुन की प्रक्रिया स्पष्ट भाव से प्रकट होती है। शिव पार्वती से कहते हैं :—

मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यस्त कारणम्।
मैथुनाज्जायते सिद्धि ब्रह्मज्ञान सुदुर्लभम्॥
रेफस्तु कुंकुमाभासः कुण्डमध्ये व्यवस्थितः।
मकारश्च बिन्दुरूपो महायोनौस्थितः प्रिये॥

आकार हंसमारुह्य एकता च यदा भवेत् ।
तदा जातो महानन्दं ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।।

इन्द्रभूति ने एक अभिनव बौद्ध-परिवार की कल्पना करके वज्रसत्त्व और प्रज्ञा-पारमिता का बौद्ध परिवार के आदि जनक-जननी के रूप में प्रचार किया। वज्रसत्त्व का अर्थ—अनन्त-शून्य का सारतत्त्व और प्रज्ञापारमिता का अर्थ—आध्यात्मिक अपौरुषेय ज्ञान होता है। इनसे श्वेतांग, वैरोचन, नीलाभ-अक्षोभ्य, पीताभ रत्नसम्भव, अरुणाभ-अभिताभ और श्यामांग अमोघसिद्धि का आविर्भाव हुआ। तंत्र में देवताओं की शक्ति को 'मूल' मान तंत्र-रचना की गई। जैसे—विष्णु की वैष्णवी, ब्रह्मा की ब्रह्माणी, रुद्र की रुद्राणी, इन्द्र की इन्द्राणी आदि। इसी प्रकार इन्द्रभूति ने वैरोचन की शक्ति वज्रधात्वीश्वरी और अक्षोभ्य की शक्ति लोचना आदि की कल्पना करके तंत्र में एक नवीन मत की सृष्टि की। यह अक्षोभ्य पूर्णरूपेण इन्द्रभूति की ही सृष्टि है, यह कहना उपयुक्त नहीं होगा। नीलाभ अक्षोभ्य और अक्षोभ्य भैरव दोनों एक नहीं है। अक्षोभ्य भैरव की कथा शायद इन्द्रभूति के समय तक लोकमुख से लुप्त नहीं हुई थी। इस उद्देश्य से कि लोग उनके मत को अधिकाधिक संख्या में ग्रहण करें, महाभैरव अक्षोभ्य को उन्होंने देवता रूप में स्वीकार किया था, परन्तु इन्द्रभूति की उपास्या देवी तो वज्रवाराही और कुरुकुल्ला ही थी। साधनामाला से ज्ञात होता है कि इन दोनों देवियों का अस्तित्व उड्डीयान में ही संभव हो सका, क्योंकि उड़ीसा के अलावा इन दोनों देवियों की प्रतिमा अन्य किसी स्थान पर देखने में नहीं आती।

प्रत्येक वेद में अनेक मण्डल हैं तथा प्रत्येक मण्डल में अनेक सूक्त। ये सूक्त कितने ही मंत्रों द्वारा गठित होते हैं। आर्य-ऋषियों ने शरीर की ब्रह्म-यंत्र के रूप में कल्पना कर मंत्र तथा सूक्तों की रचना की है। उदाहरणस्वरूप ऋग्वेद के दशम मण्डल का १२५ वां सूक्त 'देवीसूक्त' कहलाता है। यह सूक्त अम्भृण ऋषि की कन्या वाग्देवी द्वारा रचा गया है। उसके नामानुसार इस सूक्त को वाक्सूक्त भी कहा जाता है। इस सूक्त में यह प्रतीति निहित है कि तंत्र-शास्त्रों में जिस महादेवी की कथा कही गयी है, उसने स्वयं ऋषि-कन्या को यंत्ररूप में ग्रहण कर उसके माध्यम से अपना स्वरूप व्यक्त किया है। वेदभाष्यकार आचार्य सायण का कहना है कि इस सूक्त में देवी ने स्वयं परमात्मा के साथ अपना एकात्म-भाव अनुभव किया है। इस सूक्त में आठ मंत्र हैं, जिसका पहला मंत्र है:—

अहं रुद्रेभ्य वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणावुभौ विभर्म्यहमिन्द्राग्नीमहमश्विनावुभौ ।।

अर्थात्:—मैं सच्चिदानन्दमयी सर्वात्मा देवी रुद्र, वसु, आदित्य, तथा विश्व-देवगणों के रूप में विचरती हूं, मैं ही मित्र और वरुण दोनों को, इन्द्र और अग्नि को, तथा दोनों अश्विनी कुमारों को धारण करती हूं। इसी प्रकार के आठ मंत्र इस सूक्त में हैं। वेद-मंत्रों का भी यदि ऐसा ही स्वर और स्वरूप है, तो मान्यताओं के अनुसार देवी-देवताओं के आदेश के रूप में सिद्धाचार्यों द्वारा मुखरित एवं प्रचारित इन मंत्रों को भी अप्रासंगिक नहीं माना जाना चाहिए। इन मंत्रों और वेदोक्त मंत्रों में बहुत भेद है। वेदोक्त मंत्र श्लोक की तरह रचे हुए हैं तथा उनका एक विशिष्ट अर्थ है। परन्तु तंत्र के मंत्र अनेक बीजाक्षरों से बने हुए हैं और ये बीजाक्षर स्वयं कितने ही अक्षरों की समष्टि से बने हैं। इन सभी अक्षरों व शब्द-समूह का अर्थ व उच्चारण एक-एक बीजाक्षर के समान है, यथा—'ॐ' बीजाक्षर 'अ', 'उ', 'म्', इन तीनों अक्षरों द्वारा बना हुआ है।

आज भी आदिवासी अंचल में पंडित-पुजारियों की देह में देवी-देवताओं का अविर्भाव होता है। उस अलभ्य-क्षण की भावना के आवेश में वे लोग अनेक गुप्त तथ्य प्रगट करते हैं। अपने अराध्य-देव या अन्य किसी देवता के साक्षात्कार की आकांक्षा लेकर आए हुए प्रार्थी के कानों में उसका उपाय अथवा विधि बता देने की चर्चा भी सुनने में आती है। मंत्रों की अवतारणा एवं उनके प्राकट्य का यह प्रारम्भिक रूप था।

मंत्र शब्द प्राग्वैदिक होते हुए भी मंत्र की चमत्कारिता की उपलब्धि उसमें समाहित कर वेद के प्रत्येक पद को मंत्र नाम से प्रचारित किया गया है। तंत्र के एक मंत्र को नियमानुसार पाठ करने से जिस प्रकार फल प्राप्ति होती है, वेद मंत्र उस प्रकार फल प्रदान नहीं करते। 'तन्वते साधयते इति तंत्रः' अर्थात् तंत्र सभी साधनों की चरम परिणति है। तंत्र में मंत्र व यंत्र दोनों निहित हैं। 'तन्वते' का अर्थ है 'विस्तारयते वा संक्षिप्यते'। जिसके द्वारा विस्तारण अथवा संकोचन किया जाए, उसे तंत्र कहते हैं। बीजमंत्र संकोचन के प्रतीक हैं। संकोचन की उपलब्धि के हेतु जब बीजमंत्र का विधिवत प्रयोग होता है, उस समय वह तांत्रिक अनुष्ठान में प्रयुक्त देव-वरण एवं पूजा का एक विशिष्ट विस्तृत संस्करण-सा लगता है।

उड़ीसा के सामान्य जन-जीवन में किसी समय तंत्र और मंत्र का विपुल प्रसार था। आज व्यावहारिक-जीवन में उसका प्रयोग लेशमात्र-सा रह गया है। परन्तु तंत्र मंत्रों का पूर्णरूपेण लोप ही हो गया है, यह कहना भी भ्रामक है। आज भी गाँवों में तांत्रिकों (गुणियों) का चमत्कार देखने-सुनने में आता है। पुजारी अथवा साधकों में देवी-देवता किस प्रकार अविर्भूत होते थे, यह आजकल भी कालाहाण्डी, फूलवाणी

आदि स्थानों में देखने को मिल सकता है। मारण, स्तम्भन, वशीकरणादि विद्याओं का, जो केवल शिव को साध्य थीं, उत्कलीय तांत्रिकों द्वारा विपुल परिमाण में, समाज में प्रयोग किया जाता था। अब यह यदा-कदा ही देखने को मिलता है। लोक-मुख से सिद्धान्तक-नागान्तक पद की महिमा सुनकर आज के वैज्ञानिक-युग में भी लोग निर्वाक् हो जाते हैं। शाबरी तंत्र और उड्डीश तंत्र की मान्यता (aeceptance) आज जिस प्रकार आदिवासी अंचलों में है, उसी प्रकार किसी समय शिक्षित-समाज में भी थी, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्राकृत तंत्र-मंत्र के द्रष्टा शिव अथवा भैरव का उड्डीश तंत्र एवं उडाम्बर तंत्र उड्डीश नामक तंत्र एक प्रधान भैरव द्वारा ही संभव हो सका था। उड्डीश तंत्र का वाचन शिव ने तंत्र-साधक रावण के समक्ष किया था, एवं उडाम्बर तंत्र को पार्वती ने शिव से सुना था।

कतिपय विद्वानों का मत है कि तंत्र वेद का एक अंश है, केवल भैरव अथवा शिव शब्द वेद में नहीं है, रुद्र शब्द का भी शिव के लिए नहीं, बल्कि सूर्य के लिये व्यवहार किया गया है। शिव का महादेव नाम होते हुए भी वे आर्यों के द्वारा प्रथम पूजित न हो सके, इसका कारण केवल आर्यों-अनार्यों का जाति-भेद विप्लव था। इस जाति-भेद को दूर करने का प्रथम प्रयास किया था तत्कालीन प्रजापति दक्ष की कन्या 'सती' ने।

वेदान्त-युग का जब श्रीगणेश हुआ, तब उपनिषदों के रचियताओं ने शिव, काली आदि को देवी-देवता के रूप में ग्रहण किया। ऋग्वेद (३।६।६) में हमें 'ॐधिया चक्रे वरेण्यो, भूतानां गर्भमादधे दक्षस्य पितरं तना' देखने को मिलता है। वैदिक-युग में दक्षतना अथवा दक्षतनया यज्ञ-वेदी कुण्ड का ही एक नाम था। मुण्डकोपनिषत् (१-२-४) में काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिना और विश्वरुचि इन सात नामों का अग्नि की शिखा अथवा जिह्वाओं के लिये उल्लेख किया गया है। यही काली-कराली आदि तंत्र की महादेवी है। दक्ष प्रजापति की साठ कन्याओं में से 'सती' नामक कन्या को दक्ष-तना या दक्ष-तनया कहा जाता था। आर्य-अनार्य भेद को दूर करने वाली प्रथम विप्लविणी यही दक्ष-तनया 'सती' थी। उसने अनार्य किन्तु श्रेष्ठ शबर जातीय शिव को पति मानकर सोचा होगा कि इस प्रकार यह आर्य-अनार्य भेद दूर हो जायेगा। परन्तु वैसा नहीं हो सका और दक्ष का शिवविहीन यज्ञ एक भयंकर संघर्ष में बदल गया। इसके बाद दक्ष प्रजापति को अपमानित होकर शिव को महादेव मान लेने के लिए बाध्य होना पड़ा।

केनोपनिपद् में उमा-हैमवती की कथा वर्णित है। यही उमा-हैमवती शिव की पत्नी सती है। दक्ष की सभा में, यज्ञ-विध्वंस के पहले, उमा ने इन्द्र के समक्ष तांत्रिक

प्रबोध में गुम्फित, ज्ञान चर्चा की थी। इसी आधार पर यह दावा किया जाता है कि तंत्र वेद का एक अंश है। वहुत विद्वानों का मत है कि वैदिक समय में अश्वमेध यज्ञ चैत्र मास में चित्रा नक्षत्र में अनुष्ठित किया जाता था। ठीक इसी समय में आज दुर्गा की बासन्ती पूजा प्रचलित है, परन्तु अश्वमेध-यज्ञ कालान्तर में जाकर दुर्गा-पूजा में परिणित हुआ अथवा दुर्गा पूजा को वैदिक-युग में पहले अश्वमेध यज्ञ की संज्ञा दी गई और बाद में फिर से तांत्रिक-शक्ति साधकों ने इसे उसी पुरातन बासन्ती को दुर्गा-पूजा के रूप में प्रतिष्ठित किया, यह कहना सहज नहीं है। फिर भी, यह सत्य है कि आज भी यह तांत्रिक-प्रथा भारत में सर्वत्र प्रचलित है।

तंत्र के समान प्रत्यक्ष फल देने वाले अन्य किसी शास्त्र की रचना आज तक विश्व भर में हुई ही नहीं। हिन्दू धर्मशास्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनाहत शब्द दिव्य प्रज्ञा-पूर्ण है। इसकी उत्पत्ति वेदो में वर्णित विकास के प्राथमिक छन्दों में परि-लक्षित होती है। विभिन्न छन्द, श्लोक एवं मंत्रों के माध्यम द्वारा इस शब्द की महिमा की अवतारणा एवं व्याख्या की गई है। परशुराम द्वारा रचित सूक्त में कहा गया है कि मंत्र एक पराशब्द का प्रकाश है, जिसमें सभी मतों का सार निहित है। विश्व की प्रत्येक वस्तु की परिणति इसी वर्ण और शब्द-छन्द में होती है। वर्ण और शब्द छन्द नित्य है। अन्य जो कुछ भी है, केवल इसका प्रतिभास मात्र है। वर्ण और शब्द केन्द्रीभूत होने से पदार्थ की उत्पत्ति होती है। यही वर्ण और शब्द-छन्द प्रत्येक संज्ञा एवं प्रत्येक भाव-स्पन्दन के अनुभव-लोक में हमें ले जाते हैं। यही लोक मानस-भाव और विज्ञान की अनंत चेतना लहरी से अनुप्राणित है। मंत्र-शक्ति तेजोमय सत्ता का उद्धार करती है, प्राण और मन की आवर्जना को दूर करती है। हमारे अन्तरान्तर मे जो दिव्य ज्योतिर्मय सत्ता है, उसके साथ मंत्र-छन्द का विशेष सम्पर्क रहता है। मंत्रशक्ति स्पन्दन-घनीभूत होकर अन्तर्तम को आलोकित कर एक तेजमण्डल की सृष्टि करती है। यही तेज धीरे-धीरे निःसृत होकर अन्तरसत्ता को तेजोमण्डित और शक्ति-स्पन्दन से पूर्ण करता है।

तंत्र-मतानुसार शब्द-प्रकाश की चार भूमिकाएं हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। परावाक् ही वाक् है। अन्य अवस्थाएं इसी स्पन्दन के क्रमिक विकास का घनीभूत रूप हैं। महार्थमंजरी के मत से यही परावाक् परमेश्वर में निहित है, तथा प्रत्येक व्यक्ति के मानस-कक्ष में उसे सृष्टि के अतीत दिव्य विज्ञान से जोड़ने वाले सूत्र उपस्थित हैं। वस्तुतः यह परावाक् ही दिव्य-ज्ञान (Divine wisdom) है। यही वाक् नाद, क्रिया और शक्ति-रूप है। यही वाक् पहले ज्ञान से धृत होकर पुनः विज्ञान

से विधृत होती है। इसीलिए उपनिषद् कहते हैं—'यही आलम्बन श्रेष्ठ है, यही आलम्बन परम है एवं यही आवलम्बन ब्रह्मलोक की प्रतिष्ठा करता है।' यही निगमशास्त्र ब्रह्म का स्वरूप है। यही परा वाक् आगम भाषा में 'स्वरूप ज्योतिरेव' है तथा इसी ने षड्चक, कोष, ध्वनि और वर्णों के बीच में विभेद की सृष्टि की है। ध्वनि मूल शब्द-वर्ण रूप में प्रकाशित होती है। कुण्डलिनी के निर्गत कूजन से ध्वनि की उत्पत्ति हुई। स्वछन्द तंत्र (२४८) के चतुर्थ परिच्छेद में लिखा है कि शब्द प्राण का कम्पन है और वर्ण प्राणकम्पन का रूप है। इसी तंत्र में यह भी कहा गया है कि शब्द-शक्ति के प्राथमिक विकास के रूप में शब्द से ज्योति की उत्पत्ति हुई। ज्योति-बिन्दु से मंत्र उत्पन्न हुआ। यह बात निश्चित है कि तंत्र की परावाक् अवस्था नित्यज्ञान की ही एक अवस्था है। ज्ञान में शक्ति का संचार होने से परावाक् का कूजन अनाहत शब्द रूप में सुनाई पड़ता है। ज्ञान का संचार ही शक्ति है और शक्ति का प्रकाश है वाक। एक ही तत्त्व की दोहरी शक्ति-सत्ता। शब्द ध्वनि से वर्ण की उत्पत्ति है। शब्द ही अनाहत और आहत है। आहत की उत्पत्ति भी अनाहत से ही है। परावाक् सब वाक्यों का सार है। प्रत्येक वाक् की इसी से उत्पत्ति और इसी में लय है। अरूप वाक्य ही रूप को धारण या ग्रहण करता है। इस ध्वनि का कूजन किस भाव से रूप ग्रहण करता है यह अत्यन्त रहस्यपूर्ण है। इसकी निम्न भूमिका में शब्द-शक्ति पश्यन्ती वाक् रूप में प्रकट होती है। महार्थमन्जरी में वर्णित है कि 'पश्यन्तीवाक्' भूमिका में वाक् की सृजन-शक्ति प्रकट होती है। परा में शक्ति का अस्फुट और पश्यन्ती में स्फुट कम्पन दृष्टिगत होता है। वाक् इस प्रकार प्राथमिक इच्छा का प्रतीक एवं प्रकाश्य है।

इसकी निम्न भूमिका में वाक् में मध्यमाशक्ति का समावेश है। ज्ञान के रूप में वाक् शक्ति बुद्धि को परिचालित करती है। कामकला-विलास में इसको मध्यमा कहा गया है। वाक् दो रूप से प्रकाशित होती है। पहला स्थूल रूप और दूसरा सूक्ष्म रूप। स्वर और व्यंजन वर्णों को स्थूल रूप तथा शब्द झंकार को सूक्ष्म रूप कहा गया है। यही प्रकाश यथार्थ में अतीन्द्रिय प्रकाश है। शब्द-स्पन्दन ही प्राथमिक शक्ति-स्पन्दन है। इच्छा और मानस-विज्ञान ही इसका क्रमिक विकास है। स्वर और व्यंजन वैखरी वाणी के दो प्रकाश-स्तम्भ हैं।

मंत्र की असीम-शक्ति से साधारण मनुष्य द्वारा शिवपद प्राप्त करना कोई असामान्य बात नहीं। शिव-प्राप्ति ब्रह्मपद-प्राप्ति के ही समान है। इस अद्वैत ज्ञान का उन्मेष तंत्र की पूर्ण दीक्षा से जिस प्रकार होता है, वैसा सरल मार्ग मानव-ज्ञान आज तक नहीं खोज पाया है। इस सर्वांगीण साधन से मनुष्य विद्या, बुद्धि, वीर्य, श्री, सम्पदा, प्रतिष्ठा,

अमृत और अभय प्राप्त कर जीवन के पूर्ण विकास को सम्भव कर लेता है। तंत्र से सम्पूर्ण ऐश्वर्य मिलते हैं। यह जिस प्रकार सम्पूर्ण राज्य-ऐश्वर्य-भोगादि प्रदान करता है, उसी प्रकार परम मोक्ष पद की प्राप्ति भी कराता है। इस प्रसंग में सम्पूर्ण तंत्र-शास्त्रों के निचोड़ स्वरूप लिखित 'चण्डी की कथा' विचारणीय है। 'चण्डी' ग्रन्थ में दो व्यक्ति देवी की अपार शक्ति का श्रवण कर ऋषि मेधा के निर्देशानुसार नदी किनारे देवी प्रतिमा का निर्माण कर पूजार्चना करते हैं। पूजा से सन्तुष्ट होकर देवी जब उनके सम्मुख प्रकट हुई, तब महाराज सुरथ ने जन्म-जन्मान्तर में सावर्णि-मनुरूप में चिरस्थायी राज्य एवं इस जन्म में स्वशक्ति द्वारा शत्रु-विनाश-पूर्वक अपने अपहृत राज्य की प्राप्ति के लिए प्रार्थना की तथा बुद्धिमान और वैराग्यवान समाधि नाम के वैश्य ने, स्त्री, पुत्र, धनादि मेरा है, इस अन्धकारमय अज्ञान-भाव को, जिससे कि संसार के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है, नाश करने वाले तत्त्वज्ञान के लिये प्रार्थना की। महादेवी ने दोनों साधकों को वरदान देते हुए कहा 'हे नरपति! अल्प समय में ही तुम शत्रुओं का विनाश कर अपना राज्य प्राप्त करोगे और जब तक जीवित रहोगे उस राज्य का भोग करोगे। मृत्यु के बाद सूर्य के औरस से उसकी पत्नी सवर्णा के गर्भ से जन्म लेकर विश्व में सावर्णि नाम से अष्टम् वसु बनोगे। हे वैश्यश्रेष्ठ, तुम अपने वर के अनुरूप ब्रह्मज्ञान प्राप्त करोगे[1]।'

तंत्र विषय का अनुसंधान करने पर तंत्र की दार्शनिक महत्ता प्रकट होती है। सभी दर्शनों में तत्त्व उपलब्धि हेतु कुछ अनुशासन और उपशासन बताये गये हैं। कारण—तत्त्व का साक्षात्कार केवल मनन द्वारा ही नहीं होता, इसके लिये ध्यान भी अनिवार्य है। यही ध्यान विविध तत्त्वों का स्फुरण है एवं इसी ध्यानालोक से प्राप्त तत्त्व ही श्रेय का कारण है। इसीलिए शायद प्रत्येक सम्प्रदाय में अलग-अलग साधना-मार्ग हैं। तंत्रों में इन्हीं सब मार्गों का वर्णन है। तंत्र कोई सटीक विचार-शास्त्र नहीं है, वह तो पूर्ण बोध के निमित्त योगानुशासन है। तंत्र, योग और उपासना का शास्त्र है। सम्प्रदाय-विशेषों में, जैसे—शाक्त, शैव, वैष्णवादि में विभिन्न साधनाओं के कथानक तंत्र में होते हुए भी प्रत्येक का तत्त्व एक ही है। अनुभूति के क्रमस्तर से ही तंत्र मतवाद की उत्पत्ति है। उसकी दृष्टि और विचार में दार्शनिक और तत्त्वज्ञान प्रमुख है, जो सृष्टि के उद्गम और ह्रास से सम्यक् रूप से परिचित हैं, वही वास्तविक तत्त्ववेत्ता हैं। इसलिए तंत्र-शास्त्रों में इस प्रकार के साधना-कौशल का सहारा लिया गया है।

---

१. 'चण्डी' या 'दुर्गा सप्तशती', अध्याय १३, श्लोक–१५, २०–२५।

इससे आरोह-क्रम से स्तर-स्तर सृष्टि के गहनतम तथ्यों में चेतना के अनुप्रवेश की और अवरोह क्रम से सृष्टि के धरातल पर सामान्य भौतिक-ज्ञान की उपलब्धि होती है। यह साक्षात् अपरोक्ष विद्या है। इसकी साधना द्वारा सामान्य-ज्ञान ही नहीं, विशेष-ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए तंत्र किसी विशेष विचार-तर्क में नहीं पड़कर स्थूल, सूक्ष्म, कारण कारणातीत व परमकारण सत्ता का लक्ष्य-संधान प्रदान करता है। तंत्र एक है या अनेक; तंत्र में विचार की विषय-वस्तु यह नही है, विषय-वस्तु है— उपलब्धि। उपलब्धि की ही राह में द्वैत, द्वैताद्वैत, अद्वैत आदि तत्त्वों का उल्लेख तंत्र मे आया है। तंत्र-साधकों में विभिन्न मत केवल उपलब्धि के दृष्टिकोण से ही होते हैं। जिसकी साधना का क्रम जैसा होता है, उसको उपलब्धि भी वैसी ही मिलती है। बाह्य दृष्टि से देखने पर तंत्र की विभिन्न साधनाएं परस्पर एक दूसरे से पृथक् और विरोधी जान पड़ती है। पर वस्तुस्थिति यह नहीं है। विरोधाभास के पीछे contents व लक्ष्य एक ही है।

ब्रह्मयामल और रुद्रयामल से मालूम होता है कि काली का आविर्भाव नेपाल में हुआ था। महोदधि, तटवर्ती चौलह्रद में अथवा आधुनिक 'चिलीका' में था। कुछ विद्वानो के मतानुसार नरेन्द्र पुष्करिणी के उत्तर के उस जल भाग के, जो पहले विराट् चौलह्रद के नाम से पुकारा जाता था, निकटस्थ नीलगिरि में नीलवर्ण की महादेवी तारा प्रकट हुई थी। उसका वर्ण नीला होने के कारण उसको नील सरस्वती भी कहा जाता है। ठीक इसी स्थान पर जगन्नाथ की स्थापना होने के कारण जगन्नाथ-पीठ को भी नीलगिरि की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि जगन्नाथ का रंग नीला नहीं, कृष्ण (काला) है अतः केवल नील सरस्वती के अतिरिक्त उस पीठ को नीलगिरि नाम देने का कोई युक्तियुक्त कारण नहीं है।

तारा को उग्रतारा के नाम से भी जाना जाता है। वे कठिन विपद् से उद्धार करती हैं, इसलिए उग्रतारा नाम से विख्यात हैं।

यथा:—

उग्रापत्तरिणी यस्मात् उग्रतारा प्रकीर्तिता।

सम्मोहन-तंत्र से ज्ञात होता है कि अक्षोभ्य भैरव मुनिरूपी शिव थे और मेरु-पर्वत के उत्तर में उनका आश्रम था। महाप्लावन (प्रलय) के समय उनको सबसे पहले तारा चीन देश में पार्वती रूप में मिली। अक्षोभ्य भैरव का आश्रम नीलगिरि पर था, इसके भी प्रमाण मिलते हैं। पुरी के आसपास आज भी तारा के अनेक स्थान पाये जाते हैं। जगन्नाथ के नव-कलेवर के समय, जो तांत्रिक-पण्डित लोग गुप्त पूजादि कर

जगन्नाथ के ब्रह्म को नूतन-विग्रह में प्रतिष्ठित करते हैं[1], वे लोग तारा-साधक नाम से विख्यात हैं। उड़ीसा में जितनी तारा-पीठ और जितने तारा-साधक देखने में आते हैं, भारत के अन्य किसी भी स्थान पर उतने दृष्टिगत नहीं होते। कवि-सम्राट् उपेन्द्रभंज भी तारा-साधक थे।

महाचीन तंत्र में वशिष्ठ का उल्लेख तारा-साधक के रूप में आया है। परन्तु वशिष्ठ ने अक्षोभ्य भैरव के पहले तारा की उपासना की थी, यह सत्य नहीं है। क्योंकि वशिष्ठ के बहुत दिनों तक मंत्र-जप द्वारा तारा की उपासना करने पर भी जब तारा प्रकट नहीं हुई, तब उन्होंने मंत्र को अभिशाप दे दिया। उन्हें जब अपनी भूल मालूम हुई तब मंत्र में यथा-स्थान सुधार एवं परिवर्तन करके उन्होंने फिर साधना आरम्भ की। फलस्वरूप महादेवी तारा वधू-रूप में प्रकट हुई। पहले वशिष्ठ 'ह्रीं क्रीं हूं फट्' मंत्र का जप करते थे। पीछे उसी मंत्र के 'क्रीं' स्थान पर 'श्रीं' उच्चारण कर उन्होंने देवी के दर्शन किये। इस कथानक से मालूम होता है कि वशिष्ठ ने जिस मत्र का जप किया था, उसके वे द्रष्टा नहीं थे। उनके पहले कोई अन्य ही उसका द्रष्टा हो चुका था। फेत्कारिणी आदि अनेक तंत्रों में लिखा है कि तारा की उपासना करने के पहले आक्षोभ्य ऋषि की अर्चना करनी होती है। इससे स्पष्ट है कि अक्षोभ्य ऋषि ही तारा के प्रथम साधक हैं।

कतिपय ऐतिहासिकों के मतानुसार देवी तारा सप्तम-शताब्दी की पूर्ववर्ती मानी गयी है। परन्तु तारा प्राग्वैदिक-युग की है, इसका प्रमाण मोहनजोदड़ों मे प्राप्त एक शृङ्गी (unicorn) है। तारा के मंत्र में वर्णन है कि उनके मस्तक पर एक पिंगल-वर्ण की जटा है। यही जटा एक शृङ्गी का प्रतीक है। बौद्ध साहित्य में एकतारा अथवा महाचीन का वर्णन है। वे हिन्दू-देवता नहीं हैं, यह कहना भ्रमपूर्ण है। गवेषकों की दृष्टि बौद्ध-युग से दूर नहीं गयी। उनके मतानुसार मूर्त्ति-पूजा का आरम्भ बौद्ध-संन्यासियों से हुआ, क्योंकि वैदिक-युग एवं बौद्ध-युग के बीच ऐसी कोई भी नयी संस्कृति का उदय नहीं हुआ, जो मूर्त्ति-पूजा का प्रचलन करे। वैदिक-जाति मूर्त्ति-पूजा नहीं करती थी। फिर मूर्त्ति-पूजा आयी कहां से? आर्यों के प्रभाव से अनार्य-सभ्यता मृतप्राय या लुप्त हो गई थी और वैदिक-युग के पहले अनार्यों की आर्यों के समान कोई संस्कृति थी भी नहीं। परन्तु खुदाइयों एवं अन्य माध्यमों द्वारा प्राग्वैदिक सभ्यता के

---

१. जगन्नाथ की काष्ठ-मूर्त्ति में, पेट के खोखले में, शालिग्राम की एक मूर्त्ति रखी रहती है। इसी को 'ब्रह्म' कहते हैं। नकलेश्वर के समय जब पुरानी मूर्त्ति हटाई जाती है, तब इस 'ब्रह्म' को निकाल कर नई काष्ठ-मूर्त्ति में प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।

जो अवशेष सामने आ रहे हैं, उनसे मालूम होता है कि वैदिक-युग में अनार्यों की संस्कृति विकास के शिखर पर थी। प्राग्वैदिक संस्कृति में मूर्त्ति-पूजा प्रचलित थी, यह अब गवेषणाओं द्वारा स्पष्ट से स्पष्टतर होता जा रहा है।

वेद में देवताओं को सन्तुष्ट करने के लिए यज्ञ का विधान है, परन्तु तंत्र मतानुसार देवी-देवताओं की आराधना पूजा द्वारा होती है। पूजा शब्द वैदिक नहीं, तांत्रिक है। पूजा में मूर्त्ति अनिवार्य होती है। अतः जहां भी मूर्त्ति-पूजा प्रचलित है, वहां तन्त्र का प्रचुर राजत्व है। इस प्रकार आज सम्पूर्ण भारत तंत्र माध्यम से ही आध्यात्मिक उपासना करता है। तंत्र में बलि प्रथा होते हुए भी यज्ञ में जितनी पशु-बलि आवश्यक होती थी, तंत्र में उतनी नहीं। तन्त्र सम्बन्धित पशु-बलि की आध्यात्मिक व्याख्या युक्ति सगत है। बौद्ध साहित्य से मालूम होता है कि वैदिक-यज्ञ में सैकड़ों पशुओं (गाय, बकरी, भेड़ आदि) की बलि दी जाती थी। इस पशु-बलि को देखकर ही तथागत बुद्ध का हृदय पिघल उठा था। इसलिए वे यज्ञ की निन्दा करने लगे। बलि-विहीन यज्ञ निष्फल होता है—पुरोहितों के इस मत के फलस्वरूप यज्ञ सम्पूर्ण रूप से बन्द ही हो गये। इसलिये लोग पुनः उसी प्राचीन तंत्र-मार्ग की ओर दौड़ पडे। पुनः मूर्त्ति-निर्माण कर पूजा-उपासना का श्रीगणेश हुआ। यह पूजा-उपासना बौद्धों से ही आरम्भ हुई, यह तथ्य विवादास्पद है। महावास्तु से ज्ञात होता है कि बुद्धदेव जब अपनी मां के सहित कपिलवस्तु आये थे, तब शाक्यों के शाक्यवर्धण मन्दिर में उन्होंने अभया देवी की पाद-वन्दना की थी।

अनेक विद्वानों का मत है कि हिन्दू मतावलम्बी, बौद्धों के देवी-देवताओं को अपना मानकर उनकी पूजा करते आ रहे हैं। बौद्धों के अवलोकितेश्वर, लोकेश्वर, प्रज्ञापार-मिता, वज्रयोगिनी, आर्य्यतारा, वागीश्वरी, मंजुश्री, हेवज्र, हारीत, मारीचि, अक्षोभ्य, पर्णशबरी आदि आज भी प्रत्येक हिन्दू घर में ब्रह्मा, विष्णु, शिव, दुर्गा, काली, लक्ष्मी, सरस्वती, बाधुली, शीतला, मगल-चण्डी आदि के रूप में पूजे जाते हैं। परन्तु राजेन्द्र-लाल मित्र ने अपनी अंग्रेजी की 'ललित-विस्तार' पुस्तक के आठवें पृष्ठ पर इसके खंडन में लिखा है कि—'The names of most of their divinities are taken from the Hindu pantheon'. अर्थात् बौद्धों के अधिकांश देवी-देवताओं के नाम हिन्दू देवी-देवताओं के आधार पर ही रखे गये थे।

पूजा और उसकी पद्धति जब तंत्रानुमोदित है तो यह बोध भी वस्तु-संगत ही है कि तन्त्र ने उड़ीसा के सामाजिक जीवन को कितना प्रभावित किया है? यह उल्लेख अनावश्यक है कि उड़ीसा के पर्व-त्योहार-व्रत आदि तंत्र की आधार-भूमि पर ही खड़े

हैं। वास्तव में विभिन्न ओषापर्व विभिन्न देवी-देवताओं की आराधना के निमित्त ही बने थे। इसीलिए ये सब पर्व आदि मन्दिर के देवी-देवताओं के अथवा घर में स्थापित मूर्त्तियों के सान्निध्य में सम्पन्न किये जाते हैं। विभिन्न पुराणों में इस विषय एवं विधि का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। ओड़िया भाषा के आदि-कवि मारलादास ने अपनी महा-भारत व चण्डी पुराणादि में ओषा-पर्वो का वर्णन विस्तारपूर्वक किया है। 'खुदुरु-कुणि' वा 'भालुकुणि' ओषा में मंगला की आराधना तथा गंजाम जिले के 'फुलरी' ओषा में वज्रकाली की आराधना, तंत्र परिपाटी से ही की जाती है। चैत्र-पूर्णिमा को चैत्र घोड़ा यात्रा, ठाकुराणी यात्रा, शीतल-षष्टी आदि पर्व भी तंत्र को ही अवलम्बन मान कर मनाये जाते हैं। सावित्रीव्रत स्त्रियों का एक पवित्र व्रत है! यह सावित्री, सत्यवान् की पत्नी नहीं है। सत्यवान् की स्त्री सावित्री ने जिस महादेवी सावित्री के अनुग्रह से जन्म ग्रहण किया था, उसी महादेवी सावित्री की उस दिन स्त्रियां पूजा-आराधना करती हैं। यह महादेवी सावित्री-तंत्र की देवता हैं।

कालिका-पुराण के ६४वें अध्याय में उड़ीसा के तंत्र-प्रधान-पीठ होने का उल्लेख इस रूप में मिलता है :—

उड्राख्यं प्रथमं पीठं द्वितीय जाल शैलकं।
तृतीयं पूर्ण पीठन्तु कामरूपं चतुर्थकम् ॥
उड्रपीठं पश्चिमेतु तथैवोड्रेश्वरी शिवं।
कात्यायिनीं जगन्नाथमोड्रेशं च प्रपूजयन् ॥

जगन्नाथ की प्रतिमा काष्ठ की है। अन्य किसी प्रदेश में काष्ठ प्रतिमा की पूजा नहीं की जाती। पहले वृक्ष को ही देवता मानकर पूजा की जाती थी। आदि समाज में वृक्ष-पूजा प्रचलित थी। आज भी हिन्दू समाज में यह पूजा विविध रूप में होती है। वैशाख मास में पीपल व वट वृक्ष में जल देना, तुलसी की घर-घर में प्रतिष्ठा और पूजा, बेल, बेर, दूर्वा, बदरी आदि पत्रों का पूजा में उपयोग, यह पुष्टि करता है कि वृक्ष-पूजा किसी जमाने में सामाजिक मान्यता के रूप में प्रचलित थी। देवी दुर्गा की पूजा में नव-पत्रिका का पूजन तथा नौपत्रों की नव-दुर्गा के रूप में आराधना उसी आदिम-पूजा का प्रतीक है। अभी भी उड़ीसा के गांवों में वृक्ष में सिन्दूर लगाकर उनकी पूजा की जाती है। अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्राग्वैदिक-युग से ही जगन्नाथजी की पूजा आदि देवता के रूप में होती आ रही है। पहले ही लिखा जा चुका है कि जगन्नाथ ही भैरव हैं, भैरव और शिव एक हैं। शिव सदा शक्ति के आश्रित हैं। शक्ति के संचार से ही इस विश्व व विश्वातीत जगत की उत्पत्ति है।

शक्ति ही तंत्र का प्रधान स्तम्भ है। 'वाटिवस्वा रहस्य' में इसे 'प्रकाश' की संज्ञा दी गई है। इस पर ही निर्भर होकर तंत्र-तत्त्व की सम्यक् और सम्पूर्ण साधना की जाती है। शक्ति का स्वरूप ज्ञान से अभिन्न है। ज्ञान के संचार से शक्ति का प्रकाश होता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान का प्रकाश ही शक्ति है। ज्ञान ही स्पन्दीभूत होकर प्रकाश-शील होता है। ज्ञान की दो अवस्थाएं हैं—पहली स्थिर अर्थात् निस्पन्द, दूसरी संचरी-भूत अर्थात् प्रकाशमय। ज्ञान का प्रकाश होने पर आनन्द की उपलब्धि होती है। ज्ञान के प्रकाश में ही क्रिया का उद्भव होता है। प्रकाश के मूल में है —इच्छा (will)। इच्छा, आनन्द और क्रिया यह सब शक्ति के विकसित रूप हैं। इस विकास के बिना शिव होना असम्भव है। परन्तु जगन्नाथ ने भैरव रूप में स्थापित होकर शक्ति के सम्पूर्ण प्रकाश को सुगम बना दिया है।

डॉ० महताब, पं० सूर्यनारायणदास, एवं डॉ० वेणीमाधव पाढ़ी की क्रमशः 'उडिशा इतिहास', 'जगन्नाथ मंदिर' और 'जगन्नाथ तत्त्व' एवं 'दारु-देवता' पुस्तकों में इस बात को स्वीकार किया गया है कि जगन्नाथ आदिवासी शवरों द्वारा प्रतिष्ठित हैं। आदि-वासी शबरों के मूल देवता शिव अथवा भैरव हैं। जगन्नाथ ने शक्ति की विभिन्न कलाएं अपने में संजो कर शिव-रूप में प्रतिष्ठित हो, उत्कल को एक प्रसिद्ध तंत्र-क्षेत्र का सम्मान प्रदान किया है। यह कहना कोई अत्युक्ति नहीं है कि आदि जगन्नाथ ही उड़ीसा और उड़ीसा ही आदि जगन्नाथ है।

बहुत से ऐतिहासकों का कहना है कि बुद्ध के उपरान्त बौद्ध-धर्म में व्यभिचार आ-घुसा। बुद्धोपरांत काल में बुद्ध सरीखा कोई भी महापुरुष न होने से शैव, भागवत और शाक्त-धर्म जन-जीवन में पैठने लगे। मुख्यतः ब्राह्मण हिन्दू-धर्म का विस्तार अधिक होने लगा। न तो बौद्धों का वह तंत्र-प्रभाव ही रहा, और न वे बौद्ध-संन्यासी ही रहे, जो अपनी तर्क-संगत-युक्तियों द्वारा बौद्ध-धर्म को अक्षुण्ण रख सकते। इनके अभाव में बुद्ध-मार्ग की अवहेलना होने लगी। फलतः बौद्ध-श्रमणों ने तंत्र-मार्ग को अपनाया। डॉ० नवीन कुमार साहू ने अपने 'उड़ीसा में बौद्ध धर्म' पुस्तक में लिखा है कि ईसा की सातवीं शताब्दी के समय तंत्रवाद का अभ्युदय हुआ। महायान सूत्र धरणीरूप में परिणित होकर क्रमशः मंत्ररूप में प्रकाशित हुए। फलस्वरूप बौद्ध साधना में मुद्रा, मण्डल, अभिषेक, समाधि आदि क्रियाएं ग्रहण की गई। तंत्र-जगत के मारण, मोहन, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन, वशीकरणादि अभिचार तथा मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा, मैथुन इन पंच 'म' कार सेवा ने पवित्र बौद्ध-धर्म में अपनी जगह बना ली और महायान की जगह तंत्रयान की सृष्टि हुई।

बौद्ध तंत्र-शास्त्रों से स्पष्टरूप से मालूम होता है कि तत्रयान की आदिभूमि उड्डी-यान या उड़ीसा है। तिब्बतीय तंत्र-साहित्य में भी लिखा है कि उड्डीयान देश के सिद्ध-तांत्रिकों ने विभिन्न तंत्रों का प्रवर्त्तन किया था। इसी उड्डीयान में सरह बुद्ध ने कपाल-तंत्र, कम्बलपाद और पद्मवज्र ने हेवज्रतंत्र, और लुइपा ने सम्पुट तिलक की सृष्टि की थी। कृष्णयामरी तंत्र के तीनों भागों को ललित वज्र ने बनाया। गम्भीर वज्र ने वज्रामृत, कुँकुरीपाद ने महामाया तत्र, पितोवाद ने कालचक्र तंत्र, और जयद्रथ ने चक्रसम्बर तंत्र की रचना की थी। उड्डीयान में रचे जाकर इन सब बौद्ध-तंत्रों ने सम्पूर्ण भारत को चमत्कृत किया था।

हिन्दू तत्र का उड्रपीठ-उड्डीयान ही उड़ीसा है, इस तथ्य की डॉ० नवीन कुमार साहू ने विस्तृत आलोचना द्वारा एवं ऐतिहासिक खोज के आधार पर पुष्टि की है। उड़ीसा के रत्नागिरि ने उस समय तत्र में प्रसिद्धि प्राप्त की। आदि कवि सारलादास के चण्डीपुराण में यह प्रसंग आता है कि देवी दुर्गा का रत्नगिरि में आविर्भाव हुआ था। सम्बल या सम्बलपुर तथा लंका या सोनपुर भी उसी समय तंत्रपीठ में परि-णित हुए थे, इसका भी आभास सारलादास की इस कृति में मिलता है।

इन्द्रभूति से दीक्षा लेकर एवं तत्पश्चात् सिद्धि प्राप्त करके उसकी बहन लक्ष्मींकरा ने यह घोषणा की थी इस शरीर में ही सम्पूर्ण देवी-देवताओं का निवास है। अतः मूर्त्तिपूजा अर्थहीन है। उसने इस मत का प्रतिपादन किया कि यह शरीर ही ब्रह्माण्ड है, और इसलिये काया-साधन और देहपूजा में स्नान-शौचादि क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है तथा शरीर-पीड़ा व उपवासादि कष्ट भी अर्थ-शून्य हैं। लक्ष्मींकरा ही 'सहज-यान' की प्रवर्तक थी। इसी सहजयान के सम्पर्क एवं प्रभाव से जहां एक ओर साधकों में विपथगामिता आई, वहां दूसरी ओर बहुत से साधक-साधिकाओं ने ऐसी सिद्धि प्राप्त की कि मंत्र द्रष्टा के रूप मे आज भी उनका नाम आदर से लिया जाता है। कान्हुपा, हरिपा, लुइपा, किटाईमा, पत्रशउरूणि, नितेई धोबणी, सुकुटी चम्हारूणी, ज्ञानदेई मालुणी द्वारा रचित तंत्र आज भी उड़ीसा के विभिन्न स्थानों में व्यावहारिक रूप में मान्य हैं। इस सन्दर्भ में यह भी एक उल्लेखनीय सत्य है कि नितेई धोबणी ही चोल-गंगदेव की गुरु थी।

इस लेख में कतिपय मंत्रों के उद्धरण देने की इच्छा होते हुए भी कलेवर-वृद्धि के डर से नहीं दिया जा रहा है। परन्तु यह सत्य है कि उड़ीसा के गुणी-गारेड़ी मंत्र-तत्र-शास्त्र के बीज-मंत्रों से निकृष्ट नहीं हैं। परीक्षा करके देखा गया है कि इन मंत्रों की कार्य-सम्पादन शक्ति अति प्रखर है। भूत-डाकिनी झाड़ना, बालक-प्रसव आदि कार्यों

में इस प्रकार के मन्त्र विशेषतः व्यवहार में लाये जाते हैं। उड़ीसा के ग्रामांचलों में इनका इतना प्रचार व प्रसार है कि कहा नहीं जा सकता। वीरपेषण, बाणमारणादि तंत्र क्षतिकारक होते हुए भी इनका आश्चर्यजनक फल आज के वैज्ञानिकों को आश्चर्य-चकित कर देता है। उड़ीसा में अब 'ठालसपारी' खेल का प्रचलन न होते हुए भी ये यदा-कदा यत्र-तत्र देखने को मिलते हैं। दो तांत्रिक अथवा गुणियों की विद्या का इसके द्वारा परीक्षण होता है। एक गुणिया, तंत्र द्वारा दूसरे को अचल करने का प्रयास करता है। दूसरा अपने बचाव के दरमियान विपक्षी को घायल कर देता है। सम्पूर्ण दृश्य बड़ा चमत्कारिक होता है।

तन्त्र की साधना और प्रणाली जितनी कठिन है, उतनी ही सहज भी है। विभिन्न तंत्रों में विभिन्न साधना-प्रणालियों का उल्लेख है। सभी साधनाओं में दश-महाविद्याओं की साधना उत्कृष्ट है। इस विषय को किसी भी तंत्र-साधक द्वारा सर्वसाधारण में प्रकाशित व प्रचारित करना निषिद्ध है। तथापि तंत्र-साधना क्या है और किस प्रकार की जाती है, इस सम्बन्ध में वीरसाधना नामक एक साधना का संक्षिप्त विवरण हम यहां दे रहे हैं।

वीर-साधना साधारणतः कृष्णपक्ष की अष्टमी या चतुर्दशी को की जाती है। जो व्यक्ति महाबलवान्, बुद्धिमान्, साहसी, पवित्र, सरलमना, दाता, सर्वप्राणियों का हित-कारी हो, वह ही इस साधना का उपयुक्त अधिकारी होता है। अर्द्धरात्रि बीत जाने के बाद श्मशान में चिता-स्थान पर एक शव को लाकर मन्त्रध्यान-परायण हो, स्वहित-साधनार्थ साधक कार्य करता है। साधक इस समय न तो कभी भयभीत हो, न ही इधर-उधर दृष्टिपात करे। सम्पूर्ण निष्ठा एवं एकाग्रता से मंत्र जप करना पड़ता है। इस साधना में आमिषान्न, गुड़, छाग (बकरी), सुरा, पायस, पिष्टक, नाना प्रकार के फल तथा अभीप्सित नैवेद्य आदि की आवश्यकता होती है। साधक सम्पूर्ण द्रव्य-सामग्री श्मशान में लाकर निर्भीक हृदय से समगुण सम्पन्न अस्त्रधारी बन्धुओं के सहित वीर-साधना करता है। बलि पदार्थों को सात पात्रों में रखकर, उनमें से चार पात्र चारों दिशाओं में तथा बाकी तीन पात्रों को मध्य स्थान में रखकर मंत्रपाठ की सहायता से निवेदन किया जाता है। गुरु-भ्राता या सुव्रत ब्राह्मण को आत्मरक्षार्थ कुछ दूर पर बैठा दिया जाता है। साधक स्वस्तिवाचन और सामान्य अर्घ्यस्थापन के बाद लिखित मूल मंत्र का संकल्प करता है। तदुपरांत वस्त्रालंकारादि नाना आभूषणों से अलंकृत होकर पूर्वाभिमुख बैठ 'फट्' कारान्त मूलमंत्र से यज्ञ स्थान का प्रोक्षण करता है। फिर गुरु-वन्दना करके गणेश, बटुक, योगिनी और मातृकाओं की पूजा-अर्चना करके वाम चरण

को आगे की ओर कर चितास्थान पर प्रवेश करना पड़ता है। बाद में 'फट्' मंत्र से आत्मरक्षा करके 'ये चात्र संस्थिता देवाः' इत्यादि मंत्रों से प्रणाम कर तीन बार पुष्पाञ्जलि देनी होती है। तदुपरान्त विभिन्न दिशाओं में देवताओं की पूजा-अर्चना करके बलि-समर्पण करनी होती है। बाकी तीन पात्रों को चिता-समर्पण कर दिया जाता है। इन तीनों अवशिष्ट बलियों में से एक महाकालिका को, एक भूतनाथ को एवं शेष एक गणनाथ श्मशानाधिप को अर्पण करने की विधि है।

इसके बाद पंचगव्य और जल द्वारा श्मशानस्थ अस्थि आदि को प्रोक्षण कर पीत-न्त्र-विन्यास कर, बेरपत्र या भोजपत्र पर पीठमंत्र लिखकर उसे पीतवस्त्र से ढँक देते हैं। तत्पश्चात् व्याघ्रचर्मादि का आसन बिछाकर वीरासन से बैठ वीराधर्म मंत्र से दिग्बन्धन एवं दिशाओं से रक्षा का आह्वान किया जाता है। फिर कर्पूर-युक्त श्वेदकंद और श्वेत बाट्यालक तुला (रूई) से बत्ती बनाकर दीपक जलाया जाता है। यदि यह दीपक बीच में बुझ जावे तो साधक के अनिष्ट की कल्पना होती है। फिर भूत-शुद्धि और न्यास करके इष्टदेव की पूजा-अर्चना की जाती है। इसके बाद जप करना पड़ता है। निर्दिष्ट प्रमाण से जप करने पर जब कोई आकर 'वर मांगो' कहे तो उसे प्रतिज्ञा कराकर वर ग्रहण करना चाहिये। देवी किसी-किसी अवस्था में 'दे-दे' कहकर बलि मांगती है। वह जो भी बलि मांगे, तत्क्षण दे देनी चाहिए। यदि वह बलि-पदार्थ उस समय उपलब्ध न हो तो दूसरे दिन दे देने की प्रतिज्ञा करके उस पदार्थ के साथ पुनः जाना होता है। यही साधना वामाचार और विलाचार पर निर्भर करती है।

तांत्रिक-साधनाओं का प्रारूप थोड़े-बहुत अन्तर के साथ साधारणतः ऐसी ही कष्टप्रद है। मद्य-मांसादि की प्रायः प्रत्येक साधना में आवश्यकता होती है। केवल साधना ही नहीं, पूजा में भी इनका व्यवहार होता है। जगन्नाथ के पास में अभी भी मद्य के लिये कांस्यपात्र में पइड़ (कच्चा नारियल) का जल, आमिष के लिये गीला गुड़ और बँटी हुई वीरी, एवं मुद्रा के लिए मुद्रापीठ की व्यवस्था इसी परिपाटी का द्योतक है। रथयात्रा के समय रथ पर अश्लील वाक्य-लेखन भी तंत्र का ही निर्देश देते हैं। इसके लिये यही Justification दिया जाता है कि तांत्रिक लोग जितेन्द्रिय और विकार-शून्य होकर यह सब करते हैं।

पाश्चात्य–शिक्षा के प्रभाव में हमारे मूल्य ही नहीं बदले, मूल्यांकन की कसौटी भी बदल गई है। आज किसी को कोई बात कह देने से वह उसे सहज ही नहीं मान लेता। आज तो सत्य वह है, जो बुद्धि की कसौटी पर खरा उतरे। इस कठिन परीक्षा

में हमारी कितनी ही अमूल्य निधियों का लोप हो गया। तंत्र-विद्या इसके उपरान्त भी यदि आज बची है, तो अपने अन्तर्निहित गुणों एवं अपनी उपयोगिता के कारण ही। विपद, रोग, दुःख आदि से उद्धार के हेतु जो तांत्रिक पूजा होती है, उसका तात्कालिक फल प्रत्यक्ष रूप से देखने में आता है। यदि ऐसा न होता तो तंत्र-विद्या का क्षय भी आज तक कभी का हो चुका होता। उड़ीसा के जन-जीवन में तो तंत्र का अभी भी पर्याप्त प्रभाव है। स्वयं जगन्नाथ की सेवा-पूजा ही जब वामाचार, विलाचार एवं दक्षिणाचार से सम्पन्न होती है, तो उड़ीसा का जातीय-जीवन इससे कैसे अछूता रह सकता है।

सदाशिव रथ शर्मा

भारत के योगिनी-पीठ

सप्तमातृकाओं (मातृगण) सहित शिव और दुर्गा की परिचारिकाएं चौंसठ या चतुष्षष्ठि योगिनियां, जिन्हें कौल-कापालिक एवं उससे मिलते अतिवादी-मत अपने प्रिय आराध्य-चौंसठ भैरवों की शक्तियां मानते हैं। चौंसठ भैरव आठ वर्गों में विभक्त हैं, और प्रत्येक वर्ग के फिर आठ उपभेद हैं। तांत्रिक ग्रन्थों एवं शक्ति-कापालिक-मतों के अनुसार इन भेदों के अधिनायक हैं—असिताङ्ग, रुरु, छांद, क्रोध, उन्मत्त कापाल, भीषण एवं संहार। ये सभी 'भैरव' के विशेषण हैं।

निम्नलिखित स्थानों में चौंसठ-योगिनियों के मंदिर पाये जाते हैं:—

खजुराहो : खजुराहो क्षेत्र में ई० सन् ४५० के बाद निर्मित सभी मंदिरों में हमारा यह चर्चित मंदिर बहुत पुराना है। इसका वास्तुशिल्प, निर्माण-कला और आकार बाद में बने मंदिरों की तुलना में बहुत अलग है। यह मंदिर दानेदार काणाश्म प्रस्तर से बना है, जो इसके पश्चात् बने मंदिरों की वास्तु-कुशलता और लालित्य के सामने घटिया है। ऊँचे पाये पर आधारित इस मंदिर के खुले चतुष्कोण-प्रांगण में चौंसठ छोटी-छोटी देवरियां हैं। इनमें से एक ठीक पीछे की दीवार में लगा हुआ मंदिर मुख्य-द्वार से प्रवेश करते ही दिखायी पड़ता है। यही चौंसठ देवरियों में सबसे बड़ा है। इन सभी देवरियों में चौंसठ योगिनियां प्रस्थापित रही हैं। भारत में प्राप्त चौंसठ योगिनियों के मंदिरों में खजुराहो का शिल्प अत्यन्त प्राचीन और समचतुष्कोणीय

निर्माण-पद्धति में बेजोड़ माना जाता है । काल के प्रवाह में इन देवरियों की कई मूर्त्तियां नष्ट हो गईं । अब केवल तीन प्रतिमाएँ ही शेष रही हैं ।

भेड़ाघाट : मध्यप्रदेश के जबलपुर नगर से लगभग बारह मील दूर भेड़ाघाट स्थान पर भी चौंसठ योगिगियों का एक मंदिर मिलता है । चेदी के कलचुरी राजाओं ने मत्तमयूर-परम्परा के शैव आचार्यों को, जो कि मूलतः ग्वालियर के थे और मयूर-नाथ के अनुयायी थे, प्रश्रय दिया था । बताया जाता है, इन शैव आचार्यों को अपने राज्य में आमंत्रित करने का श्रेय युवराजदेव प्रथम (स० ६१५-६४५ ई०), उसकी रानी नोहला और अमात्य गोल्लाक को है । इन्हीं आचार्यों ने अपने आगमन के बाद शिव और विष्णु के कई मंदिरों का निर्माण किया । राजधानी त्रिपुरी के पास, भेड़ाघाट स्थान में, ठीक नर्मदा के किनारे ऊँची पहाड़ी पर एक खुली छत वाला चक्राकार मंदिर बनवा कर उसमें चौंसठ योगिनी, गणपति और अन्य देवी-देवताओं की मूर्त्तियां स्थापित की गई थीं । यद्यपि मंदिर को चौंसठ योगिनियों का ही मंदिर कहा जाता है, मगर उसकी ८१ कोठरियों में से केवल एक में ही गणपति की मूर्त्ति विराजमान है, शेष में चौंसठ योगनियाँ तथा महिषमर्दिनी सहित अन्य मूर्त्तियाँ उपलब्ध हैं । योगिनियों की मूर्त्तियों में पांच बहुत पुरानी लगती हैं, यद्यपि अधिकतर मूर्त्तियां युवराजदेव प्रथम के काल की ही प्रतीत होती हैं । लगता है, भेड़ाघाट बहुत पहले से ही पवित्र स्थान रहा है । खुली छत वाला यह मंदिर कालान्तर में गोलकी—अर्थात् गोल आकार वाला—मंदिर के नाम से पुकारा जाने लगा । (सम्भवतः आचार्य गोल्लाक के नाम से सम्बन्धित होने के कारण इसका यह नाम पड़ा हो ?) इसी कारण इसके बगल में निर्मित मठ, गोलकी-मठ के रूप में प्रसिद्ध हो गया तथा आचार्य गोल्लकी-संस्थान के रूप में इसको प्रतिष्ठा मिली । इसे लक्ष्याध्यायी या विद्वान् गुरुओं की परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण 'भिक्षा-मठ' नाम भी मिला । इन्हीं विद्वान् गुरुजनों के नाम के अंत में 'शंभु' या 'शिव' आता है, जो अपने समय में न केवल चेदि राजाओं के गुरु रहे, बल्कि और भी आगे इनके ही प्रभाव से इन्हीं मठों की शाखाओं का निर्माण हुआ । इनका बौद्धिक वर्चस्व वारांगाल के काकतीयों पर तभी कायम हुआ था । सुदूर तामिलनाडु के तिरुचिरापल्ली तक इन मठों की शाखाओं का प्रसार हुआ । चौंसठ योगिनियों के कई मंदिरों की पीठिकाओं पर आलेख मिलते हैं, जबकि उन पर की मूल मूर्त्तियां बुरी तरह बिकृत की हुई, पायी जाती हैं । अधिकतर प्रतिमाएं और उनकी पीठिकाएं सही हालत में है । यह भी पाया जाता है कि कुछ मूर्त्तियां, पीठिकाओं पर खुदे आलेखों के अनुरूप नहीं हैं । कदाचित् उन मूर्त्तियों को मूल-मूर्त्तियों की जगह आक्रमणकारियों

ने रखा होगा ताकि मूल प्रतिमाओं की पहचान ही न की जा सके। पीठिकाओं पर योगिनियों के जो नाम मिलते हैं, उनमें से कई नाम ऐसे हैं, जो देवी-देवताओं के नामों के प्रामाणिक ग्रन्थों में प्राप्त नामों से मेल नहीं खाते। तब भी ब्राह्मी, माहेश्वरी, वाराही, वैष्णवी, चण्डिका, (सप्तमातृकाओं में एक), डाकिनी, जाह्नवी, यमुना और अन्य कई प्रसिद्ध देवियों के नाम ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। मगर तब भी हमारे पास अभी ठीक-ठीक ऐसे अलेखीय प्रमाणों का अभाव है, जिनके द्वारा इन अन्य देवियों या योगिनियों जैसे—देद्दारी, लंपटा, थानी, टंकारी, रिंघाली, संधिनी, औद्रा, खेमकी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध किया जा सके। यह दृष्टव्य है कि इन मूर्तियों की बनावट ऐसी है, कि उनमें से कुछ मूर्तियां—जैसे गणेशनी (गणेश की शक्ति) एवं महिषासुरमर्दिनी सरलता से पहचानी जा सकती हैं, जबकि उनकी पीठिकाओं पर क्रमशः 'अंगिनी' और 'तेरांबा' शब्द अंकित है[1]। श्री आर डी० बनर्जी ने शिलालेखों पर मिलने वाले और उनसे भिन्न नामों की चर्चा की है। चूंकि भूतपूर्व ग्वालियर राज्य के राणोद स्थान से प्राप्त १०-११ वीं शताब्दी के अभिलेख में मत्तमयूर शैवों का उल्लेख मिलता है, तेरांबी द्वारा रक्षित तेरांबीपाल, तेरंबा और तेरांबी देवी अपने किसी न किसी रूप में दुर्गा का ही प्रतिनिधित्व करती हैं। संयोग से शाक्त-मतावलम्बियों की आवश्यकता के लिए इन मूर्तियों के कारीगरों ने अपने समय में उपलब्ध आलेखों के आधार पर ही ये मूर्तियां गढ़ी हैं। ये आलेख दुर्भाग्य से अब नहीं रहे, मगर शिल्प में शाक्त निर्मातकों की परम्परा निःशेष नहीं देखी जाती। ११५५ ई० में रानी अल्हना देवी की प्रेरणा से, उसके पुत्र नृसिहदेव के राज्य काल में, इन मूर्तियों का निर्माण हुआ था।

रानीपुर-झरिया : भूतपूर्व पटना राज्य के रानीपुर झरिया नामक स्थान पर चौंसठ योगिनियों का जो मंदिर है, वह भी गोलाई में बना है। उसके बीचोंबीच एक छोटा-सा छत्र है। मंडप की शक्ल में बना यह छत्र चार स्तम्भों पर टिका है। मध्य में शिव-मूर्त्ति है, उसके चारों ओर मुख्य प्रतिमा को देखती हुई चौंसठ योगिनियों की प्रतिमाएं गोलाई में स्थापित हैं। यह मंदिर भी ईस्वी की ९वीं शताब्दी का बनाया हुआ वताया जाता है।

हीरापुर : श्री के० एन० महापात्र ने उड़ीसा के इस स्थान पर चौंसठ योगिनियों का एक मंदिर खोज निकाला है, यद्यपि अभी इस मंदिर का यथोचित अध्ययन नहीं

---

१. इन देवियों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन द्रष्टव्य है—श्री आर० डी० बनर्जी का ग्रन्थ 'दी हैहयाज ऑफ त्रिपुरा एण्ड देअर मॉन्युमेन्ट्स' पृष्ठ ७९-९० ।

किया गया है। स्वर्गीय डॉ० सी० एल० फाबरी ने उड़ीसा के इन सुन्दर मंदिरों के सम्बन्ध में 'इन्टरनेशनल कांग्रेस ऑफ ओरिएन्टलिस्ट' के छब्बीसवें अधिवेशन में, जो कि १९६४ में नई दिल्ली में हुआ था, एक लेख पढ़ा था। फाबरी ने मूर्त्तिशिल्प और अभिलेखों में वर्णित चौसठ-योगिनियों के वर्णन में भारी असमानता पायी। लेखक ने कई ग्रन्थों का अध्ययन कर चौसठ योगिनियों की जो सूची प्रस्तुत की, उससे पता चलता है कि इस पन्थ के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान और सांस्कृतिक-अध्ययन कितना अधूरा है। उड़ीसा में योगिनी-तन्त्र पर दो पांडुलिपियां उपलब्ध हैं। कहा जाता है उन ग्रंथों की रचना सोनपुर के चोलानाथेश्वरी ने की है। एक ग्रन्थ चौसठी योगिनी के ध्यान के सम्बन्ध में है, जिसका व्योरा ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में उपलब्ध है। दूसरा ग्रन्थ योगिनीचक्र की व्याख्या से सम्बन्धित है। हीरापुर के योगिनी मंदिर से ग्रन्थ का वर्णन बहुत मिलता है। इस ग्रन्थ की सहायता से हीरापुर की सभी योगिनियों का सही ज्ञान प्राप्त करना कठिन न होगा।

दुधाइ : झांसी जिले के दुधाइ नामक स्थान में एक मंदिर है जिसे 'भीमसेन का अखाड़ा' कहते हैं। यह मंदिर भी गोलाई में बना है तथा केन्द्र में स्थित प्रतिमा को देखते हुए चौंसठ मूर्त्तियों की कोठरियाँ इसमें प्राप्त हैं [1]।

मोतावली (ग्वालियर) : ग्वालियर के मोतावली स्थान में प्राप्त चौंसठ योगिनियों का मंदिर ११ वीं शताब्दी के लगभग बनाया गया था[2]। इस मंदिर में पैंसठ (?) कोठरियाँ हैं। मंदिर के मध्य में जो मूर्त्ति है, वह चारों ओर से दिखायी देती है और उसके सामने सर्वतोभद्र-मंडप है।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

---

१. श्री बी० एल० शर्मा की कृति 'ए गाइड टू खजुराहो, पृष्ठ ८। एवं
श्री आर० डी० बनर्जी का ग्रन्थ "दी हैहयाज ऑफ त्रिपुरा एण्ड देअर मान्युमेन्ट्स"

२. आर्कियॉलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, एन्युअल रिपोर्ट्स १९१५-१६ पार्ट १, पृष्ठ १८।

लोक जीवन

कोरापुट जिले का लोक नृत्य

उड़ीसा के आदिवासी

छाऊ नृत्य, उडीसा

गोपी महंती

उड़ीसा की आदिवासी-संस्कृति

'संस्कृति' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। वह खेल-व्यायाम है, या गीत-नृत्य है, या पूजा-अनुष्ठान है, या सामाजिक व्यवहार है, या धर्म है, या साहित्य, स्थापत्य, कला है, या जीवनधारा है—इस प्रकार के किसी एक क्षेत्र में इसे सीमित नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी में 'कल्चर' कहने से भी इसी प्रकार का व्यापक अर्थ होता है। इस संसार में मनुष्य के जन्म से मृत्यु तक, उसके ज्ञान, कर्म, विचार, अनुभूति का जो अस्तित्त्व होता है, वह आंशिक रूप से वैसा ही होता है या रूपान्तरित होकर उसकी मृत्यु के बाद भी जिस मात्रा में उसके वंश और जाति के अन्य व्यक्तियों के पास रह जाता है; वही विभिन्न मनुष्य के जीवन की अभिज्ञता, समुदाय का वही योगदान, कई पुरुषों के बाद एक स्पष्ट रूप लेता है। वही होती है उस मानव-गोत्र की संस्कृति। मनुष्य-जाति का ज्ञान, सभ्यता और रहन-सहन, सारे एकत्रित होकर संस्कृति को गढ़ते हैं। किसी भी प्रकार का ज्ञान या विद्या उससे बाहर नहीं होती। जिस शब्द का अर्थ व्यापक हो, उसके सीमित अर्थ का व्यवहार कई विचित्रता, झगड़े और गलतफहमी की सृष्टि करता है, इसलिए उससे बचने की आवश्यकता है। अनेक जगहों पर हम देखते हैं कि मंच पर कोई बहुत ही उपयोगी तात्त्विक चर्चा समाप्त हुई—फिर चाहे वह साहित्यिक हो या दार्शनिक हो—उसके पश्चात् माइक से घोषणा सुनाई देती है—'अब सांस्कृतिक कार्यक्रम आरंभ होगा।' और फिर कोई नृत्य होता है, या कुछ लोग

गीत गाते हैं और कभी-कभी कोई नाटक भी होता है। उस समय आश्चर्य होता है कि क्या यही संस्कृति है? साहित्य, दर्शन या समाजतत्त्व आदि सब संस्कृति नहीं है?

थोड़े से पृष्ठों में किसी एक संस्कृति का सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत करना असंभव है। फिर भी उसका सामान्य परिचय देने का यहां प्रयत्न किया जाता है। लेकिन किसकी संस्कृति? आदिवासियों की? 'आदिवासी' कौन? इसका उत्तर देने में जो कठिनाई है, उससे छुटकारा पाना आसान नहीं है। महान पण्डितों का जन्म हुआ—मानव-विज्ञानी, समाजतत्त्वविद्, इतिहासकार आदि, जिन्होंने अपने जीवन के कई वर्ष अपरिचित और अल्प-परिचित लोगों के भीतर बिताए हैं। उसके बारे में उन्होंने शोध किया है और ग्रन्थ लिखे हैं। अंग्रेजी में लिखते समय उन्होंने एक शब्द का उपयोग किया है—'ट्राइब'; यह शब्द हमारे 'आदिवासी' शब्द से काफी मिलता-जुलता तो है, साथ ही, उससे कम विपदाजनक भी है, क्योंकि चेतनाशील 'आदिवासी' के मन में 'आदिवासी' शब्द से एक काल्पनिक पारंपरिक अधिकार का स्मृतिजनित आत्माभिमान आ जाता है—'यहां पहले मैं था, यह धरती मेरे पुरखों की है—अब चाहे न हो, पर पहले थी।' इतिहास के प्रत्येक पृष्ठ पर हम देखते हैं, कि धरती के किसी भाग का मालिक बार-बार बदलता है, कौन-सी जमीन किसके पुरखों की है, यह तो कह नहीं सकता। भाषा, रीति-नीति, विश्वास, आचार ये सारे बदलते हैं। आज एक मनुष्य जो भाषा बोलता है, हजार वर्ष पहले उसके पुरखे कहाँ थे और कौन-सी भाषा बोलते थे, बिना सन्देह के कुछ कहा नहीं जा सकता। 'खून' भी बदल जाता है। मनुष्य जाति का यह स्वभाव है कि वह पीढ़ी दर पीढ़ी एक ही स्थान पर जम कर रहता है। इतना ही दृढ़ एक और स्वभाव है कि वह स्थानान्तर करके नई बस्ती बसाता है, अन्य जातियों में विवाह करता है। मानव-विज्ञानी, शरीर के नाना अंगों के नाप, रूप, गुण देखकर परखकर जैसे उन्हें विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते हैं। उनके अनुसार आर्य, सेमिटिक, ओस्ट्रेलिक, नेग्रिटो इत्यादि कई स्थानों पर बड़ी संख्या में मिल सकते हैं। किन्तु बिना किसी संदेह के यह कहना मुश्किल है कि उस प्रकार का कोई नमूना मनुष्य-सृष्टि के आदिकाल से देखने पर भी संपूर्णतया अमिश्रित पाया जाय। किसी भी स्थान के इतिहास की आलोचना करें तो देख पायेंगे कि वहां बहुत लोग आये हैं, और उपस्थित जातियों में मिल गये हैं। टोली-टोली में आया करते थे। वहाँ के लोग भी इसी प्रकार अन्य जगह चले गये हैं। लगता है, यह पृथ्वी सभी की है।

'ट्राइब' तथा गैर ट्राइब का पार्थक्य निश्चित करना तथा पूरे विश्वास से 'ट्राइब'

शब्द की व्याख्या करना संभव नहीं है। विद्वानों द्वारा इस सम्बन्ध में कुछ लाक्षणिक वर्णन ही दिये गये हैं। विभिन्न अभिप्रायों में बहुत असंगति है। अति आदिम-काल में जब मनुष्य सबसे पहले एक-दूसरे से संबंध के बन्धन में जुड़े, तब वह सम्बन्ध जन्मगत सम्बन्ध को लेकर ही आगे बढ़े। जिस समय विवाह की प्रथा नहीं थी, एक स्त्री के कई पति होना संभव था, उस समय कई पिता के होते हुए भी एक माँ की संतानें होने के कारण 'जाति' का प्रारम्भ हुआ। बाद में वैवाहिक संबंध से उत्पन्न संताने भी आदिमाता या आदिपिता—इन दोनों को प्रथम मानकर एक जाति में ली गयीं, ऐसा माना जाता है। वे जिस स्थान पर पीढ़ी दर पीढ़ी रह गये, उस स्थान की जमीन और जंगल पर उनका अधिकार हो गया, वह स्थान भी मुखियाओं, रिश्तेदारों तथा सम्बन्धियों की जाति की स्मृति से अंकित हो गया, उस जाति का अधिकार भुक्त हो गया। जाति का प्रतीक था गोत्र। जाति कहने से मतलब है—पारिवारिक सम्पर्क तथा संगठन, सामाजिक सम्पर्क और संगठन। एक-दूसरे की आवश्यकताओं को पूरी करने के लिए और आत्मरक्षा के लिए तथा सुख-आनन्द प्राप्त करने के लिए किए जाते विविध कार्य, धीरे-धीरे परम्परा बन गये। जाति द्वारा एक जीवन-प्रणाली का स्मरण हुआ। उसके पश्चात् उसका नियंत्रण करने के लिए बिन लिखे कानून, अनेक प्रकार के विश्वास अस्तित्त्व में आये। जहां बाहर की दुनिया से सम्पर्क जितना कम, परिवर्तन की गति जितनी धीमी; परिवर्तन का आदर करने की स्पृहा जितनी कम, वहां जाति और परंपरा का प्राधान्य उतना ही अधिक। कहने का तात्पर्य यह कि 'ट्राइब' या आदिवासी जीवन की मुख्य विशेषताएं हैं—व्यक्ति के ऊपर जाति का प्रभाव, व्यक्ति और जाति का सहज-भाव से एक-दूसरे के साथ जुड़ जाना। यही उनका वैशिष्ट्य है।

सबसे पहले दिखाई देता है—सभी के आचार एक-से हैं। एक ही प्रकार का उनका जीवन हैं, एक साथ मिलकर रहते हैं, एक-सा उनका रहन-सहन है। आदि-वासियों का एक जूथ गाँव लौट रहा हो तो ध्यान से देखने पर पता चलेगा कि एक के पीछे एक चल रहा है। कतार ठीक से बनी रहेगी, मुड़ी हुई हो या सीधी हो, पैरों की गति एक-सी, ताल भी एक। गाँव में किसी विषय में किसी से राय पूछी जाय तो वह दूसरों को पूछे बिना अभिप्राय नहीं देगा। गाँव में किसी के घर विवाह हो रहा है तो लगेगा जैसे पूरे गाँव में सभी के घर विवाह है। केवल इतना ही नहीं, दूर-दूर से उनके रिश्तेदार, बंधु आदि भी आयेंगे, उसी गोत्र के सारे आयेंगे। घर बनाने के लिए अनेक आदिवासी एक खुली जगह पसन्द करते हैं। कंध जाति का गाँव जिस किसी स्थान पर होगा, आप देख पायेंगे कि आमने-सामने दो कतार में घर बने हैं। प्रत्येक

कतार में घर से घर और बीच के खंभे से ये खंभा मिला हुआ है। कई जगह उसके चारों ओर दीवार या मेड़ बनी है और बाहर निकलने के दो रास्ते हैं।

आर्य भी विविध 'ट्राइब' के रूप में भारत आये थे। आदिवासियों की तरह उनके भी गोत्र हैं; सगोत्र-विवाह का उनमें भी निषेध है, किन्तु उनको 'आदिवासी' नहीं कह सकते। भारत अंग्रेजों के शासन से मुक्त हुआ, उससे पहले 'आदिवासी' 'गिरजन' थे। इन सारे शब्दों का कोई विशेष तात्पर्य नहीं था। वन-पर्वत पर, वन-पर्वत के बाहर भी कई जगहों पर इस प्रकार की जातियाँ थीं और हैं, जो अधिकांश हिन्दू, मुसलमान, ईसाई या कोई भी परिचित धर्म की नहीं हैं। उनका समाज, आचार, धर्म-विश्वास अलग-अलग हैं तथा कई स्थानों पर उनमें से कई जूथ हिन्दू-धर्म और संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। कई अपनी स्वतन्त्र भाषा भी भूल गये हैं, वे जिस प्रदेश में हैं, उसी प्रदेश की भाषा बोलते हैं। उनमें से अधिकांश लोगों के समाज में मदपान होता है तथा गाय और भैंस का मांस खाया जाता है। जंगल प्रदेश में जो रहते हैं, उनमें से कई कानून के बारे में बिना कुछ सोचे जंगल को काटकर जलाकर वहां कोई फसल कर लेते हैं। उनमें से अधिकांश लोग लिखना-पढ़ना नहीं जानते। आधुनिक सभ्यता से वे सौ-सौ वर्ष वे दूर पडे हैं। आजकल की दुनिया में कुटिलता, चतुरता, छल, कपट बढ़ते जाते हैं। उनमें फंस जाने पर अपने स्वार्थ को बचाये रखना असंभव होता है। वे अशिक्षा, अंधविश्वास, अभाव और शोषण से जर्जरित हैं। अतः उनके हित के लिए सरकार द्वारा की जाती साधारण व्यवस्था से अधिक और भी विशेष व्यवस्था की आवश्यकता है, ऐसा अनुभव किया गया। विभिन्न प्रकार की उन जातियों की सूची बनाई गई। यही सूची एवं शेड्यूल भारतीय संविधान में लिए गये। एक सूची बनी हरिजन-जातियों की। दूसरी सूची बनी उन्हीं के भीतर की उपजातियों की, शेड्यूल्ड ट्राइब्स, अथवा बोलचाल की भाषा में वे 'आदिवासी' कहलाये, उन्हीं में से कुछ लोग 'गिरिजन' कहलाये।

संविधान में जो शेड्यूल हुआ, वह सभी लोगों के लिए हो, ऐसा उद्देश्य नहीं था। जो पीड़ित दुर्बल श्रेणी के थे, उनके लिए संविधान में जो व्यवस्था है, उसके अनुसार कुछ लोगों को विशेष लक्ष्य, विशेष सुविधा देकर अन्य लोगों के स्तर तक उठा देने तक, उस प्रकार की सूची बनाकर निश्चित समय-मर्यादा निर्धारित करने का ही उद्देश्य था। समय-मर्यादा बढ़ा दी गई है। भारत में सभी समान हैं। भारतीय नागरिकों में एक कृत्रिम मेड़ बनाकर 'आदिवासी' 'गैर आदिवासी' कहकर उन्हें अलग-अलग श्रेणी

में रख दिया जाय तथा दोनों श्रेणियों में आक्रोश भरे वैमनस्य को उत्पन्न करने का भी किसी का उद्देश्य नहीं था। वास्तव में सभी की पृष्ठभूमि—मातृभूमि एक भारतवर्ष है। सभी के पूर्वक आदिवासी थे। नृतत्त्वज्ञों के अनुसार यहां आर्यों के आने से पहले 'मेलानिड' आये थे, जिसके अंतर्गत शबर, कोल, संथाल आदि थे। उससे पहले आये थे 'गंडिड', जिसमें कंध, गंड, परजा, भूयां, आदि थे। किन्तु उससे पहले भी दूसरे लोग आये थे, और उससे पहले, फिर उससे भी पहले इस प्रकार पीछे और भी पीछे। आज हम जो कोई बचे हैं—हमारे लिए दो हजार वर्ष पहले का जो अतीत है, बीस हजार वर्ष पहले का अतीत भी वही है। दोनों अंधकार-पूर्ण हैं।

संविधान की रचना के साथ खास तौर से, आदिवासियों के हित को लक्ष्य में रखने के लिए, विभिन्न प्रादेशिक सरकारों के विशिष्ट विभाग खोले गये। उनका तात्पर्य भी यह नहीं था कि केवल वही एक विभाग आदिवासियों के हित के प्रति ध्यान दे। उद्देश्य यह था कि देश के अन्य दस वर्गों के लिए दूसरे विभाग जिस प्रकार काम करते हैं, उसी प्रकार आदिवासियों के लिए भी करते रहें और उनके दरिद्र, शोषित, अशिक्षित होने के कारण उनके प्रति और अधिक ध्यान दें और इसके अलावा विशेष विभाग और ज्यादा कार्य करें। आदिवासियों के स्वार्थ के संरक्षण की समय-मर्यादा बढ़ाने से साबित हो चुका है कि आशानुरूप कार्य हो नहीं पाया है।

जातियां और भाषाएं :

उड़ीसा प्रदेश की सूची में बासठ जातियों के नाम हैं। १९६१ में की गई जनगणना में उनकी संख्या ४२,२३, ७५७ थी। १९७१ की जनगणना में ये ५०,७१,९३७ हैं अर्थात् संपूर्ण जनसंख्या के लगभग २३.११ प्रतिशत हैं। उड़ीसा के एक सौ लोगों में से प्रायः चौबीस लोग उपजाति के हैं, अर्थात् वे 'आदिवासी' कहलाते हैं। सूची की बासठ जातयों में से चौंतीस उपजातियों की अपनी अलग भाषाएं नहीं हैं, वे उड़िया भाषा बोलते हैं या उड़िया भाषा के अंतर्गत कोई भी 'बोली' बोलते हैं।

बाकी की जो २८ उपजातियां हैं, उनमें भी अधिकांश लोग अपनी भाषा नहीं जानते, उड़िया ही बोलते है या उड़िया भाषा के अंतर्गत कोई अन्य बोली बोलते हैं। इस प्रकार उनकी अपनी २८ भाषाएं हैं। अन्य लोग भी वही भाषा बोलते हैं। उदाहरण के रूप—कंध-संबलपुर जिले के (२८,६२६), बालासोर जिले के (५९,५९६), सुंदरगढ़ जिले के (३,३२९), केउंझर जिले के (४,०४८), मयूरभंज जिले के (१६३), पुरी जिले के (३१,८४५), कटक जिले के (५,३२७)—ये सारे कंध होते हुए भी

कंध भाषा नहीं जानते, उड़िया बोलते हैं। कंध लोगों में कोंडा-दोरा नाम की उपजाति है (१६,५२६) जो कंध मिश्रित तेलुगु या उड़िया बोलती है। उसी तरह सश्रोरा लोगों में भी, १६६१ की जनगणना के अनुसार सहरा, सउरा, सश्रोरा और शवर लोगों की संख्या ५,०५,२२७ थी, किन्तु सश्रोरा भाषा जानने वाले, बोलने वाले लोग केवल १,८४,६६६ हैं। उड़िया में जो २८ आदिवासी भाषाएं बोली जाती हैं वे भाषा और उपभाषा, सभी को मिलाकर हैं। ६२ आदिवासी जातियों में उड़िया के अलावा ६ भाषाओं का व्यवहार होता है।

कंध : इसमें तीन उपभाषाएं हैं, कुभि, कुई और कोया।

कोया (५५,२८४) कोरापुट जिले में मालकानगिरि में रहते हैं। उनकी बोली 'गंडि' कहलाती है, खास करके उसके साथ के मध्यप्रदेश के वस्तर प्रदेश में। किन्तु उड़ीसा में 'गंड' एक अलग जाति है। वे अन्यों की तुलना में शिक्षित हैं, कुछ तो वहुत शिक्षित हैं। कोरापुट जिलों के सभी कंध (२,७१,६६८) और जापत दोरा (१०,५८३) 'कुभि' बोलते हैं, इनमें चन्द्रपुर विकास खंड के कोटिया (**१२**,०००) अपवाद हैं। कालाहांडि के फेगकंध (४०,०००) कंध भाषा की फेंग बोली बोलते हैं। दूसरे (१,०६,०३४) कुभि बोलते हैं। फुलवाणी के बालीगुडा सबडिविजन के भी १०,००० लोग कुभि बोलते हैं। गंजाममाल के कंधों की बोली कंध भाषा की 'कुई' बोली (५३,३१७) है। फुलवाणी जिले के प्रायः १,४४,००६ कंधों की भाषा 'कुई' है। उसके अलावा उस जिले के बाद के प्रायः ३०,००० कंध, सभी उड़िया बोलते हैं, मगर वेलघर में वे एक प्रकार की कोटिया बोली बोलते हैं।

सश्रोरा : इसमें दो उपभाषाएं हैं, शुद्ध सश्रोरा (१,३५,०००) और लांजिया सश्रोरा या पहाड़ी सश्रोरा (६०,०००)। शुद्ध सश्रोरा कोरापुट के गुणपुर सबडिविजन की वंशधरा नदी के डेल्टा और गंजाम के पारलाखेमुंडी माला के अनेक स्थानों में हैं। लांजिया सश्रोरा गुणपुर के पुट्टासिंग पर्वतों में और पारला के गुमामाल में हैं।

मुंडारी : उड़ीसा की आदिवासी भाषाओं में सबसे विपुल भाषा मुंडारी है (४,६४,०१०)। इसके अलावा इसमें और भी दो उपभाषाएं हैं। **सांताली** (४,११,१८१) और **श्रोरांव** (१,२६,०६१); **किसान, मुंडारी** भाषा के अंतर्गत विभिन्न भाषाभाषी लोगों ने आपस में भावों के आदान-प्रदान के लिए एक साधारण भाषा उत्पन्न की है, उसका नाम है सादि। मुंडारी भाषी लोग उड़ीसा के उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम प्रदेश में पाये जाते हैं। उनका घर केउंझर, सुंदरगढ़ तथा मयूरभंज है। ये प्रदेश बिहार और बंगाल के मुंडारीभाषी प्रदेश के साथ हैं। भौगोलिक

परिस्थिति के अनुसार ये जुड़े हुए प्रदेश हैं। गंजाम, फुलबाणी, कोरापुट, कालाहांडी के अति अनुन्नत आदिवासी के साथ इनका मूल्यांकन संभव नहीं। उड़िया दृष्टि से इनकी भाषा, रीति-नीति, धर्म-विश्वास इत्यादि अवश्य भिन्न हैं, किन्तु उन्हें हम निम्न स्तर का नहीं कह सकते। अनेक लोग गैर-आदिवासी किसान, मजदूरों की तरह करीब हैं, पर बहुत बुद्धिमान, संगठित अपने स्वार्थ और उन्नति के बारे में सजग हैं।

गदबा : (५३,६१७)। इनकी उपभाषाएं 'पारेंगा' और 'बंडा परजा' भाषाएं हैं। 'दिदाई' लोग गदबा भाषा बोलते हैं। ये सारे कोरापुट जिले में रहते हैं। इनके अलावा वहां 'ओलारु गदबा' (४,०००) हैं, किन्तु उनकी भाषा कंध भाषा की उपभाषा है। बंडा एक प्रकार के पहाड़ी गदबा हैं।

जुआंग : दक्षिण-उड़ीसा को छोड़कर अन्यत्र उड़ीसा में अति अनुन्नत आदिवासी जो केउंझर पहाड़ पर, सुंदरगढ़ के बणेइ स्थान पर, तथा केउंझर के भूयांपीढ़ में रहते हैं, उड़िया भाषी पहाड़ी अधिवासी कहलाते हैं और यह भाषा बोलते हैं।

प्राचीन परम्परा का परिवर्तन :

इन भाषाओं की लिपियां नहीं हैं। इनमें गीत रचे जाते हैं मगर दिमाग में। वे स्मृति के साथ लुप्त हो जाते हैं। एक व्यक्ति दूसरे को सुनाता है और इस प्रकार कई बच भी गये हैं। लोग आज भी इन्हें गाते हैं। विशेषतः जो गीत पूजाविधि और विविध अनुष्ठानों से संबंधित हैं, उन्हें आदिवासी पुरोहित आज भी बोलते हैं। फुलबाणी जिले के बालीगुड़ा सबडिविजन के गुमा-बेलधर की ओर आज भी कंध पुरोहित-परम्परा से चला आता हुआ प्राचीन पुराण गाते हैं। पृथ्वी की रचना कैसे हुई, मनुष्य, प्राणी, पेड़-पौधों का कैसे जन्म हुआ, कंध-सभ्यता का कैसे आरम्भ हुआ, वह कैसे फैली, देवताओं का कैसे आविर्भाव हुआ, ये सारी बातें उस पुराण में हैं। संपूर्ण न होते हुए भी कोरापुट जिले के नियमगिरि पर्वत पर एक अध्याय के रूप में कंध-पुराण सुनने को मिलता है। कंध बहुत रक्षणशील हैं। अतीत की स्मृति को कंध पवित्र मानते हैं। पूर्वज, उसका भी पूर्वज........इस प्रकार चालीस पुरखों के नाम बताने वाले एक कंध को भी मैंने देखा है।

किन्तु स्मृति का स्थायित्व भी वातावरण का प्रभाव सहने की क्षमता के ऊपर निर्भर करता है। जो आदिवासी गैर-आदिवासी संस्कृति का प्रभाव सह नहीं सकते, वे गैर आदिवासी संस्कृति में शामिल हो जाते हैं; अतः अपने अतीत को भूल जाते हैं। जिन हजारों आदिवासियों ने उड़िया भाषा को अपनी मातृभाषा माना है, हिन्दू धर्म

को अपना धर्म बनाया है, उनके पास अब उनके पूर्वपुरुषों के समय की आदिवासी संस्कृति नहीं, उसका नामोनिशान नहीं। उसकी संस्कृति रूपांतरित होकर संपूर्णतया नये प्रकार की हो गई है। संबलपुरी संस्कृति की विशेषता के भीतर प्राचीन कंध संस्कृति की रूपांतरित तसवीर अनेक स्थानों पर देखी जाती है। रास्ते पर चलना, बाल बनाना, विविध प्रकार के आचार-व्यवहार, रास्ते पर चलते-चलते एक-दूसरे को देखकर 'गीत फेंकना', गीत का स्वर, नृत्य का छंद और ताल, ढोलक और अन्य वाद्य, इन सब में कंधों का बहुत बड़ा योगदान है। मयूरभंज के छाऊ-नाच के समय मुंडारी मादल की ताल सुनाई देती है। पास-पास होने से एक संस्कृति पर दूसरी संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। लेकिन आदिवासी जब अन्य धर्म ग्रहण करता है, अपने पूर्वजों के धर्मविश्वास को अंधविश्वास मानता है, तब उसके लिए पुरानी संस्कृति को याद रखना संभव नहीं। इस प्रकार का द्रुत और संपूर्ण परिवर्तन ईसाई धर्मावलम्बी आदिवासियों में अधिक दिखाई देता है। केवल धर्मविश्वास नहीं, मूल्यों में भी जब परिवर्तन आता है, तब इसी प्रकार का द्रुत परिवर्तन होता है। इस प्रकार का परिवर्तन आधुनिक शिक्षा, आधुनिक सभ्यता, खास करके औद्योगीकरण द्वारा आता है। जो आदिवासी विद्यार्थी शहर में रहता है, स्कूल-कॉलेज में पढ़ता है, बाहर की दुनिया के मनुष्यों में से एक बनने की इच्छा रखता है, वह अपने गांव के समवयस्कों की तरह अपना गोत्र, अपनी जाति के पर्व-त्योहार, पूजा-अनुष्ठान सब भूल जाता है, और उनको याद रखने की उसे इच्छा भी नहीं होती—यह आश्चर्य की बात नहीं है। शहर में कभी रंगमंच पर उन्हें गीत गाना पड़ा तो वे उड़िया या हिन्दी सिनेमा का गीत गाते हैं, नृत्य करके दिखाना हो तो 'ओड़िसी' करने का प्रयत्न करते हैं, उसका परिणाम चाहे जो हो। बाहर की संस्कृति के प्रभाव से फुलबाणी के कंध अपनी पारंपरिक बांसुरी छोड़कर खंजरी बजाने लगे हैं, भाषा कंध होते हुए भी खंजरी पीटकर उड़िया नाच के गीत गाते हैं; प्राचीन कंध-रागिनी अब उसे याद नहीं। जहां-जहां लाल सड़क बनती जाती है, वहां-वहां बाहर की दुनिया के साथ उसका संबंध बढ़ता जाता है—प्राचीन संस्कृति उतनी ही भुला दी जाती है।

अपेक्षाकृत प्राचीन या प्राचीनतर आदिवासी संस्कृति का नमूना देखने की इच्छा हो तो पर्वतों में जाना पड़ेगा, जंगल के भीतर जाना होगा। वहां भी रास्ता न हो तो उसे छोड़कर कम से कम दो पर्वत चढ़ने के बाद जंगल के भीतर जा सकते हैं। औद्योगिक शहरों से तो यह बहुत ही दूर है। वहां तो प्रत्येक वर्ष काफी परिवर्तन होता है, वेशभूषा में, चालचलन में, सभी में।

संस्कृति की दृष्टि से उड़ीसा के आदिवासियों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं :

१. कंध और कंध संपर्कीय जाति, संक्षेप में कांधेड़।

३. मुंडारी-जाति से संपर्कीय जाति. संक्षेप में मेलानिड।

इस प्रकार के कंध, परजा, भेतड़ा, अभनात्य, गंड, कोया और उत्तर के प्रदेश में ओरांव, जुआंग, भूयाँ, ये सारे कांधेड़ के पर्याय हैं।

उड़ीसा के आदिवासियों में जिनकी अवस्था बहुत ही अनुन्नत है, उनको ए, बी, सी—इन तीन श्रेणियों में विभाजित किया जाता है, सबसे अधिक अनुन्नत 'ए' श्रेणी है। अधिकांश आदिवासी इसी श्रेणी में हैं और वे कांधेड़ के नामान्तर हैं तथा इस प्रकार हैं:—

१. कोरापुट के नियमगिरि पर्वत के बंग्रिया कंध; २. कोरापुट गुणुपुर सबडिविजन के चंद्रपुरमाल, फुलबाणी के बालीगुड़ा सबडिविजन के सुवर्णगिरि माल और बेलघरमाल के कोटिया कंध; ३. कोरापुट के काशीपुर खंड-विकास और कालाहांडी के थुआमुल, रामपुर ब्लॉक के पेंग कंध; ४. केउंझर के जुआंग; तथा ५. केउंझर बेणेइ माल के पाबड़िभूयाँ।

इन लोगों की अवस्था से उन्नीस-बीस के फर्क वाले 'बी' श्रेणी के आदिवासी हैं। उसमें कोरापुट, फुलबाणी, कालाहांडी के सारे कंध, कोरापुट, कालाहांडी के सारे परजा, मालकान, गिरि के कोया हैं।

अन्य आदिवासी मेलानिड हैं। इसमें 'ए' श्रेणी के अति अनुन्नत आदिवासी हैं।

१. कोरापुट के डुडुमा पास के पर्वत पर के बंडा परजा ; २. उत्तर क्षेत्र के मुंडारी-भाषी बुला जाति के बीरहोर; ३, गुणुपुर और पारला खेमुंडिमाल के लांजिया, सओरा और कुछ उसी प्रकार की अवस्था के, कोरापुट के सारे गदका, और गंजाम कोरापुट के सारे सओरा। इसी श्रेणी के काफी लोग उड़ीसा के उत्तर जिलों के कोल्ह, सांयाल और किसान आदि हैं।

पूजा-उपासना और मान्यता :

कांधेड़ सम्प्रदाय का आदिवासी बिलकुल हिन्दू जैसी मान्यता रखता है, जैसे कि आत्मा अमर है, पुनर्जन्म होता है। बच्चे का जन्म होते ही कालिसी (डायन) या पुरोहित बता देते हैं कि यह कौन-से मृत पूर्वपुरुष की आत्मा का नया जन्म हुआ है। मेलानिड संप्रदाय के आदिवासी की मान्यता है कि यही नया जन्म है और यहीं पर

उसका अंत होगा, मृत्यु के बाद मनुष्य का भूत होगा। मान्यता के अनुसार जीवन के प्रति दृष्टिकोण भिन्न होते हैं। कांधेड़ लोग मुर्दों को अधिकतर जला देते हैं, मेलानिड उन्हें जमीन में गाड़ देते हैं। इष्टदेवता, पूजा-पर्व आदि दोनों श्रेणी के अलग-अलग हैं। कांधेड़ श्रेणी की एक स्वतन्त्र विशेषता है—धरित्रीपूजा; बिलकुल प्राचीन धरित्रीपूजा या उसका रूपांतर है। यदि कहीं देखा जाय तो यह इसी श्रेणी का चिह्न है। उदाहरण-स्वरूप उत्तर के जुग्राँग। माघ मास की उनकी 'माघ् पोठ' पूजा दक्षिण के अरण्यमाल की पूर्वकालीन मेरिया बलि पूजा मंत्र के 'नांगे पुपु लेंजु वाले माघ लेंजु वाते' की याद दिलाती है। आषाढ़ मास में जिंदे सूअर का मुंह काट कर जमीन पर खून डालकर 'गाईसारी' देवता की पूजा की जाती है और जुग्राँग के 'आषाढ़ी, कंध के भाकर देवता को सूअर की बलि का स्मरण कराते हैं। जुग्राँग मेलानिड प्रधान प्रदेश में रहते हैं, किन्तु उसकी संप्रदायगत स्वतंत्र संस्कृतिधारा चाहे कितनी भी बदले, वह स्वतंत्र ही रही है। कांधेड़ की एक विशेषता मेलानिड में पाई जाती है—वह है उसके गाँव के दो अनुष्ठान। धांडा के रहने का घर और धांडी के रहने का घर। ये घर दो स्थानों पर इस छोर से उस छोर तक अलग-अलग होते हैं। धांडी के घर में अविवाहित लडकियाँ और धांडा के घर में अविवाहित लड़के रात को एक साथ सोते हैं। पर ये घर केवल सोने के लिये नहीं है, प्रत्येक घर क्लब भी है। वहां सारे बड़े लोग छोटों को सभी प्रकार के सामाजिक चालचलन सिखाते हैं। बुनाई, गीत, नृत्य, रीति-रिवाज, नियम, सामाजिक-कर्त्तव्य आदि सब कुछ वहां मित्र-भाव से सिखाया जाता है। वही उनका विद्यालय है। धांडा और धांडी घर को केन्द्र बनाकर युवक-युवतियां संगीतमय रोमांस रचाते हैं। इस रोमांस के लिये युवक-युवतियों के गोत्रों का भिन्न होना जरूरी है। एक गोत्र के सभी लोग भाई-बहन के तरह होते हैं। युवक वाद्य बजायेगा। वह एकतारा, डुगडुगी, डफ, बांसुरी, या खँजरी—इनमें से कुछ भी होता है। जिस समाज में जो है, वह बजता है। धांडी के घर के किसी एक को ध्यान में रखकर गीत गाया जाता है। युवती गीत में उसका जवाब देती है। रात भर इस तरह का परस्पर संवाद चलता रहता है। इसके दरमियान यदि युवती उस युवक के प्रति आकर्षित हो जाय तो उनका विवाह हो सकता है। धांडावसा और धांडीवसा घर अनुष्ठानिक हैं, ऐसा मालूम होता है। काधेड़ सम्प्रदाय का जीवन कुछ अधिक कवितामय लगता है। वह कविता भी बहुत आवेगपूर्ण और अर्थगौरव मडित होती है। उसी तरह कांधेड़ संप्रदाय की अनेक जातियों के गांव में एक कोठाघर (समाजसदन) होता है। उत्तर के प्रदेश में यह अनुष्ठान और भी स्पष्ट है। बाहर

से जब कोई आता है तो गांव के लोग पहले उन्हें मुंडोघर ले जाते हैं। वहीं पर सारे जन एकत्रित होते हैं। कंधड़ों का गोत्र प्राधान्य मेलानिडों से कुछ अधिक है। गोत्रों के असंख्य नाम हैं, किसी का जंतु, किसी का चढ़ई (चिड़िया), किसी का गछ (पेड़), किसी का शस्य इसी प्रकार नामों पर उनके गोत्रों के नाम होते हैं। मनुष्यों के नाम भी उसी तरह होते हैं। संभव है कि उनकी मान्यता ऐसी हो कि उस प्रकार के नाम का कोई मनुष्य किसी एक वंश का आदिपिता था। और यह भी संभव है कि मनुष्य हमेशा अलौकिकता के प्रति आग्रही होने के कारण यह मानता था कि वही पेड़, जंतु या शस्य उनके आदि जन्मदाता थे। देवता के विषय में कांधेड़ श्रेणी के आदिवासियों की मान्यता यह है कि प्रधान देवता दो हैं। एक सर्वव्याप्त भगवान—ऊपर आकाश में रहता है— 'धमु'। और दूसरा नीचे धरित्री। वह केवल मिट्टी-पत्थर नहीं हैं, देवी भी हैं। उनकी देवी की मान्यता हिन्दुओं की मातृशक्ति की मान्यता के बरावर है। भगवान सर्वव्याप्त है, यह मान्यता मेलानिड श्रेणी के आदिवासियों की भी है। उत्तर में उसका प्रतीक सूर्य है, मुंडारी भाषा में वह 'सिंग्' है, दक्षिण में सओरा-समाज में वह सर्वशक्तिमान 'जनांलो' है। जो भी हो, वह हिन्दुओं का 'जगन्नाथ' है। कुछ सओरा लकड़ी के टुकड़े को छील कर एक मुंह बनाते हैं, उसके हाथ नहीं होते, केवल शरीर होता है। उसे 'जनांलो' कहते हैं। उसके सिर पर पगड़ी बांधते हैं, ऊपर पत्तों का एक छाता रखते हैं। कांधेड़ों में जो एक गंड जाति है, वह उड़ीसा के कई जिलों में रहती है। उनके भी प्रधान देवता दो हैं— जंघा और लिंगा। उनकी उत्पत्ति और स्वरूप गंभीर अध्ययन के विषय हैं। आदिवासियों ने, खास करके कांधेड़ श्रेणी के आदिवासियों ने, हिन्दु-धर्म का बहुत प्रभाव ग्रहण किया है। सब जानते हैं कि कंधों के समाज में पहले नरबलि देने की प्रथा थी। उसके मंत्र से मालूम होता है कि बलि 'दुर्गा' के लिए दी जाती थी 'तिम्मिम्जाने दुर्गा' (दुर्गा खायेंगी)। उस समय कुछ स्थानों में 'माणेकेश्वरी' बलि को नैवेद्य के रूप में दिया जाता था। यजुर्वेद की 'तैत्तरीयसहिता' में, 'पुरुषमेध-यज्ञ' प्रकरण में, 'शतपथ ब्राह्मण' में, आपस्तंभ' में, 'शांखायन' में, 'वौधायन-सूत्र' में, 'कात्यायन' में, इस प्रकार के कई स्थानों पर उल्लेख मिलते हैं कि हिन्दू पहले नरबलि दिया करते थे, हिन्दुओं ने इसे छोड़ दिया, पर कंधों ने यह प्रथा १८५५ तक जारी रखी थी। शायद चोरी-छिपे दस-बीस वर्ष और भी जारी रखी होगी। रामायण की सीतादेवी कंधों की 'चितागुडि ठकुराणी' है, लेकिन उनकी मान्यता और पूजाविधि भिन्न है। वहाँ वे शस्य-दात्री देवी हैं। ब्राह्मण-पूजक या साधु-कंध देवता-सूची में बामण देवता हैं। सओरा देवता-सूची में भी 'बामडियाँ' हैं।

किन्तु दोनों की पूजाविधि भिन्न है। कंधों में उनको शुद्ध निराभिष पूजा दी जाती है, सम्रोरा मुर्गा देते हैं। कांधेड़ और मेलानिड दोनों में चेचक-रोग का एक देवता है। यह मान्यता भी उन्हें हिन्दुओं से मिली हो, यह असंभव नहीं। सम्रोरों की वह 'योयो बई' है, उत्तर में शिमिलिपाल के कोल्हों की वह 'योग्नि' है। मिठाई मिलने पर वह खुश होती हैं। कंधों की वह 'माँ ठकुराणी' हैं, हिन्दुओं की 'ठकुराणी'। सभी की इच्छा यही होती है कि उनका घर निरापद हो, गाँव निरापद हो। इसलिए सभी के ग्रामदेवता और गृहदेवता होते हैं। उनके नाम अलग होते हैं। सभी मानते हैं कि विभिन्न स्थानों के अधिष्ठाता देवता होते हैं। इसीलिए पर्वतों, स्थानों, पेड़ों, पत्थरों, मिट्टी या पानी की पूजा की जाती है। उस पूजा का उद्देश्य वहाँ की कल्पित दैवीशक्ति की पूजा करना होता है। जिनसे मृत्यु का डर है, ऐसे प्राणी, मनुष्य या कल्पित विभिषिका की भी पूजा की जाती है, उनमें से एक है—बाघ। बाहर के शोषक बाबूलोगों के प्रतीक स्वरूप एक बाबू देवता की भी सम्रोरा पूजा करते हैं। कई बार गहरी कृतज्ञता या श्रद्धा के कारण भी उसकी पूजा की जाती है। उदाहरण स्वरूप आचार्य विनोबा ने कंध प्रदेश की पदयात्रा की थी, उसके बाद उनकी तस्वीर की भी कुछ कंध पूजा करते हैं। सामान्य पूजाविधि के अनुसार तस्वीर के सामने मुर्गे के खून का नैवेद्य देकर कोटिया कंध बोलते हैं 'विनबाबा, खा, खा'।

आदिवासियों में देवतासृष्टि का मार्ग भी अन्य समाजों की तरह है। लाभ हो, कोई विपदा न आये, इसी उद्देश्य से अपने जीवन की अभिज्ञता के साथ कल्पना को टटोलकर वे अलौकिक शक्ति के प्रतीक को ढूंढ निकालते हैं। प्रतीक गढ़ने के बाद उसके प्रति उनकी दृष्टि वैसी ही होती है, जैसी किसी मनुष्य के प्रति होती है। वह देवता, वह मनुष्य भी, वह भी खायेगा, प्रशंसा करें तो खुश होगा, बात न मानें तो नाराज होगा। जब भी कोई फसल हो तब उसे पहले न देकर खा लेने से वह नाराज होगा। इसलिए हरेक फसल के नये अन्न की पूजा होती है, उसका उत्सव होता है। किसी भी कार्य का आरम्भ करने से पहले उसे खबर करके उसकी सहायता लेनी होती है, इसलिए जंगल को जलाने से पहले भी पूजा, जमीन खोदने से पहले भी, शिकार शुरू करने से पहले भी पूजा अनिवार्य है। अतः पूरे वर्ष के उत्सव-पर्व विभिन्न जाति की अलग-अलग वृत्ति के अनुसार कार्य से संलग्न हैं। सबसे बड़ा उत्सव फसल काटने के समय होता है। फसल बोने के बाद माघ में और उसके बाद भी। जंगल सूख जाते हैं। शिकार किया जा सकता है। उस समय अर्थात् फाल्गुन में भी उत्सव होता है। बहुत दूर-दूर रहने वाले दो भिन्न जाति-सम्प्रदाय के पर्वों की तुलना करने से यह बात और

भी स्पष्ट हो जायेगी। उत्तर के मुंडारियों का बड़ा पर्व है 'माघे परब'। यह ५ दिन चलता है, तब सभी नये कपड़े पहनते हैं। उसी के पीछे है 'मकर परब्', फाल्गुन में 'फगुण परब्' या 'बा परब्' और उसके बाद ही 'अखंड शिकार'। उस समय गांव के सभी लोग जंगलों में घूम-घूम के शिकार करते हैं। दक्षिण में झोडिया परजा और कंधों का पौष मास में 'पौषपर्व', 'नुआखिया पर्व'। चैत्र मास में नृत्य-गीत-शिकारमय विख्यात 'चैत्रपर्व' आते हैं। उत्तर के पहाड़ी पावड़ि भूयां का बड़ा पर्व 'अखाणि पर्व' नौ दिन तक चलता है। वह चैत्र मास में भी आता है। आश्विन में हिन्दुओं की आडबर-पूर्ण देवीपूजा ने कई आदिवासी जातियों को प्रभावित किया है। वे भी अपने-अपने ढंग से दशहरा-पूजा करते हैं। अनेक स्थानों में बड़े-बड़े स्थानीय हिन्दू पर्वों में भी वे योगदान देते हैं। कुछ स्थानों पर दशहरा, रथयात्रा, शिवरात्रि पर्व में सम्मिलित होने के लिए दूर-दूर से आदिवासी आते हैं। पूजा-उत्सव में वर्णवैचित्र्य का आडंबर देखकर आदिवासी का आकृष्ट हो जाना स्वाभाविक ही है।

सारी पूजाएं आदिवासी स्वयं करते हैं। उनमें ब्राह्मण पुजारी की आवश्यकता नहीं होती। पूजा करने के लिए जाति के एक या दो व्यक्ति अलग होते हैं। कंधों के समाज में एक 'जानि' होता है। वह केवल पुजारी होता है। दूसरा 'दिशारि' होता है, जो पुजारी और भविष्यवक्ता दोनों होता है। उत्तर प्रदेश में पुजारी 'देहुरी' कहलाता है। पूजा करने का दायित्व ढोने के लिए एक व्यक्ति को चुनना मनुष्य के समाज-गठन क्षेत्र का एक साधारण नियम है। जाति की भौतिक आवश्यकता को परिपूर्ण करने के लिए जिस प्रकार समाजसंगठन के लिए किसी एक को मुखिया बनाना आवश्यक हो गया, उसी प्रकार आधिभौतिक आवश्यकताओं के लिए भी एक व्यक्ति का प्रयोजन आवश्यक हुआ।

फिर भी एक और प्रकार के मनुष्य की आवश्यकता हुई, जिसमें कोई देवता या किसी मृत मनुष्य की प्रेतात्मा प्रवेश कर सके; और प्रवेश करके उसके मुख से अपनी इच्छा, आदेश, मनोभाव प्रकट कर सके। मनुष्य ने जब इसके बारे में सोचा तो वह भी सम्भव हो गया। उसने ढूंढा, कहां है इस तरह की अस्वाभाविक शक्ति? कुछ लोग इसके लिए आगे आये, खास करके कोई महिला या पुरुषत्वहीन पुरुष, दक्षिण की भाषा में इसे 'बेजुणी' या 'बेजु' कहते हैं। जब किसी प्रेतात्मा या भूत का भ्रम हुआ तो उसकी भाषा में उसे 'कालसी' ने पकड़ा। 'आँखें, मुँह पागल की तरह किये, आँखें नचाई, सिर हिलाये, चिल्लाये, कूदे, नाचे और घोषणा की कि 'मैं अमुक देवता' या 'मैं अमुक व्यक्ति की प्रेतात्मा' हूं। उस समय उसकी पूजा की गई, उसका आदेश शिरोमान्य हो गया।

एक गांव का मुखिया है। उसका भाई मान लो उस गांव का जानि' है, पुरोहित है। उसकी पत्नी और पुत्रवधू 'बेजुणी'। बेजु, बेजुणी और पुरोहित नैवेद्यपत्र भी देते हैं। मान्यता, पूजाविधि और बेजुणी के आने पर दिये जाने वाले आदेश, ये तीनों कारण मिलकर आदिवासियों का बहुत अनर्थ करते हैं। मान्यता के अनुसार रोग का कारण देवता का क्रोध है। मेलानिडों की धारणा के अनुसार जब कोई प्रेत शरीर में प्रवेश कर जाय तो उससे रोग होता है या किसी गुणी के किसी चमत्कार से रोग होता है। यह मान्यता अटल है। यदि किसी रोग के कारण किसी की गाय मर जाय या किसी के बच्चे को जुकाम-बुखार हो जाय तो उसका कारण जानने के लिए आदिवासी सर्वप्रथम पुजारी या कालिसी के पास जायेगा, साधारण तौर पर कालिसी के पास। बेजु या बेजुणी को कालिसी लगेगी। वह उस समय बदल जायेगी, मानों देवता हो गई। उसे किस वस्तु की आवश्यकता है, वह बता देगी। माल के सओरा लोगों के पूर्व-पुरुषों के प्रेत प्रायः कालिसी द्वारा कहलवाते हैं कि उन्हें एक भैंस खाने की इच्छा हुई है। अन्यान्य आदिवासियों के प्रेत या देवता कभी-कभी भैंस तो कभी गाय, कभी बकरी तो कभी सुअर, साधारणतः मुर्गा या कबूतर मांगते हैं। बेजुणी जिसकी आवश्यकता बताती है, प्रेत या देवता की इच्छा वही मानी जाती है। तुरन्त ही तब गरीब आदिवासी ऋण के गड्ढे में गिरता है। महाजन या गांव में महाजन के दूत गांव के शोषक उसी की ताक में रहते हैं। ऋण होते ही उसका परिशोध होता है—दोगुना, चारगुना, छःगुना : चाहे कितना भी दिया जाय शोषक उसे धोखा देता है, अतः लम्बे अरसे तक वह ऋण से मुक्त नहीं हो सकता।

ऋण का एक और कारण है मद्यपान के प्रति अंध-आसक्ति। पत्नी रोती रहे, मना करती रहे, उसे समझाने-मनाने के लिए दूसरों को प्रवर्तित करे, पर आदिवासी पैसे डालकर, ऋण करके मद पीता रहेगा। मद पी-पी कर जमीन मकान आदि सम्पत्ति भी उसके हाथ से निकल जाती है।

शराब आदिवासी का सबसे बड़ा शत्रु है। उसे जितनी भी सद्बुद्धि दी जाय, उस शोषक द्वारा, जो शराब को अक्त्र बनाता है, उस सब पर पानी फेर दिया जाता है।

यह बात सर्वविदित होते हुए भी आदिवासी के प्रत्येक गांव में शराब की दुकान है, शराब की कई भट्टियां हैं या घर के दरवाजे के पास 'कुचामद' बनता है।

आदिवासियों की अनेक मान्यताओं में और एक मान्यता है। कुछ लोग—पुरुष या स्त्री—जो 'गुणी या तांत्रिक, जाने जाते हैं, दूसरों का अनिष्ट कर सकते हैं। डायन या गुणी या तान्त्रिक की मान्यता केवल उन्हीं की नहीं है, गैर-आदिवासी भी

इसे मानते हैं। सम्भवतः उन्हीं से आदिवासियों ने इसे ग्रहण किया है। लेकिन इसमें भी बढ़कर वे मानते हैं कि ऐसे भी कुछ लोग होते हैं, जो अपनी इच्छा के अनुसार सामयिक रूप से बाघ या सांप बनकर मनुष्य या गाय को खा सकते हैं, हाथी बनकर किसी की फसल उजाड़ सकते हैं। कुछ लोग 'गुणी' के (तन्त्र के) बल से दूसरों को रोग दे सकते हैं, मनुष्य को मार सकते हैं। कोल्ह, सांताल में इस प्रकार की मान्यता बहुत अधिक है। कई बार वे केवल इस संदेह के कारण मनुष्य को मार डालते हैं कि वह आदमी उनका नुकसान कर रहा था। सांताल और कोल्हों में से कुछ लोग कभी-कभी गुणी विद्या सिखाते हैं। सोचते हैं कि वह उनकी अपनी शक्ति है और विविध आचार अनुष्ठान द्वारा उसे दूसरों को सिखाया जा सकता है। इस प्रकार का शिक्षा-दान बहुत ही गुप्त रखा जाता है।

सामाजिक संगठन :

चाहे कोई भी आदिवासी जाति हो, सभी के समाज में एक स्पष्ट शृङ्खलित रूप दिखाई देता है। समाज का आरंभ हुआ था जाति-परिवारों के परस्पर जुड़ने के समय से। जंगल, विपदा और प्रतिकूल अवस्था के कारण सभी के हित की दृष्टि से सहयोग और समभाव अपने आप जागे थे। एक साथ जंगल को साफ करके जमीन बाँट लेना, एक साथ फसल पैदा करके उसको विभाजित कर लेना, हरेक की जमीन पर गांव के सारे लोगों का खेती संबंधी कार्य में सहयोग देना, आदि प्रवृत्तियों का निदर्शन आज भी आदिवासियों में कहीं-कहीं पाया जाता है। गांव के लोगों का सामूहिक स्वार्थ जिस काम में होगा, उस विषय में पहले एक राय निश्चित की जाती है। पूजा-पर्व के पालन के विषय में, कहीं पर जंगल काटने के विषय में, गांव में कोई आने वाला है, उसे किस विषय में कौन-सा उत्तर दिया जायेगा, इस बारे में, किसी सरकारी आदमी ने क्या करने को कहा है, इस बारे में क्या किया जाय या क्या न किया जाय आदि इस प्रकार के नाना विषयों के बारे में एक साथ बैठकर गांव की राय निश्चित की जाती है। गाँव में रहने के लिए सामाजिक विधि है, सामाजिक रस्में हैं, दायित्व और कर्त्तव्य हैं। इन्हें कोई भंग करे या परस्पर कोई झगड़ा हो तो उसके दण्ड आदि व्यवस्था के बारे में निर्णय देना आवश्यक होता है। इसके लिए पंचायत बैठती है। वहां सभी को उपस्थित रहना पड़ता है। परन्तु 'बड़े-छोटे' का भेद अवश्य बरता जाता है। गांव में सबसे बड़ा जो मुखिया होता है, विभिन्न जातियों में उसके लिए विभिन्न शब्द हैं। सओरा गाँव में वह 'गमां', कंध गांव में वह 'साओता', 'नाइक', 'माझी' या 'प्रधान',

आदि हैं। उसके साथ बैठेंगे गांव के पुरोहित, जानी, दिशारि और बड़े-बड़े किसान। ये ही गांव के पंच होते हैं। पूर्वकाल से यह प्रथा चली आई है। लोग इसे पंचायत कहते हैं। उनका निर्णय सभी मानते हैं और उसी के अनुसार कार्य करते हैं। किन्तु आजकल के कानूनों के अनुसार बनी 'सरकारी पंचायतों' के प्रभाव के कारण गांव-गांव में, स्थान-स्थान पर धीरे-धीरे नेतृत्व का ढंग बदल गया है। कहीं-कहीं पर पुरानी पंचायत के निर्णय, दावे या अधिकार के प्रति उदासीनता या अवाध्यता दीखने लगी है। लोग जिस मात्रा में पुराना गांव, पुराने समाज पर निर्भर नहीं रहते और अन्य संस्था द्वारा जीवनयापन करने में समर्थ हो गये हैं, उसी मात्रा में पुराने समाज की पकड़ उन पर से ढीली होती जाती है।

विवाह सम्बन्ध और उनकी प्रथा :

जहां पुरानी अवस्था रह पाई है, वहां सामाजिक प्रथा और विधि-विधान का अधिकार बिना मतभेद के कायम है। उदाहरण स्वरूप हम यहां आदिवासियों के कतिपय विवाह संबंधों का उल्लेख करते हैं—

कंधों का वैवाहिक अनुष्ठान कंध और इस सम्प्रदाय की उपजातियों में, कन्या को लाने से पहले दूल्हा द्वारा कन्या के पिता को 'कन्यासोना' देना पड़ता है। उसे निश्चित मात्रा में शराब और अन्यान्य वस्तुओं के अलावा कुछ पैसे देने पड़ते हैं। पैसे की मात्रा, उसका स्वीकार परस्पर परामर्श से होता है। आदिवासी के ऋणग्रस्त होने का एक कारण यह भी है। कन्या के लिए दाम देने की प्रथा का अनुसरण करके अधिकांश विवाह होते हैं। दाम देने की क्षमता जिसमें न हो, वह ससुर के घर मजदूरी करके निर्धारित पैसे चुका देता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि दूल्हा के मित्र उस कन्या के गांव जाकर उसे घाट से, रास्ते से उठा ले जाते हैं। विवाह भले ही आनुष्ठानिक प्रकार से हुआ हो। पर एक बात निश्चित है कि यदि कन्या की इच्छा न हो तो किसी भी आदिवासी जाति में विवाह हो नहीं सकता। जब कन्या को उठा ले जाता है—जिसे 'घर आना' या 'चोरी कर आना' कहते हैं—उससे पहले दूल्हा चोरी छिपे खुद जाकर या अपनी ओर से किसी को भेजकर कन्या को खुश कर आता है। कभी-कभी तो कौन से दिन, किस स्थान से, किस समय कन्या पकड़ी जायेगी, यह सारा पहले से ठीक कर रखते हैं। कुछ दूल्हों में इतना आत्मविश्वास होता है कि वे पहले से कुछ न कह-कर, कन्या से न पूछ कर उसे पकड़ ले आते हैं और इस पर भी वह कन्या उसकी पत्नी होने को राजी हो जाती है। कभी नहाने के घाट से, कभी बाजार से, कभी किसी

दूसरे की गली से किसी कन्या को पकड़ के कुछ लोग उठा ले जाते हैं। लड़की डर के मारे रोने लगेगी, हाथ-पैर पटकेगी, उठा ले जानेवाले युवक को नाखून से नोच कर खून निकाल देगी, उसकी सहेलियाँ भी उस आक्रमण में शामिल हो जायेंगी, विनती करेंगी। पर दूसरे केवल हँसते रहेंगे। वे जानते हैं कि पकड़े जाने के बाद कन्या-पक्ष के लोग जायेंगे, पंचायत बैठेगी और कन्या के दाम ठीक किये जायेंगे। किन्तु लड़की तो उस समय दूल्हा के शासन में होगी, इसलिए पैसे की मात्रा कम होगी और पैसे उसी समय न देकर भविष्य में भी दिये जा सकते हैं। दूल्हे को ऐसी सुविधा दी जा सकती है।

विवाह दो प्रकार के होते हैं। पहले प्रकार में, लड़का और लड़की आपस में तय कर लेते हैं। लड़की पिता के घर से चुपके से निकल जाती है और लड़के के साथ कहीं भाग जाती है। इसमें दोनों पहले एक निरापद स्थान तक पहुंच जाते हैं। उसके बाद लड़के के मामा के घर जाकर दोनों रहते हैं। फिर लड़की के पिता के घर खबर देते हैं। पिता के घर से लोग आते हैं। प्रथा के अनुसार दूल्हे को जितना मारना हो, मारते हैं, खून निकाल देते हैं। लड़की के दाम के बदले में उसे उतना सहना पड़ता है। उसके बाद पुजारी को बुलाकर, शामियाना बांधकर, रिश्तेदारों को भोजन खिला कर विवाह होता है। दूसरे प्रकार के विवाह में, इस प्रकार के अनुष्ठान नहीं होते। लड़की अपनी इच्छा से अपने घर से भाग निकलकर लड़के के घर में आ जाती है। वह उसके चावल के हाँडे से चावल का पानी या पानी के मटके से पानी निकाल कर पी लेगी। उसकी भावी सास उस पर गुस्सा होकर उसे बाहर निकालेगी, मार भी सकती है, फिर भी वह उस घर से नहीं जायेगी। इस तरह वहां एक दिन कट जाने पर नियमानुसार आनुष्ठानिक रीति से उसका विवाह हो गया है, ऐसा माना जाता है। लड़के को अब उस कन्या के दाम नहीं देने पड़ते। इस प्रकार का विवाह सबसे निकृष्ट है क्योंकि इसमें लड़की अपने सम्मान को पहले से ही गंवा देती है। सभी प्रकार के विवाह में श्रेष्ठ है प्रथम प्रकार का अनुष्ठान। इसमें दूल्हे के पक्ष से लोग कन्या के पिता के घर जाकर 'लड़की दीजिये' कहकर माँगते हैं। उसके दाम ठीक किये जाते हैं, लड़के द्वारा दाम चुकाये जाते हैं, उसके बाद पुरोहित को बुलाकर, रिश्तेदारों के साथ विभिन्न अनुष्ठान करके, भोजन खिलाके, विवाह संपन्न होता है और दूल्हे के सम्बन्धी वधू को घर ले जाते हैं। सभी प्रकार के आदिवासियों में विवाह-प्रकरण साधारणतया इसी प्रकार का होता है। किन्तु सांताल, कोल्हु आदि जातियों के समाज में पैसे देने की प्रथा में भेद है। उनमें कुछ वस्तुएं देने की ही

प्रथा है। कन्या-पक्ष लड़की देने के लिए राजी हों, उससे पहले उन्हें दूल्हा-पक्ष से कुछ उपहार मिलते हैं। जब तक कन्या का पिता उस उपहार को स्वीकार न करे तब तक वे राजी नहीं हैं, ऐसा माना जाता है। सम्रोरा तो बार-बार शराब का हांडा लेकर बिनती करते रहते हैं। बार-बार अपना बड़ापन दिखाना कन्यापक्ष के मर्यादा-ज्ञान और कन्या की श्रेष्ठता का चिह्न है। प्रत्येक विवाह अनुष्ठान की नाना निर्दिष्ट रीति, पूजा और उसके उत्सव हैं। सब कुछ प्राचीन प्रथा के अनुसार होता है। प्रथाभंग से अशुभ होने का डर एवं असामाजिकता के नाम से निंदा का भय बना रहता है। केवल विवाह अनुष्ठान नहीं, अनेक क्रिया-कर्म के लिए 'योग', 'मुहूर्त' की आवश्यकता रहती है। पुरोहित और दिशारी उसे तय करते हैं। कौन-से महीने में कौन-सा दिन अच्छा होगा, पूर्णिमा के बाद कितने दिन पर, जमीन पर लकड़ी गाड़ने से उसकी परछांई किस तरफ पड़ेगी, चिड़िया, बिलुआ या कुत्ता (एक प्राणी) बोलने से उस मुहूर्त के साथ उसका क्या संपर्क है, इस प्रकार के अनेक चिह्न-वर्ण उनके विचार के विषय हैं। आदिवासी, बाहर से जितना सहज दीखता है, वास्तव में उतना सहज है नहीं। अनेक घटनाओं, विभिन्न क्रियाओं और सामाजिक बन्धनों से यह सापेक्ष और जटिल है।

समुदाय आदिवासी समाज में विवाह की विशिष्टता है कि लड़की को इच्छा न हो तो विवाह नहीं हो सकता। उसी तरह पत्नी की इच्छा न हो तो वह विवाह के बंधन से मुक्त हो सकती है और पति भी। स्त्री जिस क्षण अपने पति को कह दे कि वह चली जाना चाहती है, तो उसी क्षण से विवाह का बंधन टूट जाता है। उस समय उसे गांव की पंचायत के सामने मुँह खोलकर अपनी इच्छा प्रकट करनी पड़ती है। उसके बाद वह अपने बाप के घर चली जाती है। कंध उसे एक रुपया, एक कपड़ा और साथ में एक आदमी देकर भेज देते हैं। उसके बाद वह अपनी इच्छा से दूसरा विवाह कर सकती है। उसका पहला पति उसके दूसरे पति से अपने विवाह का खर्च वसूल करना चाहता है। अदालत में मुकदमा होता है। जिस स्त्री का विवाह टूटा नहीं है, वह यदि अन्य पुरुष के साथ प्रेम संबंध स्थापित कर ले तो उसे घोर अपराध माना जाता है। पहले उस अपराध का दंड था—विवाहित पति द्वारा उस प्रेमी-पुरुष का शिरच्छेद।

विवाहिता होने से पहले अपनी आदिवासी जाति के अन्य पुरुष के साथ इस समाज में स्त्री-पुरुष का संबंध तो रखा जाता है, किन्तु प्रकट रूप से नहीं। फिर उसकी परिणति अधिकांश विवाह में होती है। यदि संतान हो जाये, तथापि वह पुरुष अपना विचार बदल दे या उस स्त्री से विवाह करना न चाहे तो संतान का पालन

उसका मामा करता है। इससे समाज में उसकी मर्यादा कम नहीं होती। स्त्री भी दूसरे किसी से विवाह कर सकती है। इस विषय में विविध समाजों की विविध रीतियां हैं।

साधारणतया एक पुरुष की एक स्त्री होती है, पर इस तरह का कोई कानून नहीं है। कहीं-कहीं एक पुरुष की एक से अधिक पत्नियाँ भी हो सकती हैं। पुरुष-स्त्री सारे परिश्रम करते हैं। पर्वत पर रहने वाले लांजिया, सओरा लोगों की तरह जहाँ आदिवासी-जातियों के कृषि प्रधान-पर्वत अधिक और एक-दूसरे से दूर हैं, वहां अलग-अलग कृषि-प्रदेश के माध्यम से एक पुरुष की अलग-अलग पत्नियां हो सकती हैं।

गांव का समाज बहुत शृङ्खलित और नियंत्रित है। पंचायत के अलावा गाँव में सभी के सेवाकार्य पर ध्यान देने के लिए अन्यान्य व्यवस्था भी होती है। दक्षिण में आदिवासी के गाँव का बाहर की दुनिया से संपर्क रखने के लिए, खरीदने और बेचने के लिए, ऋण की व्यवस्था करने के लिए, आदिवासी की भाषा गैर-आदिवासी को समझने के लिए, कर्मचारी के आने से उनके साथ परिचय रखने के लिए, गांव के लोगों को बुद्धि देने के लिए तथा इस प्रकार के विविध कामों के लिए होता है गांव का हरिजन 'बारिक' (नाई), और उसी तरह उसका सहयोगी आदिवासी 'चालान्'। गांव की गायों की रखवाली के लिए गांव का 'गउड़' होता है। गांव की सड़क को झाड़ू लगाकर साफ करने वाला हरिजन 'झाटियां' होता है। कहीं-कहीं पर बढ़ई, लोहार, कुम्हार भी होते हैं। गांव के लोग उनके लिए चंदा करके कुछ अन्न देते हैं। इसके अलावा कुम्हार, लोहार, बढ़ई आदि के काम के अनुसार भी उनको कुछ देना होता है।

सचल-ग्राम और ग्राम-वृत्तियाँ :

गांव साधारणतया पानी के पास बसते हैं। पहाड़ होने पर पहाड़ के ऊपर दो घर या तीन घर होने से गाँव बन जाता है। कहीं पर बहुत बड़ा गांव होता है। उसमें कई मुहल्ले होते हैं। जहां पर स्थायी खेती की जमीन होती है, वहां गांव बड़ा होता है। जो लोग जंगल को काटकर गांव बनाते हैं, उनके गांव बहुत छोटे-छोटे होते हैं, क्योंकि जितना बड़ा परिवार होगा, उतने ही लोग उस स्थान पर पोसे जा सकते हैं। वन साफ करके उस जगह पर जब खेती की जाती है तो तीन साल तक अच्छी फसल होती है। उसके बाद वे उस जगह को छोड़ देते हैं। पास में काटने के लिए दूसरा जंगल न हो तो वह गांव वहाँ से चला जाता है। पुरानी जगह पर फिर से जंगल हो जाने पर वे लोग वहां लौट आते हैं, पर कई वर्ष के बाद। वे दूसरों के अधिकार पर

हस्तक्षेप नहीं करते । जो लोग वन को साफ करके वहां से चले जाते हैं, वहाँ पर कुछ वर्ष के बाद वही या उसके वंशज ही जंगल को काटकर खेती कर सकता है, दूसरा कोई नहीं । दूसरे के धन की चोरी करना आदिवासियों के मत से महान अपराध है । जंगल के लोग लकड़ी या बांस काटकर रास्ते की धार पर रखकर चले जाते हैं, लेकिन उसे कभी भी कोई दूसरा लेता नहीं ।

जवाब देते समय सत्य कहना, (बाद में चाहे जो भी हो) अपने वचन पर डटे रहना, चोरी न करना, दूसरे के धन, स्त्री और जमीन की लालसा न रखना आदिवासी संस्कृति की नींव है । कालक्रम और समय के प्रभाव से यह नींव भी अब पूरी तरह डगमगाने लगी है ।

आदिवासी की मुख्य वृत्ति है-- खेती । इसमें भी मुख्य है 'पोडुचाष'—जंगल को काट कर, उसे जलाकर उस राख को मिट्टी में मिला देना और फिर उसी भाग में खेती करने लग जाना । बहुत कम लोगों के पास स्थायी जमीन होती है । जितनी अच्छी-अच्छी समतल जमीन साफ होती है, उसे धीरे-धीरे महाजन या 'शाहुकार' ले लेते हैं । मंडियाँ, सुआँ, बाजरा, इसी श्रेणी की अन्यान्य फसल, अरहर, लोबिया, (राजमा जैसा) बरगुडी, बरगुड़ी जाति का 'काहिं' मक्का, उड़द, कोलथ आदि रबि फसल, थोड़ा बहुत चावल, अलसी, एरंडा, सरसों, तिल, कहीं-कहीं पर तम्बाकू के पत्ते, गन्ना आदि प्रायः सभी मोटे खाद्यानों का उत्पादन ये मेहनत के साथ करते हैं । इसके अतिरिक्त बरसती साग-सब्जी और फलफूल आदि उगाना भी आदिवासी कृषि का अंग बन गया है, फल-फूल उगाने में काफी रुचि रखते हैं । वे जंगल से महुल, तेंदुल, फूलझाडु, शियाली पत्ते, शियाली छाल, धूप, शहद आदि वस्तुओं का संग्रह करते हैं । वन से कुकुरमुत्ते, प्रांकुर साल की डाल, जड़ें आदि ढूंढकर ले आते हैं और खाते हैं । शिकार भी खाद्य और आहार का एक अंग है । जाल बुनना और फेंकना धनुप से तीर छोड़ना, गुलेल मारना इत्यादि विद्याओं में वे निपुण हैं । इसलिए चिड़िया, खरगोश, कुट्रा इत्यादि छोटे-छोटे प्राणी-पक्षी को मारना उनके लिए बहुत आसान है । कभी-कभी शिकार में हिरन और बारहसिंगे भी मिल जाते हैं । कुछ लोगों के पास बन्दूक भी होती है, प्रायः टोपीवाली बंदूक अधिक देखी जाती है । वन से एकत्रित किए हुए लकड़ी-बाँस बाजार आदि ले जाकर बेचना भी उनके अर्थोपार्जन का एक साधन है । लेकिन बाजार निकट होने से ही यह हो सकता है । इनमें ग्रामोद्योग के खास प्रकार नहीं हैं । थोड़ा बाँस बुनने का काम, पत्ते छुनने का काम, रस्सी बँटने का काम, रस्सी की चारपाई, मोटा व अति सरल लकड़ी का काम, बहुत कम लोगों में लोहार का काम और मटके-कलशे–प्राय. इतने ही

उद्योग इनमें दीखते है। जहां नजदीक में जंगल नहीं है, जमीन नहीं हैं, सूखा पहाड़ है, जमीन है तो अनुर्वर है, जमीन के लिए पानी नही, वहां के आदिवासियों की हालत दयनीय हो गयी है। वन का स्वाधीन आदिवासी घर के पास मजदूरी के काम में सुख नहीं पा सकता, किन्तु अवस्थाचक्र में फँस कर कई भूमिहीन मजदूर बन गये हैं। भूमि से आय होते हुए भी, ऋण और ऋणजनित शोषण में उसका बड़ा हिस्सा चला जाता है। वर्षा आरम्भ होने से पहले चार महीने तक कोई काम या आय नहीं। उस समय अनेक आदिवासी ऋण खोजते हैं, अभाव में छटपटाते हैं। यदि आम की फसल अच्छी हुई हो तो आम के गुठली के भीतर की बीज का प्रवाही बनाकर खाते है। इसी तरह तेंदुल के बीज के भीतर के रस को पीते हैं, शलप के लकड़े के चूर्ण को खाते हैं। उसी तरह शलप और खजूर के पेड़ के रस से शराब बनती है। आदिवासी बहुत शलपप्रिय हैं। चावल और मांडिया से बनती हांडिया शराब भी घर-घर में होती है। फिर भी सबसे बड़ा आकर्षण है—महुल के मद का। वह इन्हें बहुत प्रिय है। उसको खरीदने में इनके बहुत पैसे व्यय होते हैं।

साधारणतया मिट्टी, पत्ते और डालों से घर बनते हैं। ऊपर घास का छप्पर होता है। घर के आकार और प्रकार विभिन्न आदिवासी समाज में विभिन्न होते हैं। दीवारों पर अलग-अलग रंग के पट्टे किये जाते हैं। संताल घर की विशेषता है, उनकी दीवारों पर अंकित बड़े-बड़े चित्र। कभी-कभी कंध भी दीवार पर चित्र बनाते हैं। उसमें चौकोर और क्रॉस होते हैं। कभी-कभी किसी घटना का चित्रण भी होता है। कंधों का काष्ठकाम छुरी से खराद कर लकड़ी या बांस पर किये गये काम में खिल उठता है।

अपने इलाके में अपना घर बनाने के लिए जिन चीजों की आवश्यकता होती है, वे सारी चीजें ये जानते हैं और अपने आप ही इकट्ठी कर लेते हैं। उनके पास या उनके घर में जितनी चीजे हों, वे बाहर के लोगों को आश्चर्यजनक लगती हैं, किन्तु वे सारी उनके व्यवहार की हैं, उपयोग की हैं। हम कौटिया कंध के घर के भीतर जाना चाहें तो पहले हमें घर के सामने बैठ जाना पड़ेगा, क्योंकि घास का छप्पर जमीन तक होता है। उसके बाद भीतर पैठना। उसके बाद हम सीधे खड़े रह सकते हैं या नहीं, यह देखना होगा। किन्तु भीतर जाते ही तीन फुट गहरे गढ्ढे में उतरना पड़ेगा। खिड़कियाँ नहीं हैं, चूल्हे से जरा ऊपर दीवार से एक पटरा जैसा निकलता है। इस तरह होने का कारण है। बहुत पवन होने के कारण बाहर की दीवार को ऊँचा न करके भीतर गड्ढा किया जाता है। बहुत ठंड होने के कारण खिड़की नहीं, घर में हर समय आग रहती है। कभी आग की ज्वाला ऊपर उठकर घर के पत्ते के छप्पर को जला

सकती है, इसलिए उसे रोकने के लिए चूल्हे के ऊपर दीवार से मिट्टी और गोबर से लीपा हुआ एक तख्ता निकलता है। रस्सी से बनी हुई या पत्तों से बनी हुई जगह पर शस्य रहता है। कभी बड़े-बड़े मटके अथवा मोटे बाँस और मिट्टी के कटोरे बदले जैसा काम देते हैं। इसका लाभ यह है कि वह टिफिन कैरियर का काम भी देता है। अपने व्यवहार के लिए जितने औजार चाहिएं, वे सारे उनके पास हैं। अधिकांश उसे अपने आप तैयार कर लेते हैं। वे उन्हें बेचते नहीं, उपयोग में लेते हैं। गांव से निकलते पर उनका मुख्य औजार होता है—कुल्हाड़ी। कुल्हाड़ी के उपयोग में वे सिद्धहस्त है। विभिन्न व्यवहार की प्रणाली उनका अपना उद्बोधन है। क्यारियाँ खोद-खोद कर पर्वत पर खेती होती है। ऊँचे पर्वत पर हल चलाने के लिए तगड़े बैलों को ऊपर चढ़ाना और काम करना कठिन है, इसलिए दो गायें या एक गाय और एक बैल को जोड़कर हल चलाते हैं। कौन-सी फसल कब तैयार होगी, उसका समय अलग-अलग है। अनेक स्थानों पर वे कई फसलों के बीज एक ही जगह पर बोते हैं। जो कुछ पक जाता है, उसको उतार लेते हैं।

आदिवासी का साधारण पहनावा और अलंकार :

नियमगिरि पर्वत के डंग्रिया कंध की स्त्रियां खरीदी गई चद्दर पर सूई-धागे से रंगबिरंगी कढ़ाई करती हैं। उसी तरह लांजिया सओरा महिलाएं उनके पुरुषों के पहनने के लिए बहुत लम्बे कोपीन के दोनों ओर दुम की तरह मोटा करके रंगबिरंगी सूते से बुनाई करती हैं। पुरुष की कमर पर रस्सी और उसके साथ कोपीन, स्त्री की कमर पर लुंगी जैसी एक कम चौड़ी साड़ी। बहुत आदिम न हो तो कमर के ऊपर सामने की ओर ओढ़ने के लिए एक मोटी चद्दर। आदिम आदिवासी समाज में कमर के ऊपर का हिस्सा खुला रखने की प्रथा है। इनके सारे अलंकार कई प्रकार के होते हैं।

उनके गहने सोने, चांदी, कांसे तथा एल्युमिनियम आदि धातु से बने होते हैं। उंगलियों में अंगूठी, बड़िओ (ताड़पत्र से निर्मित एक प्रकार का आभूषण) गले में गाँठ मालाएं, हाथों में कांच या धातु का कंगन। नाक और कान में कहीं बालियां होती है और कहीं नहीं। पैरों और पैरों की उंगलियों में आभूषण होते हैं। केश में 'क्लिप' लगाना दिखाई पड़ता है। फूलों के ये लोग बड़े आग्रही हैं। युवकों के कानों में बालियां व मुंदरे पहनना इनकी प्रचलित प्रथा है। गले में भी छोटी-छोटी गांठ की मालाएं भी पहनते हैं। ओरान स्त्रियां शरीर पर चित्ता (गोदना) खुदवाती हैं। 'गौरिया' जाति के लोगों की सहायता से ये चित्ते खुदवाये जाते हैं। उनके मस्तक, गण्डदेश, नाक की बाईं

ओर तथा होंठ के नीचे चिते के चिह्न दिखाई पड़ते हैं। चिता खुदने के नक्शे में फूल, पेड़ और दूसरे कई चित्र होते है। कन्या के सयानी तथा ब्याह होने के पहले उसके बांह, पैर तथा पैरों के सन्धिस्थलों और पीठ पर चिते खुदवाये जाते हैं।

इस खोदने के इतिहास और उद्देश्य पर अब तक कोई गवेषणा नहीं हुई है। लेकिन यह समझा जाता है कि मरने के बाद मनुष्य और तो कुछ साथ ले नहीं जाता, केवल इस चिते की कुछ विशेषता ही उनके साथ स्वर्ग जाती है। युवकों में भी स्थल-विशेष में ये चीते दिखाई देते हैं।

नृत्य-संगीत-प्रियता :

आदिवासी किसी भी उपजाति का हो, सभी के जीवन का दर्शन समान है—जीवन आनन्द के लिए है। यह आनन्द मिलता है, जीवन के सुख-दु.ख को अति सहज और स्वाभाविक होकर स्वीकार कर लेने से। सभी अवस्था में प्रफुल्ल रहने से। प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग, स्वाभाविक कलाप्रियता आदिवासी चरित्र की विशेषता है। नृत्य, गीत और उससे अपनी जीवन-क्रिया का तथा जातिगत जीवन का स्वाभाविक प्रकाश। बचपन से ये सब वे गांव में ही सीख लेते हैं। देखकर, सुनकर सीखते है, बड़े-बड़े उसे प्रोत्साहन देते हैं। आठ-दस साल के होने पर वे अपने गांव के नाच में सम्मिलित हो जाते हैं। कोल्हु सांताल आदि जाति के युवक समूह में बाजा बजा-बजाकर नाचते हैं। सामने की ओर उनके प्रति आकृष्ट होकर युवतियाँ नाचती हैं। कभी-कभी पास-पास में एक-एक नाचते है तो कभी हाथ पकड़कर। कंध-नाच में महिलायें और पुरुष एक-दूसरे के सामने मुंह रखकर दो दल में नाचते हैं। नाचते-नाचते आगे आते हैं, फिर पीछे चले जाते हैं। कंध नाच में पुरुषों का लापरवाह उत्साह ही उसकी विशेषता है। सभी से श्रेष्ठ लगता है कोरापुट के झोडिया परजा युवतियों का नाच। वे हाथ से हाथ पकड़कर कई कतार बनाकर अनेक प्रकार के नाच दिखाती हैं। कतार की गति बहुत द्रुत होती है। कभी-कभी एक के पीछे एक तरंगों की तरह होती हैं तो कभी चक्र की तरह, कभी खड़े खड़े तो कभी बैठ-बैठकर झुकने की अवस्था में नाचती हैं। मालकानगिरि के कोया सिर पर गयल (एक जंगली पशु) के सींग लगा-कर नाचते हैं। यह नाच भी बड़ा उल्लासमय होता है। कोया युवतियां लकड़ी पर बांधे गये कुट्रा के सींग झम-झम करके, घुंघरू झण-झण करके एक प्रकार का सरल नाच नाचती हैं। गदबा परजा की तरह नाचते हैं, नाच में दौड़ते समय लड़कियों के पहने हुए लाल, नीले, सफेद पट्टियों वाले 'केरं' कपड़े सुन्दर लगते हैं। एक सूती धागा

और एक केरं पेड़ का धागा मिलाकर मोटा 'केरं' कपड़ा बुना जाता है। बारहसिंगा के सींग या गयल के सींग बाँधकर अथवा मयूर की तरह रूप बनाकर मयूर का पंख खोंसकर पहनकर कंध लोग नाचते हैं। अनेक प्रकार का यह आदिवासी नृत्य में रंग, छंद और उनका स्वाभाविक आवेग उल्लास का मुख्य आकर्षण है। वह अनेक प्रकार का होता है।

लड़कियों की आवाज मीठी, कोमल, कंपित होती है। आदिवासी गीतों का स्वर सरल, रागिनी अल्प। सभी एक साथ गा रहे हैं, ऐसा ही प्रायः सुनाई देता है। युवक कंध कन्या का मन मोहने के लिए एक-एक करके गीत गाते हैं। कभी-कभी दो-दो कंध एक साथ बाँसुरी बजाते हैं। वह वहुत दूर तक सुनाई देती है। कोटिया की बाँसुरी चार बित्ता (बालिश्त) लंबी होती है, पर्वत के कुंभि कंधों की प्रायः दो हाथ की होती हैं। सांताल की बाँसुरी पतली और लंबी होती है। सओरा का विशिष्ट आविष्कार है, उसका 'ढेंका' जो एक प्रकार की सितार जैसा वाद्य है। परजा का प्रिय है, कद्दू की तुम्बी पर एकतारा। इसे डूंडूंगा कहते हैं। ढोलक, टमक, डफ अनेक प्रकार के हैं। परन्तु दृष्टि को आकृष्ट करता है, उनका बड़ा ढोलक लिसेणी। उसका व्यास पांच फुट भी हो सकता है। चन्द्रपुर के कोटिया लकड़ी पीट-पीट कर गाते हैं। एक जन मुँह से बोलता है 'हुस् हुस्'। कोरापुट माल के पेंग गीत गाते समय पास रहता है और दूसरा मुँह से 'सा-पा सा-पा' सुनाता हो, ऐसी आवाज़ करता है। वह आदमी गायक के रूप में जीवंत हार्मोनियम जैसा होना है। अनेक आदिवासी खंजरी बजाते हैं। पहाड़ी कंध, खास करके डंग्रिआ और कोटिया कंध होठों के बीच में चार इंच लंबे ट्यूनिंग फोर्क जैसा लोहे की नली रखकर एक प्रकार का बाजा बजाते हैं। सभी आदिवासी जानते हैं कि हाथ की अँगुलियाँ जोड़कर मुँह में रखने से एक तीव्र सीटी की आवाज निकलती है। गयल सींग या भैंस के सींग का शिंगा सभी बजाते हैं। जाड़े के दिनों में खेत में मंच पर बैठकर रात को जानवरों को भगाने के लिए वह बहुत काम में आता है। गाय की रखवाली के लिए भी। रात भर नाच चलता है, अंधेरी रात में अग्नि के पास, पूनम की रात में भी। कोई भी उत्सव होने पर गांव में नाच होता है। नाच के मैदान में सारे इकट्ठे होते हैं। युवक-युवती नाचते हैं, दूसरे लोग नाच देखते हैं।

पैसे मिलने पर नाचेंगे, ऐसी आदिवासियों की प्रकृति नहीं। वह अपनी खुशी से अपने आनंद के लिए नाचेगा। उसकी जो रुचि हो, जिसमें उसे आनंद हो, वही कार्य करेगा। पैसे से बंधी हुई अर्थनीति से इनकी अर्थनीति और समाजनीति भिन्न ही है।

इसलिए उनका मूल्यबोध भी भिन्न है। उनका रहन-सहन सचमुच किसी दूसरी दुनिया का है। किन्तु बड़ी शीघ्रता से बदलती जाती इस पृथ्वी में बाहर जो हो रहा है वह उनके समाज में भी प्रवेश कर लेता है। वह पैसे की अर्थनीति को भी ग्रहण करता है। यह करने से उसका मूल्यबोध भी बदलता है। धीरे-धीरे वह भी अन्यों की भाषा में आधुनिक, सभ्य, समृद्ध होगा। किन्तु आदिवासी संस्कृति नाम की जो विशेषता है वह अक्षय रह नहीं पायेगी।

उसकी संस्थिति का और वैचित्र्य का प्रतिपादन करना भी कष्टकर है। उदाहरण-स्वरूप उसकी संस्कृति की विशिष्टता यह थी कि वे सत्यवादी थे। किन्तु सत्य कहने से वह जंगल काटने के अपराध में, शराब बनाने के अपराध में, छलना भरी शोषणमय युक्ति से पकड़ा जायेगा। अतिथि-परायणता उसकी विशेषता है, किन्तु उसी के कारण वह शत्रु को आश्रय देता है, शोषक को भी रखता है। वे उसके अतिथि बनकर रहते हैं और अवसर पाते ही उसका अहित भी करते हैं। बंधु के प्रति अत्यधिक स्नेह भी उसकी विशेषता है, पर उस विशिष्टता से फायदा उठाने के लिए अनेक आदिवासियों के साथी, मित्र बैठे होते हैं। लांजिया सओरा जितनी बार अपने गैर-आदिवासी मित्र से मिलने के लिए गुणुपुर जाते हैं, अपने साथ ढेर सारी मूल्यवान वस्तुएँ उपहार के रूप में ले जाते हैं। उसकी स्त्री अपना शरीर खुला रखती है। बाल में तेल लगाकर, मुंह पर हल्दी मलकर, फूल पहनकर खुद को सजाती है। पर इस तरह श्रृंगार करके शहर में जाने से विपदा आती है। सरलता आदिवासी संस्कृति का मंत्र है, किन्तु सरल होने से चतुर प्रपंची संसार में विडंबना ही मिलती है।

जिन्दगी में बचे रहने के लिए कैसे परिवर्तित मूल्यबोध और आचरण का प्रयोजन होता है, यह खुद समय ही सिखा देता है। आज जो आदिवासी-संस्कृति दिखाई देती है, सौ वर्ष पहले वह ऐसी नहीं थी और सौ वर्ष के बाद भी ऐसी नहीं रहेगी।

अनुवाद : वर्षा दास

डॉ. कुञ्जबिहारी दास

उड़िया लोक-साहित्य

'लोक' शब्द शहर और गांव के निरक्षर तथा असंस्कृत लोगों से लेकर कन्ध और कोल जैसी आदिम जातियों के लोगों तक को अभिव्यंजित करता है। लोक-गीतों की रचना इन्हीं लोगों द्वारा की जाती है, और इन्हीं लोगों द्वारा ये, पीढ़ी-दर-पीढ़ी, पैतृक संपत्ति के रूप में विभिन्न व्यक्तियों के पास पहुंचते हैं। इस प्रक्रिया के दौरान लोक-गीतों में परिवर्त्तन होता रहता है और वे अपनी भूतकालीन विशेषताओं को छोड़ते जाते हैं। अतः किसी लोक-गीत का रचनाकाल निर्धारित करना एक अत्यन्त दुरूह कार्य है।

लोक-गीत किसी भी जाति का वह प्राचीनतम काव्य है, जो अचिन्त्य, अछूता, सरल, खरा और स्वाभाविक होता है। काव्य-रचना को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करने वाले कवि की तरह लोक-गीत का रचयिता धन, यश, नाम के पीछे नहीं दौड़ता। वह केवल दर्शक-मण्डली के सन्तोष के लिये नहीं गाता। उसका रचना-कार्य दैनन्दिन रूप से नहीं होता। वह प्रेरणा मिलने पर ही गाता है और स्वान्तः सुखाय गाता है। कार्य की जड़ता एवं रसहीनता के बीच वह उसे प्रफुल्लित रखता है। वह एक कुशल कवि से भिन्न है। वह जब तक काम करता रहता है, गाता रहता है। काम और रचना-कार्य दोनों उसके साथ-साथ चलते हैं और वह दोनों के साथ चलता है।

जन-साहित्य और लोक-साहित्य :

जन-साहित्य का विभाजन इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत आता है :—

१. सर्वसाधारण के लिये प्रमुख कवियों द्वारा रचित साहित्य ।

२. गांव के साधारण कवियों द्वारा रचित साहित्य ।

३. मौखिक रचनायें (Lip Compositions)

बौद्ध और वैष्णव-धर्मों के प्रचार-प्रसार से काफी जन-जागरण हुआ । इसने विद्वान कवियों को जन-साधारण के लिये जन-भाषा में अथवा अनुवाद के रूप में नये साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी । तत्कालीन भारत में यह कार्य केवल इने-गिने लोगों का अग्राधिकार समझा जाता था ।

भूतपूर्व देशी रियासतों के विलीनीकरण के बाद अब उड़ीसा का क्षेत्रफल ७० हजार वर्ग मील से अधिक है, और इसकी जन-संख्या १ करोड़ ५० लाख हो गई है । इस जन-संख्या का एक तिहाई भाग संथाल, भूंया, कोया, कन्ध, परजा, गादवा, जौंगा सौरा, गौंड और डाम्ब जैसी जन-जातियां हैं । इन जन-जातियों में से कुछ जातियां अब भी इतनी पिछड़ी हुई हैं कि पत्तों से शरीर ढंकती हैं, जंगली फल-मूल खाकर निर्वाह करती हैं और शिकार को ही मुख्य पेशे के रूप में लेती हैं । वे विभिन्न हास्यास्पद रीति-रिवाजों तथा अंधविश्वासों से ग्रसित हैं । इन जातियों का साहित्य लिखित रूप में उपलब्ध नहीं है । इनका साहित्य लोक-गीतों, लोक-कथाओं और दन्त-कथाओं के रूप में ही जीवित है । इन लोक-गीतों को संग्रह करने के प्रयास में लगे लोगों में भारत सेवक समाज के सदस्य श्री लक्ष्मीनारायण साहू का नाम सर्वप्रथम आता है । १९४७ में प्रकाशित उनकी 'गंधर्विका-शतदल' में उनके द्वारा संग्रहीत गीतों के नमूने मिलते हैं । उन्होंने कन्ध, सउरा, गंड, गादवा, संथाल, परजा, कोया आदि आदिवासियों के गीतों का संग्रह किया है । इनमें उनकी रीति-नीति, धर्म, देवपूजा, विश्वास, रहन-सहन, पर्व आदि के गीत संकलित हुए हैं । 'जयपुर की पहाड़ी जातियां' भी उनका एक प्रमुख संग्रह है। इस पुस्तक में संग्रहीत लोक-गीतों में वैवाहिक रीति-रिवाजों, सामाजिक मान्यताओं, देवी-देवताओं तथा व्रत-त्योहारों का अच्छा वर्णन मिलता है। वैरियर एल्विन की रचना 'उत्कलीय जन-जातियों की कहानियां' भी इस दिशा में एक अभिनव प्रयास है । उड़ीसा के लोक-साहित्य में अब भी एक विस्तृत क्षेत्र अछूता पड़ा है जिसकी गवेषणा अपेक्षित है । उत्साही लोग उन्नीसवीं सदी से ही उड़ीसा के लोक-गीतों का संग्रह करने के प्रयास में लगे हैं । किन्तु उनके प्रयास, मात्र प्रयास ही रहे हैं, उनको आंशिक सफलता ही प्राप्त हुई है । इन गवेषकों की

असफलता के लिये अनेक तथ्य उत्तरदायी हैं।

जन-साधारण ने अपने लोक-गीतों के मूल्य को नहीं समझा और उनके महत्त्व को केवल सरसरी तौर पर (Casually) ग्रहण किया। जिन शिक्षित पड़ोसियों के पास जाने की हिम्मत भी वे नहीं करते थे, उनके लोक-गीतों के संग्रह के प्रयास को वे बड़ी जिज्ञासापूर्वक देखते रहे। गायक की मानसिक स्थिति का विचार किये बिना ही उत्साही लोग लोक-गीतों के संग्रह में लगे रहे। उन्होंने गीतों को जन-साधारण के क्रिया-कलापों से विच्छिन्न कर दिया। जब गायकों से भिन्न वातावरण में गाने को कहा गया तो वे घबरा गए। उन्हें ऐसा लगा जैसे कि वे इसके प्रत्येक पदाघात को भूल गए हों। लोक-गीत का गायन और कार्य साथ-साथ चलते हैं। कार्य के अभाव में लोक-गीत की स्वाभाविकता नष्ट हो जाती है। लोग खेतों में हल चलाते हैं, फसल काटते हैं, पौधों को सींचते हैं, गाड़ियां हांकते हैं, नावें खेते हैं और जब तक कार्य चलता है, गाते रहते हैं। वे धार्मिक अनुष्ठानों एवं सामाजिक उत्सवों के अवसर पर स्वच्छन्दता और स्वेच्छापूर्वक गाते हैं। संग्राहक को लोगों द्वारा प्रस्तुत ऐसे अवसरों का सदुपयोग करना चाहिये।

यद्यपि लोक-गीतों के संग्रह के प्रयास में अनेक लोगों को असफलता मिली, उनके प्रयास की कहानी बड़ी दिलचस्प तथा प्रेरणास्पद है। वह भविष्य में लोक-साहित्य का संग्रह करने वाले लोगों का पथ-प्रदर्शन करती रहेगी।

लोक-साहित्य के संग्रहकर्त्ताओं में कपिलेश्वर विद्याभूषण का नाम उल्लेखनीय है। उड़िया कहावतों के विषय में उनकी प्रथम पुस्तिका सन् १८७६ में उड़ीसा के तत्कालीन कमिश्नर टी० रेवेन्शा की सहायता से प्रकाशित हुई। इसके प्रति जनता की रुचि एवं आग्रह का अनुमान इसकी बिक्री से लगाया जा सकता है। केवल नाम पर ही इसकी सम्पूर्ण प्रतियां धड़ाधड़ बिक गईं। इसका पुनः प्रकाशन फिर ३२ वर्ष बाद १९०८ में ही संभव हो सका। कटक के मुंशी शेख अब्दुल मजीद और पुरी के चन्द्रशेखर वाहिनीपति कपिलेश्वर विद्याभूषण का अनुकरण करते हुए उड़िया कहावतों और डाक-वचनों के छोटे-छोटे संग्रह प्रकाशित किये। सन् १९३० में प्रसिद्ध कवि नीलमणि विद्यारत्न ने संस्कृत की कहावतों और स्वयंसिद्धियों (maxims) का प्रकाशन किया। उन्होंने अपनी रचना को लोक-साहित्य के पट्टपुरोधा स्वनामधन्य श्री गोपालचन्द्र प्रहाराज को समर्पित किया, जिनकी 'उत्कल कहानी' की पहली जिल्द १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में निकली थी। नीलमणि विद्यारत्न की इस पुस्तिका को उड़ीसा की जनता के सभी वर्गों से यश और लोकप्रियता प्राप्त हुई। राघवानन्द

का कृषि सम्बन्धी प्रवचनों का संग्रह प्रथम विश्वयुद्ध के समय (१६१४) प्रकाशित हुआ। इस पुस्तिका में प्रवचनों के अध्ययन के प्रति सर्वप्रथम वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया था। संग्रहकर्त्ता ने सामग्री का विभाजन निम्नलिखित श्रेणियों के अन्तर्गत किया था:—

१. जीविका के साधन के रूप में कृषि

२. मौसम सम्बन्वी भविष्यवाणियां

६. खेती का समय

४. बैल और कृषि औजार

५. जुताई के सिद्धान्त

६. खेती और फसल

उन्होंने हिन्दी, बंगला और संस्कृत की कुछ कृषि-सम्बन्धी कहावतों का अनुवाद सरल उड़िया (गद्य व पद्य दोनों) में किया। इस प्रदेश में कृषि-सुधार को ध्यान में रख कर उन्होंने 'खाद देने की विधि' और 'पौध लगाने के सिद्धान्त' नाम के दो निबन्ध भी इस पुस्तिका में संलग्न कर दिये। सन् १६१४ में ही पंडित भगवान होता नामक शिक्षक ने अपनी 'उड़िया प्रवाद माला' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इस पुस्तक में लेखक ने उड़िया कहावतों को अक्षरों के क्रम से सजाया और कठिन शब्दों के लिये टिप्पणियां दीं। लेखक का मूल उद्देश्य पाठकों के साहित्यिक ज्ञान को बढ़ाना तथा विश्वविद्यालय की परीक्षा में आने वाले कहावतों सम्बन्धी प्रश्नों का उत्तर देने में विद्यार्थियों की सहायता करना था।

प्रसिद्ध जनकवि तथा लोक-साहित्य के प्रेमी नन्दकिशोर बल ने 'उड़िया प्रबन्ध माला' का अवलोकन करते समय अपने विचारों को इन शब्दों में व्यक्त किया था— 'कहावतों में युगों का ज्ञान प्रतिफलित है। वे महिलाओं की रचनाएं हैं। हमारे राष्ट्रीय कवि भी उनका प्रयोग अपनी रचनाओं को लोकप्रिय बनाने के लिये करते हैं। कुछ लोगों का कथन यह भी है कि कहावतें कवियों की ही बुद्धिमत्तापूर्ण एवं सौन्दर्यपूर्ण उक्तियां हैं। उनके जन्म का कुछ भी कारण हो, उनके कार्य के विषय में दो मत नहीं हैं। वे आनन्द और शिक्षा के प्रसार में अत्यधिक सहायक हैं।'

'लोकोक्ति तटी', 'ढग मालिका', 'ढग मालिका तत्त्व बोधिनी' इन तीन संग्रहों में से अन्तिम संग्रह विचित्रताओं से युक्त है। इन तीनों के संग्रहकर्त्ता अपन्ना पंडा हैं। उन्होंने अन्तिम संग्रह की पाण्डुलिपि सन् १६०५ में तैयार की थी। इस पाण्डुलिपि में ३२० कहावतें थीं। उन्होंने इस ग्रन्थ को १६२३ में प्रकाशित किया था। इस लम्बे

काल क्षेपण का कारण उन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका में बताया है। वे इन कहावतों के अर्थ और प्रयोग को स्पष्ट करने के लिये किसी माध्यम की तलाश में थे। उन्हें कहानियां ही उत्तम माध्यम जान पड़ीं। अतः उन्होंने प्रत्येक कहावत के उद्गम और प्रभाव को स्वरचित या संग्रहीत कहानी की सहायता से स्पष्ट किया।

लोक साहित्य का संग्रह-कार्य दीर्घ-काल तक, कहावतों तक ही सीमित रहा। लोक-गीतों और लोक-कथाओं के संग्रह की योजना जनता के सामने रखने वालों में श्री गोपालचन्द्र प्रहाराज का नाम सर्वप्रथम आता है। तत्कालीन प्रमुख साहित्यिक पत्रिका 'उत्कल साहित्य' में प्रकाशित उनकी कहानियां अटपटी भाषा के कारण जनता द्वारा झिझक के साथ ग्रहण की गई। उस समय उड़िया साहित्य में दो प्रमुख शैलियों की प्रधानता थी। संस्कृत के पंडितों द्वारा अपनाई गई शैली, और ईसाई धर्मोपदेशकों द्वारा अपनाई गई शैली। प्रथम अस्वाभाविक और पारम्परिक थी तो दूसरी अपरिमार्जित तथा अवैज्ञानिक। ये दोनों शैलियां ही साधारण जनता की पकड़ के बाहर थीं। साहित्य इने-गिने विद्वानों तक ही सीमित था। पढ़े-लिखे लोग न तो इसे साधारण जनता की पहुंच तक ले जाना चाहते थे, और न ही स्वयं जन-भाषा को अपनाना चाहते थे। उनके लिये जन-भाषा काफी अपरिमार्जित और भोंडी थी। तीखी आलोचनाओं के पात्र बनने के बावजूद भी श्री प्रहाराज अपने कार्य में लगे रहे। उन्हें कुछ सफलता भी मिली। 'धागा-धमाली-बचन' की भूमिका में उन्होंने उन कारणों को स्पष्ट किया है, जिनसे उन्हें लोक-गीतों के संग्रह की प्रेरणा मिली। उनके हृदय में लोक-साहित्य के लिये सच्चा प्रेम था। उन्हें अपने रचना-संग्रह (Lexicon) के लिये बोल-चाल के शब्दों की बड़ी आवश्यकता थी। उनका विश्वास था कि सभ्यता के प्रसार के साथ-साथ लोक-साहित्य विलुप्त होता जायगा।

श्री प्रहाराज के संग्रह-कार्य आरंभ करने के पहले ही भारतीय और विदेशी विद्वानों ने देश के विभिन्न भागों में लोक-साहित्य के संकलन के लिये अनुकूल वातावरण की सृष्टि कर दी थी। श्री प्रहाराज ने लालबिहारी दे लिखित 'फोक टेल्स ऑफ बंगाल' नामक पुस्तक को पढ़ कर कहा था कि इसमें वर्णित कथाएं उड़ीसा में भी प्रचलित हैं। उन्होंने महसूस किया था कि कहानी कहने और सुनने के प्रति लोगों की दिलचस्पी कम होती जा रही है। नई पीढ़ी बचपन में सुनी हुई कहानियों को भूलती जा रही है। अगर किसी युवा से बचपन में सुनी हुई कहानियों को दोहराने के लिये कहा जाता है तो वह शरमाते हुए जवाब देता है, कि वह उनको पूर्णरूपेण भूल चुका है, क्योंकि कभी भी किसी ने उससे कहानी सुनाने का आग्रह नहीं किया।

श्री प्रहाराज ने अपनी कहानियों को दो भागों में बांटा। पहली प्रौढ़ जनता के लिये उपयोगी कहानियां, और दूसरी बच्चों के लिये उपयोगी कहानियां। 'उत्कल-कहानी' उनकी प्रथम प्रकाशित पुस्तक थी। इसकी कहानियां बच्चों, बूढ़ों, शिक्षितों, अशिक्षितों सभी के लिये बोधगम्य थीं। यह पुस्तक तब तक प्रकाशित उड़िया की सभी पुस्तकों से अधिक लोकप्रिय हुई।

लोक साहित्य के संग्रह के लिये श्री प्रहाराज ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं:—

१. चूंकि शहरों के शिक्षित लोगों के सामने ग्राम्य—जनता अपने गीत स्वतंत्रता-पूर्वक गाने में संकोच करती है, अतः संग्रहकर्त्ता को गांव के उसी वातावरण में रहने वाले शिक्षित लोगों की मदद लेनी चाहिये।

२. भाषा की स्थानीय विशेषता: खासकर उच्चारण शैली के कारण गीतों की रिकार्डिंग करना कठिन हो जाता है। अतः लोक-गीतों के संग्रह करने वाले लोगों को अपने लाभ और लोक-साहित्य के संग्रह के लिये साहित्यिक रुचि के स्थानीय लोगों को अपने सहायक के रूप में रखना चाहिये।

३. लोक-गीतों के संग्रह के कार्य में ग्रामीण स्त्रियों का लजीला स्वभाव एक बहुत बड़ा व्यवधान है। वे अपरिचितों के सामने गाने के लिये तैयार नहीं होतीं। अतः पढ़ी-लिखी स्त्रियों को अपने अंचल के लोक-गीतों का संग्रह करने के लिये आगे आना चाहिये।

४. कुछ लोक-गीत अश्लील हैं। अगर उनका संग्रह किया जाये तो नवयुवकों और नवयुवतियों की अभिरुचियां दूषित हो जायेंगी। उनको संग्रहीत करते समय संग्रहकर्त्ता को लोक-गीतों का अश्लील अंश तो छोड़ देना चाहिये और ऐसे शब्द चुन लेना चाहिये, जिनका प्रयोग अन्य स्थानों में बहुत कम हुआ है।

५. रिकार्डिंग करने वाले को, जहां तक संभव हो, गायक की भाषा को ही ग्रहण करना चाहिये।

श्री प्रहाराज ने उड़िया लोक-गीतों का श्रेणी विभाजन इस प्रकार किया है:—

१. कहावतें, व्यंग्य-वचन, और आशीष-वचन।

२. स्वयं-सिद्धियां (maxims), डाक-वचन, पहेलियां, भजन, पौराणिक और साहित्यिक गीत।

३. हलवाहों के गीत, चरवाहों के गीत, गाड़ीवानों के गीत, मल्लाहों के गीत, पानी खींचने वालों के गीत, धान कूटने वालों के गीत, लुहारों के गीत, झांव

यात्रा और चैंती छोड़ा के गीत, सँपेरों के पदमतोला आदि ।

४. झूला-गीत, खेल-गीत, बाल-गीत, दुःख भरे गीत, गीत-कहानियां आदि और लौरियां आदि ।

५. मुहावरे ।

श्री प्रहाराज का कथन है कि उनके श्रेणी-विभाजन के अन्तर्गत बहुत से गीत नहीं आए हैं । सचमुच यह सूची बड़ी नहीं है और कर्मगीत, दालखाई, मायालागर, गंजी-कूटा, रासरकेली, पूचीप्ले, चाकुलिया पंडा के गीत, विवाह के गीत, यज्ञोपवीत संस्कार के समय गाये जाने वाले गीत, बांसरानी और चैत पर्व पर गाये जाने वाले लोक-गीत इस श्रेणी-विभाजन के बाहर रह जाते हैं । श्री प्रहाराज ने मौखिक गीतों को लिखित गीतों के साथ मिला दिया है । इन त्रुटियों के बावजूद भी उनकी भूमिका इस क्षेत्र में कार्य करने के लिये उत्सुक लोगो का पथ-प्रदर्शन करती है ।

श्री प्रहाराज के कार्य-कलापों से प्रेरित होकर उनकी साली पीताम्बरी देवी ने सन् १९२६ में कहावतों के दो संग्रह प्रकाशित किये । उनमें नीचे लिखी सामग्री है:—

१. कहावतें, आशीर्वचन, व्यंग्य-वचन ।

२. पाण्डुलिपियों से संग्रहीत प्रवचन, कहावतें, और स्वयं-सिद्धियां (maxims) ।

श्री प्रहाराज ने पीताम्बरी देवी के अन्य संग्रहों को प्रकाशित करने का वादा किया था, शर्त यही थी कि पाठकों में उसके प्रति वास्तविक दिलचस्पी होनी चाहिये । यह वादा वह पूरा नहीं कर सकीं, वाणी का यह वरद-पुत्र बीच में ही काल-कवलित हो गया । उनके देहावसान से उड़िया साहित्य की अपूरणीय क्षति हुई ।

१९०१ में प्रमुख उड़िया आधुनिक कवि श्री मधुसूदन राव ने आमुख सहित 'कथा लहरी' के नाम से उड़िया लोक-कथाओं का एक और संग्रह प्रकाशित हुआ । इसके प्रकाशक राघवानन्द दास ने इसकी भूमिका में कहा है कि वे प्रतिष्ठित परिवार की एक महिला द्वारा संग्रहीत लोक-कथाओं में से केवल २५ ही इस संस्करण में प्रकाशित करवा रहे हैं । लज्जावश उन्होंने अपना नाम प्रकाशित कराने की अनुमति नहीं दी ।

राघवानन्द ने केवल साहित्य-प्रेम के कारण 'कथा-लहरी' को प्रकाशित नहीं किया था । लोकेषणा और वित्तेषणा भी स्वभावतः इन प्रकाशनों के मूल में थी । 'उत्कल कहानी' के संस्करणों से वे विश्वस्त हो गए थे कि 'कथा लहरी' भी उसी तरह उन्हें लोकप्रिय बना देगी तथा अच्छा लाभ देगी । १९०१ से १९०७ तक इसके ६ संस्करण निकले भी । इससे पता चलता है कि इस पुस्तक की बिक्री उनकी आशा के अनुकूल हुई । हमें यह पता नहीं चलता कि उन्होंने इस पुस्तक के अन्य भागों को क्यों नहीं

प्रकाशित किया। इसके अन्य भागों का प्रकाशन न होने के कारण संग्रहीत सामग्री लुप्त हो गई, जिससे उड़िया साहित्य की बहुत बड़ी क्षति हुई।

'उत्कल कहानी दर्पण' नामक उड़िया लोक-कहानियों का तीसरा संग्रह १६२१ में प्रकाशित हुआ। इसके प्रति जनता ने विशेष आकर्षण नहीं दिखाया, क्योंकि न तो इसकी सामग्री में और न ही प्रस्तुतीकरण के ढंग में कोई विशेषता थी। इसकी २५ कहानियों में २० दूसरी जगह से ली हुई थीं तथा उन्हें अस्वाभाविक शैली में दुबारा प्रस्तुत किया गया था। इस पुस्तक की शेष ५ कहानियां, जो इस संग्रह को सम्मान दे सकती थीं, भी इतनी अरुचिकर ढंग से प्रस्तुत की गयी थीं कि उन्हें किसी भी अच्छे संग्रह में स्थान नहीं मिल सका।

संकलन-कर्त्ता ने भूमिका में लोक-कहानियां संग्रह करने की जो योजना प्रस्तुत की, उसे अब तक न तो किसी व्यक्ति ने और न ही किसी संस्था ने मूर्त्त रूप दिया। उन्होंने सुझाया था कि:—

१. छात्रों को अपने ग्रीष्मावकाश का सदुपयोग लोक-कहानियों का संग्रह करने के लिये करना चाहिये।

२. एक प्रान्तीय साहित्यिक समाज का गठन होना चाहिये, जिसकी शाखाएं सभी जिलों में रहें। इस संस्था में कहानी कहने वालों और कहानी लिखने वालों की एक मंडली रहे, जो जिलों से संग्रहीत कहानियों को पढ़-जांच कर उनका आवश्यक परिशोधन करे।

३. तत्पश्चात् इन कहानियों का प्रकाशन पत्रिकाओं में या पुस्तकाकार किया जाय। अगर प्रकाशकों, सम्पादकों और प्रेस के मालिकों में से ५० व्यक्ति भी इस संगठन के लिये आगे आ जायें तो केवल सप्ताह भर में इस प्रकार की अनेक पुस्तकें प्रकाशित की जा सकती हैं।

सन् १६२३ में श्री उपेन्द्रनारायण दत्तगुप्ता ने कुछ उड़िया लोक-कथाओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया और उन्हें 'फोक टेल्स ऑफ उड़ीसा' शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित किया। दत्त महोदय की पुस्तक में मुख्यतया 'उत्कल कहानी' और 'कथा लहरी' की कहानियों के अनुवाद ही हैं। 'बेलावती की कहानी' और 'सियार भाई' जैसी कहानियां उनके अपने संग्रह हैं। अनुवाद-कर्त्ता ने उपरोक्त कथा-ग्रन्थों के संकलन-कर्त्ताओं के प्रति कोई आभार नहीं प्रकट किया है—यह खटकने वाली बात है। इस पुस्तक की भूमिका में उड़ीसा और बिहार के तत्कालीन डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्स्ट्रकशन्स जी. ई. फॉक्स महोदय ने कहा है कि अंग्रेजी विदेशी-भाषा है और

भारत के विषय में अंग्रेजी पुस्तकों में भारतीय वातावरण और दृश्यों का अभाव है। इस कारण ऐसी पुस्तकें लोकप्रिय नहीं हो पाती हैं। इस तरह के वातावरण की सृष्टि करने में 'फोक टेल्स ऑफ उड़ीसा' बहुत सहायक सिद्ध होगी। इस पुस्तक से संलग्न बिहार और उड़ीसा के तत्कालीन गवर्नर एँच. एँल. मेसरियर के कटक जिलाधीश के नाम लिखे गये पत्र का उद्धरण विचारणीय है। उन्होंने उड़ीसा की लोक-कथाओं की तुलना जर्मनी की लोक-कथाओं से की और उनमें अनेक समानताएं देखीं। अनुवादक द्वारा हर कहानी के अंत में प्रयुक्त लोरियों, पहेलियों, मस्खरियों और कहावतों के अनुवाद ने इस पुस्तक की गरिमा में और चार चाँद लगा दिये।

उडिया लोक-गीतों के संग्रहार्थ देवेन्द्र सत्यार्थी की १६३३ की उड़ीसा यात्रा ने लोक-साहित्य के प्रेमियों में नये सिरे से कार्य करने के लिये नई प्रेरणा की सृष्टि की। ऐसे लोगों में भी श्री चक्रधर महापात्र प्रमुख थे। उन्होंने सत्यार्थीजी को अनेक उड़िया लोक-गीत बताए। आगे चलकर सत्यार्थीजी ने इन गीतों का अंग्रेजी में अनुवाद किया। अनूदित गीत 'मॉडर्न रिव्यू', 'दी एशिया', 'दी विश्वमित्र' और 'होमेज टू ओड़िमा' में प्रकाशित हुए।

श्री महापात्र अपनी धर्मपत्नी के साथ उड़ीसा की रियासतों के ग्रामांचलों में पांच वर्ष तक घूमे। उन्होंने पर्याप्त संख्या में गीतों का संग्रह किया। इस दिशा में साहित्यकारों और जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिये १६३४ और १६३६ में 'उत्कल साहित्य समाज' द्वारा कटक में आयोजित सभाओं में उन्होंने कुछ चुने हुए लोक-गीतों को प्रस्तुत किया। लोक-साहित्य के प्रति अपने प्रेम को प्रदर्शित करने के लिये केऊंझर की रानी साहिबा ने अपनी 'उत्कली मानली गीता चुम्बक' नामक पुस्तिका प्रकाशित की, जिसमें मूल गीत देवनागरी लिपि में उड़िया भाषा में हैं, और साथ में अंग्रेजी अनुवाद भी है। यद्यपि यह एक साधारण-सा प्रयास था, परन्तु भारतीय एवं विदेशी लोक-साहित्य-प्रशंसकों के लिये यह एक उत्साहवर्द्धक घटना थी। श्री महापात्र ने एक हजार और आठ सौ पृष्ठों की अलग-अलग दो पाण्डुलिपियां तैयार की थीं, जिनकी सामग्री उन्होंने अपनी माता की स्मृतियों से संग्रहीत की थी। उन्होंने अपने गीतों का श्रेणी-विभाजन इस प्रकार किया :—

१. वहू के सुख-दुःख को प्रतिध्वनित करने वाले गीत।
२. कुमारियों के गीत।
३. बच्चों के खेल गीत।

४. कहावतें ।

५. भजन ।

६. हलवाहों के गीत ।

७. ताड़ के पत्तों पर अंकित पाण्डुलिपियों से संग्रहीत गीत ।

८. अन्यान्य गीत ।

यह श्रेणी विभाजन लोक-गीतों के विस्तृत क्षेत्र को पाटने में काफी सीमित है। यह उड़िया लोक-साहित्य में अनभिज्ञता के अभाव को सूचित करता है । ताड़ पत्रों पर अंकित पाण्डुलिपियों के गीत भी उन लोक-गीतों के अन्तर्गत आ जाते हैं जो अलिखित और कंठाग्र हैं, तथा ऐसे कि जिनकी पहले कभी चर्चा नहीं हुई ।

१९४६ में श्री चक्रधर महापात्र ने अपने संग्रहीत गीतों के अंश को 'बहू की सुख-दुःख गीतिका' के नाम से प्रकाशित किया । संक्षिप्त टिप्पणियों, विख्यात कवियों की कृतियों के उद्धरणों, और अनेक आकर्षक दृष्टान्तों से युक्त यह ग्रन्थ अपनी विशिष्टता एवं सौन्दर्यपूर्ण रुचि के कारण प्रशंसनीय है । उत्साहवर्द्धन और पाठकों के समर्थन के अभाव के कारण उनके संग्रह को पूर्ण रूप से प्रकाशित नहीं किया जा सका ।

इस क्षेत्र में संग्रह और गवेषणा करते समय प्राप्त अपने अनुभवों का संक्षिप्त विवरण देते हुए अब मैं इस विषय का उपसंहार करना चाहूंगा ।

मेरा बचपन गांव में व्यतीत हुआ । मेरे पिता ग्राम्य-कवि थे और मेरी माँ को अनेक कहानियां और गीत याद थे । लोक-साहित्य के प्रति रुचि एवं लोक-साहित्य से स्नेह मुझे उन्हीं से विरासत में मिला ।

१९४६ में मुझे उड़ीसा में संस्कृत-अध्ययन का सुपरिन्टेन्डेन्ट नियुक्त किया गया । इसी प्रसंग में मुझे प्रांत भर की यात्रा करनी पड़ी । मैंने इस सुअवसर का सदुपयोग विभिन्न श्रेणियों के लोगों से मिलने-जुलने में किया । सरकारी कार्य करते समय मैं बीच-बीच में लोक-गीतों का संग्रह करता रहा । श्रम-साध्य वर्षों के बाद मेरे द्वारा संग्रहीत लोक-गीतों के दो संग्रह प्रकाशित हुए । १९४८ में 'पल्ली पुष्प' तथा १९५० में 'पल्ली झरना' ।

सन् १९५० में मैं विश्व-भारती से सम्बद्ध हुआ । मैंने उड़ीसा के लोक-साहित्य को गवेषणा के विषय के रूप में ग्रहण किया । लेकिन इस विषय पर सामग्री पर्याप्त रूप में उपलब्ध नहीं थी । अतः मैंने छुट्टियों में संग्रह-कार्य अपने हाथ में लिया । मैंने कर्मचारियों एवं स्थानीय प्रभावशाली लोगों की मदद से लोक-कवियों, चारणों, हल-

वाहों और मल्लाहों जैसे लोगों की सभाएँ स्थान-स्थान पर आयोजित कीं और उनके गीतों को लिपिबद्ध किया। यहीं पर मुझे लोक-गीतों की धुनों तथा कहानी कहने की प्रणाली के विषय में जानकारी मिली। यहीं पर मुझे अपनी Anthology तैयार करने के लिये सामग्री-चयन का विस्तृत क्षेत्र मिला। परन्तु यह विधि मेरे लिये काफी लम्बी, दुरूह श्रमसाध्य और व्ययपूर्ण सिद्ध हुई। इससे मेरे वास्तविक उद्देश्य की आंशिक ही पूर्ति हुई। अतः मैंने इसे त्याग दिया। तत्पश्चात् दैनिक पत्रों के माध्यम से मैंने लोक-साहित्य के प्रेमियों का ध्यान आकर्षित किया। मैंने साहित्यिक पत्रिकाओं में एक लेखमाला प्रकाशित करवाई और साहित्यिक संगठनों एवं शैक्षणिक संस्थाओं के प्रमुखों से लगातार पत्र व्यवहार किया। मैं जिला बोर्डों के अध्यक्षों, विद्यालयों के निरीक्षकों एवं जिला निरीक्षकों से मिला। मैंने उनसे प्राइमरी शिक्षकों को लोक-गीतों का संग्रह करने के लिये मेरे आदेशों से युक्त सूचना-पत्र भेजने का अनुरोध किया। लेकिन उनमें से अधिकांश यह भी नहीं समझ सके कि लोक-गीत किस चिड़िया का नाम है। मेरे पास ऐसा दूसरा कोई साधन नहीं था, जिसके द्वारा अपने अभिप्राय का स्पष्टीकरण उन तक पहुंचा सकता। उन्होंने मुझे कवितायें या अपनी निजी रचनाएँ भेजीं। सबसे मजेदार बात यह थी कि विभिन्न पुस्तकों में प्रकाशित मेरी ही कविताओं को संग्रहीत करके मेरे पास भेज दिया। उड़ीसा सरकार ने मेरे लिये कुछ अस्थायी अनुदान मंजूर किया था। उससे मैंने प्रांत के विभिन्न भागों में सवैतनिक एजेन्ट नियुक्त किये। उनसे प्राप्त और मेरे द्वारा व्यक्तिगत रूप से संग्रहीत लोक-गीतों की संख्या अब एक लाख है इनमें दोहराये हुए तथा अन्य लोकगीतों के बिछुड़े अश शामिल नहीं हैं।

१९५३ में विद्या भवन के आचार्य (आगे चलकर विश्व भारती के उपाचार्य) डा० पी० सी० बागची के सुझाव और मार्ग-दर्शन के अनुसार उड़ीसा के लोकसाहित्य की कुछ विधाओं और प्रवृत्तियों का सक्षिप्त विवरण देते हुए मैंने 'ए स्टडी ऑफ ओड़िसा फोक लोर' नामक पुस्तक लिखी। उड़ीया लोक-गीतों के कुछ नमूने देव-नागरी लिपि में अंग्रेजी अनुवाद सहित इस पुस्तक में संलग्न किये गए। १९५४ में विश्व-भारती ने मेरे संग्रहों की एक जिल्द 'पल्ली गीत संचय' (लगभग ८०० पृष्ठ) शीर्षक के अन्तर्गत प्रकाशित की। उसी वर्ष विश्व-भारती से मुझे 'उड़ीया लोक कहानी' पर गवेषणापूर्ण विवेचन के लिये डॉक्टरेट मिली। यह ग्रन्थ उड़िया में लिखा हुआ था। १९५७ में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा प्रदत्त आंशिक आर्थिक सहायता एवं विश्व-भारती की सहायता से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। 'पल्ली

गीत संचय' की दूसरी जिल्द छप रही है। लोक-गीतों की तीसरी जिल्द के लिये मैं सामग्री चयन कर रहा हूं।

लोक-गीतों की खोज करते समय मैंने पाया कि अब भी कुछ बूढ़े-बूढ़ियां हैं, जिन्हें कहानी कहने का काफी शौक है। ग्रामीण बालक और बालिकाओं के लिये कहानी अब भी मनोविनोद का एक प्रमुख साधन है। किन्तु कस्बों में बात उल्टी है। यहां बालक-बालिकाएँ मनोविनोद के लिये विदेशी कहानियों की किताबों का सहारा लेते हैं, जबकि उनके अपने देश की कहानियां उपेक्षित हो रही हैं तथा दिन-प्रतिदिन लोगों के स्मृति-पटल से ओझल होती जा रही हैं।

यह हालत देखकर मैंने लोक-कहानियों का संग्रह किया और उन्हें छोटी-छोटी जिल्दों में प्रकाशित करने के कार्य को अपने कर्त्तव्य के अंश के रूप में ग्रहण किया। मैंने गांव में कहानी कहने वालों की दो किस्में देखी हैं :—

१. कहानी कहने की कला में निपुण बूढ़े स्त्री-पुरुष और

२. पेशेवर कहानी कहने वाले कथा-निधि The Ocean of Story।

कथा-निधि वह व्यक्ति है, जो कहानी कहने के कार्य को व्यवसाय के रूप में ग्रहण करता है। इसकी कहानियों में संस्कृत की प्राचीन परम्परा की छाप रहती है। यह व्यक्ति तीव्र स्मरणशक्ति-युक्त होता है। उसकी मधुर-ध्वनि में संस्कृत के श्लोकों के पठन और उड़िया गीतों के गायन की सामर्थ्य होती है। वह विभिन्न वाद्य-यन्त्रों और नगाड़ों की ध्वनि उत्पन्न करने में समर्थ होता है। वह अपने हाव-भाव से विवाह, युद्ध और सामाजिक-उत्थानों के वातावरण की सृष्टि कर सकता है। पहले वह जीविकोपार्जन के लिये सामन्तों के दरबार में घूमता रहता था। सामन्ती रियासतों के प्रान्त में विलीनीकरण के बाद अब वह स्कूलों और कॉलेजों में चक्कर लगता है। समय की अबाध गति एवं वातावरण और अभिरुचियों में परिवर्तन के फलस्वरूप कलाकारों की यह श्रेणी लड़खड़ा रही है। आने वाली पीढ़ियों को हमें यह समझाने में निश्चय ही काफी कठिनाई होगी कि कथा-निधि जैसा versatile व्यक्ति भी कभी इस धरती पर उपलब्ध था।

कहानी कहने वालों की दूसरी श्रेणी पेशेवर नहीं है। कहानी कहना किसी भी रूप में उसकी जीविका का साधन नहीं है। उसका व्यक्तित्व आकर्षक होता है। उसमें व्यंग्य का पुट विशेष रूप से रहता है। अनुभूति और अभिव्यक्ति की शक्तियां उसमें विशेष रूप से विद्यमान रहती हैं। वह कहानी के प्रारम्भ से अन्त तक उसे रोचक बनाए रखने में निपुण होता है। केवल एक परिवार के ही नहीं, गाँव के

अधिकांश लड़के उस प्रवीण कथक के द्वार पर कहानी सुनने के लिये जमा होते हैं। संध्या के शान्त वातावरण में कथक पूछता है—'सुख की कथा कहूं या दुःख की, या जिसे अनुभव किया है, वह कहूं ?' इस पर श्रोताओं में मतभेद उत्पन्न होता है। कोई राक्षस या भूत की कथा सुनना चाहता है, तो कोई जीव-जन्तु की। ऐसे मौके पर फिर कथक अपने ही निर्णय का सहारा लेता है और परम्परागत विधि से कहानी कहना प्रारंभ करता है :—

कथाटिए कहुं, कथाटिए कहुं
की कथा ? बेंगुली कथा।
की बेंगुली ? काठ बेंगुली।
की काठ ? तेली काठ।
की तेली ? घणा पेली।
की घणा ? आखू घणा।
की आखू ? कन्तारी आखू।
की कन्तारी ? मन्तारी।

अर्थात्—

मैं तुम्हें एक कहानी कहूं, मैं तुम्हें एक कहानी कहूं
कौन सी कहानी ? मेढ़क की कहानी।
कौन सा मेंढ़क ? काठ का मेंढ़क।
कौन सा काठ ? तेली काठ।
कौन सा तेली ? जो घाणी चलाता है।
कौन सी घाणी ? ईख की घाणी।
कौन सी ईख ? कन्तारी ईख।
कौन सी कन्तारी ? जादू टोना जानने वाली बुढ़िया की कन्तारी।

कहानी का अन्त इस प्रकार होता है :—

मो कथाटि सइला फुल्ल गच्छटि मरीला।
हईरे फुल्ल गक्छ तू काहीं की मल्लू ?
मोते काली गाई खाई गला।
हईलो काली गाई तू काहीं की खाइलू ?
मोते गउड़ जगीला नाहीं।
हईरे गउड़ तू काहीं की जगीलो नाहीं ?

मोते बड़ो बहू खाईबा का देला नाहीं।
हईलो बड़ो बहू तू काहीं की खाइबा कू देलो नाहीं ?
पुग्र कान्दिला।
हईरे पुग्र तू काहीं की कान्दीलू ?
मोते जन्दा कामुड़ी देला।
हईरे जन्दा तू काहीं की कामुड़ी देलू ?
मूं माटी तले तन्दे थाए। कउल मांस पाइले चटकीनी कामुड़ी दिये।

अर्थात्—

मेरी कहानी खत्म हुई। फूल का पौधा मर गया। अच्छा तो फूल के पौधे, तुम क्यों मरे ? काली गाय मुझे खा गई। क्योंरी काली गाय, तुमने पौधे को क्यों खाया ? ग्वाले ने मेरी रखवाली नहीं की। क्यों रे ग्वाले, तुमने गाय की रखवाली क्यों नहीं की ? बड़ी बहू ने मुझे खाना नहीं दिया। क्यों री बड़ी बहू, तुमने ग्वाले को खाना क्यों नहीं दिया ? बच्चा रोने लगा। क्यों रे बच्चे, तू क्यों रोया ? मुझे मकोड़े ने काट लिया। क्यों रे मकोड़े, तुमने बच्चे को क्यों काटा ? मैं मिट्टी के नीचे रहता हूं। जब भी मुझे मुलायम मांस मिल जाता है, तो मैं काट खाता हूं।

इन सब प्रयत्नों के बावजूद मैं अनुभव करता हूं कि इस क्षेत्र में संग्रह-कार्य तथा गवेषण उड़ीसा में अभी भी प्राथमिक अवस्था में ही है। टेप रेकार्डिंग मशीन का प्रयोग स्वरलिपि की पद्धति में सुविधा के लिये तर्जों को सही रूप में रिकार्ड करने में नहीं हुआ है। किसी भी पूर्णांग संग्रह के लिये अभी तक उड़ीसा सरकार, उत्कल यूनिवर्सिटि अथवा साहित्य अकादमी की तरफ से गंभीर प्रयास नहीं हुआ है। अनेक अनियमितताओं के बावजूद भी केवल एक-दो आदमी हैं, जो इस क्षेत्र में अनवरत कार्य कर रहे हैं।

लोक-गीत ग्रामीण जनता के हृदय के स्मारक हैं। अलग-अलग समय अलग-अलग गीत गाए जाते हैं। हलवाहा हल जोतता है, गाड़ीवान गाड़ी चलाता है, कृषक खेत निराता है, धान काटता है, दौरी करता है, ओलचा चलाता है, कोई नाव खेता है, कोई चरखा कातता है, कोई चक्की पीसता है, कोई बैठा हुआ एकान्त नीरव क्षणों में अपने दूर बसे हुए अथवा बिछड़े हुए साथी की याद करता है। गीत के मादक प्रभाव से देह का श्रम व मन की क्लान्ति दूर हो जाती है। गीतों का रस श्रम के साथ घुल-कर उसे रसमय बना देता है।

गीत और नृत्य साथ-साथ चलते हैं। पर नृत्य-विहीन गीत अथवा गीत-विहन नृत्य

भी पाए जाते हैं। नागा-नृत्य में गाना नहीं होता। छऊ-नृत्य में समय-समय पर गीत गाया जाता है। पादुआ, चैती, घोड़ा, पाला या दासकाठिया में नृत्य का कोई विशेष समावेश नहीं होता। आदिवासी विवाह में सामाजिक नृत्य आयोजित होता है। शिकार-नृत्य उड़ीसा के रियासती अंचलों में तथा कोरापुट में प्रचलित थे।

लोक-गीतों अथवा लोक-कथाओं पर आधारित दो लोकनृत्य—पाला और दास काटिया—उड़ीसा में आज भी बहुत प्रचलित एवं लोकप्रिय हैं।

पाला—उड़ीसा की परम्परागत लोक-नाट्य शैली है। इसमें गीतों का बाहुल्य होता है तथा एक भी गद्यात्मक संवाद का उपयोग नहीं किया जाता। पाला मंडली में पांच या छः व्यक्ति होते हैं और मुख्य गायक ही मंडली का अगुआ होता है। यह व्यक्ति अच्छा गायक, विनम्र, व्यवहारकुशल तथा विनोदी होता है। उसका ज्ञान, गीतों के अर्थाने की योग्यता तथा बडे-बड़े कवियों के पदों को यथास्थान उद्धृत करने की क्षमता, उसकी सफलता के विन्दु होते हैं। ढोल बजाने वाला व्यक्ति पाला-गायन के समय अपनी अंगुलियों का कमाल दिखाते हुए, बीच-बीच में, मुख्य गायक के विद्वत्ता भरे लम्बे प्रवचनों की गम्भीरता को विनोदी फिकरों और कथाओं से तोड़ने का काम करता है।

दो पाला मंडलियों के बीच प्रतिस्पर्द्धा का आयोजन बहुत मजेदार होता है। गद्य का बहुत कम प्रयोग होता है। कविता अधिक उपयोग में लायी जाती है। मीन-मेख कम, रस अधिक; शुष्क बुद्धिमत्ता के बजाय अधिक विनोद, नृत्य और संगीत पाला की विशेषताएं हैं।

पाला का आयोजन खर्चे का विषय है। फिर भी गरीब लोग साधारणतया किसी पुजारी को बुला लेते हैं तथा गांव के एक या दो गायकों से सत्यनारायण की कथा को गीत-संगीत के माध्यम से प्रस्तुत करवा लेते हैं। पुजारी प्रारम्भ में कुछ मंगल गीत गाता है और तत्पश्चात् कथा के मूल-प्रसंग की ओर उन्मुख होता है। वह बताता है कि किस प्रकार भक्त की मनोकामना पूरी हुई—पुत्र या पुत्री, धन या अधिकार प्राप्त हुआ; या किस प्रकार ईश्वर को न मानने वाले को कोपभाजन होना पड़ा और बीमार होकर कैसे वह मृत्यु को प्राप्त हुआ—आदि।

पाला का प्रारम्भ हिन्दू और मुसलमानों की एकता के लिए उड़ीसा में किये गये प्रयत्न से सम्बन्धित है। १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में, शुजाउद्दीन के राज काल में, उड़ीसा के हिन्दुओं द्वारा दोनों जातियों में भेद पाटने का प्रयत्न किया गया था। एकता के लिए किया गया यह आन्दोलन समूचे उड़ीसा में फैला। सत्यपीर—जो कि

सत्यनारायण का बिगड़ा रूप है—दोनों जातियों के जोड़ने वाला पुरुष हुआ। इसीलिए पाला में सत्यनारायण की कथा का महत्त्व कम उल्लेखनीय है।

'दास काठिया' किसी समय गंजाम जिले में बहुत प्रसिद्ध था। कालान्तर में इसका प्रसार सम्पूर्ण उड़ीसा में हो गया। 'दास' का अर्थ है भक्त और 'काठी' का आशय है लकड़ी के बने टिकोरे जिनकी ताल पर दास गाता है। इस प्रकार 'दास काठिया' शब्द 'दास काठी' से बना है।

दास काठिया—मंडली में प्रायः दो व्यक्ति होते हैं। एक गायक होता है और दूसरा 'पालिया' जो कि गायक की सहायता करता है और गाते समय गायन में संगति और टेक देता है। दोनों व्यक्ति गाते हुए अभिनय भी करते हैं और चन्द्रावली' जैसी सम्पूर्ण कथा से परिचित कराते हैं। इस दृष्टि से 'दास काठिया' वस्तुतः लोक-नाट्य ही सिद्ध होता है। दोनों भक्त गायक विनोदी कथाओं को संवादों के जरिए प्रस्तुत करते हैं और अपनी कला द्वारा लोक-जीवन की एकरसता को भंग करने में सहायक होते हैं। दोनों व्यक्ति मिलकर पुराणों के उद्धरणों सहित पदों और गीतों द्वारा लोगों के मन जीत लिया करते हैं। कहा जाता है कि 'दास काठिया' के गायक राम-भक्त होते हैं।

वारमासी और पिला भूलाणिया—आदि कुछ गीत दिल-बहलाव के लिये हैं। पुचिगीत, कबड्डी, राहाधारा गीत, आँख-मिचौनी में चोर चुनने का गीत, दोली-गीत आदि खेलो में गाए जाते हैं। करमा, दंडनाट्य, पादुआ यात्रा के अधिकांश गीत धर्मानुष्ठान से संबद्ध हैं। जन्म, विवाह आदि आनन्दोत्सव और मृत्यु-विच्छेद आदि शोक के अवसरों पर गीत गाये जाते हैं। ओड़िया ग्राम-बालिका सास के घर जाने के पहले 'कान्दणा' सीखती है। महीनों तक उसे रटती है। शिक्षण-पद्धति में कृत्रिमता रहने पर भी इसके द्वारा नारी जाति का सर्वश्रेष्ठ कवित्त्व प्रकाशित होता है।

प्रकृति और वायुमण्डल लोक-गीत की महिमा बढ़ाते हैं। इन दोनों से Synchronise करके चलने वाले लोक-गीत ही समय-सापेक्ष तथा प्रभावशाली होते हैं। स्वर, गीतों का प्राण होता है। स्वर-शिक्षा ग्रामीणों की पारम्परिक रीति के अनुसार होती है। इसे लोग सुन-सुन कर सीखते हैं। उड़िया लोक-गीत अधिकांश में धर्म-निरपेक्ष होते हैं। पौराणिक कथाएं, धार्मिक चर्चाएं भी गीतों की विषय-वस्तु के रूप में निखरती हैं।

कन्या के ससुराल जाते समय उड़ीसा का गृह-प्राङ्गण करुण गीतों से मुखरित हो उठता है। 'कान्दणा' के स्वरों में नारी का हृदय उफन आता है। इस गीत में धनी

अथवा अर्थहीन समाज का जिक्र विशेष रूप से चुभता है। आर्थिक अनिश्चितता निम्न-मध्यवर्गीय नारी-समाज के दुःख एवं चिन्ता का कारण होती है। मध्यवर्ग की कन्या को कभी-कभी अभाव में रहना होता है। वहां उसे उचित आदर अथवा लाड़-प्यार नहीं मिल पाता। माँ बचपन से उसे बड़ा सहेज कर पालती-पोसती है। देह कुम्हला जायेगी, यह सोच कर धूप में नहीं जाने देती। वही कन्या ऐसे घर में पहुंच जाती है, जहां वह तो सबकी देखभाल करती है, पर उसकी देखभाल करने वाला कोई नहीं होता। वहां सढ़ई से मांड बंटता है, कटोरी से नाप कर भात परोसा जाता है, भीगा कपड़ा देह पर ही सूखता है। आँखों के आंसू आँखों में ही सूख जाते हैं, पर वेदना का अन्त नहीं होता। सुकुमार वयस में ही तानों एवं झिड़कियों की विषाक्त बौछार सहते-सहते उसका कोमल शरीर क्लांत हो जाता है। तब वह असहायता में, केवल रो-रोकर, अपनी वेदना को हल्का करने का प्रयास करती है :—

मुँह पोडु तोर झिअ जनम्, जनम घरे ला नाहिं मरण
पालि की बाउंश मुंठ रे जरि, एतकि बेलरे जा आंतिमरि
कंसर सवारि जाआन्ता फेरि, मो बापा बसन्ति गुमानकरि
मो वोउ कांदन्ता मो नाम धरि, एका कांदक जाआन्ता मरि

अर्थात्—जलजाय लड़की का जनम। जनम तो गई, लेकिन मौत नहीं है। पालकी की मूठ की रस्सी जल जाय, (और उसी से) मैं मर जाती। तब यह कंस की सवारी लौट जाती और मेरे पिता अभिमानपूर्वक चुप बैठे रहते। मेरी माँ मेरा नाम लेकर रोती। एक ही रुदन में खेल खतम हो जाता।

कितना दर्द और कितनी टीस है इस गीत में !

लोक-गीतों की सारी परम्परा ही लोक-जीवन के अनन्यतम क्षणों से जुड़ी हुई है। वे चाहे करुणा के गीत हों, चाहे कृषि के गीत हों, चाहे केवट का स्वर हो, चाहे पहेलियाँ अथवा स्वयंसिद्धियां हों। मैं नीचे कुछ उड़िया लोक-गीतों का मूल व उनका अनुवाद प्रस्तुत करता हूँ—

कहावतें और स्वयंसिद्धियां :

चोर को अड़ुआ चांदनी राती।
दारी की अड़ुआ पुअ।
माली की अड़ुआ छेली वलद।
दुखी अड़ुआ झिअ।

अर्थात्—चोर को चांदनी रात अच्छी नहीं लगती। वेश्या को पुत्र अच्छा नहीं लगता। बैल और बकरियां माली के लिए कष्टदायक हैं। गरीब दुःखी आदमी के लिये लड़की बोझ होती है।

साबू जाऊ, महत थाऊ।
महत गले न मिले आऊ।

अर्थात्—सब कुछ चला जाय परन्तु सम्मान रहे। क्योंकि एक बार चला जाने के बाद वह सम्मान पुनः नहीं मिलता।

परते न जीबू नारी सुनारी।
परते न जीबू बिटपी नारी।
परते न जीबू गन्ठी कटाकू।
परते न जीबू तन्टी कटाकू।
परते न जीबू तन्ती रे पूता।
खाये बारण पुंणी चोराये सूता।

अर्थात्—स्त्री और सुनार का विश्वास मत करो। कुल्टा स्त्री का विश्वास मत करो। पॉकेटमार का विश्वास मत करो। गला काटने वाले का विश्वास मत करो। जुलाहे के पुत्र का भी विश्वास मत करो, क्योंकि वह मजदूरी लेकर भी सूत चुराता है।

भोदई खरा, भृत्य मगरा।
गोदरी दारी, निरमूली नारी।
कही नूहई ये गुमान चारी।

अर्थात्—भाद्रपद महीने की चिलचिलाती धूप, बात-बात में जवाब देने वाला नौकर, रोगिणी वेश्या और सन्तानहीन स्त्री इन चारों का गर्व सहने योग्य नहीं है।

अति गल्हा पुअ मन मोटिया।
अति गल्हा झिओ, दांड रे ठिआ।

अर्थात्—अत्यधिक दुलार के कारण लड़का मनमौजी हो जाता है और अत्यधिक दुलार के कारण लड़की चरित्रहीन हो जाती है।

घूसुरी की काहीं पाचीला कदली।
अन्ध हाते रत्न मूंदी।
पेचा चढ़ई की सुबर्त पंजूरी।

कोरड़ सुमरी कान्दी ।

अर्थात्—सुअर को पका केला अच्छा नहीं लगता । अन्धे के हाथ में रत्न-युक्त अंगूठी का मूल्य नहीं है । उल्लू को सोने का पिंजरा भी अच्छा नहीं लगता, वह तो पेड़ के खोखले तने में बैठ कर भी घोंसले के लिये रोता है।

पहेलियां :

गच्छ टीलण्डा
ऊपरे बसि छी फकीर पण्डा ।

अर्थात्—पत्रहीन वृक्ष की डाली पर फकीर पण्डा बैठता है । चूल्हे पर हांडी ।

रंग रंगता, पाणी देले गच्छ मरी जान्ता ।

अर्थात्—पौधा बिल्कुल लाल है, परन्तु पानी देने से मर जाता है । आग ।

टीकि बाछुरी, बेक रे पघा ।

अर्थात्—छोटी-सी बछड़ी के गले में बड़ी रस्सी । सुई-धागा ।

करुणापूर्ण गीत :

थारी मारी देले छऊल पाणी, हे बऊ ।
दूर देश बन्धु के जिबो आणी, हे बऊ ।
दूर देश बन्धु करचि होते, हे बऊ ।
के फूल फूटइ चैंइत राते, हे बऊ ।
फूल मौलई खरा तेज कू, हे बऊ ।
झिओ मौलई कथा पद कू, हे बऊ ।
दूब बढ़ू थिला काकर खाई, हे बऊ ।
मूं तो बढ़ी थिली तो स्नेह पाई, हे बऊ ।
दूब कू काकर सहिला नाहीं, हे बऊ ।
मौ अलिअल न रहीला नाहीं हे बऊ ।

अर्थात्—हे माँ, थाली को धोने से पानी आन्दोलित होता है । तुमने मेरी शादी दूसरी जगह कर दी है । मुझे लाने के लिये इतनी दूर कौन जायगा ? चैत्र की रात में फूल खिलता है, और चिलचिलाती धूप से मुरझा जाता है । मात्र कठोर शब्द से लड़की मुरझा जाती है । ओस की बूंदें खाकर घास बढ़ती है । हे माँ, मैं तुम्हारे प्यार से

बढ़ती थी। ओस घास के लिए अनिष्टकारी हो गई। मुझे मिलने वाला स्नेह भी अब नहीं रहा।

कृषि गीत :

गहीर बिल कू कन्हाई नेले हल।
राधा नेले दही, पखाल पहड़े हेला बेल हो, पहड़े हेले ठिआ।
एडे निदारुण कला जे कन्हाई।
फाटी तो जांऊं हीआ हे।

अर्थात्—कन्हाई ने बैलों पर जूआ रखा और हल लेकर खेत को चला। राधा, पानी में मिला भात और दही लेकर चली, और बहुत देर तक इन्तजार करती रही। कन्हाई ने उसकी तरफ देखने का भी कष्ट नहीं किया। तब राधा ने क्रुद्ध होकर कहा—तुम बड़े निर्दयी हो। अरे कलूटे तुम्हारा हृदय क्यों नहीं फट जाता।

भाब कू निकट, अभाब को दूर
भाबिला लोक जाई पचार मनुआं
मथुरा केते दूर ?

अर्थात्—जो भगवान से स्नेह रखते हैं, वह उनके पास रहता है। जो उससे स्नेह नहीं करते, वह उनसे दूर रहता है। हे पगले, प्रेमीजनों से पूछो, वे ही बतायेंगे कि मथुरा कितनी दूर है अर्थात् स्वर्ग कहां है।

धर्म रू जय हो, पाप रू हुए खेय
धर्म थिला प्राणी कू न पडे अप्रमेय ओ।

अर्थात्—धर्म से तुम्हारी जीत होती है जबकि पाप विनाश की ओर ले जाता है। धार्मिक आदमी को शायद ही कभी दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है।

केवट के गीत :

अथल नई रे पथर कली भेला
साहा होई थिबू मांआ जे मंगला

अथात्—हे मंगला माता, (स्थानीय देवी), नदी की गहराई असीम है और उस पर पत्थर का बेड़ा तैराया गया है। तुम्हारी कृपा से यह बेड़ा अपने आप ही शीघ्र तैरने लगेगा।

आ रे नोई जे न अ बान्क
पोखरी समतूल
कुजी लहरी रे भासी जे जाऊछी
अदिन लाऊ फूल
आदिन लाऊ फूल नअे तो नए जाऊ
कलरई फूल केड़ेत सुढल
जवाब देई जाऊ

अर्थात्—झील की सतह समतल है। नदी का मार्ग टेढ़ा-मेढ़ा है। असामयिक लौकी का फूल नदी में बहा जाता है। इसे नदी में बहने दो। मेरे प्रिय, करेले के फूल को 'हाँ' कहने दो।

राधिका दूतिका पाणी की धाऊँ, दिया,
धाऊँ धाऊँ बेल बूड़ई नाहूँ कि नाउरिया,
अछी मूं बनमाली
ददरा नाव को लो रखचि सज करी
आग' मन्ग ठारू पाछ' मन्क भारी
पारीत करी नेई जमुना कुले ठीया
पारी कराई मूल त मागुछी बिनो दिया हो।

अर्थात्—राधा और उसकी दूतिका दौड़ कर नदी गई। शाम हो चुकी है। अरे केवट, क्या तुम नहीं हो ? हाँ, मैं बनमाली यहां उपस्थित हूँ। मैंने इस जीर्ण-शीर्ण नौका को तैयार कर रखा है। हे राधिका चाची, नाव के बीच मे बैठो, क्योंकि पीछे का हिस्सा आगे से भारी है। ऐसा कह कर वह उन्हें नदी के पार खेकर ले गया। और अन्त में जब वे सूखी जमीन पर आ खड़े हुए, तो उसने मजाक में किराया मांगा।

अनुवाद : जगदीशप्रसाद शर्मा

कला

लिंगराज मंदिर, भुवनेश्वर

पिछला पृष्ठ . मर्दल वादक

सम्मुख पृष्ठ · मिथुन मुद्रा, कोणार्क मंदिर

मुक्तेश्वर मंदिर, भुवनेश्वर

सम्मुख पृष्ठ : भुवनेश्वर का मंदिर
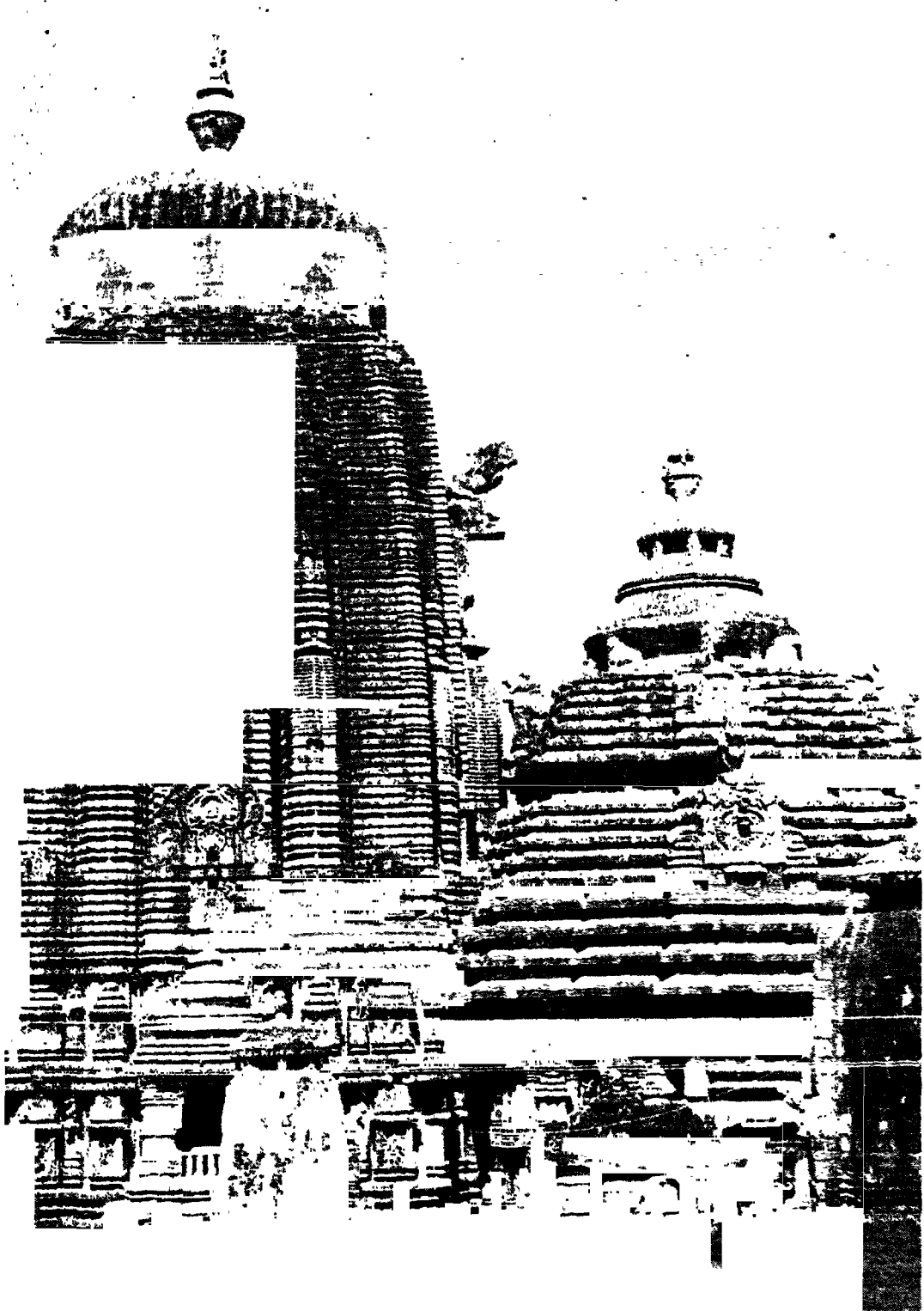
मिथुन मूर्ति, कोणार्क मंदिर
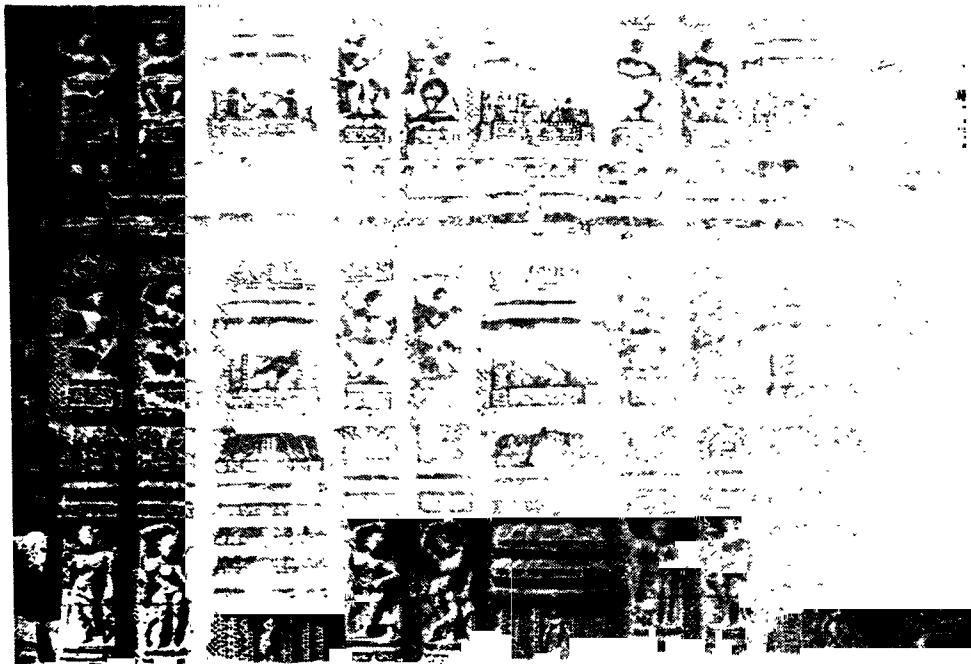
धीरेन्द्रनाथ पटनायक

उड़ीसा के लोक-नाट्य तथा लोक-नृत्य

ग्रामीण भारत की आत्मा को समझने-पहचानने के लिए, भारतीय-समाज की लोक-कला और लोक-गीतों का अध्ययन आवश्यक है। शताब्दियों से निरंतर विकसित होते हुए वे आज ग्रामीण-समाज की संस्कृति का अभिन्न अंग बन गए हैं। उनकी अपनी एक मौलिकता है, एक आकर्षण है, और वह हमारे लम्बे तथा बहुरंगी सांस्कृतिक इतिहास की एक अत्यंत ही उल्लेखनीय धरोहर हैं। गीतों, नृत्यों और नाटिकाओं के रूप में, लोक-कला की एक समृद्ध परंपरा रही है। हालांकि इस परंपरा का एक बड़ा भाग आज भुला दिया जा चुका है, और इनमें से अनेक गीत-नृत्यादि लोक-स्मृति से दूर जा पड़े हैं, तब भी लोक-संस्कृति की एक धारा आज भी सतत प्रवहमान और जीवित है। उसे ग्रामवासी बराबर अपनाए हुए हैं और वह उनके हाथों विकसित भी हो रही है। क्योंकि वह उनके लिए मात्र आह्लाद और आनंद की वस्तु ही नहीं, अपितु धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा सुखी-जीवन के लिए आवश्यक अन्य समस्त जानकारियों का साधन-स्रोत भी है। अधिकांश कलारूपों के प्रयोग और प्रदर्शन के लिए समूह की आवश्यकता होती है, जो गांव के जातीय परिवेश में, जहां जीवन अधिक समरूप होता है, सरलता से उपलब्ध हो जाता है। इसलिए केवल कुल कला-रूपों को छोड़—जो एकल अथवा युगल प्रकार के हैं—अन्य सभी कलारूप समूहगत प्रक्रियाएं है। इस प्रकार के सामाजिक एकता के निर्माण में भी सहायक होते हैं।

लोक-कला :

फिर चाहे वह गीत हो, नृत्य हो, अथवा नाटिका हो, कई रूपों में प्रदर्शित की जा सकती है। चरित्र, प्रसंग, शैली तथा प्रस्तुतीकरण के संदर्भ में, प्रत्येक कलारूप का अपना एक वैशिष्ट्य है। यह कला केवल मेलों-त्योहारों से ही संबद्ध नहीं है, अपितु जीवन की अन्य गतिविधियों को भी छूती है। यही कारण है कि भारत के ग्रामीण क्षेत्रों का जीवन जड़ताग्रस्त नहीं वरन् लोक-कला के इस परिष्कार से जीवंत और अनुप्राणित है, जिसमें समाज का प्रत्येक सदस्य दर्शक, संगठन, अथवा पात्र के रूप में अपने आपको कहीं न कहीं उत्तरदायी पाता है। मानव-मन-मस्तिष्क की समस्त भावनाएं एवं विचारणाएं इन कलारूपों में अभिव्यक्ति पा जाती हैं। लोक-कला के इस भण्डार में माँ की गोदी से चिता तक गाए जा सकने वाले गीत उपलब्ध हैं। ऐसे नृत्य हैं जो आनंदोत्सवों से लेकर युद्ध के अवसरों तक प्रयुक्त होते हैं और ऐसे नाटक हैं जो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक प्रसंगों और प्राचीन अनुश्रुतियों का आख्यान और प्रदर्शन करते हैं, जिसमे जनता को हौसला और हिम्मत रखने की प्रेरणा प्राप्त होती है।

लोक नृत्य :

लोक नृत्य, मुख्यतया नागर-संस्कृति की धारा से दूर और व्यवस्थित शिक्षा की सुविधाओं से वंचित, गांवों-देहातों में रहने वाले अशिक्षित अथवा अल्प-शिक्षित जन समुदाय के नृत्य हैं। लोक-नृत्य और नृत्य के अन्य प्रकारों—शास्त्रीय, परंपरागत, पूर्वीय, बेले आदि—में अंतर यह है कि लोक-नृत्य जहां स्वान्तःसुखाय होता है, वहां दूसरे प्रकार के नृत्य, दर्शकों के आह्लाद के लिए आयोजित होते हैं। इतना ही नहीं, वरन् लोक-नृत्य जहां अपने स्वभाव और बनावट में सामाजिक और समारोहानुसार हैं, वहां दूसरे प्रकार के नृत्य ऐसे नहीं। संभवतः लोक-नृत्य की ये ही दो मौलिक विशेषताएं है जो उसे अन्य प्रकार की नृत्य-पद्धतियों से पृथक् करती हैं।

इस दृष्टि से विचार करने पर उड़ीसा के लोक-नृत्य, भावना की कसौटी पर खरे उतरते हैं। उनमें अनेकरूपता है और अनुपम सौंदर्य भी। वे मेलों-त्योहारों और विवाहादि धार्मिक-समारोहों से, यथार्थ में तो समूचे जन-जीवन से ही-गहरे जुड़े हुए हैं। शुभ अवसरों पर आयोजित किये जाने वाले नृत्यों के अतिरिक्त, दैवी-कोप और हानि से बचाने के लिए, आसुरी-शक्तियों को संतुष्ट करने के लिए, सौभाग्य तथा सांसारिक सुख की प्राप्तिके लिए एवं देवताओं की प्रसन्नता के लिए भी नृत्य किये जाते हैं। केवल आमोद-प्रमोद अथवा मनोरंजन के लिए भी नृत्यों की कमी नहीं है। प्रत्येक नृत्य

को, उसके संगीत, लय, मुद्रा, रूपाकृति और वेशभूषा तथा इन सबकी विविधता के अनुसार दूरसे पहचाना जा सकता है। इन सब में स्थानीय परंपराओं और सामाजिक परिवेश से प्रसूत विविध शैलियां प्रतिफलित होती हैं।

पाइक-नृत्य अथवा युद्ध-नृत्य :

पाइक शब्द, संस्कृत के 'पदातिक' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है पैदल सेना। प्राचीन काल में उड़ीसा के सम्राटों ने, अपने असंख्य बहादुर 'पाइक' सैनिकों की सहायता से, गंगा से गोदावरी तक अपने राज्य का विस्तार किया। यद्यपि वे अब नहीं रहे, लेकिन खुर्दा, नयागढ़ और पुरी जिले के आसपास के क्षेत्रों में, उनकी संतानों द्वारा आज भी वह युद्ध-नृत्य परंपरागत रूप में जीवित है। यहां तक कि उस क्षेत्र के गांवों तक में एक 'पाइक अखाड़ा' होता है, वहां दिन भर की मेहनत के बाद युवक एकत्र होते हैं। इस नृत्य का मूल उद्देश्य नृत्यरत योद्धाओं में शारीरिक उत्तेजना द्वारा साहस को बढ़ावा देना था। प्राचीन-काल में यह अघोषित रूप में युद्ध का पूर्वाभ्यास माना जाता था।

कई बार त्योहारों के अवसर पर युवक-गण कसीली रंगीन धोती अथवा जांघिया पहन तथा मोरपंखों के गुच्छों से सुशोभित पगड़ी धारण कर अनुपम मंडलाकारों में नृत्य करते हैं। वे अपने शरीर पर लाल मिट्टी लगाते हैं। प्रारंभ में एक तलवार और ढाल हाथ में लेकर, वे फुर्ती से एक के बाद एक सामने आते हैं। इस समय मिट्टी के घड़ों को निरंतर पीट कर ध्वनि की जा रही होती है। चंगु (टेम्बूरीन ऐसा एक ग्रामवाद्य, जो लकड़ियों से बजाया जाता है) भी बज रहा होता है। सब लोग उत्तेजना बढ़ाने के लिए जोरों से चीखते-चिल्लाते हैं। इस समय नर्तकगण वीर रस से युक्त छंदों का उच्चारण करते हैं। यह करते समय वे दो दलों में विभक्त होकर, तरह-तरह की शैरीक निर्मितियों में संगठित हो, शत्रु से बचाव और उस पर आक्रमण का अभिनय करते हैं। इस तरह के नृत्यों में, तलवार के गंभीर खेल भी हैं, जिनमें थोड़ी-सी असावधानी नर्तक को आहत कर सकती है। यही कारण है कि अभ्यास के आरंभिक दिनों में, नर्तकों को लकड़ी की तलवार ही दी जाती है। किसी समारोह के अवसर पर ही, सर्वाधिक कुशल नर्तकों को वास्तविक तलवार लेने दी जाती है। यह नृत्य अपनी विस्फोटक क्षमता के लिए विख्यात है।

पूजा-नृत्य :

दंडनाट : उड़ीसा का नितांत अपना और वहां के लोक-नृत्यों में सर्वाधिक प्राचीन नृत्य

'दंडनाट के नाम से जाना जाता है। यह सदैव उड़ीसा के लोक-जीवन की धार्मिक गति-विधियों का एक अंग रहा है। इसके साथ कई प्रकार की उलझी हुई धार्मिक विधियां जुड़ी हुई हैं और इसका आयोजन, चैत्र-समारोहों के अवसर पर, जबकि अन्य प्रमुख नृत्य जैसे—चौ, पटुआ, चैती घोड़ा इत्यादि भी आयोजित होते हैं, किया जाता है। दंडनाट मे भगवान शिव एवं उनकी पत्नी गौरी, की वंदना की जाती है। यह विधि अर्थात् यह नृत्य आसपास के क्षेत्रों में भी प्रचलित है। गोंड इसे मेघनाद कहते हैं। बिहार के छोटा नागपुर अंचल की जनता इसे मांडा कहती है। बंगाल में चड़क पूजा, और 'शिवेर गाजन' तथा उड़ीसा के दूसरे अंचलों में यह धार्मिक त्योहार, 'झमूनाट', 'झानी जात्रा', 'पतुआ जात्रा', 'उदापरव', 'पणा संक्रांति', 'दंडनाट आदि नामों से जाना जाता है। विधि हालांकि एक समान है, नृत्य अलग-अलग हैं।

दंडनाट मुख्यतया, उड़ीसा के पुराने रियासती क्षेत्रों की निम्नवर्गीय हरिजन जनता में प्रचलित है। इसकी जड़ें तन्त्रयुग (६००-७०० ई०) में पाई जाती हैं। जब उस सुदूर अतीत में, तन्त्रवाद ने उड़ीसा में भी अपना अच्छा प्रसार किया एवं समाज की कला और संस्कृति पर अपनी अमिट छाप छोड़ी। उन दिनों में उड़ीसा, तन्त्र-विद्या का एक महान् केन्द्र समझा जाता था, जो 'उड्डियान-पीठ' के नाम से विख्यात था। शैव-मत की पाशुपत विचारधारा के प्रवर्तक, अपने साथ एक 'लगुड़'[1] अर्थात् कर्मचारियों का समूह रखते थे, अतः उन्हें 'लगुड़ीस' अथवा 'लकुलीश' के नाम से जाना जाता था। उड़ीसा के कई शिव मन्दिरों में, 'लकुलीश' के भित्ति-चित्र पाए जाते हैं और प्रत्येक चित्र में उनके साथ, उनके कर्मचारियों का समूह भी है। शैव-भिक्षुओं की एक शाखा, दंडी के नाम से जानी जाती है। यह इसलिए कि उनके हाथ में दंड अथवा लाठी धारण करने की प्रथा थी। यहां दंड अर्थात्, लाठी, शिव का प्रतीक है। दंड के आरम्भ के पूर्व, दो लाठियों को नीचे से बांध दिया जाता है। यह शिव और गौरी का प्रतीक है और साधारणतया इसे गौरी-बेटा कहते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि, दंड से तात्पर्य है वाक्-दंड, मनो-दंड और काया-दंड। दंडनाट में भाग लेने वाले भक्त माने जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग भी जो व्रत रखते हैं, किन्तु नृत्य में सम्मिलित नहीं होते, भक्त ही माने जाते हैं। वे नंगी तलवार और लपट निकालती आग

---

१. 'लगुड' शब्द का अर्थ डंडा या लाठी होता है, साधु, स्वामी या परिव्राजक आदि का एवंविध दंड-धारण सामान्य बात है। अतः इनके नामकरण का कारण यदि यही शब्द है तो उनके नाम की परिभाषा भी इसी अर्थ के अनुसार युक्ति-संगत प्रतीत होती है—सम्पा०

पर चलते हैं, अपनी चमड़ी और जिह्वा में कील-कांटे गड़वाते हैं। यह भीषण प्रायश्चित वे इसलिए करते हैं कि देवी-देवताओं का ध्यान उनकी तरफ आकर्षित हो, उनके दुःख दूर कर, देवी-देवता उनकी कामना-पूर्ति के लिए वरदान देकर उन्हें कृतार्थ करें। नृत्य करने वाले भक्तों की संख्या सदैव तेरह रहती है। प्रमुख भक्त को पट-भक्त कहा जाता है। ये सब लोग, गांव से कुछ दूर बने एक घर में, जिसे 'कामना-घर' कहा जाता है, सोते हैं। वहां एक दीपक इक्कीस दिनों तक जलता रखा जाता है। ये लोग दिन में केवल एक बार भोजन ग्रहण करते हैं, जिसमें केवल चावल होता है। जब ये भोजन करते हैं, तब नगाड़ों की ध्वनि होती रहती है, जिससे कि उन्हें कोई मानवी-स्वर सुनाई न पड़ सके। यदि कहीं उन्होंने इसे सुन लिया तो वे भोजन त्याग देते हैं।

ये भक्त-नर्तक बुलाये जाने पर गांव-गांव घूमते हैं। गांव की जनता में से, जिन भाई-बहन ने भी सुख-समृद्धि के लिए, दंडनाट करवाने का व्रत लिया होता है, वे इस मंडली को बुलाते हैं। उनके रहने-खाने का और कुछ दूसरा अतिरिक्त खर्च भी, वे भाई-बहन स्वयं ही उठाते हैं। इस प्रकार यह मंडली लगभग एक महीने तक गांव-गांव घूमती रहती है।

दंडनाट के समृद्ध भंडार में गौरी-बेटा बंदना, भूना खेला, परवा, पत्रसौर, चदय-चदयानी, फकीरा-फकीरनी, सपुआ-सपुआनी, केला-केलुनी, बिनाकार, बैचना आदि अनेक उपनृत्य सम्मिलित हैं। ये सभी नृत्य धार्मिकता से ओतप्रोत हैं। तथापि, संगीतमय होकर ये नृत्य ग्रामीण-संसार का एक सजीव चित्र प्रस्तुत करते हैं। इस नृत्यभंडार की प्रत्येक वस्तु का अपना संगीत है, अपने गीत हैं। ढोल और महुरी (हवा से बजने वाला एक वाद्य) ही सहयोगी वाद्य रहते हैं। नृत्य करने वाले बीच-बीच में गीत भी गाते हैं। प्रसंग के अनुसार पोषाक भी बदलती है। स्त्री की भूमिका पुरुष ही निभाते हैं।

करमनाट :

करम अर्थात् कर्म का शाब्दिक अर्थ है—भाग्य। इस नाम से पुकारा जाने वाला यह नृत्य-कर्म देवता अथवा करमसानी देवी के पूजा के समय किया जाता है। जनता की यह धारणा है कि वे अच्छे अथवा बुरे भाग्य के स्वामी हैं। यह नृत्य भाद्र शुक्ल एकादशी को प्रारंभ होकर कई दिनों तक चलता है।

यह नृत्य मयूरभंज, सुंदरगढ़, संबलपुर, ढेंकानाल के हरिजन वर्गों में लोकप्रिय है। ढेंकानाल और संबलपुर में यह नृत्य, करमसानी देवी की अर्चना में किया जाता

है, जो अच्छी फसल और सन्तान-प्रदान करने वाली देवी मानी जाती है। उस शुभ दिन के मध्याह्न प्रहर में, दो अविवाहित युवतियां पास के जंगल से, कर्म के वृक्ष की दो टहनियां तोड़ कर लाती हैं। उनके साथ वाद्यवादक और ढोलवादक भी चलते रहते हैं। ये दो टहनियां, जो देवता की प्रतीक हैं, समारोह पूर्वक, पूजा स्थल पर रख दी जाती हैं। तत्पश्चात् देवता को अंकुरित खाद्यान्न, घास के फूल, और देशी शराब अर्पित की जाती है। इस विधि के पूर्ण हो जाने पर गांव का पंडा 'कर्म' की कथा कहता है कि किस प्रकार कर्म देवता ने अपनी जादूभरी शक्तियों से अनेक चमत्कार सम्पन्न किए। जब यह कथा पूर्ण हो जाती है, तब सभी हँडिया से देशी शराब पीते हैं और नृत्य के लिए कटिबद्ध होने लगते हैं।

मयूरभंज और सुन्दरगढ़ में केवल महिलाएं ही केन्द्रगामी मंडलों में नृत्य करती हैं। पुरुष मादल, धुमसा, ढोल, चड़चड़ी आदि वाद्य हाथ में लेकर गीत गाते हैं। महिलाएँ टेक दोहराती जाती हैं और लय के अनुसार रुक-रुक कर नृत्य करती हैं। वे एक दूसरे का हाथ पकड़ कर शृङ्खला बना लेती हैं और मंथर-गति से चलती हैं। अपना पृष्ठभाग (नितम्ब) किसी एक तरफ को झटके से डुला देना, सर्पिल गति पर पूरे शरीर को हिलाना, अध-बैठी मुद्रा में नृत्य करना, उनकी प्रमुख विशेषताएं हैं। उनके अधिकांश गीत झूमर प्रकार के होते हैं।

संबलपुर के बिझाल समुदाय का वह नृत्य अत्यन्त प्रभावशाली है, जिसमें स्त्री तथा पुरुष बड़ी चमक-दमक के साथ सम्मिलित होते हैं। उनकी अपनी विशेष पोषाक होती है—रंगीन वस्त्र और सीपी के बने आभूषण। माफे पर लगे मोरपंख सिर की शोभा बढ़ाते हैं। स्त्री और पुरुष अलग-अलग पंक्तियाँ बना लेते हैं और विराट मादल और झांझ की धुन पर नृत्य करते हैं। वह पोशाक तथा नृत्य के हाव-भाव, उस जन-जाति की अपनी विशेषता है।

'करम नृत्य' गोधूलि से सूर्योदय तक चलता है। झुँड के झुँड लोग जो आसपास की गांव-बस्तियों से आते हैं, बारी बारी से पूरी रात नाचा करते हैं। रात्रि के अंतिम प्रहर में वे, कर्म वृक्ष की टहनियों को, गाते-बजाते और नाचते हुए अपने माथे पर रख कर ले जाते हैं और किसी नदी अथवा सरोवर में, उन्हें विसर्जित कर अपने अपने घरों को चले जाते हैं।

यह नृत्य, प्रायः, उस गांव के मैदान में आयोजित किया जाता है, जो इसकी व्यवस्था का भार अपने ऊपर लेता है। मैदान के मध्य में एक बांस गाड़ा जाता है, जिसे ऊपर से चार भागों में मोड़कर, बाहर की ओर झुका देते हैं। इस प्रकार बन्दन-

चार बन जाता है। तोरण बनाने के लिए जहां-जहां से भी बांस तोड़ा गया है, वहां तोरण की बाहरी ओर एक लकड़ी का आधार लगा दिया जाता है। इसके बाद उसे आम के पत्तों और जल-कुमुदिनी से सजाया जाता है। इससे उस स्थान की शोभा और बढ़ जाती है। धरती गोबर से साफ लीप दी जाती है। फिर स्त्री-पुरुष झूमते हुए इन तोरण-द्वारों के नीचे नृत्य करते हैं।

घंट-पाटुआ :

घंट-पाटुआ एक प्रकार का बैसाखी नृत्य है और कुछ अंशों में मैसूर के बैसाखी नृत्य से मिलता जुलता है। उड़ीसा में यह देवी सरला के पूजा के साथ गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। इसमें देवी का एक सेवक लाल किनारी वाले काले घाघरे में स्त्री की पोषाक धारण कर घट अपने मस्तक पर उठाता है। तत्पश्चात घट को, जो कुंकुम-चंदन और फूलों से सजा होता है, लकड़ी की किसी पटिया पर रख देते हैं। पहले तो नर्तक कुछ देर नंगे पैर ही नृत्य करता है। वह मजबूत रस्सियों की सहायता से बैसाखियां भी बांध लेता है। हाथों को कुछ आधार न होते हुए भी, नर्तक. अनोखी क्षमता और आश्चर्यजनक शारीरिक गतिमयता प्रदर्शित करता है। नृत्य के सहयोगी वाद्य, ढोल और घंटाल होते हैं। इनके वादक नृत्य के साथ-साथ स्वर-संयोजन करते चलते हैं।

घंट-पाटुआ के नर्तकों का, सामान्यतया, दो या तीन का समूह रहता है। वे गांव-गांव घूमते हैं और राह-गलियों में भी अपना नृत्य-कौशल दिखाते हैं। गांव वालों से वे चावल और द्रव्य लेते हैं। इस प्रकार वे लगभग एक महीने तक घूमते हैं और चैत्र पूर्णिमा के दिन देवी के मुख्य स्थान को लौट आते हैं—जहां एक बड़ा त्योहार मनाया जाता है।

समुदाय-नृत्य अथवा समूह-नृत्य

चैती घोड़ा नृत्य विशेषत: चैत्र पूर्णिमा के समय, उड़ीसा के मछुओं द्वारा आयोजित किया जाता है। इस दिन वे बासेली देवी—जिनके लिए यह माना गया है कि उनका सिर घोड़े का है—की पूजा करते हैं। यही कारण है कि इस देवी का आह्वान करने के लिए, घोड़ा-नृत्य उनकी पूजा का आवश्यक अंग है। इस नृत्य में बांस तथा कपड़े की सहायता से एक घोड़ा बनाया जाता है। घोड़े का सिर लकड़ी का होता है, उसके ऊपर अच्छा चमकीला रंग भी किया होता है, उसे फूलों से भी सजाया जाता है।

इस बनावटी घोड़े के अन्दर खूब खाली जगह छोड़ दी जाती है। और फिर एक मनुष्य इस खाली जगह में समाकर, घोड़े को अपनी छाती से बांध लेता है। अब वह अपना नृत्य आरम्भ करता है जिसमें घोड़े का अभिनय दिखाता है। दो अन्य पात्र पुरुष (राउत) और स्त्री (रऊतानी)—गाते-बजाते और घोड़ा-नर्तक के साथ नृत्य करते हैं। कभी-कभी विदूषक भी आ जाता है। इस नृत्य के लिए, माहुरी और ढोल सामान्य संगीत-वाद्य हैं।

केला-केलुनी :

केला-केलुनी नृत्य का प्रचलन उस घुमक्कड़ जाति के लोगों में है, जो केला नाम से जाने जाते हैं। वर्ष के केवल कुछ महीनों को छोड़, वे अपने घर से बाहर ही रहते हैं। मूलतः वे सँपेरे है और पक्षियों का भोजन करते हैं। जीविका का साधन जुटाते हुए वे उड़ीसा भर में घूमते रहते हैं। अपने नृत्य में केला नर्तक, एक विशेष प्रकार का वाद्य बजाता है, जिसे घुड़की कहते हैं। इससे एक विशेष प्रकार की ध्वनि निकलती है। वह तानपुरे पर संगीत निश्चित करता है। केलुनी (पत्नी) के साथ नृत्य करते हुए वह बीच-बीच में गाता भी है।

प्रायः यह एक युगल-नृत्य ही है। केलुनी की मुख्य चेष्टा, अपने पृष्ठभाग और घुटनों की होती है। उनके गीत विशेष प्रकार के होते है और केला-केलुनी गीतों के संदर्भ में काफी विख्यात भी हैं, जिनमें प्रेममय हास्य और हास्यमय प्रेम की अधिकता होती है। यह नृत्य बड़ी शीघ्रता से मिटता जा रहा है।

काठी-नाच :

काठी-नाच समूचे भारत में प्रचलित है। लेकिन भिन्न-भिन्न भागों में, इसका रूप भी भिन्न-भिन्न है। उड़ीसा में काठी-नाच के दो प्रकार पाए जाते हैं। पहले में अपेक्षाकृत लम्बी काठियां प्रयुक्त होती हैं और दूसरे में कम लम्बी। पहली कोटि का, लम्बी काठी वाला नृत्य, उड़ीसा के गोपाल-समुदाय (ग्वाल-बाल, चरवाहों) में प्रचलित है। दशहरा तथा गिरि-गोवर्धन-पूजा के अवसरों पर युवा ग्वाल-बाल (गोपाल) काठियों का कौशल (लाठी-युद्ध) दिखाते हुए नृत्य करते हैं। लाठियां पाँच से सात फुट लम्बी होती हैं। ये सब नाचते हुए गाते हैं। साथ में दूसरा कोई संगीत वाद्य नहीं बजता।

कम लम्बी काठियों का नृत्य, मयूरभंज और बोलांगीर के हरिजनों में प्रचलित

है। इसमें काठियां लगभग दो फीट लम्बी होती हैं जो प्रतिध्वनिकारक लकड़ी की बनी होती हैं। उनसे निरंतर ध्वनि निकलती है। काठियां दो-दो की संख्या में उठाई जाती हैं। सभी नर्तक, युवक होते हैं जो पंक्तिबद्ध होकर, मादल की धुन पर, एक दूसरे की काठियों पर प्रहार करते हुए नृत्य आरम्भ करते हैं। दो या अधिक गायक और ढोलवादक, नर्तकों के साथ चलते रहते हैं। मादल की धुन के अनुसार वे नृत्य की गति तब तक बढ़ाते जाते हैं, जब तक कि काठियों की टकराहट से उत्पन्न होने वाली तड़ा-तड़ आवाजें अपनी पूरी ऊंचाई पर पहुंच कर नृत्य समाप्त नहीं कर देतीं। यह नृत्य मकर-संक्रांति एवं नुआखाई त्योहारों के अवसर पर आयोजित होता है। बोलांगीर जिले में यह कलगा नाम से जाना जाता है जिसमें नर्तक बिंझाल समुदाय के करम-नर्तकों से मिलती-जुलती वेशभूषा धारण करते हैं।

चंगुनाट :

चंगु एक प्रकार का देशी वाद्य है (टेम्बुरीन समान)। यह सुंदरगढ़ और मयूरभंज के भुइयां, बथुड़ी, खरिया और मोची समुदायों के पुरुष-वर्ग द्वारा बजाया जाता है। चंगु के साथ नृत्य केवल महिलाएं करती हैं। पुरुष केवल गीत गाते हैं, चंगु बजाते हैं और नर्तकियो के साथ सामान्य कदमों में चलते हैं। लेकिन वे सहसा जोश में भी आ जाते हैं, जबकि वे हवा में उछलते हुए, एक गोल लहरीली चेष्टा करते हैं।

सर्वाधिक आश्चर्यजनक तो यह है कि स्त्रियां अपने को, वहीं बनी लम्बी साड़ियों में छिपा लेती हैं। उनके चूड़ी पहने हाथ और पैर ही मात्र दिखलाई देते हैं। समूह-बद्ध होकर, महिला नर्तकियां, आधी-बैठी आधी-खड़ी स्थितियों में आगे पीछे उछलते हुए नृत्य करती हैं। जब त्योहार हो, अथवा किसी उजली रात में, तन झूमें और मन प्रसन्न हो, युवक-युवतियां एकत्र हो नृत्य करती है।

त्योहारों में नृत्य :

घूमरा-नृत्य : यह घूमरे के साथ किया जाता है जो नगाड़े की ही एक किस्म है। यह एक बड़े घड़े के समान होता है जिसका मुख्य भाग मिट्टी का बनता है। इसका मुँह गोधी (एक प्रकार का साँप) के चमड़े से ढंक दिया जाता है। इसे जब दोनों हाथों से बजाते हैं, तो एक अलग ही आवाज निकलती है, जो दूसरे नगाड़ो से बिलकुल ही भिन्न होती है।

इस नगाड़े के साथ किया जाने वाला नृत्य घूमरा-नृत्य कहलाता है। यह नृत्य

गहम पूर्णिमा के पन्द्रह दिन पूर्व प्रारंभ होता है और पूर्णिमा के दिन पूर्ण हो जाता है। युवक-वर्ग का प्रत्येक सदस्य, रस्सी से अपने छाती के आसपास घूमरा बांध लेता है, और फिर सब एक साथ नाचते-कूदते हैं। हरिजनों में विवाह समारोहों के अवसरों पर यह नृत्य भी किया जाता है। वर-वधू को बीच में खड़ा कर, युवक-युवतियां उनके आसपास लोकगीत गाते हुए नृत्य करते हैं। बिलकुल बैठकर तथा आधी-बैठी आधी-खड़ी अवस्था में वृत्ताकार चेष्टाएं करते हुए, नगाड़े की धुन पर नृत्य करना, इसकी अपनी विशेषता है। कालाहांडी, बोलांगीर तथा संबलपुर के कुछ भागों में, यह नृत्य सिर्फ पुरुष वर्ग तक ही सीमित है।

डलखाई : हालांकि डलखाई नृत्य जो, पश्चिमी उड़ीसा का सर्वाधिक लोकप्रिय लोक नृत्य है। दशहरे के अवसर पर आयोजित होता है, परन्तु अन्य अवसरों पर भी इसका आयोजन प्रचलित है।

इस नृत्य में केवल महिलाएं ही भाग लेती हैं। पुरुष केवल नगाड़ा बजा कर और गीत गाकर ही उनका साथ देते हैं। युवतियां ठहर-ठहर कर नाचती-गाती हैं। गीतों का मुख्य विषय भक्ति और प्रेम रहता है। ढोल की कठिन ताल पर नृत्य करते हुए, वे अपने पैर एक दूसरे के बिलकुल निकट ले लाती हैं और घुटने झुका देती हैं। एक-दूसरी चेष्टा मे वे आधी-बैठी अवस्था में आगे-पीछे हिलती-डुलती हैं। कभी-कभी घड़ी की सुइयों की दिशा से, और कभी घड़ी की सुइयों की विपरीत दिशा से, वे केन्द्रगामी वृत्त बनाती हैं।

डलखाई नृत्य से जुड़े उसके कई अन्य रूप भी हैं, जो मेला जुड़ा, रसारकेलि, गुंजीकुटा, जमुडाली, बान्की झुल्की, सैनलड़ी आदि नामों से जाने जाते हैं। ये समस्त नृत्य संबलपुर तथा बोलांगीर जिले में लोक प्रिय है।

मेढ़नाच : मेढ़नाच, जो मुखावरण पहन कर किया जाता है, उड़ीसा के समुद्रतटवर्ती जिलों के धार्मिक जलूसों में बहुत प्रचलित है। दशहरा, कालीपूजा, साही यात्रा, और अन्य त्योहारों पर जब देव-मूर्त्तियां विसर्जन के लिए जलूस में निकाली जाती हैं, मुखावरण धारी नर्तक, जलूस के साथ-साथ चलते हैं। प्रमुख बाजारों और सड़क-चौराहों पर जलूस थोड़ी देर के लिए ठहर जाता है, जिससे नर्तकों को अपनी कला तथा परिश्रम का प्रदर्शन करने का अवसर मिल सके। नर्तकों द्वारा जो बड़े-बड़े राक्षसों के मुखौटे पहने जाते हैं, वे चमकीले रंग से चित्रित होते हैं और उन्हें कागद की लुगदी से तैयार किया जाता है। नर्तक फिर चंगु और ढोल की ताल पर नाचते हैं।

ये उड़ीसा के कुछ प्रमुख लोक-नृत्य हैं। इनमें नकलची नर्तक भी सम्मिलित हैं।

इसमें एक सीधे-सरल जन-समाज की पूजा-अर्चना, कसरत-व्यायाम, सनसनी-उत्तेजना, मन-बहलाव, खेल-कूद, और उत्सव-समारोह सब-कुछ आ गया है। इनके अतिरिक्त परंपरागत तथा जन-जातियों के भी अन्य कई प्रकार के नृत्य हैं, जिनका उद्देश्य जातिगत एक-रूपता की रक्षा करना है।

उड़ीसा के लोकनाट्य

किसी भी देश की लोक-कला का इतिहास अस्पष्ट और धुंधला ही होता है। उसके उद्भव का निश्चित काल-निर्माण करना बहुत कठिन है। इसका कारण यह है कि समस्त लोक-कलाएं, बहुत शीघ्र ही बदलते समय की बदलती धारा के साथ आ-जुड़ती हैं और इस प्रक्रिया में अपना कुछ मूल-रूप खो देती हैं। ऐसी स्थिति में उनकी परंपरा का सुसम्बद्ध इतिहास बनाना बहुत कठिन कार्य हो जाता है। केवल गहन अध्ययन और सूक्ष्म पर्यवेक्षण द्वारा ही, हम कुछ सीमा तक उनका मूल-रूप तथा उसका ऐतिहासिक विकास समझ सकते हैं। इन सब पहलुओं पर विचार कर लेने के उपरांत, यह विश्वास किया जाता है कि उड़ीसा में लोकनाट्य का श्रीगणेश 'दंडनाट' से हुआ होगा। उड़ीसा के ग्रामीण अंचलों में 'नाट' से आशय नृत्य और अभिनय दोनों से ही माना जाता है। नटुआ, नर्तक भी है और अभिनेता भी। यह स्थिति शायद लोकनाट्य में, नृत्य और नाटक के अटूट आपसी संबंध के कारण है, जहां अभिनेता को अभिनय, गायन और नृत्य, तीनों ही काम करने पड़ते हैं। दंडनाट के कई उप-प्रकारों में जैसे चदय-चदयानी, सपुआ-सपुआनी, केला-केलुनी, हर-पार्वती आदि में कथोपकथन गीतों द्वारा ही होता है, जिनमें पुराण-कथाएं एवं लोकप्रिय कहानियां कही जाती है। दंडनाट प्रदर्शन के अंत में, बैधन और वीणाकार, धार्मिक और आध्यात्मिक पहेलियां उच्चारित करते हैं। कभी-कभी तुकबंदी शब्द-प्रतियोगिता भी चल पड़ती है जो कई रातों तक जारी रहती है। जिस प्रकार किसी नाटक में अनिश्चय और दुविधा बढ़ती जाए, ये संगीतमय शब्द-युद्ध ग्रामवासियों को, जो उन्हें बहुत रुचि एवं उत्साह से देखते हैं, बहुत मनोरंजनकारी प्रतीत होते हैं।

इसलिए यह मान लिया गया है कि 'दंडनाट' के इन सभी नाट्य-पूर्ण तत्वों ने, उड़ीसा के अपने लोकनाट्य के विभिन्न रूपों को प्रेरित—प्रभावित किया है।

चदयनाट :

दंडनाट के समृद्ध नाट्य भण्डार के चदय-चदयानी नृत्य से प्रेरणा पाने वाला, लोकनाट्य

का अनोखा प्रकार, यह चदयनाट है, जो मयूरभंज, बालासोर तथा बिहार-बंगाल के उड़ियाभाषी भाग अर्थात् सिंहभूम और मिदनापुर में प्रचलित है। इस नाटक में तीन पात्र आवश्यक हैं—चदय, चदयानी (चदय की पत्नी) और बाँकू भाई (विदूषक)। इसके प्रस्तुतीकरण की शैली बड़ी विचित्र है। नाटक के पूर्व में ही यह मान लिया जाता है कि चदय तथा चदयानी, एक दूसरे से विलग होकर एक दूसरे की खोज करने में संलग्न हैं। नाटकारंभ में वाद्य वृन्द बजाए जाते हैं, जिनमें सुर मादल (मिट्टी का नगाड़ा) झांझ-मजीरा तथा कभी-कभी हारमोनियम भी रहता है। तत्पश्चात् बाँकू नाचता-गाता, अपने विशेष पहनावे में दर्शकों के सम्मुख प्रस्तुत होता है। उसके हाथ में निरन्तर एक टेढ़ी छड़ी होती है। वह सूत्रधार के रूप में अभिनय करता है तथा हासपरिहास के साथ नाटक का नाम घोषित कर विदा हो जाता है। अब कातर स्वरों में अवसाद भरा गीत गाती गाती हुई चदयानी, जो कई दिनों से चदय (अपने पति से) बिछुड़ी हुई है, प्रस्तुत होती है। इस क्षण बांकू पुनः प्रकट होता है और उसका परिचय पूछता है। वह उसको सांत्वना देते हुए यह वचन भी देता है कि वह अपने पति को वापिस प्राप्त कर लेगी। इसके बाद अपनी स्त्री को खोजते हुए चदय आता है और विस्तार-पूर्वक अपनी पत्नी के बारे में जानकारी देता है। वह बाँकू से भी टकरा जाता है, जो उन दोनों को मिला देता है। लेकिन परस्पर वियोग के इस लम्बे अन्तराल के कारण वे एक दूसरे को पहचान नहीं पाते। इसलिए एक दूसरे की पहचान के लिए एक पद्धति अपना ली जाती है और दरअसल वहीं से कहानी का आरम्भ होता है। चदय और उसकी पत्नी में एक गंभीर गीत-युद्ध शुरू होता है। पहला दूसरे से, अभिव्यक्ति पूर्ण भावनाओं और नाटकीय हाव-भावों में, जवाब तलब करता है। इस प्रकार वह पूरी कहानी बुनी जाती है। बीच-बीच में बाँकू, अपने अनोखे वचनों और स्पष्टीकरणों से, पर्याप्त विनोद की सृष्टि करता है।

'चदय नाट' मुख्यतया एक संगीत प्रधान नाटक है। एक संगीत मंडली द्वारा-जो वाद्यवृन्द भी बजाती है—पात्रों के गीतों की टेक दोहराई जाती है। इसमें जो व्यक्ति प्रमुख रहता है उसे 'मौसा' कहते हैं। यवनिका-संचालन का कार्य भी उसी के अधीन रहता है।

रामलीला :

उड़ीसा में रामलीला, आज भी सर्वाधिक लोकप्रिय और बहु-प्रचलित लोकनाट्य

है। जैसा कि शिलालेखों से विदित होता है, रामायण पर लोकप्रिय साहित्य के पूर्व ही, उड़ीसा की जनता की धार्मिक-संस्कृति के क्षेत्र में, रामलीला अपना स्थान बना चुकी थी। भुवनेश्वर स्थित उड़ीसा के प्राचीन मंदिरों (ईसा की ७वीं–८वीं शताब्दी) में ऐसे चित्र पाये गए हैं, जिनमें रावण द्वारा कैलाश पर्वत को उठा लेना, राम द्वारा स्वर्णमृग का वध, बाली-वध, बाली-सुग्रीव मिलन, सीता का अपहरण आदि अनेक रामायण-प्रसंगों के दृश्य अंकित किये गए हैं। इन प्रमाणों से इस युग में रामायण-कथा की जानकारी होना सिद्ध होता है। पुराने जमाने में त्योहार और धार्मिक समारोहों के अवसर पर रामायण के पात्र-चरित्रों का जलूस निकलता था। अभिनेता-गण नृत्य तथा नकल करते हुए, पात्रों के चरित्र का विश्लेषण करते जाते थे। इस समय कोई भी गीत नहीं गाया जाता था। यह एक प्रकार का मूक अभिनय होता था। उड़ीसा के पुरी तथा कटक जिलों में यह परम्परा आज भी जीवित है।

उड़ीसा में गजपति के शासन-काल में उड़िया भाषा का सर्वतोमुखी विकास हुआ। १५वीं शताब्दी के आसपास ही, रामायण, महाभारत और भगवत-ग्रन्थों का उड़िया कविता में अनुवाद कर लिया गया था। यह साहित्य धीरे-धीरे बढ़ता गया। बाद के वर्षों में रामायण पर लोकप्रिय साहित्य बहुत बढ़ गया। इस राम-साहित्य ने, रामलीला जैसे लोक-नाट्य को, और अधिक स्पष्ट-सुचारु रूप में विकसित होने की प्रेरणा दी। १८वी और १९वीं शती के मध्य, लगभग बीस से भी अधिक कवियों द्वारा कई लीलाएं लिखी गई। इन सब में सर्वाधिक प्रसिद्ध लीला वैश्य सदाशिव (१७७०-१७९० ई०) द्वारा रचित लीला है। इसके बाद पीताम्बर राजेन्द्र (१७९०-१८२० ई०) द्वारा लिखित रामलीला का नामोल्लेख करना उचित होगा। ये लीलाएं उड़ीसा में आज भी लोकप्रिय हैं।

पूरी रामायण को कई लीलाओं में विभक्त किया गया है और एक रात्रि में एक लीला का आयोजन ही रखा जाता है। इस कारण रामलीला के आयोजन कई रात्रियों तक जारी रहते हैं। प्रत्येक लीला में, विभिन्न परम्परागत धुनों में ढले हुए संगीतमय पद्य होते हैं। इसलिए लीलाओं का प्रस्तुतीकरण अपने आप में बहुत संगीतमय सिद्ध होता है।

अपने आरम्भिक दौर में, रामलीला मूकाभिनय के रूप में ही की जाती थी। रामायण के समस्त चरित्र जैसे राम, लक्ष्मण, रावण, कुम्भकर्ण, सिंघीक, शूर्पनखा, हनुमान आदि पात्र रामायण के समूहपाठ के साथ-साथ नृत्य और अभिनय करते थे।

मरदल, गिनी और रामताली ही वे संगीत-वाद्य थे, जिनका प्रयोग होता था। गीत की विषय-वस्तु के अनुसार पात्र अभिनय करते थे। उनके हावभाव और चेष्टाओं से ही प्रसंग का अर्थज्ञान हो जाता था। यह परम्परा कटक जिले के कुछ भागों में आज भी जीवित है। धीरे-धीरे कथोपकथन के रूप में पात्रों के लिए गीत रचे जाने लगे। लेकिन परम्परा में विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। समूह-गायकों की मंडली वे ही गीत गाने लगी।

रामलीला के पशु तथा राक्षस पात्र, मुखौटाधारी अभिनेता होते हैं। रावण, कुम्भकर्ण, सिघीक, शूर्पनखा, हनुमान, जाम्बवान, जटायु आदि मुखौटा पहनकर दिखलाये जाते हैं। मुखौटे, लड़की के बनते हैं और गांव का सुथार ही इन्हें बना देता है। इसके बाद इन मुखौटों पर गांव के चित्रकार रंग भरते हैं। स्त्री-पात्रों का काम युवक ही करते हैं और इस आयोजन में महिलाओं को कहीं कोई स्थान नहीं दिया जाता। मुख्य भूमिका हनुमान की है। जब भी वे कभी रंगमंच पर उपस्थित होते हैं, दर्शक-वर्ग की रुचि तत्काल उधर को खिंच जाती है। समर्पण और निष्ठा से भरपूर उनके शब्द, शक्ति का अद्भुत प्रदर्शन, असीम युद्ध-सामर्थ्य तथा चमत्कार-पूर्ण कार्य, ग्रामीण जनता के मन-मस्तिष्क की भीतरी तहों को छू जाते हैं। उनके काम में सदैव भारी जोश होता है। उनके नृत्य बहुत कठिन होते हैं। इसलिए हनुमान का अभिनय करने के लिए पात्र का चुनाव बहुत सावधानी और ठोक-पीट कर किया जाता है।

यूं तो रामलीला का आयोजन, कभी भी, अच्छे मौसम में, हो सकता है; परन्तु रामनवमी का पर्व वह उपयुक्त अवसर होता है, जब रामलीला लगातार कई रातों तक रोज चलती रहती है। वैसे तो रामलीला उड़ीसा के अधिकांश जिलों में देखी जा सकती है, लेकिन पुरी, कटक तथा गंजाम के समुद्र-तटवर्ती जिलों में रामलीला के आयोजन सर्वाधिक लोकप्रिय हैं। इनका भक्ति से बड़ा गहरा सम्बन्ध है। इसमें गांव वाले ही अभिनेता होते हैं, जो फुरसत के दिनों में, जब कि खेती-बाड़ी का विशेष काम नहीं होता, इसका पूर्वाभ्यास करते रहते हैं। हालांकि यह उनके मन बहलाव के रूप में, एक अव्यवसायी कार्य ही है, फिर भी, इसे सफल बनाने के लिए उनकी ईमानदारी तथा समर्पण-भावना की प्रशंसा की जानी चाहिए। पूरा गांव खर्चे की राशि एकत्र करने में अपनी ओर से सहायता देता है। यदि कभी उन्हें ऐसा लगता है कि उनकी ओर से कार्य बराबर नहीं हो पा रहा है, तब वे एक गुरु की नियुक्ति कर देते हैं। रामलीला के आयोजन जनता की धर्म-संस्कृति से अभिन्न रूप में जुड़े

हुए हैं। उड़ीसा में यह काम व्यवसायी मंडलियों द्वारा नहीं किया जाता। आज दिन तक यह जनता का अपना प्रिय उत्तरदायित्व रहा है। गांव वाले शायद ही कभी, किसी आयोजन के लिए बाहर जाते हों। पुराने ज़माने से ही यह काम गांव और मोहल्लों तक सीमित रहा है। दर्शक और श्रोता अवश्य आसपास की गांव-बस्तियो में चले आते हैं।

रामलीला या तो खुले मैदान में की जाती है, या गांव के केन्द्र में, किसी सड़क अथवा चौराहे पर अथवा किसी मंदिर के प्रांगण में। जहां भक्ति-मंडप या राम-मंदिर होते हैं, वहां रामलीला भूमि पर आयोजित की जाती है। श्रोता वर्ग पूरे समय बैठते हैं और महिलाओं के लिए एक ओर की जगह रिक्त छोड़ी जाती है। सभी लोग, जाति और श्रेष्ठता का विचार भूलकर, धरती पर बैठते हैं। अभिनेताओं के लिए, शृंगारकक्ष से मंच पर आने-जाने के लिए थोड़ी जगह छोड़ी जाती है। एक तरफ समूह-गायकों का दल बैठता है, जो संगीत-वाद्य भी बजाता है। गैस-बत्तियों के आविष्कार के पूर्व, प्रकाश की दृष्टि से, मंच के चारों तरफ तेल के दिये रखे जाते थे। जिस दिन रामलीला-समारोह समाप्त होता है, उस दिन पूर्णाहुति के रूप में, गांव की राहगलियों से एक शानदार चल-समारोह निकाला जाता है। रामायण के समस्त महत्वपूर्ण चरित्र, राम-लक्ष्मण, रावण, हनुमानादि को उत्साही ग्रामीण जनता, खुली पालकियों में बिठा, कन्धे पर लेकर पूरे गांव में घुमाती है। इस जुलूस के अग्रभाग में, गांव के ढोल-बादकों, संगीतज्ञों और गायकों के जोरदार गान से वातावरण गुंजायमान हो रहा होता है। पास-पड़ोस के गांवों से आई असंख्य जनता जुलूस को बहुत रुचि और उत्साह से देखती है।

कटक की रामलीला-समिति प्रति वर्ष रामलीला-समारोहों का आयोजन करती है, जो लगभग एक महीने तक चलता रहता है। भाग लेने वाली अधिकांश मंडलियां उसी शहर की या फिर आस-पास के गांवों की होती हैं। इन आयोजनों ने पुराने व्यक्तियों को भी पुनः संगठित होने के लिए अभिप्रेरित किया है। रामलीला प्रारम्भ होने के पूर्व, प्रति संध्या, रामायण पर धार्मिक प्रवचन होते हैं। यह समारोह शहर के केन्द्र मारुति-मण्डप में होता है। हजारों लोग कई रातों तक साथ-साथ यह समारोह देखते हैं।

रामलीला ने कई अन्य लीलाओं को प्रेरित किया है। ये रामलीला, राधा-प्रेमलीला, भरत-लीला, और द्वारी-लीला के नाम से जानी जाती हैं। लीलाओं के ये समस्त रूप उड़ीसा के गंजाम जिले में लोकप्रिय हैं। बावजूद इसके कि

कथोपकथन के रूप में गीतिमय कथाएं इसमें जोड़ दी गई हैं, फिर भी, इनका पूरा प्रस्तुतीकरण रामलीला की तरह ही संगीतमय रहता है।

स्वांग (सुआंग)

विद्वानों का ऐसा मत है कि स्वांग शब्द संस्कृत के 'सुआंग, सौष्ठाभिनय' से ही बना है, जिसके अर्थ हैं—किसी नाटक में अभिनय अथवा नृत्य करना। यह पंक्ति कालिदास के प्रसिद्ध नाटक 'मालविकाग्निमित्र' में पाई जाती है। कालक्रमानुसार सौष्ठाभिनय छोड़ दिया गया और मात्र स्वांग—जिसके अर्थ हैं, किसी नाटक का अभिनय करना—ने बोलचाल की भाषा में "सुआंग" रूप ले लिया। हिन्दी में सोयंग का अर्थ होता है नाटक-खेलना। अब इस शब्द का अर्थ बनावटी अभिनय लिया जाता है।

उड़ीसा में स्वांग की काफी पुरानी परंपरा है। दोनो स्वांग ऐसे हैं, जिन्होंने कई शताब्दियों के उड़िया-जीवन और समाज को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उन स्वांगों के नाम हैं:–देउलटोला स्वांग और लक्ष्मी–पुराण स्वांग, जिसके प्रणेता क्रमशः विप्र नीलाम्बर और बलराम दास हैं। दोनों ही का कालखंड पन्द्रहवीं शताब्दी है। प्रथम स्वांग में पुरी स्थित जगन्नाथ जी के प्रसिद्ध मंदिर के निर्माण की पुराण-कथा का अंकन है, और दूसरे में, लक्ष्मी तथा जगन्नाथ के बड़े भाई बलभद्र के विग्रह का वर्णन है। बलभद्र, एक अस्पृश्य स्त्री के घर चले जाने के अपराध में, लक्ष्मी को मंदिर से निकाल देते हैं। ये दोनों स्वांग आज भी नाथ-योगियों और चकुलिया पंडों द्वारा रचे जाते हैं। उन्होंने इन स्वांगों को जनता में अत्यधिक लोकप्रिय बना दिया है। दूसरे लोग इन स्वांगों के आधार पर ऐसे ही स्वांग दूर-दराज के गांवों में भी रचते हैं। इन स्वांगों ने बाद में यही कथा कहने वाले स्वांगों, यात्राओं और नाटकों को प्रेरित किया।

यद्यपि इन दो अर्वाचीन स्वांगों में कोई दृश्य-विभाजन नहीं होता, एक लम्बी कविता के रूप में, जिसमें पात्र प्रथम पुरुष में वार्तालाप करते हैं, कथा कही जाती है। बाद में इन काव्यमय कथोपकथनों को, उनकी वस्तु तथा भावना का ध्यान रख, कई प्रकार की परंपरागत धुनों में बांध लिया गया। कथा का वर्णनात्मक भाग, समूह गायकों का एक दल गाता था।

संभवतः, लोक-नाट्य के रूप में स्वांग का उद्‌भव, लीलाओं के विकास के बाद हुआ, जिनमें अभिनेतागण केवल नकल किया करते थे। स्वांग गीतिनाट्य का ही एक प्रकार है, जिसमें सभी पात्र अपना-अपना कथन गाकर सुनाते हैं। प्रत्येक गीति-

कथन की टेक, समूह गायकों के दल द्वारा जोर से दोहराई जाती है। लोक नाट्य की विकसित विधा के रूप में स्वांग का आविर्भाव उन्नीसवीं शती के अंतिम दशकों में हुआ। शायद लीलाओं का बारबार निरंतर प्रदर्शन ही वह कारण था, जिससे गांव-देहात की जनता को, विकसित संस्कृत नाटक से मिलती-जुलती किसी नवीन निर्मिति की प्रेरणा और उत्साह प्राप्त हुआ। इस प्रभाव और परिस्थिति में इस स्वांग का जन्म हुआ, जिसने पुराणों, पुरा-कथाओं, इतिहास, किंवदंतियों और लोकगीतों-सभी को आत्मसात् कर लिया। जब इसे भी अलग-अलग विषयों के संदर्भ में, गीतों और नृत्यों के साथ प्रस्तुत किया गया, तो उसने शीघ्र ही जनता को प्रभावित किया।

स्वांग की विशेषता, पात्रों द्वारा अपना परिचय स्वयं ही दिए जाने में निहित है। प्रत्येक पात्र मंच पर प्रस्तुत हो, स्वयं ही अपनी वंश-परंपरा, अपने नाते-रिश्तों का ताना–बाना, अपनी शक्ति-मानता और गतिविधियों का वर्णन करता है। यह हो चुकने के बाद ही वह अपने सहयोगी पात्रों के साथ वार्तालाप आरंभ करता है। समूचा कथोपकथन गीतों के माध्यम से होता है। देवी-देवता और राजा-रानियां आदि कुलीन और अभिजात चरित्र शुद्ध उड़िया कविता में अपना संवाद प्रस्तुत करते हैं तथा समाज के निचले धरातल के अन्य दूसरे पात्र जैसे दुआरी, दासी आदि बोलचाल का साधारण उड़िया पद्य बोलते हैं।

स्वांग का सर्वाधिक जीवंत चरित्र दुआरी (प्रहरी) होता है। वह संस्कृत-नाटकों के विदूषक की तरह एक स्थायी चरित्र है। वह केवल एक हँसाने वाला विनोदी पात्र है। विषय-वस्तु के विकास में उसकी कोई मुख्य भूमिका नहीं होती। लेकिन वह हँसाने वाले गीत गाकर, तरह-तरह के हाव-भाव और भंगिमाओं द्वारा और तीखे व्यंग्य वचन बोल कर सबका मनोरंजन करता है। वस्तुतः वह राज दरबार का एक सेवक मात्र है, लेकिन वह निर्बाध रूप से राजारानी समेत सबके साथ व्यंग-विनोद करता है। यह वास्तविकता हमें एम० शलेर (M. Schuyler) का यह मत स्वीकार करने को बाध्य करती है कि विदूषक का जन्म ब्राह्मण कुलीनों से प्रभावित, राजसभाओं के नाटकों में नहीं हुआ, वरन् उन नाटकों में हुआ, जो पहले ही से विभिन्न जनजातियों में प्रचलित थे। यही कारण है कि हम उन नाटकों में, जो आज भी जीवित-प्रचलित हैं, विदूषक को एक अति-सरल विनोदी प्राणी के रूप में पाते हैं। अपनी हंसी-मज़ाक के अतिरिक्त, दुआरी किसी भी वस्तु को, विनोद के दृष्टिकोण से देखने की विशेष योग्यता भी रखता है। वह स्वयं भी अपने आप में

हँसी और व्यंग की एक वस्तु है ।

स्वांग के प्रारंभ में, संस्कृत नाटकों के सूत्रधार और नटी की तरह, नट और नटी, दर्शकों को नाटक का परिचय देते हुए प्रस्तुत होते हैं । लकड़ी की बल्लियों का काम चलाऊ पंडाल अथवा बीच-बाजार की कोई चौड़ी आयताकार जगह, अथवा मैदान रंगमंच के लिए पर्याप्त होता है । जब गैस या बिजली की बत्तियां नहीं थीं, तब प्रकाश की व्यवस्था केवल कुछ मशालों द्वारा ही जाती थी । लोग पूरे आयोजन में बैठते और कला का रस-ग्रहण करते थे ।

स्वांग एक हद तक गीति-नाट्य का ही एक रूप है । इसमें मात्र नाटक ही नहीं, उससे भी कुछ अधिक है, क्योंकि ये संगीत-नाटक संगीत और नृत्य के साथ कविता को भी जोड़ते हैं । स्वांग के अभिनेता को वाक्-शक्ति संपन्न और मधुर स्वर होने के साथ ही नकल करने की कला में प्रवीण, नृत्य-पटु और कभी-कभी कलाबाजी दिखाने में भी कुशल होना पड़ता है ।

हालाँकि, सुधरे हुए पूर्व निश्चित कथानक की सृष्टि की दृष्टि से स्वांग की अपनी कोई शैली नहीं है, जैसी कि संस्कृत-नाटकों में है, फिर भी नवीन अभिव्यक्ति की मुख्य विशेषताएं और कलापूर्ण पद्धति की दृष्टि से वह उत्कृष्ट है, विशेषकर समसामयिक व्यंग्य के प्रदर्शन में । व्यंग्य, प्रायः पश्चिमी सभ्यता के उन अन्धानुकरणवादियों पर किया जाता था, जो एक ऐसी सभ्यता का, जो कि समाज-परिवर्तन के कार्य में निस्सन्देह बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निबाह रही थी, सब कुछ नकल किये जा रहे थे । यह व्यंग्य नाटक के महत्वपूर्ण पात्रों द्वारा नहीं करवाया जाता, अपितु ये व्यंग्यकार, वे दूसरे पात्र और जोकर होते, जिनका कथानक से कोई सम्बन्ध नहीं होता था । जोकर अक्सर जोड़े से रहा करते, जैसे : चाकर-चाकरानी, धोबी धोबिन, मछुआ-मछुआरिन, चमार-चमारिन आदि । जोकर को नाटक के मध्य में भेजा जाता था । इसका उद्देश्य दर्शकों को मात्र हँसाना या उनका मन हलका करना ही नहीं होता था, अपितु इनके माध्यम से नैतिक मूल्यों का प्रचार भी किया जाता था । मुख्यतः जोकर की भूमिका एक समाज-सुधारक की भूमिका होती थी । यद्यपि कभी-कभी उनका व्यवहार अशिष्ट और कुरुचिपूर्ण भी बन पड़ता, तब भी संक्रांति और परिवर्तन के दौर से गुजरता वह समाज, उनकी प्रशंसा ही करता था ।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि लीलाओं का आयोजन गांव के उत्साही लोग अपने मनोरंजन के लिए ही करते थे । उनको विशेष पूर्व तैयारी की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, क्योंकि समस्त अभिनेतागण मूक अभिनय के ही अभ्यस्त थे । इतना ही

नहीं, लीला-आयोजन वर्ष की प्रमुख घटना माने जाते। आगे जब लीला के विकास के रूप में स्वांग-विधा का आविर्भाव हुआ, सभी पात्र चरित्रों के लिए गायन सीखना, नृत्य करना और अभिनय करना आवश्यक हो गया। इसके लिए लम्बे समय की ईमानदार तैयारी भी जरूरी हो गई, जो अव्यवसायी मनोरंजनवादियों के बस की बात नहीं थी। इस स्थिति में, १८वीं शती के उतरार्ध में, ग्राम जनता की रुचि और मांग पूरी करने के लिए व्यवसायी मंडलियों का उदय हुआ। कई स्वांग लेखकों ने अपनी-अपनी पेशेवर कम्पनियां बनालीं और उन्हें लेकर उड़ीसा भर में भ्रमण करते रहे। इनमें से जिन महानुभावों ने स्वांग के उद्भव और विकास में असाधारण योगदान किया है, वे इस प्रकार हैं: जगन्नाथपुरी, बन्धुनायक, भिखारी नायक, अरक्षित नायक, मगुनी, गोपालदास, गोविन्द चद्र सुरदेव, कान्हूपाणी, भगवत प्रसाद दास, रामचंद्र स्वैन तथा दयानिधि स्वैन।

१६ वीं सदी के आरम्भ से तीसरे दशक तक, स्वांग सर्वाधिक प्रिय मनोरंजन का साधन माना जाता था। तब तक अपने क्षेत्र में इसका कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। इस एकाधिकार को चुनौती दी और स्वांग-दलों को, अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए यात्रा-आयोजनों की शरण में जाना पड़ा। दूसरी ओर, नक़ल करने वाली लीलाओं के आयोजकों ने गीतिमय स्वांग की विधा अपना ली।

यात्रा :

पढ़े लिखे लोगों के मनोरंजन के लिए, उड़ीसा में जब रंगमंच भी नहीं था, और सिनेमा का प्रचार अभी बहुत दूर था, तब समाज की सब श्रेणियों के स्त्री-पुरुषों के लोकप्रिय मनोरंजन के लिए, यात्रा ही एक मात्र सहारे के रूप में प्रकट हुई। यात्रा की यह बंगाली परंपरा थी, जो अब उड़ीसा में प्रसार पा रही थी। लेकिन यह उस विधा का अंधानुकरण नहीं था। उड़ीसा में उसका उद्भव और विकास, उन्नीसवीं शती के अंतिम दशकों में वहां प्रचलित स्वांग के ही, सुधरे और परिष्कृत रूप में हुआ। उड़ीसा में यात्रा-विधा को अपना लेने वाले अधिकांश अग्रदूत, जैसे—वैष्णव पाणी, गोपाल दास, जगु ओझा तथा बालकृष्ण महन्ती आदि ने, अपने जीवन और कार्य का प्रारंभ, स्वांग-लेखकों के रूप में ही किया था। यहां कथोपकथन में मुक्त-छन्द का प्रयोग, इस विधा के विकास की दृष्टि से प्रमुख विशेषता थी। पर तब भी संगीतमय संबादों का त्याग नहीं किया गया। इस नये प्रयोग के आरंभिक दिनों में, बावजूद उनकी प्रभावशाली कथन-पद्धति के, मुक्त छंद के संवादों में, सतहीपन कायम

रहा । बाद में उन्हें उचित रूप और शैली से सँवारा गया ।

उड़ीसा में आज भी यात्रा की लोकप्रियता बनी हुई है, क्योंकि वह बदलते युग के साथ अपने को भी सदैव बदलती गई है । हाल के कुछ वर्षों में इसने अपना रंग बहुत सीमा तक बदल लिया है । कुछ दशक पहले तक यात्रा-नाटक, केवल पुराकथाओं, इतिहास और लोकप्रिय किंवदंतियों तक ही सीमित था । आज अधिकांश नाटकों की विषयवस्तु सामाजिक, और सामाजिक-ऐतिहासिक प्रश्नों पर विचार करती है ।

यद्यपि आधुनिक रंगमंच और सिनेमा ने यात्रा पर गहरा प्रभाव डाला है, फिर भी व्यापक जन-समाज और उसके मानस को जीत लेने की उसकी अपनी विशिष्टताएँ हैं । वृन्दवाद्यों के अन्तर्गत शहनाई, नवकारा और शिर-मुकुट यात्रा-आयोजन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है । भावाभिव्यक्ति के एक श्रेष्ठ माध्यम के रूप में, गीतों का उपयोग आज भी सर्वमान्य है । नृत्य का प्रयोग भी भरपूर मात्रा में होता है । इसलिए सर्वसाधारण के मनोरंजन के लिए, यात्रा के आयोजन में नृत्य, संगीत और नाटक का विशेष आकर्षण रहता है । आसपास असंख्य दर्शक और खुले मैदान मे इसका आयोजन, एक ऐसे आनंदमय वातावरण की सृष्टि कर देता है, जो सर्व-सुलभ हो ।

समस्त यात्रा-नाटकों में, फिर चाहे वे पुरा-कथा पर आधारित हों अथवा ऐतिहासिक या सामाजिक प्रश्नों पर; दृश्य एवम् प्रसंग के वर्णन के लिए और भावों को प्रकट करने में, नाटकीय एकालापों का विशेष महत्व है । ये स्वगतकथन यात्रा-नाटकों का अभिन्न अंग है । रंगीन दृश्यों की अनुपस्थिति, नाटकीय चेष्टाओं की उन्नत पद्धति और रंगमंच की दूसरी तकनीकी विशेषताएं, इन स्वगत-संलापों को और भी अधिक आवश्यक बना देती हैं । नाटकीय अनिश्चय की सृष्टि करने के लिए, समस्त महत्वपूर्ण पात्र और उनके कार्यों का परिचय, एकालापों द्वारा ही होता है । रंगमंच के एक तरफ—कोने में-- जब दूसरे पात्र भी मौजूद हों, स्वगत कथनों का उपयोग खुलकर विचार करने, खुलकर देख सकने, और खुलकर योजना बनाने में किया जाता है ।

यात्रा के असंख्य दर्शकों में अधिकांश अर्ध-शिक्षित अथवा अशिक्षित जन ही होते हैं । इसलिए कथोपकथनों में, गौण-पात्रों द्वारा, बोलचाल की भाषा का प्रयोग, अनिवार्य तथा जनता की न्यायपूर्ण मांग को दी गई एक छूट है । यथार्थवादी चित्रण के एक महत्वपूर्ण पक्ष के रूप में, व्यंग्य को जनता के मानस तक ले जाने के लिए, बोलचाल की भाषा के संवादों को विनोद के लिए भी प्रयुक्त किया जाता है ।

प्राचीन उड़िया यात्राओं का आयोजन, किसी राजा, जमीन्दार अथवा धनीमानी के निवासस्थान के प्रांगण में, उनके द्वारा प्रदत्त सहायता और संरक्षण के अनुसार

किया जाता था। उन दिनों विजली की बत्तियां या गैस की रोशनी तो थी नहीं। इसलिये चार आदमी रंगशाला के चारों ओर मशाल लेकर खड़े रहते। जन समूह के मध्य में, एक वर्गाकार स्थल, यात्रा-आयोजन के लिए खाली छोड़ दिया जाता था।

आजकल जब यात्रा-दल अनुबंध पर बुलाये जाते हैं, तब या तो वे सड़क के बीचोंबीच किसी चौराहे पर अपना कार्यक्रम प्रस्तुत करते हैं, अथवा किसी मैदान में वे अपना टिकिट-शो आयोजित कर, अपनी कला का प्रदर्शन करते हैं। लकड़ी की बल्लियों का लगभग बीस फुट लम्बा और पन्द्रह फुट चौड़ा, अथवा इससे छोटा एक पंडाल बनाया जाता है। अधिकांश पैसेवाली मंडलियों के पास प्रकाश की व्यवस्था के लिए, बिजली पैदा करने वाली मशीनें हैं। दूसरी कम साधन-संपन्न मंडलियां गैसबत्ती का इस्तेमाल करती हैं। नेपथ्यशाला कुछ अंतर पर रखी जाती है और खचाखच भीड़ को चीरता हुआ, अभिनेताओं के आने और जाने के लिए, रंगमंच से नेपथ्यशाला तक एक संकरा रास्ता खाली छोड़ दिया जाता है। वाद्य-वादकों का समूह, नेपथ्यशाला की ओर मुंहकर, एक तरफ बैठता है। दृश्य-परिवर्तन का संकेत थोड़ी संगीत-माधुरी छेड़कर, और अभिनेताओं के आगमन का संकेत सीटी बजाकर दिया जाता है।

सामान्यतया यात्रा-कार्यक्रम, काफी रात बीत जाने पर प्रारंभ होता है। अधिकांश अवसरों पर तो वह रात बारह बजे के बाद, प्रारंभ होता है। इस प्रकार यह आयोजन किन्हीं अवसरों पर तो दूसरे दिन सवेरे तक चलता रहता है।

जिन्होंने उड़िया यात्रा की श्रीवृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान दिया, उनके नाम हैं: गोपाल दास, वैष्णव पाणी, बालकृष्ण महन्ती, गोविन्दचंद्र सुरदेव, कृष्णप्रसाद बसु और रामचंद्र स्वैन। ये महानुभाव यात्रादलों के मात्र मालिक ही नहीं थे, वरन् उच्च कोटि के नाटककार, निर्देशक, अभिनेता और संगीतज्ञ भी थे। इनमें से अधिकांश के पास श्रेष्ठ यात्रा-दल थे। इस शताब्दी के ५० वें दशक तक उड़ीसा के नाट्य-जगत में इन दृढ़-संकल्प वीरों का प्रभुत्व रहा। उन लोगों में जिन्होंने यात्राओं को आधुनिक और क्रांतिकारी बनाया, सर्वाधिक प्रसिद्ध नाम स्वर्गीय वैष्णव पाणी का है, जिन्होंने कोठपाड़ा के महंत के रंगमंच पर, एक नर्तक बालक के रूप में अपना जीवन आरम्भ किया था। उड़ीसा की लोक-संस्कृति को उनकी जो देन रही है, अमिट ही नहीं, अमोल भी है। वे बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे और उनका व्यक्तित्व ऊँची ऐतिहासिक योग्यताओं से परिपूर्ण था। यात्रा-नाटककार, अभिनेता, निर्देशक, गायक, संगीतज्ञ, नर्तक, कवि तथा लेखक के रूप में ग्रामीण रंगमंच के क्षेत्र में उनका स्थान सबसे ऊँचा है। पाणी की इस महान लोक-प्रियता का रहस्य

प्राचीन संस्कृत नाटक की शैली तथा तकनीक, प्रचलित लोक-नाट्य और आधुनिक विचारधारा—इन तीनों के अलभ्य आत्मसातीकरण में निहित है। संस्कृत नाटक से उन्होंने पूर्व रंग और 'प्रस्तावना' ग्रहण कर रूप को अनुकूल बनाया। प्रचलित लोक-नाट्य स्वांग से उन्होंने गीतिमय संवादों और नृत्य के साथ समूह-गायन की परंपरा को जीवित रखा। जो आधुनिक विचारधारा और पद्धति उन्होंने अपनाई, उसमें मुक्त छंद में गद्य-संवादों का उपयोग तथा बोलचाल की उड़िया भाषा का प्रयोग प्रमुख हैं।

यद्यपि उन्होंने पौराणिक महाकाव्यों—पुराण और आख्यान आदि—के कथानकों के आधार पर नाट्य-रचना की, फिर भी जीवन-जगत् के जीवंत और सजीव किन्तु गौण-चरित्रों की उन्होंने इतनी उत्तम सृष्टि की है कि उसके लिए उन्हें सदैव स्मरण किया जाता है। ऐसे चरित्रों के माध्यम से वे बदलते हुए समाज को उपदेश देते, उसकी आलोचना करते, उसे शिक्षित बनाते। वे एक महान् राष्ट्रवादी थे। स्वाधीनता आंदोलन में जब तेजी आई, तब उन्होंने चर्खे और खादी के समर्थन में तथा दमनकारी विदेशी सत्ता के विरुद्ध गीत लिखे।

हालांकि पाणी की रचनाओं की व्यवस्थित और पूर्ण सूची अभी नहीं बन पाई है, उनकी रचनाओं के एक संग्रह-कर्त्ता द्वारा यह बताया गया है कि उन्हें एक सौ नौ नाटक (स्वांग, गीताभिनय, यात्रा), उन्नीस प्रहसन, और विभिन्न विषयों पर अन्य पैंसठ पुस्तकें लिखने का श्रेय प्राप्त है।

इस समय लगभग पचास से अधिक व्यवसायी यात्रा दल हैं, और मन-बहलाव करने वालों के अव्यवसायी दल तो अनेक हैं। अधिकांश दल कटक जिले के हैं, शेष पुरी और बालासोर के। मालिक के ही नाटककार, निर्देशक, अभिनेता, और संगीतज्ञ होने की पुरानी परंपरा अब मिट चुकी है। प्रायः सभी यात्रा-दल गांवों में बसते हैं। कुछ महीनों के कठिन पूर्वाभ्यास के बाद, दशहरे का त्यौहार आने पर ये यात्रा-दल अपने भ्रमण पर निकल पड़ते हैं और राज-संक्रांति (जून माह) के पहले लौट आते है।

अनुवाद : डॉ॰ श्याम परमार

कविचन्द्र कालीचरण पट्टनायक

ओडिसी सङ्गीत और चम्पू

ओडिसी या उड़ीसा के संगीत के संबंध में कुछ भी विचार करने से पूर्व भारतीय संगीत की बात स्मरण हो आती है। वह एक विस्मृत-युग की अविस्मरणीय स्मृति है। स्नेहमयी पवित्र मातृभूमि उस समय अपने तपोवनों में स्थित ऋषियों के कण्ठ-स्वर से उत्पन्न वेदों की स्वर-लहरियों से गुंजायमान थी।

भारतीय केवल एक ही पद्धति के संगीत का गायन करते थे। भारतीय-हिन्दू संस्कृति की उत्पत्ति, ऋग्वेद की रचना से पूर्व के काल की मानी जाती है। इतिहास-विदों व गवेषकों का मत है कि ईसामसीह के जन्म से १५०० वर्ष से पूर्व के इस वेद में वीणा, बंसी, डमरू आदि के नामकरण हम देख सकते हैं। ऋग्, साम, यजु और अथर्व—इन चार वेदों के भिन्न-भिन्न अंगों का परिग्रहण कर भारतीय संगीत ने ने अपना रूप धारण किया। इस तरह संगीत की पद्धति सारे देश में एक ही थी। मैं इसके बाद की बात कहता हूँ।

हमारी स्थिति :

हम उड़ीसावासी हैं। भारत में हमारी भौगोलिक स्थिति अत्यधिक महत्वपूर्ण है। आर्यावर्त और दक्षिणापथ के बीच, हमारा प्रदेश, उड़ीसा, प्रवेश-द्वार रहा है। इसी पथ से आर्य, द्रविड़ आदि बारबार आये। आर्यों के प्रभाव विस्तार के उपरांत द्रविड़ों ने उनका पदानुसरण किया। इस तरह हम आज भी उत्तर और दक्षिण की संयुक्त

कला संस्कृति के प्रतीक के रूप में अवस्थित है। हमारे प्राचीन इतिहास की यही एक झलकी है।

हमारे राज्य की सीमाएँ :

खारवेल उस समय उत्कलेश्वर थे। यह एक तथ्य है कि अशोक के समय उत्कल राज्य का विस्तार हुआ और दक्षिण के चोल, पाण्ड्य इत्यादि प्रतापी राज्यवंशों के राजा उत्कलेश्वर—महाप्रतापी खारवेल के सामने नतमस्तक रहते थे। समुद्र पार के सुदूर द्वीप-पुञ्जों में भी उत्कलों का प्रभाव पड़ा। उत्कल की संस्कृति को तत्कालीन भारत और भारतेतर प्रदेशों में आदर और सम्मान मिला।

हमारी भाषा :

भारत की सारी भाषाओं में, उड़िया ने, संस्कृत भाषा से भासित हो, अपना मस्तक गर्व से ऊंचा उठाया। इसलिए यह स्वीकार करना होगा कि साहित्य, संगीत और संस्कृति के क्षेत्र में उड़िया भाषा ने संस्कृत की संस्कृति का गहन-रूप से अनुसरण किया। भावाभिव्यक्ति के लिए स्वर के माध्यम से ही भाषा प्रस्फुटित होती है; भाषा का शब्द-गुम्फन निर्मित होता है। हमारी भाषा की गति चंचल नहीं है। जलप्रपात की तरह अपना मस्तक पीटना हमारी भाषा की प्रकृति नहीं है। अनल, महासमुद्र की गुरु-गंभीर आत्माभिव्यक्ति-सी उड़िया भाषा की प्रकृति है। इसलिए भावाभिव्यक्ति के लिए स्वर-संचार के बीच अपने लिए स्वतन्त्र धाराओं को प्रशस्त करना, उड़िया के लिए अति स्वाभाविक हो गया।

हमारा साहित्य :

ओडिसी संगीत के साथ उड़िया साहित्य के अटूट बंधनों की जानकारी देने वाले हमारे कई प्राचीन ग्रंथ आज भी उपलब्ध हैं। कई तो दीमकों के मुख के ग्रास बनकर काल के गर्त में विस्मृत हो गये और कई ग्रंथ, आज भी, पण्डितों की गद्दियों में अप्रकाशित पड़े हैं। पद्य ही हमारा साहित्य है। उत्कलवासी ने बातें भी की तो, संगीत के माध्यम से। हमारे पौराणिक कवि, पण्डितों व संगीतज्ञों ने संस्कृत छंदों के अनुकरण के साथ-साथ अनेक छंदों की रचना की। इसके अतिरिक्त उन लोगों ने उस 'श्रद्धा-छंद' की सृष्टि की, जिसने 'चौतिसा', 'चौपदी', 'वाणी', 'वृत्त' छंद इत्यादि से लेकर संगीत तक में अपने आपको बड़ी मार्मिकता से रूपान्तरित किया। विभिन्न

प्रकार के यनक, यति, छंद, गति नियम, शृंखला, अलंकार आदि को लेकर हमारा साहित्य प्रशस्ति और गौरव के उच्चतम शिखरों को प्राप्त करने में प्रतिद्वन्द्वी-विहीन रहा। दीनकृष्ण, भंजकवि और कविसूर्य की रचनाएं इसकी प्रतीक हैं। इन्हीं की अभिव्यक्ति हुई है—भारतीय संगीत-पद्धति में। परंतु प्रस्फुटन हुआ 'ओडिसी' की स्वतंत्र धारा में। कर्नाटक संगीत की रचना में क्या इसके अनुरूप कुछ है ? देवता के अस्तित्व को किसी ने अस्वीकार नहीं किया, न कोई करता है और न करेगा। केवल देशाचार के अनुसार उसे अलग-अलग परिधान पहनाये जाते हैं। इसी प्रकार ओडिसी—भंगिमा, चलन, चाल व गति, हमारे देशाचार जन्य—नये परिधान के प्रतीक हैं। यही है हमारा गौरव, हमारा महत्व और हमारी स्वतंत्रता। साहित्य में इस भावना के विकास के लिए स्वरों की सहायता अत्यंत आवश्यक है। इसी कारण इस स्वतंत्र देश उड़ीसा ने इस रोचक धारा को लेकर अपनी अभिव्यक्ति की, जिसे हम ओडिसी कहते हैं।

अभिव्यक्ति की शैली :

मैंने कहा था—हमारी भाषा की प्रकृति धीर और गंभीर है, चंचल नहीं। जिस समय हम अपने ओठों पर स्वीकारोक्ति लाते हैं, उस समय अस्वीकार सूचक मस्तक हिलाने का हमारा अभ्यास नहीं है। इस तरह, अभिव्यक्ति की भंगिमा में भी हम सच्चे हैं। कहने के ढंग से भाव परिलक्षित हो जाते हैं। स्वरों का भावानुगत होना उचित है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि हम कर्नाटक प्रदेश के चलन के साथ अपना कदम नहीं मिला सकते।

हमारी वेषभूषा :

यहां रुचि व अभिरुचि का प्रश्न उठता है। अभिरुचि का जन्म मनोभाव में होता है। विभिन्न भावों की सृष्टि के लिए देश के हवा-पानी, चाल-चलन, खान-पान, पोशाक-परिधान इत्यादि, कई प्रकार की परिवेष्ठित अवस्थाएं जिम्मेदार हैं।

इन्हीं सबों के अनुरूप देशवासियों का स्वभाव, धीर, चंचल, क्रूर, कृपालु इत्यादि होता है। भाषा उसके अनुसार ही रूप ग्रहण करती है। और स्वर इस रूप के निर्माता हैं। उत्कलवासी स्वभाव से सहिष्णु और उदार होते हैं। जगन्नाथ जी के मन्दिर पर फहराती हुई पताका—इनकी जातीय ध्वजा है। इसलिये जब वह कंठ भरकर, दिल खोलकर गाता है, तब स्वर व स्वरांतरों के अखण्ड संयोग को

प्रकाशित व अभिव्यक्त करता है।

आइये, अब परिधान पर भी विचार करें। दस हाथ वाली या सात या आठ हाथ लंबी धोती का पहिरावा हठात् आँखों के समक्ष आ जाता है। परिधान में हमारे प्रादेशिकता का यही द्योतक है। आंचल से ही साड़ी की पृथक्ता ज्ञात होती है। इसके अतिरिक्त, आइये; वेषभूषा के पहनने के ढंग को भी देखें। परिधान मनुष्य के विभिन्न भावों को परिलक्षित करते हैं। सूट, शर्ट, फुलपेंट कोट, लहरों में खुंसी धोती, और खासकर धोती को कमर में खोंसने का विशेष ढंग, कुर्ते पर चादर के लपेटने का व्यवहार, साड़ी के पहनने का ढंग इत्यादि से मनुष्य के विविध मनोभाव लक्षित होते हैं। इस तरह संगीत के नृत्यांग द्वारा अभिव्यक्ति के लिये आवश्यक वेशभूषा हमारे व्यक्तित्व में ही उपलब्ध है। यही है—शृंगार। राग-रंग इसी पर निर्भर करता है। राग के प्रारम्भिक ध्यान-मग्नावस्था के श्लोकों की हमारी प्रणाली पर विचार करने पर मेरे इस कथन की सत्यता प्रमाणित हो जायेगी। वेषभूषा से ही राग की प्रकृति व उसके रस का निरूपण होता है। इसलिए गेरुए परिधान में ही कीर्तन का विकास हुआ। अर्धनग्न, वन-कुसुमों के आभरणों के मध्य से ही 'रसर केली' 'झूमर', जाइफुल' 'डालो भोंगा' (ये सब उड़ीसा के कुछ लोक-नृत्य हैं) आदि लोकनृत्यों के स्वर प्रस्फुटित हुए। हमारी वेषभूषा हमें स्वाभिव्यक्ति देती है। यह ढंग ही स्वतंत्र ओडिसी धारा है।

स्वर्ण एक ही क्यों न हो, उससे आभूषण गढ़ने के ढंग अलग-अलग होते हैं। माथे पर ओढ़नी और कंधे पर चादर, का व्यवहार उड़ीसा में प्रचलित है। नख-शिख पर्यन्त आभूषणों से सज्जा में हमारा व्यक्तित्व निखरा है। इसी तरह स्वर, भाषा की रचना व संरचना तथा उसकी संयोजना हमारे सम्मुख निष्प्राण, नग्न न रहकर, सुसज्जित है, अनावृत नहीं है। हमारी भद्रता, हमारे सुसभ्य व्यवहार और हमारी लज्जायुक्त महत्ता की शृंखलाओं के माध्यम से ही यह तथ्य दृष्टिगोचर होता है। वास्तविकता यह है कि उड़ीसा में हर बात के तथ्यातथ्य के विचारण की क्षमता है। यही उड़ीसी स्वर-संयोग की विशेषता है।

हमारा खाना-पीना :

अधिक मिर्च, अधिक नमक हमारी देह के लिए अस्वास्थ्यकर हैं। इसी तरह हमारी 'आरिशा', मिठाई कर्नाटक के तेलूगू अंचलवासियों को रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकती। अतः स्वाभाविक है कि हमारे 'आरिशा' जैसी मिठाइयाँ तैयार करना भी

उनके लिए संभव नहीं। हम भी उनके भोजन को पचा नहीं सकते। हमारा खान-पान उनको जँचता नहीं। चाल-चलन के पृथक् होने का कारण है—खान-पान में पृथक्ता का होना। हम लोग साम्यता के पक्षपाती हैं। खान-पान सत्त्व, रज, तम, गुणों के अनुसार पृथक् होता है और उसीसे मनोवृत्ति भी परिचालित होती है। इसी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति के अनुरूप स्वर-संयोजन होता है। हमारी मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति के लिए हम जिस स्वातंत्र्य का अनुसरण करते हैं, वही ओडिसी-व्यक्तित्व है। सारी अवस्थाओं में माधुर्य की सृष्टि ही हमारा लक्ष है।

हमारे पूजा-पर्व :

हम हिन्दू हैं, हमारे सारे समाज में पूजा-पाठ, पर्व इत्यादि समान-रूप से नहीं मनाये जाते। कई पर्व तो समानरूप से सारे भारत में मनाये जाते हैं, परंतु इस प्रदेश के सठिचौठि, मंगलवार, मानवसा, सुदसाब्रत, रज्ज आदि पर्वों को दक्षिण के हिन्दू नहीं मानते। हमारी अधिकांश जनता का धर्मभाव, राधाकृष्ण के रसभाव में पिरोया हुआ है, जबकि दक्षिण के तेलुगू लोग अधिकतर रामचंद्र के उपासक हैं। यहीं से रस-परिवेषणा की पृथक्ता परिलक्षित होती है। राधाकृष्ण-रस के लालित्य व माधुर्य को प्रकाशित करने के लिए जिस संगीत-धारा व जिस स्वर-संयोजन की आवश्यकता है, सीताराम के चरित्र के वर्णन में उपयुक्त रस-संयोजन सफल नहीं हो सकता। इस तरह ललित-रसों के लिए उपयोगी भाषा व स्वर-रचना हमारी परंपरा बनी। इसी स्वर-परंपरा के फलस्वरूप स्वर-समन्वय में सप्तस्वरों के बाहर जाकर जिन स्वरों की सृष्टि हमने की है, स्वर-संयोजना में जो विशेषता हमने प्राप्त की है, श्रुति की भाव-व्यंजना की जो कल्पना हमने की है, अभिव्यक्ति की जो मौलिकता हमने दिखाई है, वे सब, और विशेषकर हमारे पुरखों के गीतों की भाषा को प्रकाश में लाने वाले शब्द, स्वर, छंद आदि आज भी हमारे आदर्श हैं।

हमारी संगीत-रचनाएँ :

हमारे व्याकरण ने संस्कृत का विश्वस्त अनुसरण किया। हम जिस तरह लिखते हैं, उसी तरह उसका पठन भी करते हैं। हम हलंत का व्यवहार नहीं करते। हम यदि 'जळ' लिखते हैं तो कहते हैं भी हैं 'जळ', न कि 'जल'; अर्थात् उच्चरित वही होता है, जो लिखा जाता है। संस्कृत के अनुसार छंद-रचना और यमक का प्रयोग अनादि काल से हमारी रचनाओं के अभिन्न अंग बने। इसका प्रमाण 'गीत गोविन्द' में उत्कल के भक्त-कवि

श्री जयदेव ने दिया है। मैंने कई तेलगू गायकों व साहित्यिकों के साथ इस पर विचार किया। उनके संगीतकारों ने भी 'गीत-गोविन्द' की छाया को लेकर 'अष्टपदी' की रचना और यमक के प्रयोग की विधि के अनुकरण को स्वीकारा है। उन लोगों ने अपने संगीत-ग्रंथों में भी इस बात का उल्लेख किया है। मैं अपनी दृष्टि को अधिक दूर न ले जाकर, इतना ही कहना चाहूंगा कि हमारे संगीत के प्रशस्त प्रचारक जयदेव जी थे। श्री जगन्नाथ जी के मन्दिर में भी 'गीत-गोविन्द' का प्रचलन हुआ। यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि हमारे प्रदेश के चक्रवर्त्तियों ने कर्नाटक भाषा व संगीत के प्रचलन की अनुमति कभी नहीं दी होगी, कारण कि हमारे जन-साधारण की अभिरुचि उसके अनुरूप कभी नहीं रही। इसलिए तेलगू अंचल से आये राजाओं द्वारा भी उनका प्रचलन जनता में नहीं हो सका। या यूं कह सकते हैं कि वास्तव में इस माटी ने बाहर से आये लोगों को उड़िया रस में डुबो दिया, आत्मसात् कर लिया। 'चारू' 'पच्चड़ि' जगन्नाथ जी के प्रसाद में नहीं चढ़ीं। चढ़ीं वे ही चीजें, जो उड़ीसा में रुचि-पूर्वक खायी जाती रहीं।

आहार-भेद :

सात्विक, राजसिक व तामसिक भोजन करने वाले लोगों की प्रवृत्ति तथा उनके बीच निहित पृथक्ता उनके कंठ-स्वर व उनकी भाषा के प्रति ध्यान देने से, स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाती है। बोलचाल के स्वर या प्रयुक्त भाषा व स्वर की शैली द्वारा लोग अपने मनोभावों की अभिव्यक्ति करते हैं। प्रत्येक प्रदेश में नवरसों की उपस्थिति के बावजूद, विभिन्न स्थानों पर, उनके प्रयोग या रसास्वादन की न्यूनाधिकता के बारे में कोई दो मत नहीं हो सकते। बात-बात पर हथियार उठाना, हमारी आदत नहीं। तुरंत ही क्रोधित हो जाना भी हमारे देश की प्रकृति नहीं है। दीनों के प्रति दया, क्षमा इत्यादि हमारे भूषण है। इसीलिए प्रत्येक धर्म-प्रचारक ने इस उड़ीसा में आकर आदर-सम्मान प्राप्त किया और संपूर्ण देश में वे प्रतिष्ठित हुए। इसी उड़ीसा ने चण्डक को धार्मिक बनाया। यह एक मूक जाति की उपलब्धि नहीं हो सकती थी, बल्कि मुखों से प्रस्फुटित भाषा के प्रभाव में आकर ही चण्डक का धार्मिक बनना संभव हुआ। तालपत्रों में या कागजों के ढेर में भाषा जीवंत नहीं हुई। केवल स्वर-साहचर्य से ही भाषा भावाभिव्यक्ति के वास्तविक स्वरूप व निर्दिष्ट अभिप्राय को सामने ला पायी है। अतः रस इसी में मूर्त है। भाषा को जीवन देता है—स्वर। अभिव्यक्ति की शैली ही प्रदेश व अंचल की विशेषता है। तब फिर उड़ीसा में इस नियम का व्यक्तिक्रम

कैसे हो सकता है ? यह भाषा-विज्ञान के विवेचन का गहन-विषय है ।

बोलचाल :

माँ को हम माँ या 'बोऊ' कहकर पुकारते हैं । 'अम्मा' नहीं कहते । 'अम्मा' शब्द के द्वितीय अक्षर के गुरु उच्चारण के बदले में 'मां' शब्द की उच्चारण-जन्य मधुरता, सरलता, आत्मीयता हमारी रक्त-मज्जा में मिली हुई है । पुकारने में उपयुक्त स्वर के प्रकार का भेद हो सकता है । ह्रस्व और दीर्घ दोनों हैं । इसकी रूपरेखा अवर्णनीय है । सिर्फ कान ही इस कथन के साक्षी हैं और प्रमाण दे सकते हैं । स्वरलीला की विशेषता ही, ममता की मात्रा को दरसाती है । वही बोलचाल की मौलिकता है ।

हमारे संगीतकार :

ग्राम्य-गीतिका आदि के असली स्वरूप हमारे प्रदेश में अनादि काल से प्रचलित रहे । यह कौन कह सकता है कि इतनी बड़ी सभ्य जाति संगीत के रसास्वादन से दूर रही होगी । 'गीत-गोविन्द' में ही इसका प्रमाण हम पाते हैं कि शास्त्रानुमोदित रागताल-युक्त संगीत का प्रचलन हमारे इस प्रदेश में रहा है । इसके अतिरिक्त तत्कालीन भाषा के अनुसार ही 'तिया' 'इया' 'नुवां' 'लिया' इत्यादि प्रत्ययों का सुसंगीत हमें मिला । किसी विस्मृत कवि का बहुत पुराना संगीत मैंने प्रायः चालीस वर्ष पूर्व सुना । उसे खंडपाडा के स्वर्गीय गुण्डीनंद नामक एक विख्यात गायक गा रहे थे । वन में जिस तरह कुसुम प्रस्फुटित होकर झड़ जाते हैं, उसी तरह गुण्डीनंद भी विस्मृत हो गये । हिंदुस्तानी शैली में ओडिसी-संगीत को गाकर उन्होंने ख्याति प्राप्त की थी । इस बात को खोण्डोपाड़ा के पुराने लोग अब भी कहते हैं । आज वह गीत विस्मृत हो गया । वह प्राचीन रचना मेरे पास है । उसका एक उद्धरण निम्नलिखित है ।

जय जय ब्रज सुन्दर, मंदरधर, मुनि-मन रंजनवां ।

गीत का एक-एक पद विभिन्न राग व ताल में रचित है । इसमें कर्नाटक शैली की स्वर-संयोजना तनिक भी नहीं है । ये पद पूर्णतया ओडिसी शैली की परंपरा में है । इसके बाद राजपति महाराज की प्रशंसा में, उन्होंने स्वयं या उन्हीं राजपति महाराज की राज्यसभा के विद्वानों ने इसी शैली के कई गीतों की रचना की । 'प्राचीन-प्रकाशन' के 'गद्य पद्यादर्श' पुस्तक के कुछ गीत इसके प्रमाण हैं । यहां हमें नम्रतापूर्वक यह स्वीकार करना होगा कि छंद ही इस जाति के प्राणों की भाषा व भावों की

अभिव्यक्ति है। गायन के ढंग को जरा परख कर देखें। अगर यह अनुमान लगाया जाए कि कर्नाटक-संगीत का प्रभाव ओडिसी पर पड़ा है, तो क्यों न हम यह देखें कि ओडिसी की संगीत-शैली में कहां और किस परिमाण में कर्नाटक-शैली का प्रभाव पड़ा ? इस प्रश्न पर हम आगे की पंक्तियों में विचार प्रस्तुत करते हैं।

यदि उस समय कर्नाटक-संगीत का ही बोल बाला रहा हो, या कर्नाटक-संगीत का जनसाधारण में आदर और सम्मान रहा हो, तो क्या कारण कि हमारे कवियों व संगीतकारों ने 'छंद' तैयार किये ? जिसमें कर्नाटक का लेशमात्र भी स्थान नहीं। ध्यान देने की बात है कि मनुष्य की प्रकृति छायानुसरण करने की है। पाश्चात्य-संगीत हमारे देश का नहीं है, फिर भी आज के संगीत-संयोजक उसे जगह-जगह ढूंढने के प्रयत्न करते हैं। तब, उस समय, पड़ोसी प्रदेश की शैलियों को अपनाने में क्या आपत्ति हो सकती थी ? विचार करके देखिये, विषम परिस्थितियों के बावजूद उड़िया लोगों ने अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाये रखा—यही हमारी ओडिसी-शैली है।

चैतन्य इस प्रदेश में आये। उस समय मृदंग का विशेष चलन था। उड़ीसा में कृष्ण-प्रेम की धारा बह निकली थी। साधारण प्रजा से राजा तक इस रस में ओत-प्रोत हो गये, परन्तु संगीत सिर्फ ओडिसी रहा। परानुवर्ती संगीतज्ञों के गीत इस तथ्य को पुष्ट करते हैं। उपेन्द्रभंज का संगीत आज कुछ हद तक उपलब्ध है। उसके बाद १९ वीं शताब्दी तक, जिन विशेष संगीतकारों की वृत्तियों से ओडिसी-सगीत की अभिवृद्धि हुई, उनके नाम इस प्रकार हैं—कवि सूर्यबलदेव, मुकुंददेव, जदुमणि, रामचन्द्रदेव, पद्मनाभदेव, वनमाली, भागीरथी, सामन्तराय, श्रीधरद्विज, नारायणसिंह, श्रीहरिचंदन, नुआगढ़ राजा सदाशिव, शेखर परमानंद, चन्द्रशेखर, नीलमणि, रघुनाथ, गोपालकृष्ण, गौरहरि, काशीनाथ, मानसिंह हरिचंदन, जनार्दन रायगुरु, रामकृष्ण, श्यामसुंदर, कृष्णचंद्र, मानगोविन्द दीनकृष्ण द्विज, रामचंद्रदेव, सालबेग, नित्यानंद गोपालकृष्ण, सुरंगी राजा चंद्र चूड़ामणि, चिकिटि राजा राधामोहन राजेन्द्रदेव, विश्वनाथ राय गुरु (कवि सूर्य के पुत्र) हरिचंदन, जगदेव, आदि।

इन कवियों की रचनाएं वर्तमान में प्रकाशित संगीत की विविध पुस्तकों में मिलेंगी। लोककंठ में, बहुत मात्रा में संगीत समा नहीं सका। सारे कवियों की रचनाओं का उल्लेख यहां संभव नहीं। भंजकवि विशेषकर कविसूर्य, वनमाली, गौरहरि और गोपालकृष्ण आदि ग्रामीण जनता के बीच आज भी जीवित हैं। उनके गीतों की स्वर-शैली, साहित्य, राग, ताल, और रस आदि पर विचार करना उचित होगा।

संगीतकार भंजकवि 'घुमसुर' के थे। उन पर दक्षिण उड़ीसा के ढंग का प्रभाव

रहना स्वाभाविक है। लेकिन उनके समय तक हमने अपने हाथों या पैरों में विदेशी बेड़ियां नहीं पहनी थीं। इसलिए ओड़िसी कला व संस्कृति भ्रष्ट नहीं हुई थी। संगीत के स्वरों के बीच बाह्य ढंग व शैलियाँ घुस नहीं पायी थीं।

कवि सूर्य के समय में आठ-गढ़, जलंतर, माहुरी आदि राज्य उड़ीसा की सीमाओं में स्थित थे। इसीलिए मुगल, मराठाओं के प्रभाव के कारण कुछ यवन-शब्दों ने कवि सूर्य कि रचनाओं में स्थान प्राप्त कर लिया। परन्तु इन शब्दों का व्यवहार या उपयोग इतने अच्छे ढंग से हुआ, मानो किसी कारीगर ने गहने तैयार करते हुए बड़े ही सुरुचिपूर्ण ढंग से पत्थरों को गहने में जड़ दिया हो। तब उसी संगीत-सुधा की धारा कानों में और मानस में बह निकली। भंज कवि के गीत व छन्दों में कर्नाटकी छाया लेश मात्र भी नहीं है। अखण्ड स्वर-प्रकाश के विकाश को लेकर भंज कवि ने संगीत को ओड़िसी मूर्च्छना में तरंगित किया है।

कवि सूर्य का संगीत, भंज कवि के संगीत की तरह ही, पांच या छः पदों का है। अन्तर केवल स्वर में ओडिसी ढंग का है।

बनमाली की रचना में ओडिसी स्वर-संयोजना की निपुणता दीखती है। रस-प्रवर्तन ही बनमाली का मानो प्राण है।

गोपालकृष्ण की रचनाओं में कई जगह कर्नाटक-शैली का स्वर-संयोजन दृष्टि-गोचर होता है। गोपालकृष्ण की जन्मस्थली 'पारला' है। इनके समय में पहली जनवरी ही उड़ीसा का नया दिन मान लिया गया। हमारी जाति को अपने अधिकार में रखने के लिए अंग्रेजों ने अपनी चतुराई लगा दी। उड़ीसा के दक्षिण के कुछ अंश मद्रास-प्रदेश के अंग बन गये। स्वाभाविक है, उड़ीसा की कला, साहित्य-संगीत आदि पर उसका कुछ प्रभाव पड़े। कई जगहों पर उड़ीसा के शब्द 'जूड़े' के स्थान पर आन्ध्र 'वेणी' शब्द का प्रचलन हो गया। गृहस्थों के दैनिक बाज़ार की फेहरिश्त में फूलों का खरीदना भी आवश्यक अंग बन गया। रचनाओं में भी न्यूनाधिक दक्षिणी शब्दों का प्रयोग होने लगा। इसके साथ ही स्वर ने कम्पन व आन्दोलन को भी अपना लिया। इस तरह 'पारला' आंचल में धीरे-धीरे दक्षिण भारतीय या आज जिसे कर्नाटक-संगीत कहते हैं, उसका प्रभाव पड़ा। कवि गोपालकृष्ण की स्वर-रचना व ताल में यह प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

उड़ीसा के लिए यह संधि-वेला थी। उत्कल नाम इसी समय मिट गया। उत्कल में जब अपने संगीत के प्रति जनसाधारण ने अनादर दिखाया, उसी समय तेलगू संगीतकार उत्कल में अपनी शैली के प्रचार में लग गए। संगीत के प्रति

उनके मन में सम्मान था। सरस्वती का जिस समय हम अनादर कर रहे थे, उस समय उस वीणापाणि की अर्चना में वे लग गये थे। क्रम से ओडिसी गुरु व संगीत-विद्वानों का लोप होने लगा, तेलगू-संगीतज्ञों की साधना को सिद्धि मिलने लगी। जनता-संगीत को त्याग कर रह नहीं सकती। जब कुछ उड़िया लोग निन्दा व अपमान को सहते हुए संगीत की ओर उत्प्रेरित हुए, तब उन्हें मिले सिर्फ तेलगू के संगीतज्ञ-गुरु। उस समय लोगों को गोपालकृष्ण की रचनाओं द्वारा विशेषकर राधाकृष्ण-रस में ओतप्रोत सगीत मिला। कहते हैं कि कुत्सित रूप को भी प्रतिदिन देखने से उसके प्रति प्रेम उमड़ उठता है—यह अनुभवी लोग मानते हैं। ऐसे ही अश्राव्य होते हुए भी जब लोगों के समक्ष कुछ नहीं रहा, उस समय वही संगीत ग्राह्य हो गया। कहते हैं कि जिस गांव में देवता नही, उस गांव में रेती की ही पूजा होती है। लेकिन यह हवा बहुत दिनों तक नहीं चल सकी। धीमी-धीमी बहती पवन में पीपल के पत्ते खड़खड़ाते हैं—परन्तु वृक्ष को कोई क्षति नहीं पहुंचती। उसी तरह विपरीत परिस्थितियों में भी उड़ीसा की शैली समूल नष्ट नहीं हो सकी। पूर्व के पहाड़ी राज्यों में विशेषकर शासनगढ़, पुरी, खुरदा आदि में पंडित व मूर्खों के बीच ओडिसी अपनी जड़ें मजबूत किये हुए थी।

रचना में भाव-सयोजना :

यह कहना कि भंज-साहित्य उड़ीसा के लिए प्राणदाता स्वरूप है, कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनकी रचनाएँ साधारण ज्ञान वालों के लिए अबोध्य है। फिर भी केवल कुछ पाठशालाओं में या अन्य पढ़े लोगों के बीच उनके छंदों के गायन का प्रचलन है। भाषा के भाव और छंदों के स्वरों ने भंज-कवि के जीवन को अविस्मरणीय बना दिया। इन छंदों में निहित संस्कृत-शब्दावली, व्याकरण, छंद आदि का विश्वस्त अनुकरण, उड़िया भाषा के जीवित होने का प्रतीक है।

कवि सूर्य :

उन के लिखे 'आजि केलि कौतुकी' को कोई विस्मृत नहीं कर सकता। वर्षा के आगमन पर ग्राम्य वातावरण में 'देखि नवकालिका, बकालिका मालिका' गूंज उठता है। साहित्य के बीच कुछ स्थानों पर, कई फारसी शब्दों का भी प्रयोग दीखता है। कविता की संगीतात्मकता को मधुरतर बनाने के लिए ही, उन्होंने कुछ फारसी शब्दों का प्रयोग किया। साफ है कि तत्कालीन फारसी भाषा के प्रचलन से वे काफी प्रभा-

वित थे । किन्तु तथ्य यह है कि उन्होंने उड़िया साहित्य-संपदा की अभिवृद्धि की है । उनकी भाषा वदनीया है । सुखी-दुःखी, छोटे-बड़े, किशोर-किशोरी, मूर्ख-पंडित, धनी-दरिद्र, सबों के बीच उनके लिखे 'किशोरी-चंपू' 'सर्पजणानु' और कई प्रकाशित व अप्रकाशित गीत आदर का स्थान प्राप्त किये हुए हैं । उनकी भाषा सरल, सुन्दर, सुडौल और सारे उत्कल-वासियों के एकान्तानुभूति की प्रतीक है । जन-जन की मनो-भावनाओं को अभिव्यक्त करने वाली है । 'गोला लोक गोलेनी सत' 'निच्छाट बए बाट रे' 'गोल्लाणितो गोल्लाकोया' आदि गीत, गाय चराने वाले ग्वाले भी गाते हैं ।

द्विज गौरचरण :

गीतों की भाषा सरल है । यह उड़िया व्यक्तित्व के स्वरों को गुंजायमान करते हैं, इसीलिए इनका जनसाधारण में आदर प्राप्त करना स्वाभाविक था । इनको विस्मृत करना असंभव है । इनकी रचनाएं मानो नीरव रात्रि के द्वार पर बजती बाँसुरी है । आज भी गौरहरि के 'कांहि रोकिख बोए नेत्रो' उड़िया लोगों के समक्ष प्रश्नचिह्न है । भाव, भाषा और स्वर का समन्वय ठीक उसी प्रकार है, जैसे सुवर्ण चम्पा पर सुगन्ध का लेप लगा दिया गया हो ।

बनमाली :

किसी युग में मोहन ने अपनी मुरली बजाई थी, परन्तु बनमाली ने उस मुरली की अनुभूति व उसका रसास्वादन अपनी आत्मा में किया । उनकी ओडिसी मूर्च्छना आज के युग में भी लोग सुनते हैं । रास्ते का पथिक या बाजार जाता गृहस्थ भी अनजाने में ही उनके शरण में आकर ओडिसी शैली में गा उठता है 'मुरली तोरे शरण गल्ली' । और इसके साथ ही साथ उनकी एकाकिनी सहानुभूति-शील, घायल आत्मा, सहज विनीत-भाव-द्योतक भाषा व स्वरों को लेकर निवेदन करती है—'हे मुरली !, अब तू राधा को मत बुला ।' उनके गीतों में भाव, भाषा और स्वर-संयोजन, सिर्फ उड़िया की ही आत्मा की विशेषता है—यह नहीं भूला जा सकता ।

गोपालकृष्ण :

इनकी भाषा में कहीं-कहीं सुदूर दक्षिण की तेलगू भाषा में व्यवहृत कुछ कठिन शब्दों का प्रयोग मिलता है । कई शब्द 'हेरी फेरी', 'नुआं करि', 'गोष्टेन्दु नयना', 'श्रीपद्मा-कर', 'व्रजजननेत्र', 'संपत्ति हनिवृत', कुंजगृह संपत्ति आदि अर्थविहीन शब्दों का भी

प्रयोग मिलता है। जब-जब मैंने ये रचनाएं सुनीं, तब-तब संगीत के लालित्य के बावजूद शब्दों की कर्कशता ने काफ़ी कष्ट दिया।

जिस-जिस मात्रा में तेलगू अंचल का प्रभाव पड़ा, उस-उस मात्रा में उड़िया भाषा ने 'खण्ड खिरी' मिठाइयो के बदले 'चारु-चल्ला' का वरण किया। इसी कारण से, गोपाल कृष्ण की, उनके हमारे अपने होते हुए भी, बहुत ही कम रचनाएँ उड़ीसा के जनसाधारण के बीच प्रचलित हो पाईं। इसलिए अपेक्षाकृत कठिन भाषा में लिखी होने के बावजूद भी कवि सूर्य की रचनाओं का, जो कि गोपाल की रचनाओं से पुरानी भी हैं, गायन अधिक होता है। कठिन शब्दों को भाषा में सुन्दर ढंग से सजाना तथा उनका उपयुक्त ढंग से प्रयुक्त करना ही है कवि सूर्य की प्रतिभा। संगीत के माधुर्य को सम्यक् रूप में ग्रहण करने वाले उड़िया-कानों में कवि सूर्य की रचनाएं सुमधुर गुंजन के रूप में आदर प्राप्त करती हैं। भंज की बात तो छोड़ दें। ओडिसी-संगीत में जिस लालित्य की आवश्यकता है, वह सिर्फ स्वर-योजना ही नहीं है। शब्दों का उचित प्रयोग भी अपेक्षित है। कविता में गद्यात्मक भाषा का प्रयोग कुछ हद तक सह्य है, लेकिन संगीत ? वह तो अतीव सुकोमल है। वह उस 'कामिनी' फूल की तरह है, जिसे छूते ही पंखुड़ियां झड़ जाती हैं।

राग-ताल :

पूरबी, मंगल, धनाश्री, परज, झिंझोटी, ललित, सोरठ, आसावरी, कामोदी, वसंत, अरबी (भी), देशाक्ष, शंकरा भरण, भैरवी, मल्हार, तोड़ी, परज, केदार, मारवा, काफ़ी, पीलू, सौराष्ट्र, सोम, मुखारी, वसंत, केदार-कामोदी, करुणाश्री, खमाज, रेगुप्त, मोहना, कल्याण, गुर्जरी, तोड़ी, सावेरी, कुंभ-कामोदी, शाहाना, हुसेनी, घण्टारव, श्रीराग, मनोरमा, विभास, आनन्द-भैरवी, ललित कामोदी, भैरव, बराली, कानन गौल, कलहंस, केदार, सिन्धु-कामोदी, पंचम-बराली, जौनपुर-तोड़ी, बेगड़ा, बिहाग, विलहरी, सालग-भैरवी, सारंग, धनाश्री, मालवा, नाट कुरंज, यमन, भाटिआरी, श्यामकल्याण, कोलाहल, दक्षिण-गुर्जरी, आहारी आदि का प्रचलन है। इनमें अन्तिम सात रागों का जन-साधारण में प्रचलन कुछ कम है।

ताल :

इकताली, आदि, त्रिपुट, आठताली, झंपा, झूला, पहपट, सरिमान, आदि तालों का बहुल रूप से व्यवहृत होना देखा गया है। उपरिलिखित ताल व रागों का उपयोग

गोपालकृष्ण से पूर्व के कवियों की रचनाओं में मिलता है।

गोपालकृष्ण द्वारा प्रयुक्त कई राग व ताल कर्नाटक-शैली को अपनाते हुए दीखते हैं, जैसे—राग किरवाणी, रामकेरी, कौशिक, जंगला, जदुकुल-कंभोजी, रीतिगौड़ा, पन्तुवराडी, माया मालवगौल, खरहरप्रिया, नादनामक्रिया, पुन्नागवराड़ी, पुन्नाग, सेहाना, सहाना, हरि-कांभोजि, नाटकप्रिया, जुझावती, मांजी, सिन्धुता, निलांबरी, चक्रवाक, सौराष्ट्र इत्यादि आदि।

अन्य ताल :

मिश्रचापु, मिश्रएकताल, रूपक, अट्टताल, झुल्लुआ-ताल, आदि का उल्लेख है। मिश्रचापु, रूपक, तिस्रगति, एकताल का व्यवहार अधिक है। पूर्ववर्ती कई राग और ताल बहुत प्राचीन-काल से ओडिसी-संगीत पर अपना प्रभाव डाले हुए थे। संगीतकार साधारणतया उन्हीं रागों व तालों के माध्यम से रस-परिवेषण करते थे। भक्त कवि गोपालकृष्ण ने कई और दक्षिण-भारतीय रागों में संगीत की रचना की थी। तेलगू चलन के अनुसार मिश्रचापु नाम ने भी उन्हीं के समय शास्त्रों में स्थान पाया, परन्तु वास्तविकता यह है कि इसका प्रचलन 'आठताली' के नाम से उन से पूर्व ही होता रहा था।

गंजाम ज़िले का, राजनीति के चक्कर में पड़ कर पड़ोसी आंध्र प्रदेश के संस्पर्श में आ जाना, अंग्रेजी शासन का ही प्रभाव है। फलस्वरूप राजनीति, खान-पान, चाल-चलन के साथ-साथ, संगीत की अपनी स्वतंत्रता को भी गंजाम ने खो दिया।

मेरा विश्वास है कि इस तथ्य के सत्यासत्य को जाँचने के लिए ब्रिटिश प्रभाव से पूर्व के संगीतज्ञों व साहित्यकारों की रचनाओं को परखना चाहिए। इस तरह हम देख सकते हैं कि ओडिसी-संगीत व अभिव्यक्ति की परम्परा में कर्नाटक-संगीत की छाया किस परिमाण में परिलक्षित होती है।

अनुवादक : एच० एन० पात्रो

तारिणिचरण पात्रो

ओडिशी-संगीत

पहले भारत भर में एक ही संगीत-पद्धति का प्रचलन था। आज की तरह कर्णाटकी, हिन्दुस्थानी, ओडिशी आदि भिन्न-भिन्न पद्धतियां नहीं थीं। लगभग सन् एक हजार के बाद भारत पर बाहरी आक्रमण और विदेशी-शासन से प्रभावित होकर भारतीय साहित्य, संस्कृति, कला में जो परिवर्तन हुए, उसी से संगीत-कला ने भी भिन्न-भिन्न प्रान्तीय रूप ले लिया।

हमारे पूर्वाचार्यों ने संगीत-विषयक अनेक तालपत्र पोथियां लिखी थीं। इनमें से 'संगीत नारायण', 'नाट्य मनोरमा', 'गीत-प्रकाश', 'नृत्य-चन्द्रिका', 'संगीत कौमुदी' आदि ग्रन्थ उपलब्ध हैं। ओडिशी संगीत में श्रुतियों के नाम, जातियों के नाम, मूर्च्छना के नाम, तालों के व्यवहार, प्रचलित कर्णाटकी और हिन्दुस्थानी-संगीत पद्धति से भिन्न है—यह इन्हीं ग्रन्थों से ज्ञात होता है। नाट्य-शास्त्र और संगीत-रत्नाकर में श्रुतियों के नाम इस प्रकार हैं—तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती, जो ओडिशी में नान्दी, विशाला, सुमुखी, विचित्रा आदि हैं। श्रुति और जातियों के नाम भी भिन्न हैं—जैसे प्रजापति, अमृत, अग्नि और इसी तरह मूर्च्छनाओं के नाम और ४९ तालों के नाम तथा स्वरूप भी अन्य शास्त्रीय संगीत-शैली की तुलना से पृथक् हैं। ओडिशी संगीत की अपनी मौलिकता है, अपनी स्वतन्त्र शैली है, अपनी विशेषताएं हैं, जो पूर्णरूप से संपूर्ण है। इसकी अपनी परंपरा है, जो प्राचीन है। प्रस्तुत निबंध

उसी की एक विश्लेषणात्मक विवेचना मात्र है ।

नाट्य शास्त्रकार भरतमुनि का प्रादुर्भाव ईसा की तीसरी से पांचवीं शताब्दी के बीच हुआ था । ग्रन्थों में दत्तिल भरत, कोहल भरत, मत्तंग भरत आदि नामों का उल्लेख हुआ है । अति प्राचीन ग्रन्थों में ब्रह्म भरत, सदाशिव भरत आदि नामों का जिक्र किया गया है । ये खीष्टपूर्व काल के नाट्यवेदकार थे ।

भकार भाव संयुक्तो रेपों रागेण संश्रिताः ।

तकारस्ताल-इत्यादि भरतार्थ-विचक्षणाः ।।

इसी के आधार पर कहा जा सकता है कि संगीत के भाव, राग और ताल तीन मुख्य अंग हैं । संगीत शास्त्रकारों ने इन तीन शब्दों के प्रथम अक्षरों को लेकर 'भरत' नाम रखा है और मूल भरत, आद्य भरत या भरतमुनि के नाम से ये स्वीकृत हुए हैं । उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र के अष्टाविंशति और ऊनविंशति अध्यायों में संगीत पर विशेष आलोचना की है । उन्होंने अपने नाट्य-शास्त्र में 'राग' शब्द का प्रयोग नहीं किया है । पर 'गानंच नाट्यंच वाद्यंच विविधा……… ।' इस प्रकार उन्होंने कला का परिचय प्रदान किया है । उस समय 'जाति गायन' प्रथा नहीं थी । नाट्य-शास्त्र में उन्होंने स्वरों को एकस्वर, द्विस्वर, त्रिस्वर, चतुःस्वर, पंचस्वर, षट्स्वर, सप्तस्वर बताया है ।

भरतमुनि के बाद सातवीं सदी में मत्तंग का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होने 'वृहद्देशी' और भरतमुनि की तरह श्रुति, जाति, स्वर, ग्रह, अंशवर्ण, अलंकार और गीत आदि का वर्णन किया है और 'बोट्ट' आदि दो-तीन रागों की सूचना उनकी रचनाओं से मिलती है ।

मत्तंग के बाद नवम शताब्दी में संगीत-मकरन्दकार नारद का प्रादुर्भाव हुआ । उन्होंने अपने मकरन्द ग्रन्थ में अनेक राग-रागिणियों पर आलोचना की है । सिर्फ इतना ही नहीं, उन्होंने राग-रागिणी, उनके पुत्र और पुत्र-वधू की कल्पना करके एक विराट् संगीत-परिवार बनाया है । उनके बाद ही विभिन्न मतों का प्रचलन हुआ है । जिसमें हनुमन् मत, कल्लिनाथ मत, रागार्णव मत आदि प्रसिद्ध हैं । इनमें से किसी ने छः राग और छत्तीस रागिणियां बताया तो किसी ने उसे छः राग और तीस रागिणियों में सीमित रखा । इसी तरह उन्होंने अपनी-अपनी इच्छानुसार वर्गीकरण किया । पर इन मतों के द्वारा संगीत को कुछ विशेष लाभ नहीं हुआ ।

इसके बाद 'मेल' की सृष्टि हुई । इसके प्रथम स्रष्टा चतुर्दश शताब्दी के माधव विद्यारण्य पुरन्दर बिट्ठल, पंडित रामामान्य, पंडित लोचन कवि आदि हैं । किसी ने

१५ 'मेल' बताये तो किसी ने २० मेलों का व्याख्यान किया और किसी ने २१। किसी ने १२ मकाम या मस्तान की सूचना दी। पर इसमें से एक भी मत श्रृंखलित या व्यवस्थित नहीं हो पाया। फलस्वरूप संगीत-क्षेत्र में इस विषय पर अनुशीलन में कमी रह गयी। अन्त में सप्तदश शताब्दी के पूर्वार्ध में पंडित वेंकट मखी ने गाणितिक सूत्र के जरिए ७२ मेलों की सृष्टि की और दक्षिण-भारत के संगीत-क्षेत्र में नव-संस्कारक के रूप में ख्यात हुए। इधर बीसवीं शताब्दी में पंडित श्री विष्णुनारायण भारतकंडे ने उत्तर भारत में १० थाटों की सृष्टि की और तब से भिन्न-भिन्न पद्धतियों का प्रचलन हुआ है।

पहले भारत भर में एक ही संगीत-पद्धति का प्रचलन था। पर एकादश और द्वादश शताब्दी के बाद विभिन्न जाति, मत और संप्रदायों में और शासन के क्षेत्र में हुए विभ्राट-विप्लव-विभेदों ने संगीत-क्षेत्र को भी प्रभावित किया और संगीत-कला का उन्नति-पथ कंटकित होता चला गया। संस्कृत-भाषा में प्रचलित संगीत-कला की चर्चा सनातनेतर संप्रदाय के लोगों के लिए कठिन हो गयी। विशेष कर उत्तर भारत में सब अपनी-अपनी सुविधाओं की दृष्टि से प्राकृत-भाषा में इसका व्याख्यान करने लगे और नये-नये राग और तालों की सृष्टि हुई। इसका एक उदाहरण 'छायानट' है।

'सब कोई रीझत छायानट पर शंकराभरण मेल मिलावत'—स्वरों को इधर-उधर करके छायानट की सृष्टि हुई है। और इस तरह की नयी सृष्टियों के कारण भारतीय संगीत की दो मुख्य धाराएं हो गयीं। दक्षिण-भारत में कर्णाटकी और उत्तर-भारत में हिन्दुस्थानी नाम से यह पद्धतियां विख्यात हुईं। पर इससे आद्य प्रवर्त्तित उत्कलीय सारस्वत संगीत-शैली के क्रमिक विकास में बाधा पहुंची।

उस समय लिखित अभिनय चंद्रिका ग्रन्थ में उत्कल या उड्रदेश की प्रशंसा इस प्रकार है—

वैतरणी तटारम्य यावत् महेन्द्र पर्वतम्।
तावत् भूमि सुविख्याता उड्र नामाति शोभना।।
महोदध्योत्तरेपार्श्वे यत्र प्राची सरस्वती।
तत्र पुण्यतमं क्षेत्रं श्रीपीठं पुरुषोत्तमम्।।
नीलाद्रौपरि प्रासादं रम्यं गगन चुम्बिनी।
गंगकीर्त्ति इति ख्यातिः यावत् भुवन मण्डले।।

उसी ग्रन्थ में रचनाकाल की जो सूचना दी है, उसके प्रथम स्तवक का अन्तिम

वाक्य और भाव इस प्रकार है—

इतिश्री महेश्वर महापात्रेण विरचित-
अभिनय चंद्रिकायां नृत्यखण्ड नाम प्रथमस्तवकः ।

भावार्थ—वैतरणी नदी से महेन्द्र पर्वत तक की भूमि उड्रदेश के नाम से ख्यात है। इसके मध्य महोदधि की उत्तरी दिशा पर प्राची सरस्वती के समीप श्रीक्षेत्र पुरी अवस्थित है। गंगवंशोद्भव प्रख्यात राजा गजपति अनंगभीमदेव इस देश के अधीश्वर हैं।

खेमण्डी के राजा श्री श्रीनारायण देव गजपति शान्त, मिष्टभाषी और कृष्ण भक्त थे। उनके शासन-काल में इस ग्रन्थ की रचना श्री महेश्वर महापात्र ने की थी। पर इससे इसके रचनाकाल की सूचना नहीं मिलती, फिर भी—

दिव्यसिंह महाराजस्य विजय संवत्सरे द्वाविंशांक चैत्र शुक्ल-
नवम्यां तिथौ लिखनकार बड़ खेमण्डि मधुदादेश लिखितम् ।।

अर्थात्—दिव्यसिंह महाराज के द्वादश अंक (अब्द) के चैत्र शुक्ल पक्ष को नवमी के दिन इस ग्रन्थ की रचना हुई थी।

ठीक उसी समय (सन् १७०२, चैत्र) श्री रघुनाथ रथ द्वारा 'नाट्य मनोरमा' की रचना भी हुई थी।

उसी समय (द्वादश शताब्दी) प्रसिद्ध उड़िया संगीतज्ञ कवि जयदेव ने गीत गोविन्द की रचना की थी, जिसमें गायन के लिए राग और ताल तक की सूचना है। उदाहरणार्थ—'मायामालव रागेण रूपक-तालभ्यां गीयते।' उस समय भारत भर में कहीं भी राग और तालबद्ध गीतों की रचना नहीं होती थी। इस तरह की रचना के आद्य प्रवर्त्तक श्री जयदेव ही हैं। शैली और प्राचीनता की दृष्टि से विचार करने पर ओडिशी को प्रथम, कर्णाटकी को द्वितीय और हिन्दुस्तानी संगीत—शैली को तृतीय स्थान मिलना चाहिए। इसके लिए निष्ठा और संगीत-साधकों की मननशीलता उपेक्षित है, और आवश्यकता है भारतीय-संगीत-परंपरा के सही विश्लेषण की।

प्रसिद्ध कवि और संगीतज्ञ जयदेव के सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने की असीम चेष्टा पंडित भातखण्डे (१२वीं सदी) ने की थी। इसकी सूचना हमें उनके 'भारतीय संगीत का संक्षिप्त इतिहास' से मिलती है। उन्होंने श्री जयदेव के मूल राग और उन पर आलोचना की थी। पाश्चात्य पंडित और विद्वान् सर विलियम्स जोन्स की चेष्टाओं के बारे में भी श्री भातखंडे ने लिखा है। इसलिए

उन्होंने दक्षिणांचल, पश्चिमांचल, नेपाल और कश्मीर में प्राचीन तथा आद्य-संगीत-राग-तालात्मक ग्रन्थों की तलाश की थी। इसके फलस्वरूप उन्हें पंडित लोचन कवि कृत 'राग तरंगिणी' ग्रन्थ मिला था। इस ग्रन्थ में विद्यापति लिखित जयदेव के संबंध में प्राप्त तथ्य इस प्रकार है—

राग तरंगिणी—अथ देशाख नाम रागिणी
अत्रतु जयदेव देशाखः
देश देशाख इति भेद द्वयम्
जयदेव देशाखेतु श्री जयदेवः ॥

स्तन विनिहितमपि हारमुदारं
सामनुते कृशतनु रतिभार
राधिका तव विरहे केशव (इत्यादि सुप्रसिद्धम्)

देश देशाखेतु तन्नामकमेव छन्दः लक्षणम्
चतुमात्र गणनान्तु कलाहीन चतुष्टयम्
चतुष्टायं कलाशेषन्तद्वा प्रति पदार्धके
सप्तमे सप्तमें वर्णे विराम विगत ध्रुवम्
देश देशाख इत्याख्यं.................... ॥

ताल प्रागीव—देशाख भेदादुको
अथ हिन्दोल सैव रागिणी रामकेरी, आकृतिरुक्ताप्राक्
इत्यादि जयदेवी शुद्धादेशी प्रीतिकरी चेतिभेद
चतुष्टयवती जयदेव्यां श्री जयदेवः।

बदसि यदि किञ्चिदपित्यादि सुप्रसिद्धम्।
अथ शुद्धा अत्रतु शुद्धा रामकरीयं छन्दलक्षणम्
पंच विंशति मात्राभिः षड्त्रिंविशति भिरेव वा
सप्त त्रिंशति भिस्ताभिरष्ट विंशतिभिर्भवेत् ॥
यदीय चरणार्द्धान्ते चशुद्ध रामकरीयकम्।
शुद्ध रामकरीयेता गायेदेतद् गतिध्रुवम् ॥

उपरोक्त राग, ताल आदि के लक्षणों से पता चलता है कि श्री जयदेव ने 'राग-ताल-लक्षण' नामक एक शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की थी। पर दुःख की बात है

कि यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। यह सूचना विद्यापति कृत 'राग-तरंगिणी' ग्रन्थ से मिलती है।

पंडित रघुनाथ मिश्र ने 'रागमनोरमा' लिखने के पहले 'संगीतार्णव-चन्द्रिका' ग्रन्थ लिखा था। इसका उल्लेख उन्होंने 'नाट्यमनोरमा' में किया है। पर खेद है कि 'संगीतार्णव-चन्द्रिका' ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है। आनन्द की बात है कि अब तक 'नाट्यमनोरमा', 'संगीतनारायण', 'अभिनयचन्द्रिका' आदि ग्रन्थों का मुद्रण हो चुका है और 'गीतप्रकाश' और 'संगीतकौमुदी' प्रकाशनाधीन हैं।

राग-तालों के आद्य-प्रवर्त्तक महाकवि श्री जयदेव द्वारा 'गीतगोविन्द' लिखने के साथ-साथ 'रागविज्ञान' ग्रन्थ लिखने की सूचना भी मिलती है। पर अभी तक उसका भी कोई संधान मिल नहीं रहा है। आठ सौ साल पहले की यह रचना अब प्राप्त होगी, ऐसी आशा रखना वृथा है। इसके बाद १७०१ में 'नाट्यमनोरमा', 'संगीत-नारायण' और १७६७ में 'अभिनयचन्द्रिका' लिखा गया था। इसके बाद अब तक और किसी संगीत-शास्त्र की रचना हुई है, इसकी सूचना मिलती नहीं। उपलब्ध 'संगीतनारायण', 'नाट्यमनोरमा', 'गीत प्रकाश' और 'संगीतकौमुदी' आदि ग्रन्थों में श्रुति-मूर्च्छना, तान और तालों के व्यवहार की रीति एक-सी है। इसके अलावा यह दक्षिण और उत्तर की पद्धतियों से भिन्न भी है—यह विचारणीय है। इस आलोचना से स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि ओडिशी संगीत-पद्धति अन्य पद्धतियों से संपूर्ण रूप से भिन्न है और इसीलिए श्रुति, मूर्च्छना आदि के नाम और तालों के अंगों के व्यवहार में भी भिन्नता पायी जाती है।

इसके बाद १६०० के आस-पास कवि सम्राट् उपेन्द्रभंज का प्रादुर्भाव हुआ। इन्होंने 'चौपदियों' के अलावा 'छन्दों' की भी अधिक संख्या में रचना की है। १७७५ तक गोपालकृष्ण और कविसूर्य का प्रादुर्भाव हुआ। पर इनकी कोई तथ्य संबलित रचना नहीं है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि इन तथ्यों पर आलोचना उस समय नहीं हो रही थी। फिर भी ये संगीत-शास्त्रज्ञ थे, क्योंकि कृष्णदास बडजेना महापात्र, रघुनाथ रथ, जगन्नाथ गजपति नारायणदेव आदि कवियों ने संगीत संबंधी अनेक तथ्यों का उल्लेख अपनी रचनाओं में किया है।

मूर्च्छना षड्ज :

षड्जेतुत्तर मन्द्रादौ रजनी च्लेत्तरायता।
शुद्ध षड्जा मत्सरीकृदश्वक्रान्ताभिरुद्गता॥

अर्थात्—भरतकृत इस श्लोक के अनुसार षड्ज ग्राम में उत्तर मन्द्र, रजनी उत्तरायण, षड्ज मध्या, मत्सरीकृत, अश्वक्रान्ता और अभिरुद्गता हैं।

क्रमात् स्वराणां सप्तानां आरोहश्चावरोहणम्।
मूर्च्छनेत्युच्चतेतास्तु प्रति मेलंच सप्तधा ।।

ओडिशी श्रुति :

प्राचीन ग्रन्थों में तीव्रा, कुमुद्वती आदि २२ श्रुतियों के नाम हैं। ओडिशी श्रुतियां इनसे भिन्न हैं। वे इस प्रकार हैं—

नान्दी विशाला सुमुखी विचित्रा षड्जजा स्मृता।
चित्राघना चालनिका ऋषभस्तु इतीरिता: ।।
गांधारे सरसा माला मध्यमे मागधि: शिवा।
मातंगिका च मैत्रेयी चतस्र: परिकल्पिता ।।
वाला कला कलरवा शांगीरव्यपि पंचमी।
माता-मृता रसा चेति तिस्रौ धैवतनामानि ।।
निषाद नामानि द्वे च विजया मधुकरीति च।

१. षड्ज की श्रुतियां—नान्दी, विशाला, सुमुखी और विशाला।
२. ऋषभ की श्रुतियां—चित्रा, घना, चान्दनिका।
३. गांधार की श्रुतियां—सरसा, माला।
४. मध्यम की श्रुतियां—मागधी, शिवा, मातंगी और मैत्रेयी।
५. पंचम की श्रुतियां—वाला, कला, कलरवा, शांगीरवि।
६. धैवत की श्रुतियां—माता, अमृता, रसा।
७. निषाद की श्रुतियां—विजया, मधुकरी।

संगीत-शास्त्रानुसार मूर्च्छनाओं के नाम—

१. तीव्रा, कुमुद्वती, मन्दा, छन्दोवती।
२. दयावती, रंजनी, रतिका।
३. रौद्री, क्रोधी।
४. बज्रिका, प्रसारिणी, प्रीति, मार्जनी।
५. क्षिति, रक्ता, संदीपिनी, आलापिनी।
६. मदन्ती, रोहिणी, रम्या।
७. उग्रा, क्षोभिणी।

उत्तर भारतीय संगीत की मूर्च्छनाएँ—षड्ज, मध्यम और गांधार प्रत्येक ग्रामों के लिए सात-सात हैं। इस प्रकार कुल २१ हैं।

षड्ज की मूर्च्छनाएँ—उत्तर मन्द्रा, रजनी, उत्तरायणा, शुद्ध षड्जा, मत्सरीकृता, अश्वक्रान्ता, अभिरुद्गता।

मध्यम की मूर्च्छनाएँ—सौवीरी, हरिणाश्वा, कलोपनता, शुद्ध मध्यम, मार्गी, पौरवी, हृषीका।

गांधार की मूर्च्छनाएँ—नन्दा, विशाला, सुमुखी, विचित्रा, रोहिणी, सुखा, आलापा।

ओड़िशी में मूर्च्छनाओं के नामान्तर :

ललिता मध्यमा चित्रा रोहिणी च मतंगजा।
सौवीरा वर्णमध्या च षड्ज मध्या तु पंचमाः ।।
मत्सरी मृदु-मध्या च शुद्धान्ता च कलावती।
तीव्रा रौद्री तथा ब्राह्मी, वैष्णवी खेचरी वरा ।।
नादावती विशाला च त्रिषु ग्रामेषु वैक्रमात्।
एक विंशतिरित्युक्ता मूर्च्छना चन्द्रमौलिना ।।

अर्थात्—ललिता, मध्यमा, चित्रा, रोहिणी, मतंगजा, सौवीरा, वर्णमध्या, षड्जमध्या, पंचमा, मत्सरी, मृदु-मध्या, शुद्धान्ता, कलावती, तीव्रा, रौद्री, ब्राह्मी, वैष्णवी, खेचरी, वरा, नादावती और विशाला—ये २१ मूर्च्छनाओं को तीन भागों में विभक्त किया गया है।

उत्तर-भारतीय स्वर-सप्तक :

उत्तर-भारतीय उत्तरमन्द्रा ओड़िशी में ललितमूर्च्छना कहलाती है। इसी मूर्च्छना से उत्पन्न राग को कर्णाटकी में 'खरहर-प्रिया' और उत्तर-भारत में 'काफी' कहते हैं। इस बात को श्रीनिवास, भावभट्ट और सोमनाथ आदि पण्डितों ने स्वीकार किया है। साथ ही तीव्रा नामक प्रथम श्रृति के षड्ज को ग्रहण करके हिन्दुस्तानी पद्धति में 'विलावल' को शुद्ध थाट के रूप में ग्रहण किया गया है। इसमें 'सा' तीव्रा से, 'रि' दयावती से, 'गा' रौद्री से, 'मा' बज्रिका से, 'पा' क्षिति से, 'धा' मदान्ति से, और 'नि' उग्रा से लिये गये हैं।

कर्णाटकी पद्धति में 'सा' छन्दोवती की चौथी श्रृति से, 'रि' रंजनी से, 'गा' रक्तिका से, 'मा' मार्जनी से, 'पा' आलापिनी से, 'धा' रोहिणी से और 'नि' रम्या

श्रृति से लिए गये हैं। कर्णाटकी में 'कनकांगी' या 'कनकास्वरी' को शुद्धमेल के रूप में स्वीकार किया गया है। पर कर्णाटकी में १२ स्वरों की जगह इधर-उधर करके और ४ स्वर मिलाए गये हैं और इस तरह १६ बनाकर स्वर-भेदों के अनुसार ७२ मेल बनाए गये हैं।

तुलनात्मक रूप से ओड़िशी में समर्थित १२ स्वरों से ३२ मेलों को या मूल रागों को ग्रहण किया गया है। यानि षड्ज ग्राम की उत्तरमन्द्रा मूर्च्छना को लेकर ओड़िशी 'संगीत प्रकाश' में ललिता मूर्च्छना से जात राग को 'आदिमूल' राग के रूप में स्वीकार किया गया है।

इसके आगे की तालिका में षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाओं के विविध शैलियों में प्रयुक्त विविध रूप दिखाये गये हैं—

षड्ज ग्राम की मूर्च्छनाएँ

	ओड़िशी	उत्तर भारतीय	आरोह-अवरोह		ओड़िशी में	कर्णाटकी में	हिन्दुस्तानी में
१.	ललिता	उत्तरमन्द्रा	सा रि गा मा पा धा नि नि धा पा मा गा रि सा	१	काननश्री	खरहर प्रिया	काफी
२.	मध्यमा	रजनी	नि सा रि गा मा पा धा धा पा मा गा रि सा नि	२	जन कल्याणी	धीर शंकरा भरण	बिलावल
३.	चित्रा	उत्तरायणा	धा नि सा रि गा मा पा पा मा गा रि सा नि धा	३	मूल मथन	मेल मथन	ठाट मथन
४.	रोहिणी	शुद्ध षड्जा	पाधानि सारिगामा मा गा रि सा नि धा पा	४	लीना	नर भैरवी	आशावरी
५.	मतंगजा	मत्सरी कृता	मापा धा नि सा रि गा गा रि सा नि धा पा मा	५	सुनागरी	हरि काम्बोजी	खमाज
६.	सौवीरा	अश्वक्रान्ता	गामा पाधा नि सारि रि सा नि धा पा मा गा	६	भारती	मेच कल्याणी	कल्याण
७.	षड्ज मध्या	अभिरुदगता (हृद्गता)	रिगा मापा धा निसा सा नि धा पा मा गा रि	७	विपंचिका	हनुमत् तोड़ी	भैरवी

शार्ङ्गदेव :

त्रयोदश शताब्दी में भारतीय संगीत पद्धतियों पर भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किये गये तब पण्डित शार्ङ्गदेव ने सब मतों को एकत्रित करके 'संगीत-रत्नाकर' नामक विराट ग्रन्थ की रचना की। विभिन्न भाषाओं में अनुवादित होकर देश-विदेशों में इस ग्रन्थ का प्रचार होने लगा। स्वर्गीय पंडित नीलकण्ठदास ने अपने 'उड़िया साहित्य क्रम परिणाम' ग्रन्थ (द्वितीय भाग) में निम्न रूप से लिखा है—'संगीत-रत्नाकर' संगीतशास्त्र संबंधी एक विराट् ग्रन्थ है। इसके प्रत्येक अध्याय के अन्त में 'इतिश्री श्री मदनवद्य विद्याविनोदी श्रीकरणाधिपति श्री सोढ़लदेव नन्दन निःशंक श्री शार्ङ्गदेव विरचिते संगीत-रत्नाकर········अध्यायः समाप्तः' लिखा है।

पंडित श्री शार्ङ्गदेव के पूर्वज कश्मीर से दक्षिण भारत आये थे। श्री शार्ङ्गदेव का नाम नि.शंक शार्ङ्गदेव था और उपाधि श्रीकरणाधिपति थी।

यह शार्ङ्गदेव क्या ओड़िआ थे ? ओड़िशा के राजदरबार से उन्हें निःशंक उपाधि मिली थी। मन्त्री या परामर्श देने वालों का नाम 'श्रीकरण' रखा जाता था। और श्रीकरणाधिपति श्रीकरणों में सर्वश्रेष्ठ कहलाए जाते थे। ओड़िशा में गगवंश के राजत्व-काल में इस तरह श्रीकरण, बड श्रीकरण, संधि-विग्रहिक, परीछा, पाटयोषी, च्याउपट्टनायक, ढ्यान, महापात्र, वाहिनीपति आदि उपाधियों से प्रमुख व्यक्तियों को भूषित किया जाता था। इस का प्रमाण है। विशेषकर मन्त्री और अन्य वड़े राज कार्यकर्त्ताओं को ये उपाधियां मिलती थीं।

श्रीकरण का अर्थ है—सिरस्तादार या वित्तमन्त्री, श्रीकरणाधिपति का अर्थ है—प्रधानमन्त्री और संधिविग्रहक का अर्थ वैदेशिक विभाग के लिए नियुक्त मन्त्री···· आदि····।

पंडित शार्ङ्गदेव को भी शायद निःशंक और श्रीकरण की उपाधि किसी गंगवंशीय राजा से मिली थी। क्योंकि इन उपाधियों का प्रचलन भारत भर में अन्य किसी भी राजधानी में नहीं था। इसके संबंध में पण्डित नीलकंठ दास ने बताया है कि पण्डित शार्ङ्गदेव दक्षिण भारत के दौलताबाद (देवगिरि) के महाराज सिंघण के राजदरबार में थे और कुछ समय के लिए ओड़िशा के राजदरबार के साथ भी उनका संपर्क था। ओड़िशा के महाराजा लाख राजाओं में सिरमौर थे। उनका वर्णन 'वीर श्री गजपति गौडेश्वर नवकोटी कर्णाटोत्कल वर्गेश्वर श्री श्री श्री····' आदि से किया जाता था।

'नाट्य मनोरमा' के रचयिता पंडित श्री रघुनाथ रथ ने केरल के महाराजा श्री

नीलकंठ के नाम से (भणति की) उल्लेख किया। उसमें दिव्यसिंह देव महाराज के द्वादश अंक (१६९३–१७२० ई०) का उल्लेख है।

संगीतार्णव-चन्द्रिका :

पण्डित श्री रघुनाथ रथ ने 'संगीतार्णव-चन्द्रिका' नाम से एक और ग्रन्थ की रचना की थी, जिसकी सूचना 'नाट्य मनोरामा' से मिलती है। पर यह ग्रन्थ अप्राप्य है।

संगीत-नारायण :

श्री पुरुषोत्तम मिश्र कवि रत्न के शिष्य पारलाखेमुंडि के राजा गजपति श्री जगन्नाथ नारायण देव ने 'संगीत नारायण' नामक एक उपादेय ग्रन्थ लिखा है। श्री पदमनाभ नारायण ने 'ताल सर्वसार संग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

संगीत-कौमुदी और गीत-प्रकाश :

इसके बाद श्री कृष्णदास बडजेना महापात्र ने 'संगीत कौमुदी' और 'गीत प्रकाश' ग्रन्थों की रचना की। इसमें श्रुति, ताल, मूर्च्छना आदि का व्यवहार अभिनव रूप से किया गया है। इनके स्वतन्त्र नाम और स्वतंत्र प्रयोग भी हैं।

पर अभिनय-चन्द्रिका के रचयिता महेश्वर महापात्र ने बड़खेमुण्डि महाराज नारायणदेव के नाम से भणति की है। इस ग्रन्थ में 'देवदासी-नृत्य' और 'नृत्य-कौमुदी' उत्कल के विभिन्न प्रान्तों में तालपत्र पोथियों में उपलब्ध होने की सूचना है। अब तक संगीत और नृत्य संबंधी जिन ग्रन्थों को प्रकाशित किया गया है, उनसे 'अभिनय चन्द्रिका' में नृत्य, नृत्य की भंगिमाएं और मुद्राएं भिन्न हैं। विशेषकर गंजाम के देहातों में अब भी वैसी पोथियां हैं, ऐसा सुना गया है।

हमारे पूर्वजों द्वारा अनेक शास्त्रीय-ग्रन्थों की रचना हुई है। फिर भी उन पर आलोचना और अध्ययन के अभाव के कारण प्रगति हुई नहीं है। आज उत्तर-भारतीय और कर्णाटकी संगीत-पद्धतियों का क्रमशः विकास होते समय ओड़िशी पर आलोचना ही नहीं हो पा रही है।

कर्णाटकी संगीत पर आलोचना करते समय ज्ञात होगा कि 'षड्ज' से निषाद तक १२ स्वरों के जरिए ३२ मेल होने चाहिएं। पर पंडित व्यंकट मुखी ने, दक्षिण के संगीत के नव-प्रवर्त्तक के रूप में, किस उद्देश्य से १२ स्वरों के स्थान पर और ४ स्वरों को उनमें मिलाया है, पता ही नहीं चलता। इन चार स्वरों के नाम इस

प्रकार हैं :—१. षट्श्रुति ऋषभ, २. षट्श्रुति धैवत, ३. शुद्ध गांधार और ४. शुद्ध निषाद। इन चार स्वरों को मिलाकर उन्होंने १६ स्वर बनाए हैं और इस तरह ७२ मेलों का वर्गीकरण किया है। और उधर उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति के संस्कारक पंडित विष्णुनारायण भातखण्डे ने किसी भी सूत्र का आधार लिए बिना न मालूम किस तरह १० मेलों का वर्गीकरण किया है। भरतमुनि के समय से बीसवीं शताब्दी के आरंभकाल तक चौथी श्रृति छन्दोवती को षड्ज के रूप में ग्रहण करके काफी थाट को शुद्ध थाट के रूप में स्वीकार किया गया है। पर कर्णाटकी में कनकांगी राग को शुद्ध मेल की मान्यता मिली है और इस तरह दोनों पद्धतियों ने अपनी-अपनी मनमानी की है। इन दोनों पद्धतियों के बीच ओड़िशी पूर्णांग आलोचना के अभाव में सूत्रहीन और शृङ्खलाहीन स्थिति में रह रही है, तथापि ओड़िशी संगीत-पद्धति भारत भर में प्रचलित सब संगीत-पद्धतियों में शुद्ध और शास्त्रीय है।

प्राचीन काल से चौथी श्रृति 'छन्दोवती' को 'षड्ज' माना गया है पर भातखण्डे ने 'प्रथम' स्वर 'तीव्रा' को 'षड्ज' के रूप में ग्रहण करके 'काफी' की जगह 'विलावल' शुद्ध थाट के रूप में ग्रहण किया है। १९१६ में बड़ौदा के संगीत-सम्मेलन में 'विलावल' थाट शुद्ध थाट घोषित हुआ था। पर इसके पूर्व दक्षिण भारत में प्रचलित 'खरहर प्रिया' और उत्तर भारत में प्रचलित 'काफी' राग को शुद्ध मेलों की मान्यता मिली थी। इसको संगीत-पारिजातकार पण्डित आहोवल से लेकर वीसवीं सदी तक पंडितों ने स्वीकार किया है। अब स्वामी प्रज्ञानन्द, महेश नारायण सक्सेना, नादानन्दी पर्वतेकर आदि प्रतिष्ठित आचार्यगण 'विलावल' की मान्यता के विरुद्ध अपने-अपने ग्रन्थों में लिखने लगे हैं।

अवश्य श्री भातखण्डे के पूर्वज, निजाम के पार्षद, पण्डित श्री आपा तुलसी कृत 'संगीत कल्पद्रुमांकुर' ग्रन्थ में वर्त्तमान प्रचलित दस थाटों—बिलावल, कल्याण, खम्वाज, भैरव पूरवी, आशावरी, भैरवी, मारवां, काफी और तोड़ी का वर्णन है। पंडित भातखण्डे ने इन दस थाटों का प्रवर्त्तन उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति में किया है और इसमें से 'विलावल' को शुद्ध थाट माना है।

पंडित गोविन्द दीक्षित और पंडित व्यंकटमुखी के पूर्वकाल में 'खरहर प्रिया' और 'काफी' रागों का शुद्ध मेलों के रूप में प्रचलन था—यह उस समय के ग्रन्थों से ज्ञात होता है। पण्डित गोविन्द दीक्षित ने 'कनकांगी' को और व्यंकटमुखी ने कनकाम्वरी को शुद्ध मेलों के रूप में प्रतिपादित किया है। इन रागों के स्वर षड्ज, कोमल, ऋषभ, तीव्र ऋषभ, (शुद्ध गांधार) शुद्ध मध्यम, पंचम, कोमल धैवत, तीव्र धैवत

(शुद्ध निषाद) हैं। पंडित भातखण्डे ने उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति में 'बिलावल' को शुद्ध थाट के रूप में स्वीकारा है, जिसे कर्णाटकी में 'शंकराभरण' कहते हैं।

दुःख की बात तो यह है कि वर्त्तमान के कुछ ओड़िशी गायकों ने ओड़िशी पद्धति का कुछ अंश कर्णाटकी से और कुछ अंश उत्तर-भारतीय-पद्धति से लेकर खिचड़ी बनायी है, जिससे यह अपनी स्वतन्त्र प्रतिष्ठा ही खोने लगी है।

ओड़िशी-पद्धति :

आदि ग्रन्थ भरतमुनि का नाट्य-शास्त्र है। इस ग्रन्थ की रचना चतुर्थ शताब्दी में हुई थी। यद्यपि इस ग्रन्थ में रागों पर आलोचना नहीं की गयी है, फिर भी चतुर्थ श्रुति छन्दोवती तथा षड्ज ग्राम की आद्य मूर्च्छना उत्तर मन्द्रा को गायन शैली का माध्यम माना गया है। इसके आधार पर कर्णाटकी में 'खरहर प्रिया' और उत्तर-भारतीय-पद्धति में 'काफी' ही शुद्ध मेल है और ओड़िशी में वह 'काननश्री' है।

अब प्रश्न उठता है कि प्राचीन ओड़िया संगीत शास्त्रों में इस मेल के विषय में कुछ है या नहीं ? नहीं। क्योंकि इसके वर्णन की आवश्यकता ही नहीं थी। जब शास्त्रों के द्वारा शुद्ध थाटों का निरूपण हो चुका हो तो उसी के आधार पर किसी भी पद्धति में थाट का निरूपण हो जाना चाहिए। इसमें केवल प्रान्तीय प्रभाव से नामान्तर मात्र ही होगा। इसके अलावा किसी भी पद्धति में अगर मूल राग का निरूपण या मूल शाखा का वर्गीकरण नहीं किया जाए तो वह पद्धति ही अव्यवस्थित, शृङ्खलारहित, सूत्रहीन हो जाएगी। इसके सम्बन्ध में यहां एक उदाहरण देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जब एक जाति, गोष्ठी, संप्रदाय या मत की प्रतिष्ठा होती है, तो उसका एक संचालक का रहना भी अनिवार्य हो जाता है। संचालक के अभाव में वह अनुष्ठान या संप्रदाय शृङ्खलित रूप से परिचालित नहीं हो सकता। नाट्य-मनोरमा के अनुसार—

> बिना तालेन गीतादेर्गीत शुद्धिर्नजायते।
> कर्णधारं विना नाव....................॥

ताल के बिना उसी तरह गीत की शुद्धता नष्ट हो जाती है, जिस तरह बिना नाविक के नाव का नियंत्रित होकर रहना असंभव है। इसी तरह मेल के बिना मूल राग के वर्गीकरण-जन्य, शाखा-रागों में भी शृंखला, सूत्र और नियंत्रण नहीं रह सकता। रागों के नाम, उनके व्यवहार एवं पद्धतियों का अन्तर आगे की तालिका में दिया जा रहा है—

विभिन्न पद्धतियों में व्यवहृत विभिन्न नाम—

	कर्णाटकी	उत्तर भारतीय	ओड़िशी
१.	मेलं	थाट	मूल
२.	जन्यं	उपराग	शाखा
३.	शुद्ध साधारण षट्श्रुति, अन्तर और प्रति	कोमल शुद्ध और कड़ी	कोमल और तीव्र
४.	आलापना	आलाप	आलप्ति
५.	कल्पनास्वर	सरगम	स्वरावृत्ति
६.	आरोहणावरोहणं	आरोह-अवरोह	मूर्च्छना स्वर या स्वरोच्चारण
७.	तानं	राग विस्तार	तेनक
८.	आकारं	तान	स्वरवर्णोच्चारण (स्वर विस्तार)
९.	निरवल	बांट	विभिन्न भांग
१०.	जाति	जाति	वर्ग
११.	वादी संवादी	वादी-संवादी	अंश समांश
१२.	शुद्ध मेलं	शुद्ध थाट	आदि मूल
१३.	कनकांगी	विलावल	काननश्री
१४.	मध्यकाल साहित्य	—	पड़ि (पहली)
१५.	मुक्तायी	तिहाइ	छिण्डाण
१६.	चिट्टास्वरं	—	रंजन स्वर
१७.	पल्लवी	स्थायी	घोषा
१८.	अनुपल्लवी	अन्तरा	उपघोषा
१९.	चरण	—	पद
२०.	मेलों की संख्या ७२	थाट संख्या १०	मूल रागों की संख्या ३२
२१.	तत्कारं	ठेका	जाति
२२.	मुख्यांगम्	मुख्यांग (पकड़)	घराण
२३.	अरसा	परन	रपड़
२४.	मनोहरं	मोर	वाद्य
२५.	गान कचेरी या सभा	जलसा	बैठकी

तीन पद्धतियों के भिन्न-भिन्न नाम :

	ओडिशी	कर्णाटकी	हिन्दुस्तानी	स्वर
१.	कानन श्री	खरहर प्रिया	काफि	सा, तीव्र रि, गा कोमल, मा शुद्ध, पा, धा तीव्र , कोमल नि
२.	खंजनाक्षी	गौरी मनोहारी	काफि बिलावल	सा, तीव्र रि, गा कोमल, मा शुद्ध, पा, धा तीव्र , तीव्र नि
३.	लीना	नट भैरवी	काफि भैरवी	सा, तीव्र रि, गा कोमल, मा शुद्ध, पा, धा कोमल, कोमल नि
४.	घनकेशी	नीर-वाणी	काफि-भैरव	सा, तीव्र रि, गा कोमल, मा शुद्ध, पा, कोमल धा, तीव्र नि
५.	मनोरमा	चारुकेशी	बिलावल भैरवी	सा, तीव्र रि, गा तीव्र , मा शुद्ध, पा, कोमल धा, कोमल नि
६.	तानकंठी	सरसांगी	बिलावल भैरव	सा, तीव्र रि, गा तीव्र , मा शुद्ध, पा, धा कोमल, तीव्र नि
७.	सुनागरी	हरिकाम्बोज	बिलावल काफी	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , कोमल नि
८.	जन कल्याणी	धीर शंकराभरण	बिलावल	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , तीव्र नि
९.	धनी	चक्रवाक	अहीर भैरव	सा, कोमल रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , कोमल नि
१०.	नटप्रिया	सूर्यकान्त	आनन्द भैरव	सा, कोमल रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , कोमल नि
११.	पिक भाषिणी	वकुलाभरण	भैरव भैरवी	सा, कोमल रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
१२	रूपश्री	मायामालवगौड़	भैरव	सा, कोमल रि, तीव्र गा, शुद्ध मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
१३.	विपंचिका	हनुमत् तोड़ी	भैरवी	सा, कोमल रि, कोमल गा, शुद्ध मा, पा, कोमल धा, कोमल नि
१४.	भूयसी	धेनुका	भैरवी भैरव	सा, कोमल रि, कोमल गा, शुद्ध मा, पा, कोमल धा, कोमल नि
१५.	शुकप्रिया	नाटक प्रिया	भैरवी काफि	सा, कोमल रि, कोमल गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , कोमल नि
१६.	चकोराक्षी	कोकिल प्रिया	भैरवी बिलावल	सा, कोमल रि, कोमल गा, शुद्ध मा, पा, तीव्र धा , तीव्र नि
१७.	सुकुमारी	हेमवती	मधुवन्ती काफि	सा, तीव्र रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा , कोमल नि

	ओड़िशी	कर्णाटकी	हिन्दुस्थानी	स्वर
१८.	दीपमालिनी	धर्मवती	मधुवन्ती बिलावल	सा, तीव्र रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, तीव्र नि
१९.	धूपप्रिया	षणमुख प्रिया	मधुवन्ती भैरवी	सा, तीव्र रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, कोमल नि
२०.	नीराजना	सिंहेन्दु मध्यमा	मधुवन्ती भैरव	सा, तीव्र रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
२१.	करुणामयी	ऋषभ प्रिया	कल्याण भैरवी	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, कोमल नि
२२.	रेखा	लतांगी	कल्याण भैरव	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
२३.	गिरिजा	बाचस्पति	कल्याण काफि	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, कोमल नि
२४.	भारती	मेच कल्याणी	कल्याण	सा, तीव्र रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, तीव्र नि
२५.	मर्कतांगी	राम प्रिया	मारवां काफि	सा, कोमल रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, कोमल नि
२६.	तरणी	गमन श्रम	मारवाँ बिलावल	सा, कोमल रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, तीव्र नि
२७.	सुरसिका	नाम नारायणी	मारवाँ भैरवी	सा, कोमल रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, कोमल नि
२८.	हरमोहिनी	कामवर्धनी	मारवाँ भैरव	सा, कोमल रि, तीव्र गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
२९.	धराश्री	भवप्रिया	तोडी भैरवी	सा, कोमल रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
३०.	नागवल्ली	शुभपन्तुरा वल्ली	तोडी	सा, कोमल रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, कोमल धा, तीव्र नि
३१.	योगेश्वरी	षड्विधमार्गिणी	तोडी-काफी	सा, कोमल रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, कोमल नि
३२.	रागवती	सुवर्णांगी	तोडी बिलावल	सा, कोमल रि, कोमल गा, तीव्र मा, पा, तीव्र धा, तीव्र नि

मूर्च्छनाओं के नाम	आरोह-अवरोह	ओडिशी नाम	कर्णाटकी नाम	हिन्दुस्तानी नाम
१. उत्तर मन्द्रा	सा रि गा मा पा धा नि नि धा पा मा गा रि सा	काननश्री	खरहर प्रिया	काफि
२. रजनी	नि सा रि गा मा पा धा धा पा मा गा रि सा नि	जन-कल्याणी	धीर शंकराभरण	बिलावल
३. उत्तरायत्ता	धा नि सा रि गा मा पा पा मा गा रि सा नि धा	मूल मथन	मेल मथ	थाट मथन
४. शुद्ध षड्जा	पा धा नि सा रि गा मा मा गा रि सा नि धा पा	लीना	नट भैरवी	आशावरी आश्रय
५. मत्सरी कृता	मा पा धा नि मा रि गा गा रि सा नि धा पा मा	सुनागरी	हरि काम्बोजी	खमाज आश्रय
६. अश्व क्रान्ता	गा मा पा धा नि सा रि रि सा नि धा पा मा गा	भारती	मेघ-कल्याणी	कल्याण
७. अभिरुद्गता या हृद्गता	रि गा मा पा धा नि सा सा नि धा पा मा गा रि	विपंचिका	हनुमत तोडी	भैरवी

'ग्राम' और 'मूर्च्छना' की इस प्रथा की सृष्टि सम्भवतः भरत मुनि के समय हुई थी। फिर भी उन्होंने किसी राग की सृष्टि नहीं की थी। उस समय रागों का प्रचलन भी नहीं था। केवल 'जाति गायन' प्रथा ही प्रचलित थी। हो सकता है गोविन्द दीक्षित और पंडित व्यंकट मुखी के पूर्व ही 'उत्तर मन्द्र।' मूर्च्छना से 'खरहर-प्रिया' मेल उत्पन्न हुआ हो, क्योंकि इस मूर्च्छना से 'इस राग के स्वर और गायन में 'कोमल' का व्यवहार किया गया है। लगता है इसी क्रम से अन्य 'राग' बने हैं। अवश्य भरत मुनि ने 'उत्तर मन्द्रा' को आदि मूर्च्छना का स्थान दिया था। आधुनिक प्रचलित राग-क्रम में कर्णाटकी में खरहर-प्रिया और उत्तर भारत में काफी इसका नामन्तर है।

मेल या थाट के संपर्क में :

महर्षि भरत के समय 'जाति गायन' प्रचलित था। उसके बाद क्रमशः 'ग्रामराग' और 'राग-रागिणियों' का प्रचार-प्रसार हुआ। प्रन्द्रहवीं शताब्दी में मेल-पद्धति का आरंभ हुआ है। मूर्च्छना या स्वर-सप्तक से मेल उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक सप्तकों में सात शुद्ध और पांच विकृत स्वर हैं इस तरह बारह स्वरों से एक पूर्ण सप्तक बनता है।

स्वर-समूह को मेल कहा जाता है, जिसमें से भिन्न-भिन्न रागों की उत्पत्ति होती है। यही मेल की सही व्याख्या है। मेलों के लिए प्रत्येक प्रवर्त्तक निम्न-लिखित दो नियमों का पालन करते हैं :—

१. 'मेल' में क्रमान्वय सात स्वरों का रहना आवश्यक है—(''''सा रि गा मा पा धा नि)।

२. किसी एक स्वर के दो रूप एक ही मेल में नहीं रहने चाहिए।

पंडित भातखण्डे ने मध्यकाल के पंडित श्री व्यंकटमुखी के ७२ मेलों से १० थाटों को लेकर उन्हीं १० थाटों के जरिए समस्त रागों का वर्गीकरण किया है। अन्यत्र पंडित जी ने स्वीकार किया है कि उन्होंने निजाम दरबार के पंडित आपा तुलसी कृत 'कल्प-द्रुमांकुर' में वर्णित १० थाटों की उपस्थापना हिन्दुस्थानी-पद्धति में की है और श्री आपा तुलसी को भारतीय संगीत-व्यवस्था कार्य में एक सुयोग्य सहयोगी के रूप में स्वीकार किया है।

'मेलास्युर्दशगीतपद्धतिगताः कल्याणवेलावल —
खंबाजाह्यथभैरवस्तदनुगा भैरव्यथासावरी।

तोडी पूर्व्यथमारवा बहुमताकाफीदिरागा. क्रिया
सौकर्यादिह वैरिण वैरभिहिता: श्रीशावनाराइव ॥'

गीत-गोविन्दोक्त भगवान के दश अवतारों की तरह आपा तुलसी ने १० मेलों की सृष्टि की है। ये मेल इस प्रकार हैं—कल्याण, वेलावली, खमाज, भैरव, भैरवी, आशावरी, तोडी, पूर्वी, मारवां और काफी। पं० भातखण्डे ने इन मेलों का प्रवर्त्तन उत्तर भारतीय पद्धति में किया है। इस सम्बन्ध में स्वामी कृपालानन्द ने कहा है—'उत्तर भारतीय संगीत-पद्धति में रागवर्गीकरण की अवस्था अत्यन्त दयनीय है, क्योंकि इस पद्धति में केवल १० 'थाट' हैं और यह पद्धति अनेक रागों जैसे—मधुवन्ती, पटदीप, आनन्द भैरव, अहीर भैरव आदि से वंचित है। अतः उपरोक्त रागों का ठाट् निर्णय नहीं हो पाता। स्वामी जी ने फिर बताया है कि मेल रागों का नियन्त्रक है। इसलिए सर्वप्रथम मेल प्रस्तुति अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि राग की सृष्टि के पहले मेल की सृष्टि नहीं होती। यह व्यतिक्रम भारतीय संगीत-पद्धति में है। प्रचलित १२ स्वरों से गाणितिक सूत्र के अनुसार ३२ मेल होने चाहिये। इसे स्वीकार किया जाए तो संगीत-क्षेत्र में विकास होना अवश्यम्भावी है।

जन्य-जनकता :

पड़ोस के अन्य प्रदेशों में प्रचलित दोनों संगीत-पद्धतियों में जनक-जन्य राग के रूप में विवेचित होता है। तब यह सवाल उठता है कि सब तो राग है, फिर 'हरि-काम्बोज' का मेल कैसे बना और उनके जन्य (सन्तान) के रूप में 'मोहना' को किस तरह लिया गया? इसलिए ओड़िशी में सर्वप्रथम राग को आदिमूलराग और अन्य रागों (मेल) को मूलराग कहा गया है। ओड़िशी में ३२ रागों को गाणितिक-सूत्र के आधार बिना या अतिरंजित करके निर्णय नहीं किया गया है। षड्ज से निषाद तक १२ स्वरों को गाणितिक क्रम में रखकर ३२ मेलों का निर्माण किया गया है। इन ३२ मूल रागों को ८ चक्रों में (चन्द्र, चक्षु, बह्नि, वेद, वाण, ऋतु, ऋषि, और वसु) विभाजित या स्थापित करके प्रत्येक चक्रों में ४ रागों को निर्दिष्ट रूप से स्थापित किया गया है।

अब मध्यम और गान्धार ग्रामों की उपयोगिता के संबंध में भी संक्षिप्त प्रकाश डालना आवश्यक होगा—

'नाट्य मनोरमा' के अनुसार षड्ज मध्ययोर्मर्त्त्ये गान्धारः दिवि गीयते मर्त्यलोक में षड्ज और मध्यम का व्यवहार होता है और देवलोक में गांधार ग्राम प्रचलित है।

पंडित अहोवल कहते हैं कि पिछले ४०० सालों से मध्यम ग्राम का प्रचलन भी नहीं है। वर्तमान में केवल षड्ज ग्राम का व्यवहार ही प्रचलित है।

तान :

ओड़िशी में स्वतन्त्र मूर्च्छना की तरह तान भी स्वतन्त्र हैं। 'नाट्य मनोरमा' में ४९ तानों के निम्नलिखित नाम हैं —

१. हौम्या, २. हार्म्य, ३. आहित, ४. गमक, ५. संचारिता ६. धारिता, ७. छाया, ८. छन्दोवली, ९. क्षरा १०. बहनी ११. रागांग, १२. हार्दि, १३. जयी १४. मात्रा, १५. निरक्षरा, १६. ललिता, १७. ऋत १८. क्रियांग १९. गजा, २०. पौढी, २१. धारणा, २२. प्रबंधा, २३. दिवी, २४. द्रावी, २५. लिप्ति, २६. ज्योनि, २७. बन्धरा, २८. सुललिता, २९. रंगा, ३०. उर्वना, ३१. मात्रा, ३२. रणा, ३३. नप्टा, ३४. उद्दिष्ट ३५. रक्ति, ३६. विनता, ३७. खंजा, ३८. वटी, ३९. खट्टया ४०. वर्णोत्राण, ४१. गगु, ४२. अर्धतारा, ४३. धरणी, ४४. मध्या, ४५. उग्रतारा, ५६. कडा, ४७ सर्वरसा, ४८. कर्णजनिता, ४९. सर्वाग्र।

इन तानों का स्वतन्त्र व्यवहार और अंग विभाग भी स्वतन्त्र है।

ओड़िशी-संगीत हमारी संस्कृति की प्राचीनता को प्रतिष्ठित करता है। यह कला भारतीय संगीत परम्परा की नहीं और पूर्णांग विवेचना के क्षेत्र में भी अति उन्नत निजी स्थान की माग करती है, जो आवश्यक भी है। राख में ढँकी आग की तरह यह कला अब तक छिपी हुई थी। सुख की बात है कि अब विद्वान संगीत-प्रेमियो द्वारा इस पर आलोचना होने लगी है। साथ-साथ प्राचीन ग्रन्थों की खोज और उसे प्रकाश में लाने का काम भी है जिसके लिए तत्परता, निष्ठा और उद्यम चाहिए। इसके विना संगीत इतिहास भ्रमपूर्ण, अव्यवस्थित और अश्रृङ्खलित वना रहेगा। इस पर मर्मज्ञ विद्वानों का ध्यान देना आवश्यक है।

ताल :

नाट्य मनोरमा ग्रन्थ में है—

न रागाणां न तालानां न वाद्यानां विशेषतः।
नाऽपि प्रबंधगीतानामन्तो जगति विद्यते॥

अर्थात् राग, ताल और वाद्य के विना कोई भी गीत, गीत के रूप में जगत में गण्य नही हो सकता। और—

'न तालेन विनां गीत न वाद्यं ताल वर्जितम् ।
न नृत्यं ताल हीनंच....................।।
गीतं वाद्यंच नृत्यंच तालहीनं न राजते । (ना० म०)

अर्थात्—गीत, वाद्य और नृत्य ताल के बिना शोभायमान नहीं होते ।

ओडिशी संगीत के विद्वानों द्वारा लिखित 'संगीत-कौमुदी', गीत प्रकाश', संगीत-नारायण', 'नाट्य-मनोरमा', 'ताल सर्वसार-संग्रह' आदि ग्रन्थों में अनेक तालों का उल्लेख है । उदाहरणार्थ—

तालों के विभिन्न प्रबंध और लक्षण के संपर्क में 'ओडिशी संगीत-प्रकाश' में कुछ आलोचना हुई है । कर्णाटकी, हिन्दुस्थानी और ओड़िशी में तालों के नाम एक हैं, फिर भी व्यवहार में भिन्नता पायी जाती है । पाठकों की समीक्षार्थ कुछ तालों का विवरण देना उचित होगा, जिससे सरलता से ओड़िशी तालों की स्वतंत्रता समझ में आएगी ।

ताल त्रिपुटा—द्रुत त्रयं विरामान्तं त्रिपुटे परिकीर्तितम् ।
इसमें तीन द्रुत और एक विराम का व्यवहार है ।

रूपक— रूपकेतु विरामान्तं द्रुतद्वयमुदाहृतम्
रूपक ताल में दो द्रुत और एक विराम का व्यवहार है ।

एक ताल— द्रुते नैके नैक ताली
एक ताल में एक ही द्रुत का व्यवहार होता है । (नाट्य मनोरमा)

आगे की तालिका में इन तालों को भलीभाँति स्पष्ट किया गया है—

ताल का नाम	ओड़िशी	कर्णाटकी	हिन्दुस्थानी
त्रिपुटा	२ २ २ १ ० ० ० ⌣ सात मात्राएँ	ल द्रु द्रु १ ० ० = ३ २ २ अक्षर	सम ताली ताली × — — सात मात्राएँ ३ २ २ इस ताल को तेवरा या तीव्रा कहते हैं।
रूपक	द्रु द्रु वि २ २ १ ० ० ⌣ ५ मात्राएँ और १२ मात्राएँ...शास्त्रों में इसका और विस्तृत विवरण है।	द्रु ल ० । २ ४=६ अक्षर चतुरस्र रूपक ० । २ ३=५ अक्षर तिस्र रूपक	खालि भरि भरि ० — — ३ २ २ सात मात्राएँ × ० — ० — — सम् खालि भरि खालि भरि भरि १२ मात्राएँ
एक ताली	२ ०=२ मात्राएँ अन्य ग्रंथों में ४ । लघु ४ मात्राएँ	ल ।=४ अक्षर चतुरस्र एकताली ।=३ अक्षर तिस्र एकताली ।=५ मिश्र एकताली ।=६ संकीर्ण एकताली	कहरवा में एक ताल का साम- ञ्जस्य है। सम खालि × ० ४ ४ = ८ मात्राएँ

अनुद्रुत के पांच नाम :

अनुद्रुतः विरामश्च मात्रा तूर्यांश संज्ञकः ।
अर्ध चन्द्रस्तथा सत्यं विज्ञेयं नाम पंचकम् ।। (ना. म.)

प्रकारान्तर—लघ्वेक मात्रंतु गुरु द्विमात्री ।
प्लुत स्त्रिमात्रो द्रुतमर्धमात्रम् ।।
अनुद्रुतंतु द्रुतकार्धमात्रं ।
विराम इत्यस्य भवेच्च नाम ।। (नाः म.)

भावार्थ—लघु एक मात्रा, गुरु दो मात्राएँ, प्लुत तीन मात्राएँ, द्रुत अर्ध मात्रा, अनुद्रुत चौथाई मात्रा और अनुद्रुत विराम की तरह होती है। पर कीर्त्तन-वाद्यों में अनुद्रुत के अर्धांश को विराम कहा जाता है—ऐसा मतान्तर भी है।

ऊपर दी गयी मात्राओं की सूची में रूपक ताल के उदाहरण इस प्रकार भी है—

रुपके तुद्वादशभिर्मात्राभिः कथितो दलः ।।

आगे की तालिका में मूर्च्छना और उसके विविध रूपों को स्पष्ट किया गया है।

मूर्च्छना

संख्या	उत्तर भारतीय नाम	संगीत नारायणोक्त ओड़िशी नाम	संगीत नारायणोक्त आरोह-अवरोह	संगीत कलाकार और गान भास्करोक्त आरोह-अवरोह	ग्राम
१	२	३	४	५	६
१	उत्तर मन्द्रा	ललिता	सा रि गा मा पा धा नि	सा रि गा मा पा धा नि सां सां नि धा पा मा गा रि सा	षड्ज ग्राम
२.	रजनी	मध्यमा	नि सा रि गा मा पाधा ०	रि गा मा पा धा नि सांरिं रिंसां नि धा पा मा गा रि	
३.	उत्तरायण	चित्रा	धा नि सा रि गामा पा ० ०	गा मा पा धा नि सां रिं गा गां रिं सां नि धा पा मा गा	
४.	शुद्ध षड्जा	रोहिणी	पा धा नि सा रि गा मा ० ० ०	मा पा धा नि सां रिं गां मां मां गां रिं सां नि धा पा मा	
५.	मत्सरी कृता	मतंगजा	मापा धा नि सा रि गा ० ० ० ०	पा धा नि सां रिं गां मां पां पां मां गां रिं सां नि धापा	
६.	अश्वक्रान्ता	सौविरा	गा मा पा धा नि सा रि × ० ० ० ०	धा नि सां रिं गां मां पां धां धां पां मां गां रिं सां नि धा	
७.	हृद्गता (अभिरुद्गता)	वर्णमध्या	रि गा मा पा धा नि सा ० ० ० ० ० ०	नि सां रिं गां मां पां धां नि नि धां पां मां गां रिं सां नि	

१	२	३	४	५	६
८.	सौवीरी	षड्ज मध्या	मा पा धा नि सां रिं गां	सा रि गा मा पा धा नि सां मां नि धा पा मा गा रि सा	मध्य ग्राम अर्थात्—
९.	हरिणाश्वा	पंचमी	गा मा पा धा नि सां रिं	रि गा मा पा धा नि सां रि रिं सां नि धा पा मा गा रि	मध्यम का पड्ज के रूप
१०.	कलोपतना	मत्सरी	रि गा मापा धा नि सां	गा मा पा धा नि सां रिं गां गां रिं सां नि धा पा मा गा	में व्यवहार।
११.	शुद्ध मध्या	मृदु मध्या	सा रि गा मा पा धा नि	मापा धा नि सां रिं गां मां मां गां रिं सां नि धा पा मा	
१२.	मार्गी	शुद्धा	नि सा रि गा मा पा धा	पा धा नि सां रिं गां मां पां पां मा गां रिं सां नि धा पा	
१३.	पौरवी	क्रान्ता	धा नि सा रि गा मा पा	धा नि सां रिं गां मां पां धां धां पां मां गां रिं सां नि धा	मध्यम
१४.	हृष्यका	कलावती	पा धा नि सा रि गा मा	नि सां रिं गां मां पां धां निं निं धां पां मां गां रिं सां नि	
१५.	नन्दा	तीव्रा	गा मा पा धा नि सां रिं	सा रि गा मा पा धा नि सां सां नि धा पा मा गा रि सा	गान्धार (गांधार ग्राम
१६.	विलासा	रौद्री	रि गा मा पा धा नि सां	रि गा मा पा धा नि सां रिं रिं मां नि धा पा मा गा रि	पड्ज के रूप में व्यवहृत)

१	२	३	४	५	६
१७.	सुमुखी	ब्राह्मी	सा रि गा मा पा धा नि	गा मा पा धा नि सां रिं गां गां रिं सां नि धा पा मा गा	
१८.	चित्रा	वैष्णवी	निसा रिगा मा पा धा	मा पा धा नि सां रिं गां मां मां गां रिं सां नि धा पा मा	
१९.	चित्रावली	खेचरीबरा	धा नि सा रि गा मा पा	पा धा नि सां रिं गां मां पां पां मां गां रिं सा नि धा पा	
२०.	सुखा	नादावती	पा धा नि सा रि गा मा	धा नि सां रिं गां मां पां धां धां पां मां गां रिं सा नि धा	
२१.	आलापा	विशाला	मा पा धा नि सा रि गा	नि सां रिं गां मां पां धां नि नि धां पां मां गां रिं सां नि	

'संगीत-पारिजात' कार के मतानुसार—

मूर्च्छनाधार भूतास्ते षड्जग्राम त्रिषूत्तमः ।

लगता है, लगभग ४०० साल पहले मध्यम ग्राम का व्यवहार ही नहीं था । उस ग्राम के पंचम स्वर में एक श्रुति की कमी के कारण वह बराडी मध्यम या तीव्र मध्यम होता है । इसके अलावा यह स्वर षड्ज ग्राम की तरह है । इसलिए एक ही षडज ग्राम पर्याप्त है—ऐसा मनीषियों का मत है ।

तान — मूर्च्छना एव तानाः स्युः शुद्धा आरोहणा स्मृताः ।

अर्थात्—मूर्च्छना का शुद्ध आरोहण ही 'तान' कहलाता है ।

विस्तार्यन्ते प्रयोगाये मूर्च्छनाः शेष संशयाः ।
तानास्तेचोनपंचाशत् सप्तस्वर समुद्भवाः ।।

अर्थात्—मूर्च्छना सप्त स्वरों से ज्ञात होकर प्रयोग द्वारा विस्तारित होने पर तान कहलाती है । ये तान उनपचाश (४९) हैं । क्योंकि एक ग्राम में सात मूर्च्छनाएँ हैं और एक मूर्च्छना की सात तान । इस तरह प्रत्येक ग्राम में ७×७ = ४९ मूर्च्छना हैं ।

कूट तान—तेभ्य एवं प्रवर्तन्ते कूटतानाः पृथक्-पृथक् ।
भेदाः बहुतरास्तेषां.......... ।।

अर्थात्—उपरोक्त ४९ तानों से जिन कूट तानों की सृष्टि होती है, वह संख्यातीत हैं ।

तान प्रभाव—तानाः पंच सहस्राणि त्रयस्त्रिंशदभवन्तिते ।
अग्निष्टोमिक तानेन शिवंस्तुत्वा शिवो भवेत् ।।
तानाता भिह शुद्धाना अग्निष्टोमादिकाभिदाः ।
सन्ति प्रयोग वैधुर्यादुत्तमास्ते प्रकीर्तिताः ।।

अर्थात्—तान की संख्या पाँच हजार है । उसमें से मात्र ३३ तानों का प्रचलन है । अग्निष्टोमिक तान द्वारा शिव की स्तुति करने से शिवत्व प्राप्त होता है । यह तान सब तानों में उत्तम तान है । अन्य तान, प्रयोग-भेद से अनेक प्रकार के होते हैं ।

अगले पृष्ठ पर श्रुतियों के भेद और उनके नामान्तरों की तालिका दी जा रही है—

प्राचीन ओड़िशी श्रुतियों के नामान्तर :

श्रुत्यंक	प्राचीन नाम	ओड़िशी नाम	मनोहर श्रुति	किसके मुख से जात	स्वर
१.	तीव्रा	नान्दी	सिद्धि		
२.	कुमुदवती	विशाला	प्रभावती		
३.	मन्दा	सुमुखी	कान्ता		
४.	छन्दोवती	विचित्रा	सुभद्रा	प्रजापति	षड्ज
५.	दयावती	चित्रा	शिखा		
६.	रंजनी	घना	दीप्तिमती		
७.	रतिका	चालनिका	उग्रा	अग्नि	ऋषभ
८.	रौद्री	सरस माला	ह्लादिनी		
९.	क्रोधी	मध्यमा	विश्रुति	अमृत	गांधार
१०.	वज्रिका	माधवी	वीरा		
११.	प्रसारिणी	शिवा	सर्वसहा		
१२.	प्रीति	मातंगी	शान्ति		
१३.	मार्जनी	मैत्रेयी	विभूति	पृथिवी	मध्यम
१४.	क्षिति	वाला	मालिनी		
१५.	रक्ता	कला	चपला लोला		
१६.	सन्दीपिनी	कलरवा	सर्वरता		
२७.	आलापिनी	शांगिरवी	प्रभावती	चन्द्र	पंचम
१८.	मदान्ती	माला	शान्तानी		
१९.	रोहिणी	अमृता	कल्पनी	यक्षराज	धैवत
२०.	रम्या	रसा	हृदयोन्मिलनी	कुवेर	
२१.	उग्रा	विजया	विस्तारिणी		
२२.	क्षोभिणी	मधुकरी	प्रशस्ता	यमराज	निषाद

प्राचीन ओड़िशी मूर्च्छनाओं के नामान्तर :

(षड्ज ग्राम) | (मध्यम ग्राम)

क्र०	प्राचीन नाम	ओड़िशी नाम	क्र०	प्राचीन नाम	ओड़िशी नाम
१.	उत्तर मन्द्रा	ललिता	१.	सौवीरी	पंचमी
२.	रजनी	मध्यमा	२.	हरिणाश्वा	मत्सरी
३.	उत्तरायणा	चित्रा	३.	कलोपनता	मृदुमध्या
४.	शुद्ध षड्जा	रोहिणी	४.	शुद्ध मध्या	शुद्धा
५	मत्सरी कृता	मतंगजा	५.	मार्गी	कान्ता
६.	अश्व क्रान्ता	सौवीरा	६.	पौरवी	कलावती
७.	अभिरुद्गता (हृद्गता)	वर्णमध्या (षड्ज मध्या)	७.	हृष्यका	तीव्रा

(गान्धार ग्राम)

क्र०	प्राचीन नाम	ओड़िशी नाम
१.	नन्दा	रौद्री
२.	विशाला	ब्राह्मी
३.	सुमुखी	वैष्णवी
४.	विचित्रा	खेचरी
५.	रोहिणी	वरा
६.	सुखा	नादावती
७.	आलापा	विशाला

मूर्च्छना के स्वरूप और तीनों पद्धतियों में मेलों के नाम :

	मूर्च्छना	स्वरूप	कर्णाटकी	उत्तर भारतीय	ओडिशी
१.	उत्तर मन्द्रा	सा रि गा मा पा धा नि	खरहर प्रिया	काफी	काननश्री
२.	रजनी	नि सा रि गा मा पा धा	शंकरा भरण	विलावल	जन-कल्याणी
३.	उत्तरायता	धा नि सा रि गा मा पा	मेलमथि या मेलमथन	मेलदलन या ठाट दलन	मूल मथन
४.	शुद्ध षड्जा	पा धा नि सारिगा मा	नट भैरवी	आशावरी	लीनांगी
५.	मत्सरी कृता	मा पा धा नि सा रि गा	हरिकाम्बोजी	खमाज	सुनागरी
६.	अश्वक्रान्ता	गा मा पा धा निसारि	कल्याणी	कल्याण	भारती
७.	अभिरुद्गता (हृद्गता)	रि गामापा धा नि सा	तोड़ी	भैरवी	विपंचिका

उपरोक्त प्रथम या आद्य 'मेल' 'शुद्ध मेल' हैं। खरहर प्रिया, काफि और काननश्री में षड्ज से निषाद तक १२ स्वरों का मेल है। इन्हीं १२ स्वरों की गाणितिक सूत्र में क्रमिक व्यवस्था करके ३२ मेलों का निर्माण होता है।

३२ 'मेल'—शुद्ध मध्यम १६
तीव्र मध्यम १६

कर्णाटकी	स्वर	ओड़िशी
१. खरहर प्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	काननश्री
२. गौरी मनोहरी	सा रि गा मा पा धा नि सां	खंजनाक्षी
३. नट भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा	लीनांगी
४. वीरवाणी	सा रि गा मा पा धा नि सां	घनकेशी
५. चारुकेशी	सा रि गा मा पा धा नि सां	मनोरमा
६. सारसांगी	सा रि गा मा पा धा नि सां	तान कंठी
७. हरि काम्बोजी	सा रि गा मा पा धा नि सा	सुनागरी
८. धीरशंकराभरण	सा रि गा मा पा धा नि सां	जन-कल्याणी
९. चक्रवाक	सा रि गा मा पा धा नि सां	धनी
१०. सूर्यकान्त	सा रि गा मा पा धा नि सां	थाटप्रिया
११. वकुला भारती	सा रि गा मा पा धा नि सां	पिक भाषिणी
१२. माया मालव गौड़	सा रि गा मा पा धा नि सां	रूपश्री
१३. हनुमत तोड़ी	सा रि गा मा पा धा नि सां	विपंचिका
१४. धेनुका	सां रि गा मा पा धा नि सां	भूयसी
१५. नाटक प्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	शुक प्रिया

१	२	३
१६. कोकिल प्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	चकोराक्षी
१७. हेमवती	सा रि गा मा पा धा नि सां	सुकुमारी
१८. धर्मवती	सा रि गा मा पा धा नि सां	दीपमालिका
१९. षण्मुख प्रिया	सा रि गां मा पा धा नि सां	धूम प्रिया
२०. सिंहेन्दु मध्या	सा रि गा मा पा धा नि सां	नीराजना
२१. ऋषभ प्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	करुणामयी
२२. लतांगी	सा रि गा मा पा धा नि सां	रेखा
२३. वाचस्पति	सा रि गा मा पा धा नि सां	गिरिजा
२४. मेच कल्याणी	सा रि गा मा पा धा नि सां	भारती
२५. रामप्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	मर्कतांगी
२६. गमनश्री	सा रि गा मा पा धा नि सां	तरंगिणी
२७. नाम नारायणी	सा रि गा मा पा धा नि सां	सुरसिका

१	२	३
२८. कामवर्धनी	सा रि गा मा पा धा नि सां	हरमोहिनी
२९. भवप्रिया	सा रि गा मा पा धा नि सां	धराश्री
३०. शुभपन्तुवराली	सा रि गा मा पा धा नि सा	नागवल्ली
३१. षड्विध मार्गिणी	सा रि गा मा पा धा नि सां	योगेश्वरी
३२. सुवर्णांगी	सा रि गा मा पा धा नि सां	रागवती

मेलोत्पत्ति का नियम :

	पूर्वार्ध	मध्यस्थ	उत्तरार्ध
(१)	सा रि गा	मा	पा धा नि

इस स्वर-सप्तक में मध्यम को मध्यस्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इसके बाद क्रमशः पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दोनों ओर से एक-एक शुद्ध स्वर को हटाकर उसके स्थान में एक-एक विकृत स्वर रखना चाहिए, ध्यान देना होगा; जैसे —षड्ज और पंचम अपने स्थानों से च्युत न हों। ऋषभ, गांधार, धैवत, निषाद और अन्त में मध्यम इन पांच स्वरों को क्रमशः हटाना चाहिए—

यथा : (२) सा रि गा | मा | पा धा नि

सा रि गा | मा | पा धा नि

सा रि गा | मा | पा धा नि

एक 'पूर्वार्ध' के अन्त में क्रमश चार उत्तरार्ध जोड़ने से एक मेल का जन्म होता है। उदाहरणार्थ—

१—सा रि गा मा पाधा नि   २—सा रि गा मा पाधा नि

३—सा रि गा मा पा धा नि   ४—सा रि गा मा पा धा नि

इसी तरह—(२) सा रि गा मा (३) सा रि गा मा और (४) सा रि गा मा

(पूर्वार्धों) के अन्त में क्रमशः चार उत्तरार्धों के जोड़े जाने पर १२ मेलों की सृष्टि होगी। इसके साथ पूर्वोक्त ४ मेलों के जोड़े जाने पर १६ होंगे। इन १६ मेलों में सर्वत्र शुद्ध-मध्यम का ही व्यवहार किया गया है। शुद्ध-मध्यम के स्थान पर तीव्र-मध्यम का प्रयोग होने पर और १६ मेलों की उत्पत्ति होगी और इस तरह १६+१६=३२ होंगे।

उपर्युक्त काकलि 'निषाद' के संवादी प्रति मध्यम, पंडित शार्ङ्गदेव के च्युत-पंचम, पण्डित रमामात्य के च्युत-पंचम, पंडित सोमनाथ के मृदु-पंचम और पण्डित व्यंकट मखी के वराली-मध्यम का स्थान पंचदश श्रुति 'रक्ता' के स्थान में होना चाहिए। पर कर्णाटकी स्वर-सप्तक में उसका स्थान षोडश श्रुति सन्दीपनी में है। इसलिए उस श्रुति का स्वरूप इस प्रकार है—

५	७	८	१०	१२	१४	१६	१८
सा	रि	रि	गा	मा	मा	मां	पा

२०	२१	१	३	५
धा	धा	नि	नि	सां

इन स्वरों में से एक-एक श्रुति कम करने पर निम्नलिखित संशोधित स्वरूप प्राप्त होगा—

१	६	७	९	११	१३	१५	१७	१९	२०	२२	२	४
सा	रि	रि	गा	गा	मा	मां	पा	धा	धा	नि	नि	सां

कर्णाटकी राग मेलों का पूर्व-परिचय पाने के लिए इस नियम को याद रखना आवश्यक है।

ओड़िशी, कर्णाटकी और उत्तरी मेलों का संगम :

शुद्ध मध्यम १६ (१-१६)
तीव्र मध्यम १६ (१७-३२)

संख्या	ओड़िशी नाम	कर्णाटकी नाम	उत्तर भारतीय नाम	स्वरूप
१.	काननश्री	खरहर प्रिया	काफी	सा रि गा मा पा धा नि सा
२.	खंजनाक्षी	गौरी मनोहारी	काफी बिलावल (पटदीप जन्य)	सा रि गा मा पां धा नि सा
३.	लीना	नट भैरवी	काफी भैरवी (आशावरी जन्य)	सा रि गा मा पा धा नि सा
४.	घनकेशी	वीरवाणी	काफी भैरव (शुद्ध पीलु)	सा रि गा मा पा धा नि सा
५.	मनोरमा	चारुकेशी	विलावल भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि मां
६.	तानकंठी	सारसांगी	विलावल भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सां
७.	सुनागरी	हरिकाम्बोजी	विलावल काफी (खमाज)	सा रि गा मा पा धा नि सा
८.	जन-कल्याणी	धीर शंकरा भरण	विलावल	सा रि गा मा पा धा नि सां

१	२	३	४	५
९	धनी	चक्रवाक	अहिर भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सा
१०.	नटनांगी (नट प्रिया)	मूप कान्त	आनन्द भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सा
११.	पिक भाषिणी	वकुला भारती	भैरव भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा
१२.	रूपश्री	मायामालव गौड़	भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सां
१३.	विपंचिका	हनुमत तोडी	भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा
१४.	भूयसी	धेनुका	भैरवी भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सां
१५.	शुक प्रिया	नाटक प्रिया	भैरवी काफी	सा रि गा मा पा धा नि सां
१६.	चकोराक्षी	कोकिल प्रिया	भैरवी विलावल	सा रि गा मा पा धा नि सा
१७.	सुकुमारी	हेमवती	मधुवन्ती	सा रि गा मा पा धा नि सा
१८.	दीपमालिनी	धर्मवती	मधुवन्ती विलावल	सा रि गा मा पा धा नि सा

१	२	३	४	५
१९.	धूम प्रिया	षण्मुख प्रिया	मधुवन्ती भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा
२०.	नीराजना	सिहेन्द्र मध्यमा	मधुवन्ती भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सा
२१.	करुणामयी	ऋषभ प्रिया	कल्याण भैरवी	मा रि गा मा पा धा नि सा
२२.	रेवा	लतांगी	कल्याण भैरव	सा रि गा मा पा धा नि मा
२३.	गिरिजा	वाचस्पति	कल्याण काफी	सा रि गा मा पा धा नि सां
२४.	भारती	मेचकल्याणी	कल्याण	सा रि गा मा पा धा नि सां
२५.	मर्कतागी	रामप्रिया	मारवां काफी	सा रि गा मा पा धा नि सा

१	२	३	४	५
२६.	तरंगिणी	गमन प्रिया	मारवाँ विलावल	सा रि गा मा पा धा नि सा
२७.	सुरसिका	नाम नारायणी	मारवाँ भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा
२८.	हर मोहिनी	काम वर्धिनी	मारवाँ भैरव	सा रि गा मा पा धा नि सा
२६.	धराश्री	भव प्रिया	तोडी भैरवी	सा रि गा मा पा धा नि सा
३०.	नागवल्ली	शुभपन्तुरावली	तोडी	सा रि गा मा पा धा नि सां
३१.	योगेश्वरी	षड्विध मार्गिणी	तोडी काफी	सा रि गा मा पा धा नि सा
३२.	रागवती	सुवर्णांगी	तोडी विलावल	सा रि गा मा पा धा नि सां

ताल : नाट्य मनोरमा के अनुसार—

अदिर्य्यति निःसारश्च मष्ट भम्पकरूपकाः
त्रिपुटो ह्यडुतालश्च ह्य` कताली ततःपरम् ।।
कुडुक्क् तालश्च कथिता दशवेति मुनीश्वरैः

भरतादि मुनियों ने आदि, यति, निःसार अष्ट, झम्पक, रूपक, त्रिपुटा अडुताल, एक ताल, और कुडुक्क—इन १० तालों के विवरण दिए हैं। इन दस तालों में आदि ताल को रास-ताल भी कहते हैं। 'आदि' से आरंभ करके नीचे क्रमशः अन्य तालों की व्याख्या प्रस्तुत है—

आदिताल—एक-एक लघुर्यत्रेत्यादिताल स कथ्यते ।
गुरुस्तत् पुरतो वाच्यः प्रायेणैतन्निदर्शनम् ।।

आदिताल को रासताल भी कहते हैं, इसके संबंध में नाट्यमनोरमा में निम्न प्रकार है—

आदिरेकेन लघुना रासोयं कश्चिदुच्यते ।

यतिताल— लघुद्वन्दाद् द्रुतद्वन्द यति ताले प्रकीर्त्तितम् ।
सा पुनर्द्विविधा प्रोक्ता शुद्धाच त्रिपुटान्तरा ।।
||००

नि सारी ताल— सविराम द्रुत द्वन्दा निःसारौतु लघुद्वयम् ।
◡००||

अष्टक ताल— सगणा लघवः शब्दाश्चत्वारो मष्टके पुनः । (नाःम)
||S|| ||

झम्पक ताल— सविराम द्वन्दाय लघुना झम्पको मतः ।
◡००

रूपक ताल— रूपकेतु विरामान्त द्रुतद्वयमुदाहृतम् ।
००◡

त्रिपुटा— द्रुतत्रयं विरामान्तं त्रिपुटे परिकीर्तितम् ।
०००◡

अडुताल— लघोद्र`त द्वयेन स्याच्छंकं शृ`गार-वीरयोः ।
|००

एक ताल— द्रुते नैक नैक ताली···· ०

कुडुक्क— द्रुताम्यां परतोद्रासौ कुडुक्कः परिकीर्तितः ।

००।।

इसके अलावा और चार तालों का उल्लेख भी है। वे निम्न प्रकार हैं—१. चतुस्ताल, २. नलकूवर, ३. वाद्यकाकुल, ४. सिंहनन्दन। इस तरह नाट्य मनोरमा में १४ तालों का विवरण है।

चतुस्ताल— गुरुश्चेकद्रुतत्रैकं चतुतालस्सः कथ्यते (ता० स० स० सं०)

ऽ०००

चतुस्तालो गुरोःपर त्रयो द्रुताः। (सं० क)

ऽ०००

आदिताल— आदिरेकेन लघुना रासोऽयं कश्चिदुच्यते। (ना० म)

द्रुतद्वयं लघुश्चेक आदिताल प्रकीर्त्तितः ।। (ता० स० सा० सं)

००।

। लघ्वादि तालो लोकेऽसौरासः। (सं० क)

०० । द्वितीय ताल—द्वौ लो द्वितीयकः ।

०००‿ तृतीय ताल—द्रुताद्द्रुतौ विरामान्तौ तृतीयःस्यात् ।

।।० चतुर्थताल—लघुद्वयं द्रुतश्चैक ।

०० पंचम ताल—पंचमस्तु द्रुतद्वयं ।

निःसारिका—लघुद्रुतो विरामान्ते निःसारी परिकीर्त्तिता। (ता० स० सा० सं)

।०‿

लौ विरामावन्ते निःसारिका मतः। (सं० क)

।।‿‿

यतिताल—लघु द्वन्दं प्लुत द्वन्दं यतिताल प्रकीर्त्तिता। (ता० स० सा सं)

।।88

यति लग्न—यतिलग्नो द्रुतो लघुः। ।०। (सं० क०)

मण्ठक ताल—ललौ गुरुः काकपदं मण्ठकः ताल उच्यते। (सं० क०)

।।8+

प्रथम मण्ठ—मण्ठके पुनः साच्चतुलेघु क शव्दम्। (सं० क०)

।।8+

द्वितीय मण्ठ—यदभाभाव शब्दकौ। (सं० क०) ऽ।।++

तृतीय मण्ठ—(मुद्रित) भाचतुर्लघु नि:शब्दं भवेन्न मुद्रित मण्डके ।
ऽ।।+ (सं० क)
चतुर्थ मण्ठ—मंठोन वौ लघुर्यका ।।।।ऽ।। (सं० क०)
इसके अलावा और छ: मण्ठक-तालों के विवरण भी शास्त्रों में पाए जाते हैं ।

कुडुक्क— कुडुक्को दौ द्रुतो लौ दौ । ००।। (सं० क०)
द्रुत द्वन्दा लघु द्वन्दा कुडुक्का: परिकीर्तिता: ।

अड्डताली— अड्डताली दौ लघुद्वयम् । ०।। (सं० क०)
यति लग्नो दुरुतो लघु: । ०। (सं० क०)
कुडुक्को दौ दुरुतौ लौ दौ । ००।। (सं० क०)
झम्पाताल विरामान्त द्रुतद्वन्द्वं लघुस्तथा । ०‿०‿। (सं० क०)
(करणयति) करणयतौ द्रुत चतुष्टयम् । ०००० (सं० क०)
(वर्णयति) लौ दौ वर्णयति भवेत् । ।।०० (सं० क०)
अड्डताली दौ लघु लघुद्वयम् । ०।। (सं० क०)
इममेवोतिरे तालं केचित् त्रिपुर संज्ञया ।

।‿।‿ विरामान्तौ लघु 'नि:सारुको' मत: ।
०‿०‿ चण्डनि:सारुक क्रीडा द्रुरुतौ विरामान्तौ चण्डनि:सारुकश्च । (सं० क०)
ऽ०ऽ मण्ठका—गुरुद्रुत प्लुता: प्रोक्ता मण्ठका ।
।। मण्ठका—अन्तेस्त लघुद्वयम् ।
०‿। मण्ठका—विरामादि द्रुतौद्वार मण्ठिका परिकीर्त्तिता ।
।।००।०० वर्ण मण्ठिका—द्वौ लौ द्वौ द्वौ दौ लघुद्वौ द्वौ कीर्तिता वर्ण मण्ठिका ।
० एक ताली—द्रुतेन त्वेक तालिका ।
ऽ००० चतुस्ताल—चस्तालो गुरोपरे त्रयोद्रुता: ।
ऽ०००‿गजझम्पा—गजझम्पो गुरोरूर्ध्वे विरमान्तं द्रुतत्रयम् ।
।।।। गजताल—चतुलौ धार सौ ।

१. आदि ताल—(संगीत नारायण)
'आदि यति नि:सारश्च उड्डताल स्त्रिपुरस्तथा ।
रूपको झम्पकामण्ठ-एकतालीति कीर्तिता' ।।

२. नि:सारी: (संगीत कौमुदी)

द्रुत द्वन्द्वा लघुद्वन्द्वा ताले निःसारि नामनि ।

३. तालांग (पृ० १३)

एक मात्रो लघु प्रोक्तो द्विमात्रों गुरु उच्यते ।
त्रिमात्रस्तु प्लुतज्ञेयो द्रुतस्यादर्ध मात्रकम् ।।

४. द्रुतादि मात्रो यतः काले विराम स्तेन संयुतः
एतेन भावतालेन निकचटतपि पेतिपथं लघ्वराण्युच्यार्यन्ते तवत्कालोमान
इति वातः क्रियातु ताल पातन इति प्रकारम्

नवताल— अभिर्यति निःसारुको मण्ठोऽथ झम्पकः
त्रिपुटा डौ रूपैक तालौ (इति नवताल)

तालों का प्रयोग-क्रम :

'आद्यो आदि ताल यति निःसारुक मण्ठना यथा क्रमगानं अन्ते एक ताला इति नियमः' (अन्येषाम् नियम इति नवीनाः) अन्येतु—

आदि तालो भवेदाद्यो वन्तेसा एक तालिना ।
अन्येषा नियमाऽभाव एवं स्यात् सूड बन्धनम् ।।
यति—लघु द्वयं द्रुत द्वन्द्वं यति ताल प्रकीर्तिताः
त्रिपुटा—त्रिपुटा चेतुनाले स्यात् सविरामं द्रुत द्वयम् ।।
झंपक— निविराम द्रुत द्वन्द्वा लघुनां झंपको मतः ।
अन्य रूप—सविराम द्रुत युगला लघुरेको झंपकः
निःसारी—द्रुतं द्वन्द्वा लघुद्वयं ताले निःसारी नामनि

गीत प्रकाश— एकादश ताल—मतान्तरे—
(वेडी) ध्रुव कुडुक्क मुपाड्' चात्र भाषन्ते को चिन्नि सर्वे अतः सूड
एकादश तालात्मको भवति
ध्रुवाखै यति निःसारी मण्ठ दौ मण्ठ लक्षरण
आदि रूपक झंपाडु त्रिपुटापु द्विलक्षरण ।

रूपक—रूपकेतु द्वादशभिर्मात्राभिः कथितौवलः
ज्यापोका दशभि काक्षी स्त्रीभिरेवान्ति मोदकः ।।
उद्यत्र षष्टमात्राया नन्वे रूपक बन्धगाः ।
(तत्र संग्रहः एक द्विमात्रिका नूनाः सर्वेपु)

कुडुक्क— कुडुक्का देवितालीनां यति त्रिपुटयोस्तथा ।
झंपाड्डो तालयो विन्धः समावेशः समस्मृनः ।।

पंचतालों की संज्ञा

गुरुरेको गकारस्तु लकार लघुरेककः ।
प्लुतप्रकार इत्येवं दोहतः परिकीर्तितः ।।
अनुद्रुतो द्रुचश्चैव लघुगुरुरतः परं ।
प्लुतश्चैवं क्रमेणेव तालांगानिच पंचधाः ।।

सांकेतिक चिह्न—अनुद्रुतं विनातेषां सज्ञादल गामात्मिका ।
सानुस्वारश्च दीर्घश्च विसर्गीत गुरुर्भवेत् ।।
वर्णं संयोगपूर्वश्च तथा पादान्त गोपिका ।

मात्रा नियम— लघ्वेक मात्रन्तु गुरु द्विमात्रः
प्लुत स्त्रिमात्रो द्रुतमर्धमात्रम्
अनुद्रुतन्तु द्रुतकार्ध मात्रं ।
विराम इत्यस्य भवेच्चनाम ।।

मात्रा प्रमाण— पंच लघ्वक्षरा शब्दार्यन्ते कालेन यावता ।
तावत्कालस्तु मात्रेण गदितं गीतकोविदैः ।।

विन्यास प्रमाण—तीर्यगाख्यातु द्रुतार्ध शून्याकारं द्रुतं स्मृतः ।
लघुरे वनिता रोवा धोव क्रिताप्लुतः गुरो—
मूर्ध्ध रेखा तीर्यक्त रेद्यक्षर धादगाः ।।

घात स्थान— द्रुताशम्भ्रांतु कथितं चतुरंगुल मूर्च्छितं ।
लघुरष्टांगुलः प्रोक्तागुरुस्यात् षोडशांगुलः ।।
प्लुतस्त्वष्टांगुलश्चानु द्रुतश्च चित्कर क्रिया ।

धारण प्रकार— सशब्दं शब्दहीनं च तालस्य धरणं दिधा ।
तद्वँघातः सशब्दस्या देक एक लघोपरम् ।।
गुरौ घातद्वयं प्रोक्तमेकोनादः परोस्विनः ।
सो पूर्ध यातिच लंगो रर्धनादा द्रुताहुतः ।।
प्लुतो घातः सशव्दस्या देको घात द्वयं ततः ।
तन्निशब्दः मेकोर्ध्व प्रपदेश परः सधः ।।

त्रिविध तालों की तुलना :

ओड़िशी	कर्णाटकी	हिन्दुस्थानी
१. ताल सरिमान १४ अक्षर ४ भाग । ० । । ४ २ ४ ४	ध्रूवताल १४ क्रिया (अक्षर) ४ भाग । ० । । ४ २ ४ ४	आडा चौताल १४ मात्राएँ १ २ | ३ ४ | ५ ६ | ७ ८ | ९ १० | ११ १२ | १३ १४ १ | २ | ० | ३ | ३ | ४ | ०
२. वर्णयति १२ अक्षर । । ० ० ४ ४ २ २	चतुरस्रणाति अठ्ठताल (रेखा) १२ अक्षर । । ० ० ४ ४ २ २	ध्रुपद चौताल १२ मात्राओं का भाग × ० | २ | ० | ३ | ४ १ २ ३ ४ | ५ ६ | ७ ८ | ९ १० | ११ १२
३. मठाताल १० अक्षर । ० । ४ २ ४	मठ्य ताल (सम) १० अक्षर । ० । ४ २ ४	१० मात्रा ५ भाग १ २ | ३ ४ | ५ ६ | ७ ८ ९ १० × | ० | २ | ३ | ०
४. आठ ताली १४ अक्षर २ १ २ २ २ १ २ २ ० ‿ ० ० ० ‿ ० ० धिम्, ता, धिम्, ताका, धिम्, ता, धिम्, ताका	मिश्र गनि चाप ताल ७ अक्षर । । आधे के रूप में व्यवहृत ३ ४	दीप चन्दी १४ अक्षर १ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ × २ ० ३

१	२	३
५. छक ताल (३) । ३	तिस्र जाति एक ताल (३) । ३	खेमटा (३) × ३
६. रास ताल (एक ताल) । (४ क्रियाएँ) ४	चतुरस्र जाति एक ताल (मान) । (चार अक्षर) ४	कहरवा समप्रकृतिक × ० ४ ४ (८ मात्राएँ)
७. नातिलग्न ताल (६ क्रियाएँ) ० । २ ४	रूपक ताल (६ अक्षर) ० । २ ४	द्रुत एक ताला (६ मात्राएँ) धां धां धा त्रिकि तुन्ना कत्ता धा त्रिक धीना ० ० ० ‿‿ ० ० ० ० ० ‿‿ ० ० १ × ३ × ५ ६
८. झूला (६ क्रियाएँ) । ० ३ ३	एकताल (द्विगुण) (६ अक्षर) । । ३ ३	दादरा (६ मात्राएँ) × ० ३ ३
९. कुडुक्क (१२ क्रियाएँ) ० ० । । २ २ ४ ४	रेखाताल (विपरीत व्यवहार) १२ अक्षर ० ० । । २ २ ४ ४	चौताल विपरीत

१	२	३
१०. आदिताल ८ अक्षर ० ० । २ २ ४	आदि ताल ८ अक्षर । ० ० ४ २ २	द्रुत त्रिताल (८ मात्राएँ)
११. नातिताल १२ क्रियाएँ । । ० ० ४ ४ २ २	रेखा ताल १२ अक्षर ४ ४ २ २ । । ० ०	चौताल धा धा धिता कत्तागे धिता। तिर कट गदि गिना १ + २ + ३ ४
१२. नव पंचताल धिम्, धा, धिम, धा, किरा ताक, किरा ताक, किरा	द्वितीय नातिताल	पंचम समारस प्रकृतिक (पर मात्रा संख्या १५)
१३. झाँप ताल ५ अक्षर	त्रिसूर ताल ५ अक्षर	झाँपताल १० मात्राएँ
१४. नि:सारी ताल ७ मात्राएँ ४ १ २ । ◡ ०	चतुरस्र झँपा । ◡ ० ४ १ २	रूपक १ २ | ३ ४ | ५ ६ ७ धीं ऽ | धा गे | तीं ऽ त्रक १ | २ | ० इसी तरह अन्तर क्रीड़ा + २ ३ धागे धाग तिट गदि गिना १ २ ३ ४ ५ ६ ७

विशेष—भारतीय संगीत-पद्धतियों में प्रचलित सभी तालों का विवरण विस्तार-भय से नहीं दिया गया है।

भारत भर में सब कलाओं के पारंगत उत्कल की परंपरा प्राचीन है और राग ताल समन्वित संगीत-कला में ओड़िशी सर्वप्रथम है। देव-पूजा, बन्दापना के समय संगीत की परंपरा इस देश की पारंपरिक रीति-सी है। अब भी मठ-मन्दिरों में संगीत कला पर चर्चाएं होती रहती हैं। अब भी जगन्नाथ जी के 'बड़श्रृङ्गार' के समय प्रभु के विश्राम के लिए देवदासियों द्वारा नृत्य-गीतों की व्यवस्था होती है। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व ओड़िया बौद्ध भिक्षु श्री कृष्ण आचार्य ने 'बौद्ध गानओ दोहा' की रचना की थी जिसके कुछ अंश भुवनेश्वर के समीप शिलालेखों पर ७०० साल पहले उत्कीर्ण हुए हैं जिसमें रागों का भी वर्णन है। उदाहरणार्थ—

राग-देशाख :

नगर बाहिर रे ड़ोम्बी तोहरि कुडिआ
छोइ छोइ याइ सो ब्राह्मण नाडिआ
आलो ड़ोम्बी तोए सम करिबे मो सांग
निघिण कान्हु कपालि जोइलांग। ध्रूव।
एक सो पदमा चौषट्ठी पाखुड़ी
तहिं चढ़ि नाचअ ड़ोम्बी बापुडी। ध्रूव॥
हालो ड़ोम्बी तो पुच्छमि सद्भावे
आइसि जाइसि ड़ोम्बी काहारि नावे। ध्रूव॥
तान्ति विकिणअ ड़ोम्बी अबर नाचंगता
तोहर अन्तरे छाड़ि नड़ पेट्टा। ध्रूव॥
तुलो ड़ोम्बी हाउ कपाली
तोहर अन्तरे मोए घेनिलि हाडेर माली
सरबर भांजिअ ड़ोम्बी खाअ मोलाण
मारमि ड़ोम्बी लेमि पराण। ध्रूव॥

राग-पट्ट मंजरी :

सुण बाअ तथण पाहारी
मोह भण्डार लुइ सअला आहारी
घुमाइण चेबइ सपर विभागी
सहज निदालु काह्निला लांगा।

चेग्रण ता बेग्रण भर निद गेला
सग्रल सुफल करि सुहे सुतेला
सूपणे मइ देखिल तिहुवण सुख
घोरिण ग्रबणा गमण बिहल
शखि करिव जालन्धरी पाए
पाखिण रहग्र मोरि पाण्डि ग्राचाए ।

राग भैरवी :

भव निर्वाणे पडह मादला
मण पवण वेणि करगु कशाला
जग्र जग्र दुन्दुभि साद उछलिग्रा
कान्हु ड़ोम्बी विवाहे चलिग्रा
ड़ोम्बी विवाहिग्रा ग्राहारिउ जाम
जउतुके किथ ग्रागु तु धाम
ग्रहिणिसि सुरग्र पसंगे जाग्र
जोइण जाले रएणी पोहाग्र
ड़ोम्वी एर संगे जो जोइ रत्तो
खनह न छाड सहज उन्मत्तो

इसके ग्रलावा ८०० वर्ष पहले की रचना जिसकी भणति राजा ग्रनंगभीम देव के नाम से की गयी थी, भी उपलब्ध है। यह गीत संगीत-सागर में प्रकाशित हुग्रा है।

राग-ग्रानन्द भैरवी-ग्राठताली :

चन्द्र वदना याहा दूरे रहिला
इन्द्र संपद मोर ग्रन्तर हेला ।।धापो।।
न रुचे भीन बास ताम्बुल हेला विष
चन्द्र बदन ज्वाला प्रवल हेला ।१।
दारुण मार राण विन्धुछि तीक्ष्ण वाण
मो प्राण नेब बोलि हटि बसिला ।२।
केते परि चातुरी कहुथिला तिग्रारि

ताहा न होनि देह एहा सहिला ।३।
भणे पुरुषोत्तम नृप अनंग भीम
एकाले तार मोर सांग नोहिला ।४।

द्वादश-शताब्दी में पुरुषोत्तम महाराज श्री अनंग भीमदेव की बेटी चन्द्रिकादेवी नृत्य-गीत की विदुषी कहलाती थीं । भुवनेश्वर स्थित अनन्त वासुदेव मन्दिर में श्री जयदेव के समसामयिक पंडित उमापति द्वारा स्थापित 'शिलालेख' इस प्रकार है—

गीतज्ञालय तालनर्त्तनकला कौशल्यलीलालय
वाल्यादच्युत भक्ति भावित मतिर्दर्भानुरूपश्रियो ।
चित्रा हैहेय वंशयाय शुचये चन्द्रापहाचन्दिका
पुत्रीयं परमार्ध नाम भजते क्षेत्राय रत्नान्विताः ।।

ओड़िशा में उदयन नामक एक विशिष्ट कवि का प्रादुर्भाव हुआ था । उनके द्वारा नाग-वंशीय राजा वैद्यनाथ के लिए एक शिलालेख की रचना हुई थी, जिस शिलालेख को पुरी समीपवर्त्ती निमापड़ा में शोभनेश्वर मन्दिर में स्थापित किया गया है ।

उत्कल के कोणार्क, भुवनेश्वर स्थित श्री लिंगराज, राजराणी, याजपुर स्थित विरजा, खंड गिरि के गुफाओं में तथा अन्य अनेक प्राचीन मन्दिरों में बनी मर्दल, वीणा आदि वाद्यवादन-रता मूर्तियां और शिलालेख ओड़िशी नृत्य-संगीत परंपरा की प्राचीनता को प्रमाणित करते हैं । इन मन्दिरों में अनेक वाद्य-यन्त्र भी उत्कीर्ण हुए हैं । इससे इस बात की पुष्टि होती है कि उस समय संगीत-चर्चा करने वाले विद्वान थे एवं शास्त्रीय-मतों के अनुसार आलोचना होती थी । मन्दिरों में 'नाटमण्डप' के नाम से प्रसिद्ध एक स्वतन्त्र मण्डप तो अपने-आपमें एक संपूर्ण शास्त्र ही है, जिस पर युवतियों की नृत्य भंगिमाएं, आभूषण, वाद्य यन्त्र तथा विभिन्न हस्त-मुद्राएं तक अंकित हैं ।

उस समय के विद्वान पण्डित 'स्वर मेल कलानिधि' के रचयिता पंडित रामामात्य ने एक जगह 'कन्नड गौड रागाणां उत्कलानामति प्रियम्' लिखा है ।

अन्त में एक ही बात कहना चाहता हूं कि भारतीय संगीत-क्षेत्र में ओड़िशी ही अन्य दो प्रसिद्ध शास्त्रीय-संगीत—पद्धतियों की तुलना में अधिक शुद्ध और उत्कृष्ट है । इस पर आलोचना हो, इसके संबंध में अप्राप्य पुस्तकों की गवेषणा हो, ताल-पत्र पोथिओं में या पांडुलिपि के रूप में मिले ग्रन्थों पर शोध-कार्य के लिए चेष्टाएँ हों, और उन्हें प्रकाश में लाया जाएँ तो ओडिशा ही नहीं; प्रत्युत समग्र भारतीय संगीत-परंपरा इससे लाभान्वित अतएव गोरवाचित होगी ।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्गाता

कविचन्द्र कालीचरण पटनायक

ओड़िशी नृत्य-शैली

छठी या सातवीं शताब्दी में उड़ीसा में संगीत के प्रचलन के बहुत प्रमाण मिलते है। इतिहासकार ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा-कथा में इस बात का उल्लेख किया है कि—'माल्यगिरि के निकट के एक झरने में उड़ीसा के लोग गीत गाते हुए, पानी में, फूलों से अर्चना करते थे। उन दिनों कलिंग की सीमाएं सिंहल तक विस्तृत थीं।'

संगीत, जीव-जगत की एक स्वाभाविक कला है। यह कहना उचित होगा कि शास्त्रीय नृत्य, गीत व वाद्य के सम्मिश्रण की परिणति है। वाक्-शक्ति-विहीन पशु-जगत में भी नृत्य, जीवन का एक अभिन्न अंग है। इसके प्रमाणों का अभाव नहीं। देश की प्रकृति के अनुरूप ही मानव-स्वभाव होता है। भावाभिव्यक्ति के लिए मनुष्य ने भाषा का आविष्कार किया। परन्तु स्वर-साहचर्य के बिना केवल भाषा, निर्दिष्ट भावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकती। नृत्य के लिये अभिनय आवश्यक है। भाषा की सहायता लिए बिना भी नृत्य मानव के मनोभावों को अभिव्यक्त करने में समर्थ है। केवल समर्थ ही नहीं, वरन् वास्तव में, भाषा की अपेक्षा, शीघ्रतर रीति से, भावों का आदान-प्रदान हो सकता है। इसलिए भावभिव्यक्ति की यह स्वच्छन्द-व्यवस्था पृथ्वी के प्रत्येक अंचल में अनादिकाल से रही है। उत्कल भी उन्हीं अञ्चलों में एक है। लेकिन उसकी एक स्वतंत्र आत्मा है।

हमारे नृत्य के आचार्यों ने, नृत्य-क्रिया का विधिवत अध्ययन कर, नृत्य-शास्त्र

के विधानों को लिपिबद्ध किया है, जिनका अनुसरण करते हुए, भारतीय नृत्य-कला अनादिकाल से जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत होती आ रही है। उत्कल में यही शास्त्रीय-विधि निर्बन्ध रूप में प्रचलित है। उत्कल के विभिन्न मंदिरों के शिल्पों में नर्तक-नर्तकियों के विभिन्न नृत्य-भंगिमाओं के शिल्प उड़ीसा की नृत्य-शैली की स्वतंत्रता व पृथक्ता के द्योतक हैं। श्री जगन्नाथ मंदिर की देवदासी प्रथा वर्तमान की बात नहीं है। तत्कालीन उत्कल में अन्य प्रदेशों से या देश के सुदूर भागों से नृत्य व संगीत के ज्ञाताओं ने उत्कल में आकर नृत्य व संगीत की शिक्षा नहीं दी। कलिंग सभ्यता तत्कालीन भारत तथा भारतेतर प्रदेशों में भी अपनी उज्ज्वलता का विकरण कर चुकी थी। इस कारण यह उचित लगता है कि अन्यान्य प्रदेशों के लोगों ने ही उड़ीसा से नृत्य, संगीत आदि कलाओं की प्रेरणा, और शिक्षा ग्रहण की होगी। ऐसा नहीं लगता कि उत्कलवासियों ने दूसरों के पास जाकर कला का प्रशिक्षण प्राप्त किया हो। मुसलमान व मराठा-शासकों के उत्पीड़न से, जब उत्कल ने अपने शांति, और स्वाधीनता को खो दी थी। तब उसके पास कला-आराधना के लिए अवकाश कहां रहा? बाद में ब्रिटिश-शासन के अधीन आकर, विदेशी-शासन से आक्रांत, उड़ीसा को अपना मस्तक झुकाना पड़ा। उसने अपनी कला को और अपने व्यक्तित्व को गंवा दिया। यहां तक कि एक समय ऐसा भी आया, जब संगीत-कला समाज में घृण्य मानी जाने लगी। उसके दुष्परिणाम आज भी हम कुछ सीमा तक देख रहे हैं।

चौदहवीं शताब्दी के आसपास नारी-नृत्य के स्थान पर बालकों को बालिकाओं के वेश में सुसज्जित कर, नृत्य-प्रदर्शन की प्रथा का प्रचलन हुआ। उस समय यह 'अखड़ा पिला' व 'गोतिपुअ' के नाम से प्रसिद्ध था। बालकों के स्त्री-रूप में नारी-नर्तन की प्रथा शास्त्र-सम्मत तो नहीं हो सकती, परन्तु अप्रचलित नहीं है। पतंजलि के 'महाभाष्य' में इसका उल्लेख है। लोकनृत्य और लोकसंगीत की धाराएं भी उड़ीसा प्रदेश में, अन्यान्य प्रदेशों की तरह, भिन्न-भिन्न प्रकार की हैं।

भरत का नाट्य-शास्त्र, अभिनय दर्पण, 'संगीत दामोदर', संगीत रत्नाकर, एवं 'संगीत नारायण' आदि संगीत-शास्त्रों में नृत्य के जिन विशेष नियमों का उल्लेख है, उत्कल प्रदेश ने उनका पूर्णरूपेण अनुसरण किया। मध्य व अंधकार-युग में, प्रचलन व चर्चा के अभाव के कारण, संगीत-कला अपने निजी स्वरूप को अक्षुण्ण नहीं रख सकी। यह प्रत्येक व्यक्ति स्वीकार करेगा कि जिन कारणों से कोणार्क व भुवनेश्वर के महान शिल्पी विलुप्त हो गये, संगीतकला के अधः पतन के लिए भी वे ही कारण जिम्मेदार हैं।

शिल्प यदि पत्थरों में गढ़ा गया नहीं होता, और अजर-अमर होकर आज भी हमारे सामने प्रत्यक्ष नहीं होता, तो लोग शायद यह कहते कि उड़ीसा में कभी शिल्पी रहते ही नहीं थे। बाहर के लोगों की बात जाने दीजिए। दुर्भाग्य से उड़ीसा के कुछ निवासी भी, कुछ सीमा तक, इस वास्तविकता पर विश्वास नहीं करते हैं। यदि संगीत-कला के प्रति प्रेम, उसकी परंपरा व प्रचलन की, या आलोचना-प्रत्यालोचना की प्रथा नही रहती, तो क्या शिल्पीगण, मंदिरों की काया पर नृत्य-भंगिमाओं की रचना कर पाते ? कला के आदर्शों ने उन्हें प्रेरणा दी थी, इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। इस प्रकार के मंदिर-निर्माण से पूर्व, उत्कल में नृत्य-कला का चूडांत विकास हुआ, यह सभी के लिए स्वीकार्य है। साथ-साथ यह भी कहना पड़ेगा कि उस समय, उत्कल में संगीत का प्रशिक्षण बाहर से आये संगीतज्ञों व विद्वानों ने नहीं दिया होगा। शास्त्रानुमोदित ढंग में उत्कल ने अपने कला-वैचित्र्य को प्रस्फुटित कर, देश-विदेश में, कला-संस्कृति के प्रसारण में जो योगदान दिया उसके प्रमाण इतिहास के हर पृष्ठ पर अंकित हैं। अस्तु, ओड़िसी नृत्य-शैली अवश्य ही किसी पडोसी प्रदेश से नहीं आयी है, और न ही वह अशास्त्रीय है। दुर्भाग्य से, उचित प्रचार व प्रसार के अभाव में हम इस क्षेत्र में पीछे रह गये और अपनी-पुरानी कोठरी में रखे इस कला-रत्न को धो-मांज कर परिष्कृत नहीं कर सके। फलस्वरूप हम कला की आराधना से विमुख हो गये। दुर्भाग्य से आज हम असमर्थ भी है। अल्प प्रयत्न से जो कुछ हमने पाया, उसे ही हम अपने सिर-माथे पर रखे हुए हैं।

हमारे गीत, हमारे वाद्य हमारी वेशभूषा, आभूषण इत्यादि की संरचना में एक विशेषता है—जो 'ओड़िसी ढंग' के नाम से प्रख्यात है। हम उसे जनसाधारण की दृष्टि में नहीं ला पाये। वैसा करने की चेष्टा का भी हममें अभाव है। वर्तमान भारत में 'भरत नाट्यम्', 'कत्थकली' 'मणिपुरी' आदि नृत्यों ने प्रसिद्धि पायी। मैं यहां उन नृत्यों की विशेष चर्चा नहीं करूंगा। फिर भी उनका संक्षिप्त परिचय देना उचित समझता हूं। इसके द्वारा पाठक और श्रद्धेय गुणग्राहक, यह विचार करें कि ओड़िसी नृत्य अशास्त्रीय या अनाथ कही जा सकती है या नहीं ?

भरत नाट्यम् : यह दक्षिण-भारत में प्रचलित है। अवश्य ही, भारत में उड़ीसा शामिल है। इस भौगोलिक स्थिति ने उड़ीसा को एक विचित्र स्थान दिया, जिसके फलस्वरूप दक्षिण और उत्तर की धाराएं उत्कल में प्रचलित देखी जाती हैं। प्रकृति ने ही ऐसी योजना बनाई। फिर भी विचार कर देखने पर यह सिद्ध होगा कि उत्कल के वास्तुकला, चित्रकला, संगीत व नृत्यकला, वेशभूषा, आचार-व्यवहार, रीति-

रिवाज, पूजा-पर्व, आदि ने दक्षिण भारत का अनुकरण नहीं किया। वरन् प्रत्येक क्षेत्र में युगों से, उनकी अपनी पृथक्ता रही है—अपना व्यक्तित्व रहा है।

'भरत नाट्यम्' पूरी तरह शास्त्रीय है या भरत के नाट्य-शास्त्र के अनुसार वह निबद्ध है—यह गलत है। प्रचार पर अवलम्बित हो कर कानों सुनी बातों को सत्य मानते हुए, अनेक लोग इसे पूर्णरूपेण शास्त्रीय कहते हैं। 'भारत नाट्यम्' के संबंध में अपने निजी मत को प्रस्तुत करने से पूर्व, एक नृत्य विशेषज्ञ के कुछ विचारों को उद्धृत किया जाता है, इससे 'भरत नाट्यम्' के सम्बन्ध में सही धारणा बन सकेगी।

'By the expression 'Bharatnatya', we should not conclude that it is a dance as propounded in Bharata Natya-Sastra. Although it has got certain gestures as laid down in this extant work, still, the difference in many respects in fundamental'.

'The dance, although mostly 'Lasya' has sprinklings of 'Tandava', which again makes it void of aesthetics'.

'There are certain gestures and postures typical of South India & the introduction of these, makes it more a routine work than conveying an aesthetic beauty'.[1]

कथाकली या कत्थकलि : यह भी दक्षिण भारत की नृत्य सर्जना है। इस संबंध में Dance of India' का मत देखिए—

'Kathakali is a degenerated specimen of once glorious art of Kerala Dance. It is a revival from folk-dance depicting events from the Ramayana & the Mahabharata. The meaning of Kathakali is 'Kudakali' or story-dance. A story is told by means of movements of the limbs'.[2]

मणिपुरी और कत्थक : मणिपुरी आसाम में प्रचलित नृत्य है। नृत्यांग में 'खोल' और 'ताल' इसके संगत-वाद्य हैं। कीर्त्तन की सृष्टि चैतन्यदेव के काल में हुई थी। वेशभूषा में भी पृथक्ता विद्यमान है। कत्थक और मणिपुरी नृत्य का तुलनात्मक निरीक्षण करते हुए श्री 'बनर्जी' अपने 'Dance of India' में कहते हैं—

'Kathak is the treatment of Bols & Toras; which are played

1. Dance of India, Page 189–191.
2. Dance of India, Page 186-187.

on Tabla by hands and Manipuri is a treatment of those which are played on 'Khol' and it is not played so swiftly. There is more of technical art in Manipuri and it is more full of beauty and aesthetics than Kathak'.

मणिपुरी-नृत्य की विषय-वस्तु राधाकृष्ण रस से प्लावित है। इन दिनों तो रवीन्द्रनाथ ठाकुर के गीतों को गाते हुए भी वे लोग नृत्य करते है। फलतः, मणिपुरी-नृत्य की पूर्व प्रचलित-धारा आज जीर्ण-शीर्ण हो चुकी है।

इन उद्धरणों द्वारा प्रगट मंतव्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'भरत-नाट्यम्', 'कत्थक', 'कत्थकली' या 'मणिपुरी', कोई भी, पूर्णरूपेण शास्त्रीय नहीं है। प्रचार व प्रसार के कारण इन नृत्यों ने आधुनिक नृत्यकला के क्षेत्र में एक-एक विशेष स्थान प्राप्त किया है। कुछ ही शताब्दियों पूर्व भरत-नाट्यम् की सृष्टि हुई और उसका प्रचलन हुआ। किन्तु ओड़िसी नृत्य की परिकल्पना श्री जगन्नाथ जी के मंदिर के निर्माण से पूर्व हुई—इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। सत्रह शताब्दियों के इतिहास में नृत्य व अभिनय का उल्लेख हम जगह-जगह देख सकते हैं। भरत मुनि के 'नाट्य-शास्त्र', 'अभिनय-दर्पण' आदि, में विधि-बद्ध लक्षण-श्लोकों के द्वारा नृत्य-कला प्राप्य है। नाट्य-शास्त्र के नृत्य-नियमों का पालन करता हुआ, ओड़िसी नृत्य-'गोतिपुअ' या 'अरवडा-पिल्ला' के द्वारा लोगों में प्रचलित रहा। कुछ ही वर्ष हुए जबकि अन्यान्य नृत्यों के दुष्प्रभावों के कारण, इसकी मौलिकता, स्वतंत्रता और शास्त्रीयता कुछ सीमा तक नष्ट हो गयी। स्पष्ट है कि हम लोगों ने अपने घर की सम्पत्ति का अनादर किया। इस विषय पर कोई भी पुस्तक प्रकाशित नहीं हुई। नृत्याचार्यों के प्रति अधोदृष्टि, अनादर, कला-चर्चा के अभाव तथा पृष्ट-पोषण न होने आदि के कारण ओड़िसी-नृत्य ने अपना वैचित्र्य, अपनी स्वतंत्रता, और कुछ सीमा तक अपने अस्तित्त्व को खो दिया। जिन लोगों ने आज से १५-२० वर्ष पूर्व के ओड़िसी नर्तकों के नृत्य को देखा, वे लोग अवश्य ही मेरे उक्त विचारों से सहमत होंगे।

कुछ ही वर्ष हुए, शिक्षित व सभ्य लोगों में इस नृत्य का आदर बढ़ा। इन दिनों प्रशिक्षार्थी अधिकतर या तो शौकिया हैं या अल्प-वयस्का किशोरियां या बच्चियां हैं। कितनों की उम्र ४ या ५ वर्ष भी होगी। नृत्य-शास्त्र के पात्र-विचार नियमों के अनुसार ये वर्जनीय पात्र हैं। 'अभिनय दर्पण' के लेखक कहते हैं—'मनोवृत्ति की अपरि-पक्वता के कारण छोटी बच्चियों को पात्रों के रूप में नहीं लिया जा सकता।'

बलञ्च बुद्धिहीनत्वान्न पात्रं जनरंजनम्—संगीत नारायण

नृत्य-शिक्षा के लिए प्रत्येक श्रेणी के या थोड़ी बहुत योग्यता सम्पन्न होने से ही नहीं चलेगा। अन्य कलाओं की तरह यह भी एक शास्त्रीय कला है, केवल हस्त, पद, ग्रीवा, नयन, भ्रू किसी का भी परिचालन करने मात्र से ही नृत्य सम्पन्न नहीं हो जाता। शास्त्रों में नृत्य-शिक्षा के लिए शिक्षा प्राप्त करने वाले छात्र की विशेष योग्यताओं तथा उसके नियमाचार आदि का वर्णन विशेष रूप से संगीत नारायण आदि ग्रन्थों मे किया गया है, इस विषय के जिज्ञासुओं को उन्हें देखना चाहिए। लेख के विस्तार-भय से उनके उद्धरण यहां दे सकना सम्भव नहीं।

आज कल नृत्य की शिक्षा देने के लिए अनेक गुरु दिखाई देते हैं। इनमें से अधिकांश व्यवसायी हैं। इसका विश्वास नहीं होता है कि शास्त्र के अनुसार नृत्य शिक्षा को प्राप्त करने का सुयोग इन लोगों को मिला हो। मेरे मत से सर्वप्रथम इन गुरुओं को अपने आपको शिक्षक बनने के उपयुक्त बनाना चाहिए। तदुपरान्त दूसरों को विधिवत् शिक्षा दें। केवल अपने स्वार्थ के लिए, जीविकोपार्जन को ही लक्ष्य न बनाकर, कला की महत्ता की रक्षा करें। कारण कि, हमारे आने वाली पीढ़ियों का कला-ज्ञान इन्ही गुरुओं पर निर्भर करता है। यह कहा जा सकता है कि हमारे यहां नृत्य-पात्रों के रूप में बालिकाओं की अपेक्षा बालकों की संख्या बहुत कम है। यह उन्नति का सूचक नहीं माना जा सकता, क्योंकि—

(क) अल्पवयस्क बालिकाएं नृत्य-शिक्षा प्राप्त कर कला-साधना की दिशा में देश व जाति की कोई सहायता नहीं कर सकतीं। कुछ समय के बाद वे गृहणियां हो जाती हैं। अतः इस नृत्य-शिक्षा का उचित प्रचार व उपयोग नहीं हो सकता। वे नृत्य की शिक्षा न पायें, यह मैं नहीं कहता। लेकिन बालक प्रशिक्षार्थी भविष्य में प्रशिक्षित होकर बहुत छात्र-छात्राओं को नृत्य-शिक्षा देकर कला की अभिवृद्धि करने में समर्थ हो सकेंगे। इसी दृष्टि को सामने रखते हुए बालक प्रशिक्षार्थियों को नृत्य व संगीत-कला के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए।

(ख) नृत्य के दो विभाग हैं—ताण्डव (पुरुषनृत्य) और लास्य (नारीनृत्य)। नृत्य-शास्त्रों के अनुसार स्त्रियों के लिए ताण्डव-नृत्य की शिक्षा प्राप्त करना निषिद्ध है। यह निरर्थक बात नहीं है। गांभीर्य-रक्षा के विचार से एवं कई प्रकार के कर-पद-चालन तथा अभिनय-प्रयोग के विचार से भी, इसे नृत्य-शास्त्रियों ने केवल पुरुषों द्वारा ही साध्य माना गया है। इसीलिए नारियों के लिए ताण्डव निषिद्ध है। देखने में आता है कि कई स्थानों पर बालिकाओं को भी ताण्डव की शिक्षा दी जाती है। क्या

यह हास्यास्पद नहीं है ?

(ग) लास्य, नारी-नृत्य है। ओड़िसी नृत्यधारा में ताण्डव का प्रयोग बहुत कम है। फिर भी 'गोतिपुअ' की नृत्य-भंगिमा में ताण्डव के कई सम्मिश्रण दिखाई देते हैं।

देवदासियों द्वारा प्रचलित नारी-नृत्यों में भी इसका प्रचलन नहीं है। आज कल बालिकाओं को नृत्य का प्रशिक्षण देते समय अतिभंग की भी शिक्षा देने का प्रयत्न कुछ लोग करते हैं।

सर्वेषां देवदेवीनाम् भङ्गमत्राभिरुच्यते ।
अभङ्गसमभङ्गञ्च-अतिभङ्गम् त्रिद्याजगत् ।।

—मानस, अध्याय ६७, शेष श्लोक—

अतिभंग शिव की नटराज-भंगिमा है। यह ताण्डव का अंग है। 'आखड़ा पिला' में इसका प्रदर्शन कभी-कभी होता है। और इसको साधारणतया 'बन्धो भंगो' की संज्ञा दी गयी है। ताण्डव भी लास्य की तरह शिक्षणीय है। उसे पुरुष-पात्रों को ही सीखना चाहिए। लास्य मधुर है, ताण्डव उद्धत है। लास्य नृत्य, ताण्डव का पूरक है। ओड़िसी-नृत्य में कुछ मात्रा में ताण्डव के ताल-मान-लय युक्त अंगों व उपांगों का प्रयोग होता है। यह शास्त्र विरुद्ध नहीं है। लास्य-नृत्य की प्रकृति कौशिकी है, और उसकी यह प्रकृति श्रृङ्गार, हास्य और करुण-रस में अभिनय के लिए उपयुक्त है।

या शुक्ल नेपथ्य विशेष चित्रा स्त्री संकुचा पुष्कल नृत्य गीता ।
कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कौशिकी चारु विलास युक्ता ।।

—संगीत नारायण, श्लोक—६-१-७

यह नियम ओड़िसी नृत्य-शैली में सर्वदा विद्यमान है। इस तरह ओड़िसी नृत्य शास्त्रीय नियमों से बहिर्गत नहीं हुआ। कुछ ध्यान देने पर दर्शक इसका अनुभव कर सकते हैं।

इसी तरह अलग-अलग प्रकार के प्रमाणों के रहने पर भी यदि विद्वान और ख्याति-प्राप्त व्यक्ति यह कहें कि ओड़िसी नाम की शायद ही कोई शैली है, तब वह इस देश के लिए एक दुर्भाग्य की बात होगी। किसी एक मन्तव्य को प्रगट करने से पूर्व, कुछ परिश्रम कर, सर्वप्रथम अपनी कोठरियों को देखना क्या उचित नहीं है ? यदि हमारा अपना कुछ नहीं रहता तो कोई बात नहीं थी, परन्तु जिसके पास स्वस्थ आँखें हों, उसे अंधा कहना, कहने वाले के अज्ञान का ही सूचक है।

ओड़िसी-नृत्य शास्त्रीय कैसे ?

इस संबंध में, मैं जितना जान पाया, उसका वर्णन करने से पूर्व नृत्य की शास्त्रीयता के नियमों का उल्लेख कर लेना आवश्यक है। कोई भी नृत्य 'अंगिक' 'वाचिक' 'आहार्य' और 'सात्विक' को लेकर ही सम्पन्न होता है, यह संगीतविदों द्वारा मान्य मत है। स्थूल में इनका अर्थ है—अंगिक—अंगों द्वारा प्रदर्शित भंगिमाएं; वाचिक—वाक्य व भाषा द्वारा जो भाव प्रकट होता है; आहार्य—वेश-भूषा की परिपाटी; सात्विक—सात्विक अभिनय, जो सात या आठ प्रकार के हैं। नर्तक सात्विक-भावनाओं को पूर्णरूप से ग्रहण कर, रंगमंच पर अभिनय करते हैं। स्थूलरूप से यदि यह कहा जाए कि यह भावाभिनय है, तो इसमें कोई असंगति नहीं होगी। यहां इसकी विशेष विवेचना की कोई आवश्यकता नहीं है।

'अंगिक', इस अभिनय को हम लोग 'पारिजा' या 'लक्षण' कहते हैं। 'मुद्रा' शब्द का किसी भी नाट्यशास्त्र में उल्लेख नहीं है। मुद्रा केवल हाथ या अंगुलियों द्वारा सम्पन्न होती है और वह तंत्र-शास्त्र के प्रभाव से प्रचलित हुई है, ऐसा लोग कहते हैं। 'मुद्रा' शब्द समस्त अंगों के अभिनय को परिलक्षित कर सकता है। हम इसे 'हस्तक' कह सकते हैं। 'मुद्रा' वास्तव में तंत्र-शास्त्र में, एक निर्दिष्ट प्रयोग है। जो भी हो; हमारा 'पारिजा' शास्त्रोक्त ढंग से प्रदर्शित होता है। 'अभिनय चन्द्रिका' नामक उत्कलीय संगीतज्ञों की पाण्डुलिपि और 'संगीत नारायण' (इसकी रचना व संपादन उत्कलवासियों ने किया) ग्रन्थों में 'पारिजा' के जो लक्षण हैं, वे शास्त्रों द्वारा वर्जित नहीं हैं। इनको छोड़कर, आँख, भौंएं, ग्रीवा आदि का अभिनय शास्त्रीय-ढंग से प्रतिपादित हुआ है। पदों के आघात व पद-चालन में, चार मण्डलों के नियमों की रक्षा की जाती है। कवि सूर्य के साथ संगत करने वाले पण्डित स्वर्गीय राजमणि पात्र की, सिर्फ एक पाण्डुलिपि मात्र संग्रहीत हो सकी। इस महाशय ने 'आट्ठोगोढ़' राज्य के हस्तांतरित होने के उपरांत भींगारपुर के चौधरी-वंश का सम्मान प्राप्त किया और वहां वे कुछ समय तक रहे। पाण्डुलिपि में नृत्य, अभिनय, पल्लवि, तथा कई रागों व वाद्यों के लक्षणों, एवं प्रयोगों का उल्लेख है। फलस्वरूप, हमारे नृत्य में, इन नियमों का पालन होता रहा। 'भींगारपुर' के प्रख्यात नृत्य-शिक्षक 'कार्तिक-साहु' आज से प्राय: १५ वर्ष पूर्व शरीर छोड़ चुके। वे इन विषयों के विशेषज्ञ थे। 'भींगारपुर' के चौधरी-वंश की संगीत-सेवा उड़ीसावासियों के लिए अज्ञात नहीं है। मैंने कुछ पाण्डुलिपियां चौधरी दीनकृष्ण दास और नीलकंठ दास के पास से संग्रहीत की। वे ओड़िसी गीत-वाद्य और नृत्य-शास्त्र के परिचायक अमूल्य ग्रन्थ हैं।

ओड़िसी-नृत्य में अभिनयांग :

'पारिजा' के प्रचलन के कारण यह नृत्य आंगिक है। गीत के सहयोग के कारण, यह नृत्य वाचिक है। शास्त्रों के अनुसार वेशभूषा के प्रयोग के कारण यह नृत्य आहार्य है। भावाभिनय के बाहुल्य के कारण यह नृत्य सात्विक है। इनके अतिरिक्त उपांगाभिनय आदि, ओड़िसी-नृत्य के महत्त्व और सौंदर्य का वर्धन करते हैं। 'भरत नाट्यम्' दक्षिण भारतीयों द्वारा संरक्षित हुआ। इसके नाट्यारम्भ एवं नर्तन-क्रम के साथ ओड़िसी नृत्य का कहीं कोई मेल नही है। 'भरत नाट्यम्' में जिस तरह विद्वान लोग ताल देते हुए बैठे रहते हैं, उस तरह ओड़िसी-नृत्य में नहीं होता है। मुख व नेत्र, द्वारा भंगिमा-प्रदर्शन 'भरत नाट्यम्' में कम है। किन्तु ओड़िसी-नृत्य में नाट्य-शास्त्र में निर्दिष्ट क्रम के अनुसार मुख, नेत्र, अधर, नासिका, भौंए, इत्यादि की अभिनय-क्रिया बड़ी मात्रा में प्रदर्शित होती है। ओड़िसी नृत्य साधारणतया गीतों के साहचर्य से प्रदर्शित किया जाता है। भरत नाट्यम् में इस अंश के रहने पर भी मात्रा कम है। उसमें वाचिक और सात्विक अभिनय कम है—जबकि ओड़िसी-नृत्य में उपरोक्त चारों अंगों का पूर्णरूपेण प्रतिपादन होता है।

कथावली, कत्थक व मणिपुरी के साथ ओड़िसी नृत्य की पृथक्ता अत्यधिक है। कथकली के संगत-वाद्य-यंत्र ओड़िसी नृत्य में नहीं चलते हैं। 'नटम', 'कलशम' व 'नील पद्मम्' इत्यादि क्रम का व्यवहार ओड़िसी नृत्य में नहीं है। पात्रों को मुखौटे पहनाने या मुख को रंगने का प्रचलन भी ओड़िसी में नहीं है।

कत्थक नृत्य के 'बोल' बोलकर तोड़े पर चंचल पदचालन का प्रचलन ओड़िसी में नहीं है। उसके अतिरिक्त बायें तबले का व्यवहार ओड़िसी नृत्य के सम्मत नहीं है। तबला, वास्तव में आधुनिक समय का प्रचलित वाद्य-यन्त्र है। ओड़िसी नृत्य के साथ संगत में केवल 'मर्दल' व 'पखावज' उत्तम माने जाते हैं और यही शास्त्र-संगत भी है। इस वाद्य के बांईं ओर के पूडे में उचित परिमाण में मसाला डालकर तैयार करते थे। आज भी पुरी के आसपास इसका प्रचलन है। ओड़िसी द्वारा प्रचलित सप्तताल तथा उसी जाति के अन्य नृत्यांगों के लिये बायें तबले का प्रयोग उचित नहीं है। वह शोभनीय या श्रुति-प्रिय भी नहीं होगा। इसका कारण यह कि 'मर्दल' वाद्य का पूड़ा विशेष एवं उपयुक्त ध्वनि के साथ संगीतकारों द्वारा निर्धारित किया गया। इसका हिन्दुस्तानी संगीत के 'ध्रुवपद' के साथ सामंजस्य हो सकता है। कत्थक-नृत्य में नर्तक बोल व तोड़े की आवृत्ति करते हैं। ओड़िसी नृत्य में यह ढंग प्रचलित नहीं है और किसी भी नृत्य-शास्त्र ने इसकी अनुमति नहीं दी है। वाचिक

और सात्विक अंग कत्थक-नृत्य में प्रचलित नहीं हैं। किन्तु ओड़िसी-नृत्य शास्त्रानु-मोदित ढंग से लेश मात्र भी बाहर नहीं गया। कत्थक-नृत्य में अधिकतर हस्त-चालन दीखता है। यह एक तथ्य है कि नृत्य के चारों प्रधान अंग-अंगिक, वचिक, आहार्य और सात्विक के अतिरिक्त असंयुक्त और संयुक्त हस्तक भी ओड़िसी-नृत्य में पूर्णतया व्यवहृत होते हैं। इनमें से किसी भी एक अंग की कमी होने पर ओड़िसी-शैली सुमम्पन्न नहीं हो सकती। इससे यह मालूम होता है कि ओड़िसी नृत्य शास्त्रीय-धाराओं को लेकर ही प्रदर्शित हुआ है। शास्त्र के नियमों के अनुसार नर्तक रंगमंच पर प्रवेश कर देव-प्रार्थना करता है। ओड़िसी नृत्य के आरम्भ में नर्तक गुरु व यंत्रों को प्रणाम कर वंदना व देव-प्रार्थना के उपरान्त नृत्य का आरंभ करता है। साधा-रणतया इसमें नटराज भैरव और गणपति की वंदना करने की विधि प्रचलित है। यह ओड़िमी में 'बोट्टु नाच' के नाम से जाना जाता है। बटुकेश्वर या बटुक-भैरव की वंदना के बाद, राग-आलाप व पल्लवि आदि का गायन कर, ओड़िसी-नृत्य आरंभ होता है। पल्लवि प्रथम गाये जाने वाले गीत के राग में ही रचित होती है।

यह 'सा' 'रे' 'ग' 'म' इत्यादि स्वरोच्चारण द्वारा रचित न होकर वाद्यों के बोल की तरह 'तारिझम्' 'तारिझम्' 'तारिखिटा', इत्यादि शब्दों से रचित है। इसलिए यह नृत्य 'तारिझम्' के नाम से भी प्रचलित है। यह ओड़िसी नृत्य-परम्परा की विशेषता है। कत्थक की तरह 'पल्लवि' नृत्य के बाद 'बोल' बोलकर नर्तन करना हमारा ढंग नहीं है।

ओड़िसी नृत्य ने नृत्य-शास्त्रों के नियमों तथा उसकी प्रक्रियाओं को जिस मात्रा में स्वीकार किया है, अन्य किसी भी नृत्य-धारा में उतनी मात्रा में उनका प्रयोग नहीं दीखता। ऐसी अवस्था में विज्ञ पाठक इस पर निर्णय करें कि यह कथन किसी सीमा तक उपयुक्त होगा कि ओड़िसी नृत्य का कोई आधार या मूल नहीं है। गीत के चरणों के साथ नर्तन हमारी परम्परा है और विभिन्न तालों में ओड़िसी-नृत्य सम्पन्न होता है। ओड़िसी-नृत्य की कई प्रचलित धाराएं हैं। वे प्रवचन की तरह भी चलते हैं। कौतूहल-निवारण के लिए मैं एक उदाहरण प्रस्तुत करता हूं। इस संबंध में विशेष विवरण 'नृत्य प्रकाश' एक अलग पुस्तक में लिखा जा रहा है। पदचालना या पद-पात (Stepping) एवं हस्ताभिनय की दिशा में भी ओड़िसी नृत्य और अन्य नृत्यों के बीच काफी पृथक्ता है। ओड़िसी-नृत्य में खड़े होने की भंगिमा में पैर अधि-कांश सीधे रहते हैं। ओड़िसी नृत्य के परिचालन के संबंध में आठ विषयों पर ध्यान दिया जाता है। इनको देखने पर पता चलेगा कि ओड़िसी-नृत्य नाट्य-शास्त्र से दूर

जाकर अभिव्यक्त नहीं हुआ ।

१. नेत्र २. लक्ष्य ३. अंग ४. भंगिमा ५. मुद्रा ६. हास्य ७. उल्लास ८. लय ।

इन आठ अंगों के प्रति विशेष ध्यान देते हुए ओड़िसी नृत्य सम्पन्न होता है । फिर—

'हाथो जेऊठी आक्खी सेइठी, चौक चिरा—लखिबोइठी,

चौरस करि— भंगिवो कण्ठि गल-कालो मनि-भारो गोइठी' (प्रवचन)

इस स्थल पर 'हाथो जेऊठी—आक्खी सेइठी' (हाथ जहां—आंख वहां) यह नाट्य-शास्त्र में निर्धारित नियम है । इस संबंध में 'अभिनय दर्पण' के श्लोकों की कुछ पक्तियां देखिए—

चक्षुर्भ्यां दर्शयेद्भावं पादाभ्यांतालमादिशेत् । (श्लोक—३६)

अर्थात्—आँखों से भाव और पादों से ताल प्रदर्शित किये जाने चाहिए । एवं

यतोहस्तस्ततोदृष्टिः, यतो दृष्टिस्ततो मन : । (श्लोक—३७)

अर्थात्—जहां हाथ वहां दृष्टि और जहां दृष्टि वहां मन रहना चाहिए ।

भेवको : देह को समान चार कोणों में रखना ।

चीरा : कटि को बिना हिलाए बैठ जाना ।

लक्ष्य : आंखें, भौंओं, और आँख की पुतलियों की निर्दिष्ट ये भंगिमाएं हैं ।

किसी भी भाव के प्रदर्शन के लिए नेत्र सहायक हैं । इसकी सहायता से ही भावाभिव्यक्ति होती है । इसलिए लक्ष्य के स्थिर रखने की बात को साधारणतया 'लक्ष्य' कहते हैं ।

बोइठी : ओड़िसी-नृत्य की यह एक विशेषता है । इसे बोइठी कहते हैं । घुटनों को समान रूप से टेढ़ा कर, कमर झुका कर नाचने की यह भंगिमा है ।

चौरस : यह देह को समान रूप से टेढा करने की विधि है, इसे यहां 'काठि' कहते हैं । काठि शब्द का अर्थ है—देह ।

शास्त्रोक्त समभंग—खड़ा रहना

'ताल काल कवि भारो गोइठि' अर्थात् 'पदाभ्याम् तालम्' एंडी से ताल-प्रदर्शन करना या नाचना ओड़िसी-नृत्य-शैली की एक विशेषता है । पैरों से ताल देकर नाचते समय अधिकांश स्थलों में एडी का व्यवहार होता है । इस सम्बन्ध में कुछ और प्रवचन देखिये—

उप्ठा, बोइठा, ठिया, चल्ली,
बूडा, भोसा, भौंरी, पाली

ओड़िसी नाचोरी आठ बोली

१. उप्ठा २ बोइठा ३. ठिया ४. चालि ५. बूडा ६. भोसा ७. भौरी ८. पाली—ये ओड़िसी नृत्य के बोल अर्थात्, ढंग व धाराएं हैं।

१. उप्ठा—'थम्, थेई', 'ता', 'तरकट', 'थित्' 'ता' मर्दल के इन बोलों के बीच 'थम्' शब्द के बोल पर बैठी हुई अवस्था से उठकर नर्तक नृत्य करता है। इसे उप्ठा कहते हैं। यह नृत्य-शास्त्र द्वारा उद्घोषित विशेष भंगिमा है।

२. बोइठा—'चौरस' 'थागित् था'—थागित्था—इत्यादि बोलों पर नर्तक घुटने टेढ़े कर, कमर झुकाकर नृत्य करने की भंगिमा को प्राप्त करता है। शास्त्रोक्त 'उन्मत करण कर्म' के साथ भी इसका साम्य दीखता है।

३. ठिया—नृत्यारम्भ या नृत्य-मुक्ति (मुक्तई 'या मुक्ति का अर्थ है विश्रान्ति। मुक्तई को 'विहाई', 'छिन्डानो', 'काटोनो' कहते हैं।) के समय नर्तक के (सरस भंगिमा में सरल भाव में) खड़े रहने की भंगिमा को 'ठिया' कहते हैं। इसे साधारणतया 'थाई' भी कहते हैं। 'थाई—स्थाई' शब्द से बना है। 'थाई' के बाद नृत्य एक विशेष ढंग से फिर से शुरू होता है, जिसे 'ठिया' कहते हैं। यह नाट्य-शास्त्र के स्थानक शब्द का सूचक है। स्थान का अर्थ है स्थिति—अर्थात् अंगों की निश्चल स्थिति। स्थिति के बाद गति और गति के बाद स्थिति। इसलिए गति के आदि या अंत में स्थिति-क्रिया पुनः आती है। यही है स्थाई स्थिति या 'ठाई'। यह नृत्य-शास्त्र की 'समपद भंगिमा' है। नियमानुसार नृत्य-आरंभ के समय पुष्पांजलि प्रदान करना—देव-आराधना की विधि है।

४. चालि : साधारणतया ओड़िसी नृत्य, गीत के साथ चलता है। एक गीत के प्रत्येक पद का भाव अभिव्यक्त करने के लिये. नर्तक के सामने की ओर आते हुए ताल व मात्रा के अनुसार पदचाप देकर, सरलता से चलने की रीति को 'चालि' कहते हैं। यह नृत्य-शास्त्र के मयूरी-गति-भंगिमा के समान है। किसी-किसी समय यह साधारण चाल-सी लगती है।

५. बुडा—नृत्य के बीच 'मुक्ति' स्थिति में नर्तक सिर ऊपर उठाकर, हाथ जोड़ कर जो अभिनय दिखाता है, यह रस या भाव के बीच डूब जाने का द्योतक है। इसलिए इसे 'बुडा' कहते हैं। शास्त्रों के अनुसार इस विधि में हस्त के अभिनय में, बीच की उंगली और अंगूठा एक जगह मिलाये जाते हैं। बची हुई उंगलियां टेढ़ी रहती हैं। माथा एक ओर झुका रहता है, घुटने टेढ़े रहते हैं। (निकुट्ट पद-प्रयोग)

६. भोसा—पल्लवि अथवा नृत्य के बीच, मंच के एक ओर को समान ताल पर

चलना 'भोमा' कहलाता है। 'कीणा, झेणु', 'ता', 'कटितक', 'ता', 'गति', 'झेणा' इत्यादि पल्लवि के गायन में, नर्तक-हस्ताभिनय प्रदर्शन के साथ, ताल की रक्षा करते हुए, रंगमंच के दोनों ओर जाना है। इस भंगिमा के प्रदर्शन करने की विधि को भोसा कहते हैं। इस विधि में लगता है कि नर्तक रंगमंच पर तैर रहा है।

७. भौंरी—यह नृत्य शास्त्र की भ्रमर-भंगिमा है। नर्तन के समय नर्तक इस ढग से घूमता है कि उसके अंग-प्रत्यंग दर्शकों को स्पष्ट रूप से दीखते नहीं हैं। इस घूमने की प्रक्रिया का नाम भौंरी है। (यह 'उत्प्लुत' और 'चक्रभ्रमरि' क्रियाओं की तरह है)।

८. पालि—नृत्य करते हुए नर्तक की ठीक सम्मुख-वर्ती होकर पद्चाप द्वारा ताल की रक्षा करते हुए पीछे जाने की इस क्रिया को 'पालि' कहते हैं।

९. भंग—भंगी शब्द से पैदा हुआ है। यह ओड़िसी नृत्य में 'बधना' के नाम से परिचित है। इन्हीं बन्धों 'के बीच बहुलांश शास्त्रोक्त स्थानों से या मण्डलों से यह गृहीत हुआ है।

ओड़िसी-नृत्य के प्रशिक्षण के समय नर्तक कई विशेष कार्यों के प्रति ध्यान देता है। अवश्य ही पिछले १५—२० वर्षों के बीच यह प्रथा मृतप्राय और लुप्त हो गयी है। नृत्य की साधना करते समय, नर्तक के अंग-प्रत्यग में तैल-मर्दन किया जाता है। सूखी मछली और बिना नमक की खिचड़ी खाने को देते हैं। इस प्रकार के प्रचलन को ओड़िसी नर्तकों में से, जो आज भी जीवित हैं, स्वीकार करेंगे। इन नियमों को नृत्य-साधना के लिए आवश्यक माना गया है। नृत्य-शास्त्र में वर्णित व्यायाम का यह एक अंग है।

इस लेख में ओड़िसी नृत्य के संबंध में विशेष विवरण नहीं दिये गये। लेख की लम्बाई को ध्यान में रखते हुए ही कुछ साधारण बातें मात्र बतलाई गयी हैं। फिर भी, पाठक-वृन्द समझ गये होंगे कि ओड़िसी-नृत्य किस हद तक संगीत-शास्त्र सम्मत है। अवहेलना, प्रचार के अभाव तथा चर्चा की विमुखता के कारण ओड़िसी-नृत्य को उसकी अपनी परपरा से दूर रखकर भारतीय नृत्य-सभा की इस विशिष्ट शैली पर कालिमा-लेपन करने के लिए आज कुछ लोग उद्यत हैं। उत्कल की कला-प्रेमी, संगीत-सेवी, जनता को इस लुप्त-रत्न के महत्त्व की रक्षा तथा उसके प्रचलन के प्रति शुभ-दृष्टि देनी चाहिए।

अनुवाद : एच. एन. पात्रो

धीरेन्द्रनाथ पटनायक

ओड़िसी नृत्य

इसमें सदेह नहीं कि आधुनिक उड़ीसा या 'ओड़िशा' संस्कृत शब्द 'ओड्रदेश'—ओड्रों का देश—का अपभ्रंश-रूप है। इसके अन्तर्गत वह सम्पूर्ण प्रदेश था, जो इतिहास में कलिंग, उत्कल, ओड्र और कोशल प्रत्यक्षतः दक्षिण कोशल नामों से अभिहित है। उड़ीसा विभिन्न कालों में विविध जातियों और धर्मों के शासकों के आधिपत्य में रहा है। तब भी उसने अपनी विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा का अलग से ही विकास किया है, जिसका प्रमाण उड़ीसा के वास्तुकला, मूर्त्तिशिल्प, नृत्य, नाटक, संगीत, चित्रकला आदि विधाओं में सहज परिलक्षित होता है। इस सन्दर्भ में जब हम ओड़िसी नृत्य—जो कि अपने लालित्य और आकर्षक मुद्राओं के कारण अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्राप्त कर चुका है—के सम्बन्ध में विचार करते हैं, तो हमें पता चलता है कि दो हजार वर्ष पुराने अत्यन्त परिष्कृत ओड्रनाट्य की परम्परा से यह नृत्य अलग नहीं है।

नृत्य-परम्परा :

भारत के विभिन्न भागों की तरह उड़ीसा में भी नृत्य-विद्या भक्तिपरक-जीवन की अभिव्यक्ति का साधन रही है। धर्म का रूप जब सुचारू पूजा-पद्धति और आचरण में बदल जाता है, तब उस स्थिति में नृत्य का परिष्कार होता है। पवित्र नृत्य के आरम्भिक उदाहरण शिल्पकला में मिलते हैं। इस सम्बन्ध में खंडगिरि और उदयगिरि के शिलालेखों में उल्लेख दृष्टव्य हैं। उदयगिरि के जैन गृह-मंदिरों के अग्रभाग में

नृत्य और संगीत के अनेक दृश्य अंकित हैं। हाथी गुम्फा के एक दृश्य में एक लड़की पुष्प अर्पित करती हुई नृत्य मुद्रा में उत्कीर्ण है। दूसरे दृश्य में स्त्री-पुरुषों का समूह चैत्य-वृक्ष के आसपास बाजे बजाते हुए भक्ति-भाव से नाचते-गाते दिखाया गया है।

सबसे प्रभावशाली दृश्य तो वह है, जिसमें राजा खारबेल अपनी दो रानियों सहित एक नर्तकी का कला-प्रदर्शन देख रहे हैं। नर्तकी अत्यन्त तीव्र-गति से नृत्य करती हुई एक मुद्रा में खड़ी हो गई है। कुमार स्वामी के अनुसार वह नृत्यशाला का एक दृश्य है। पूजा के अन्य दृश्यों में भक्तों का समूह पूजा में रत बताया गया है और नृत्य तथा संगीत में निपुण गन्धर्वगण बांसों पर बंधे तालवाद्यों को बजाते हुए उनमें घूम रहे हैं। उड़ते हुए विद्याधरों में लयात्मक गति है, और उनके करों में पूजा-पात्र हैं।

हाथीगुम्फा के शिलालेख से पता चलता है कि नृत्य उन दिनों मनोरंजन का साधन भी समझा जाता था। जैन सम्राट् खारबेल स्वयं एक अच्छे नर्तक और संगीतज्ञ थे। उन्होंने अपने राज्य-काल के तीसरे वर्ष लोगों के मनोरंजनार्थ नृत्य-संगीत का उत्सव आयोजित किया था।

मूर्त्तिकला से नर्तक एवं नर्तकियों का अंकन विद्वानों की दृष्टि से ई० पू० दूसरी शताब्दी में हुआ। मानवीय नृत्य के सर्वाधिक प्राचीन उदाहरण इन्हीं कृतियों में मिलते हैं। यदि यह धारणा ठीक है, तो उड़ीसा को भारत में नृत्य-विषयक सर्वाधिक प्राचीन प्रमाण प्रस्तुत करने का श्रेय प्राप्त है।

दुर्भाग्य से खारबेलों के पतन के बाद उड़ीसा का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास महायान बौद्धशाखा के उदय तक अन्धकार में रहा। स्वाभाविक है कि इस काल में नृत्य के समुचित प्रमाण नहीं मिलते। छठी शताब्दी तक यही स्थिति बनी रही, मगर जब हम प्राचीन बौद्ध-कालीन अवशेषों से परिचित होते हैं तो हमारी आंखों के आगे का पर्दा हट जाता है। इस धर्म ने केवल वास्तुकला और मूर्त्तिकला की उत्कृष्टता में ही अपने को अभिव्यक्त नहीं किया, बल्कि नृत्य और संगीत को भी कलात्मक ऊंचाई दे कर असंख्य अनुयायियों और संरक्षकों को उपलब्ध करने में सफलता पायी। उड़ीसा में महायान बौद्धधर्म ने सामाजिक और धार्मिक-जीवन में मानवीय आदर्शों की स्थापना की तथा साहित्य, कला और वास्तुशिल्प के माध्यम से उन्हें उत्कर्ष प्रदान किया। इसलिए बौद्ध-भिक्षुओं और अनुयायियों के लिए नृत्य वर्जित-विषय नहीं था। मानवीय आदर्शों की प्राप्ति के लिए उसमें नृत्य मुक्ति का साधन भी माना गया। कहा जाता है, स्वयं भगवान बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षुक-गण नृत्य करते थे।

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत केवल प्रेमाभिव्यक्ति के लिए ही नृत्य की उपयोगिता नहीं समझी गयी । नृत्य में शक्ति और सौन्दर्य की निहिति का आभास उसने स्वीकार किया था । नृत्य द्वारा देवी-देवताओं का इन्हीं गुणों के हेतु आह्वान सम्भव समझा गया । रत्नागिरि में मानव-मुंडों की माला पहने एवं खट्वाङ्ग पकड़े नृत्य करते हुए हेरुका अद्‌भुत् शक्ति का परिचय देता है । चोद्वार में वज्र-वाराही, वज्र-तर्जनी एवं कोरोटा थामे नशे में धुत्त होकर नाचते-नाचते अपनी निरावरण देह, वासनांगों एवं बिखरे हुए बालों का मुक्त रूपेण प्रदर्शित करती है । आह्लादित मारिची, रत्नागिरि, अयोध्या, खिचिंग, उड़ला और अस्तारंगा में अपने रथ पर नृत्य करती है । उसके आस-पास अन्य अनेक नर्तकियां है । उसने अपने अंगों पर आभूषण पहने हैं और उसका रूप कुमारी लड़की के सौन्दर्य की भांति दमक रहा होता है । उदयगिरि की गंगा बहुत लयात्मक नृत्य-मुद्राओं द्वारा गंगा के बहने का भाव व्यक्त करती हैं । ललित-गिरि में अपराजिता बड़ा ही लालित्यपूर्ण नृत्य करती है । उसके बांये हाथ की तर्जनी उठी हुई है तथा दायें हाथ में पुष्प लिए वह विशिष्ट मुद्रा को व्यक्त करती है । इस प्रकार के अनेक उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि,बौद्धधर्म में नृत्य सौन्दर्याभिव्यक्ति का साधन ही नहीं, आत्मिक ऊंचाइयों की उपलब्धियों का भी माध्यम माना जाता था ।

उड़ीसा का सबसे पुराना हिन्दू मंदिर भुवनेश्वर का शिव मंदिर है, जिसका निर्माण ७वीं शताब्दी ई० में किया गया था । इस काल में नृत्य के प्रचार का प्रमाण, नृत्य करती हुई अनेक शिव-प्रतिमाओं में मिलता है । भारतेश्वर मंदिर में हमें दश-भुजा-नटराज की प्रतिमा मिलती है । यह प्रतिमा मंदिर के प्रवेश-द्वार पर उत्कीर्ण है । नटराज की अन्य प्रतिमाएं आलों में रखी देखी जाती हैं । भुवनेश्वर के अनेक प्रमुख मंदिरों में नटराज की मूर्त्तिया मंदिर के महत्त्वपूर्ण भागों—द्वार, आले, जालियों ऊंची दीवारों—पर देखी जाती हैं । मगर उड़ीसा की यह मूर्त्ति दक्षिण भारत की सुप्रसिद्ध नटराज की कांस्य-प्रतिमा के समान कतई नहीं है । दक्षिण की प्रतिमा वामनासुर के ऊपर नृत्य करती है । उसका बायां पैर जमीन से उठा हुआ, दायें पैर की ओर झुका होता है । उड़ीसा की नटराज प्रतिमाएं कई रूपों में कई हाथों से कोरी गई हैं । मंदिरों के अग्रभाग में लगी कई प्रतिमाएं दशभुजाओं वाली हैं । राजरानी (१०वीं शताब्दी ई०), मुक्तेश्वर (१०वीं शताब्दी ई०), लिंगराज और पुरी मदिरों में नटराज की सभी मूर्त्तियाँ छः भुजाओं वाली हैं । अधिकांश रूप में इन प्रतिमाओं में पैर शुचिपाद अवस्था में, शरीर की मुद्रा अञ्चिता, ललिता या करहस्त-करण तथा पृष्ठ भाग बाईं या दाईं ओर पसरा हुआ मिलता है । यही मूर्त्तियां प्रायः नंदी पर

नृत्य करती हुई अवस्था में हैं (जैसा कि पुरी या खिचिंग में है) या उन्हें हम दोनों पैरों पर आसन पर खड़े पाते हैं । 'कथासरित्सागर' और अन्य धार्मिक-ग्रन्थों में वर्णित भगवान शंकर की सान्ध्य-तांडव-मुद्रा को जगन्नाथ मंदिर के भोग-मंडप में शिल्पियों द्वारा बहुत कलात्मक रूप में उकेरा गया है । इसमें शिव नदी पर नृत्य करते दिखाये गये हैं । इसी दृश्य में ब्रह्मा मृ ंदग, विष्णु मंजीरा और नारद वीणा बजाते हैं । भगवान शंकर के इस अद्भुत् नृत्य को देखने वालों में गन्धर्व और विद्याधरों को भी अंकित किया गया है ।

नटराज की ये समस्त प्रतिमाएं इस बात को प्रमाणित करती हैं कि उड़ीसा में १०वीं शताब्दी तक नृत्य की एक शास्त्रीय शैली विद्यमान थी । केवल नटराज की मूर्त्तियां ही नहीं, भुवनेश्वर, पुरी और कोणार्क के मंदिरों की दीवारों पर भी नृत्य की असंख्य मुद्राएं ओड़ीसी नृत्य-परम्परा के निजी रूप की पुष्टि करती हैं ।

जगन्नाथ पुरी के मंदिर (११वीं शताब्दी) में हमें नटराज और गणेश की अनेक नृत्य-प्रतिमाएं मिलती हैं । भोग-मंडप में कृष्ण भी अनेक रूपों में अंकित हैं । मुख्य मदिर के अलावा उसके आसपास के अनेक मंदिरों में विविध नृत्य-रूपों को प्रस्तरों में उकेरा हुआ हम पाते हैं । कोणार्क के सूर्य मंदिर में, जो कि पूर्व के वास्तुशिल्प का उत्कृष्ट नमूना है, नृत्य की सैकड़ों मुद्राएं कोरी गई हैं । इन्हें हम मंदिर के ऊंचे भागों तक लगा हुआ देखते हैं । नाथ मंदिर के प्रांगण और उसकी अनेक दीवारों पर भी इन भाव-मुद्राओं के दर्शन होते हैं । इस मंदिर के हर भाग में नृत्य करती हुई युवतियां और वाद्य बजाते संगीतज्ञ उत्कीर्ण किये हुए हैं ।

नृत्य-कन्याओं का पवित्रीकरण :

ऐसा प्रतीत होता है कि उड़ीसा में संगीत और नृत्य का विकास शैवमत और मंदिरों की अभिवृद्धि के साथ क्रमशः अनिवार्य अनुष्ठान के रूप में हुआ । अनेक स्मरणात्मक शिलालेखों से ज्ञात होता है कि उड़ीसा के सभी प्रमुख मंदिरों में नृत्यकन्याएं हुआ करती थीं । भुवनेश्वर के ब्रह्मेश्वर मंदिर के एक पुरातन अभिलेख से पता चलता है कि केसरी राजा उद्योत की माता, कलावती ने शिव मंदिर बनवाया था और उसके लिए असंख्य नृत्य-कन्याएं समर्पित की थीं ।

१२वीं शताब्दी के लगभग भुवनेश्वर का महेश्वर मंदिर बना था । उसमें उपलब्ध एक शिलालेख में नृत्य-कन्याओं के सम्बन्ध में एक सुन्दर वर्णन प्राप्त है—

'जिनकी पलक-कोरों में समस्त संसार को मोहित करने का सारतत्त्व समाहित है,

जिनकी प्रत्येक भंगिमा में त्रिलोक की समस्त चेतना को बांध सकने का सामर्थ्य है, जिनके अमूल्य रत्नों से जड़े हुए कंगन, नृत्य के समय विच्छिन्न दीप-मालिकाओं की तरह लगते हैं, हे शिव शंकर ! ऐसी मृगनयना नर्तकियां भक्ति-भाव से आपको अर्पित हैं।'

इस तरह के अभिलेख शोभनेश्वर, अनन्त बासुदेव, जगन्नाथ और गोपीनाथपुर के मंदिरों में भी मिले हैं।

ओड़िसी नृत्य-शैली :

यद्यपि हम शिलालेखों तथा अन्य विविध प्रमाणों के आधार पर यह नहीं कह सकते कि उड़ीसा में मौलिक एवं शास्त्रीय नृत्य-शैली विकसित हो गयी थी, मूर्त्ति-शिल्प में प्राप्त असंख्य नृत्य-मुद्राओं और भारतीय नृत्य के सम्बन्ध में प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित सामग्री से हम केवल इस धारणा के निकट भर अवश्य पहुंच जाते हैं कि इस प्रदेश की निजी नृत्य-शैली अवश्य रही है। प्राचीन-काल में नृत्य-कला का सम्बन्ध मूर्त्ति-शिल्प और चित्रकला से अलग नहीं था। भारतीय चित्रकला के एक प्राचीन ग्रन्थ 'चित्र-सूत्र' में इस बात का सुझाव दिया गया है कि चित्रकार को अपने चित्र-कर्म के लिए नृत्य-कला से भी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। मगर प्रश्न यह है कि वह कौन-सी विशेष नृत्य-शैली थी, जो शताब्दियों से उड़ीसा में प्रश्रय पाकर विकसित हुई ? वास्तव में वह शैली 'ओड़िसी' ही थी। 'ओड़िसी' का मतलब वह वस्तु या पदार्थ है, जिसका सम्बन्ध ओड़िसा या उड़ीसा से है। सम्भवतः उड़िया लोगों ने शास्त्रीय-नृत्य की इस परम्परा को स्थायी महत्त्व प्रदान करने के लिए उसे जनपदीय नाम से सम्बोधित करना उचित समझा होगा। किन्तु यही वास्तविकता नहीं है। ओड़िसी-नृत्य ने ओड्र-नृत्य की प्राचीन परम्परा से अपना यह नाम प्राप्त किया है। १५वीं शताब्दी में महेश्वर महापात्र द्वारा ओड़िसी-नृत्य के सम्बन्ध में रचित ग्रन्थ 'अभिनय-चंद्रिका' में इस शैली को ओड्र-नृत्य ही कहा है।

आरम्भिक सन्दर्भ :

इस शास्त्रीय कला का सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख भरत के 'नाट्यशास्त्र' में मिलता है। इस महत्त्वपूर्ण प्रबन्ध में भारत में प्रचलित चार प्रमुख नृत्य-शैलियों का उल्लेख किया किया गया है। ये शैलियां हैं—अवंति, दक्षिणात्य, पांचाली और ओड्र-मागधी। भरत ने स्पष्ट उल्लेख किया है कि ओड्र-मागधी नृत्य-शैली ओड्र, कलिंग, बंग, नेपाल तथा भारत के कुछ पूर्वी राज्यों में प्रचलित थी। इन्हीं जनपदों में यह विकसित हुई। किन्तु

अन्य किसी भी जनपद में आगे चलकर हमें इस शैली के प्रचलित होने के प्रमाण नहीं मिले, सिवाय ओड्र और कलिंग के। शताब्दियों पीछे 'अभिनय-चंद्रिका' के रचयिता ने लिखा कि भारत में नृत्य की सात शैलियां थीं—मागधी, शौरसेनी, कर्नाट, केरल, गौड़, पंचनद और ओड्र। इससे हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि 'भरत-नाट्यम्' कर्नाटक शैली का ही रूप है तथा 'कथकली' केरल का और स्पष्टतः, 'ओड़िसी' ओड्र-शैली का रूप है। मगर अन्य शैलियों से इस शैली का पारस्परिक सम्बन्ध क्या रहा है, इस पर विचार करने के लिए हमारे पास उपयुक्त सामग्री का अभाव है।

देवदासी :

ओडिसी-नृत्य का इतिहास व्यापक रूप से उड़ीसा के प्रायः समस्त प्रमुख मंदिरों में नृत्य करने वाली देवदासियों से सम्बन्धित है। इस बात के ऐतिहासिक प्रमाण प्राप्त हैं कि उड़ीसा में 'माहारी' के नाम से पहचानी जाने वाली नृत्य-कन्याएं सबसे पहले १२वीं शताब्दी के प्रारम्भ में शक्तिशाली गंग-राजाओं द्वारा पुरी के जगन्नाथ मंदिर में अर्पित की गई थीं। चौड़ गंगदेव अपने समय का सबसे अधिक शक्तिशाली शासक था। वह कला और वास्तुशिल्प का संरक्षक था। कहा जाता है कि जगन्नाथ का प्रसिद्ध मंदिर उसी ने बनवाया था। इसी शासक ने देवता की आनुष्ठानिक सेवाओं के लिए कई 'माहारी' नर्तकियों को मंदिर में रखने की परम्परा डाली। गंगों के पतन के पूर्व राजराजदेव ने जगन्नाथ मंदिर के लिए बीस नृत्य-कन्याओं की नियुक्ति की थी।

इन्हीं नृत्य-कन्याओं ने लम्बे समय तक 'ओड़िसी-नृत्य' को विशुद्ध रूप में जीवित रखा। समाज में इन देवदासियों का मान था। इनकी परिचर्या के लिए कई व्यक्ति नियुक्त होते थे। १६वीं शताब्दी में, उड़ीसा के तात्कालीन राजा प्रतापरुद्रदेव के वैष्णव-मार्गी मंत्री राय रामानन्द ने अड़िसी-नृत्य-शैली के विकास में बहुत रुचि ली। उसे ओड़िसी-नृत्य और संगीत का उद्धारक माना जाता है। 'श्रीकृष्ण चरितामृत' में उल्लेख है कि वह न केवल अभिनय-कला में निपुण था, बल्कि मंदिरों में नृत्य करने वाली देवदासियों को नृत्य और संगीत का अभ्यास भी करवाया करता था। चूंकि राय रामानन्द अपना अधिकांश समय नर्तकियों के साथ, उन्हें संगीत, नृत्य, नाट्य में शिक्षा देने में व्यतीत करता था, इसलिए चैतन्यदेव के शिष्यों ने उसके चरित्र पर संदेह किया। किन्तु स्वयं चैतन्यदेव ने राय रामानन्द के वैष्णव-धर्म और दर्शन सम्बन्धी प्रगाढ़ ज्ञान तथा साहित्य, नृत्य, नाटक, संगीत में उसकी अद्‍भुत् गति की स्पष्ट शब्दों में सराहना की। उन्होंने उसके सादे जीवन को भी सराहा था।

गोतिपुआ :

राय रामानन्द और श्री चैतन्य के पश्चात् वैष्णवों ने स्त्रियों द्वारा इस नृत्य का किया जाना पसन्द नहीं किया। उन्होंने सखी-भाव की शिक्षा दी और एक अलग ही पंथ को जीवन में स्वीकार किया। सखी-भाव में भक्त स्वयं को स्त्री मानकर कृष्ण के प्रति समर्पित होता है। इस पन्थ ने लड़कियों की अपेक्षा लड़कों को नृत्य में उतारा, जिन्हें 'गोतिपुआ' कहा जाता था, ये लड़के पूजा-उत्सवों के अवसर पर लड़कियों का वेश बनाकर देवता के समक्ष नाचा करते थे। इन्हीं लड़कों के माध्यम से ओड़िसी-नृत्य मंदिर से बाहर आकर जनता के बीच प्रचार में आया। इसी काल में वैष्णव-कवियों ने कृष्ण की आराधना में असंख्य गीतों की रचना की और वैष्णवों ने 'गोतिपुआ' की नृत्य-शैली को वैष्णव-धर्म और दर्शन के प्रचार का माध्यम बनाया, क्योंकि ये नर्तक-बालक नृत्य के साथ पदों का गान भी करते थे।

१६वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में उड़ीसा की स्वतन्त्रता समाप्त हो गयी। उसे क्रमशः भोई, पठानों, मुगलों, मराठों और अन्त में अंग्रेजों के आधीन रहना पड़ा। चूँकि काफी समय तक उड़ीसा का राजनैतिक-जीवन अस्तव्यस्त रहा था, इसलिए लोगों का धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन भी संयत नहीं रह पाया। परिणाम-स्वरूप उड़ीसा की समृद्ध कलाएं अवनति को प्राप्त होने लगीं। यद्यपि मन्दिरों में देवदासियों की परम्परा बनी हुई थी, किन्तु भ्रष्टाचार के कारण समाज में उन्हें अब नीची नजर से देखा जाने लगा था। इन देवदासियों में कला के प्रति गहरा लगाव भी अब नहीं रहा था। इससे कला की उदात्तता क्षीण होना स्वाभाविक ही था। 'गोतिपुआ' नृत्य पर कालान्तर में सखी-नाच का बुरा प्रभाव पड़ा। उसकी लालित्यपूर्ण मुद्राएं वासनात्मक हाव-भावों में बदल गयीं। सखी-नाच में वस्तुतः निकटवर्ती जनपदों की देवदासियों के उन्मत शृङ्गारिक-नृत्यों का ही विकृत-प्रभाव लक्षित हुआ।

ओडिसी-नृत्य इस प्रकार अपने विशुद्ध रूप से कई मार्गों से क्षीण होता गया और उसका सच्चा कलात्मक रूप क्रमशः लुप्त होने की अवस्था तक पहुंच गया। इसी बिन्दु पर आकर इस नृत्य-शैली को पुनः प्रतिष्ठित करने के प्रयास प्रकट हुए। आज जिस रूप में हमें ओड़िसी-नृत्य देखने को मिलता है वह उड़ीसा की कुछ युवा नृत्यकला निपुणाओं के अथक परिश्रम का फल है। फिर भी हम 'माहारी' और 'गोतिपुआ' के आभारी हैं कि इन्होंने ओडिसी-शैली को नष्ट होने से बचाये रखा।

शैली-शिल्प :

ओडिसी-नृत्य में अनेक मुद्राएं विद्यमान हैं। जिन सिद्धान्तों के आधार पर इस

नृत्य-शैली का निर्वाह किया जाता है, उनका वर्णन भरत के 'नाट्यशास्त्र', नंदीकेश्वर के 'अभिनय दर्पण' और महेश्वर महापात्र के 'अभिनय चंद्रिका' ग्रन्थों में किया गया है। 'अभिनय चन्द्रिका' में केवल ओड़िसी-नृत्य के सम्बन्ध में कुछ अधिक शिल्पगत विवरण प्राप्त हैं। इस ग्रन्थ की रचना १५वीं शताब्दी में हुई थी और इसका रचयिता उड़ीसा के दक्षिण में खेमुंडी राज्य के राजा श्री मन्नारायण देव की सभा में था। कुछ विद्वानों का अनुमान है यह नारायण देव परलाखेमुंडी का राजा था, जो १७वीं शताब्दी में हुआ। उसी के संरक्षण में 'अभिनय-चंन्द्रिका' की रचना हुई होगी। यद्यपि यह ग्रन्थ भरत के नाट्यशास्त्र की तरह विद्वत्तापूर्वक लिखा गया ग्रन्थ नहीं है, फिर भी जहां तक ओड़िसी-नृत्य के शिल्प का सम्बन्ध है, इसमें उसका विस्तृत वर्णन अवश्य प्राप्त है।

अनूठी शैली :

ओड़िसी अत्यन्त ही अनूठी नृत्य-शैली है। इसमें नृत्य के सिद्धान्तों का कड़ाई से पालन किया जाता है। जिस प्रकार इस नृत्य ने उड़ीसा के मूर्त्ति-शिल्पियों को असंख्य नृत्य-प्रतिमाओं के निर्माणार्थ आन्तरिक प्रेरणा दी, उसी प्रकार कालान्तर में ओड़िसी नृत्य की भाव-भंगिनाओं में भी मूर्तियों की नृत्य-भंगिमाओं की अनुरूपता के दर्शन होते हैं। अधिकांशतः में ये नृत्य-भंगिमाएं हिन्दू मूर्त्तिशिल्प के 'त्रिभंग' सिद्धान्त पर आधारित हैं। यह भंगिमा नारी-देह की त्रिभंगिमा के समान है। पहली भंगिमा पैरों पर पैर रखकर खड़े होने में, दूसरी कमर के पास और तीसरी सिर के बायें ओर झुकाने में परिलक्षित होती है। यह त्रिभंगी मुद्रा प्रायः सभी नृत्य-कन्याओं के अंगों में देखी जाती है। इतना ही नहीं ओड़िसी-नृत्य के शुद्ध शृङ्गारपरक भावों में, जहां किसी आशय को व्यक्त करने की गुंजाइश नहीं होती, मुद्राओं या भंगिमाओं को ही अधिक महत्त्व दिया जाता है। उसमें अंगों के वलय और नृत्य करने का ढंग भी लक्ष किया जाता है। पद-संचालन में कमनीयता और लयात्मकता होती है। ये सब मिलकर ओड़िसी-नृत्य को अपरिमित सौन्दर्य और मोहिनी से अनुरंजित करते हैं, जो कि उसके लिए अनिवार्य हैं।

यद्यपि ओडिसी प्रमुख रूप से लास्य-नृत्य है, किन्तु उसमें ताण्डव के तत्त्व भी मिलते हैं ताण्डव के ये शक्ति-तत्त्व ओड़िसी-नृत्य में शैव-सम्प्रदाय की नृत्य-शैली के सम्पर्क से प्रविष्ट हुए, जो कि संभवतः ८वीं शताब्दी से १०वीं शताब्दी के बीच विकसित हुई थी। मुक्तेश्वर के मन्दिर में हमें ताण्डव-नृत्य करती हुई दो स्त्री-प्रतिमाएं

मिलती हैं। इसी प्रकार की कुछ नृत्य-प्रतिमाएं जगन्नाथ के मन्दिर में भी उपलब्ध हैं।

सारलादास की उड़िया महाभारत में, जो कि १५वीं शताब्दी में लिखी गई, ताण्डव-नृत्य करती हुई युवतियों के कई उल्लेख आये हैं। इस प्रकार 'ओड़िसी' में दोनों शैलियों का समावेश हुआ है। इसकी अनुरूपता कौशिकी-वृत्ति से की जा सकती है। नृत्त और नृत्य दोनों का समन्वय कुशलता से ओड़िसी में मिलता है। ये दोनों अभिनय के चारों आंगिक, वाचिक, आहार्य और सात्त्विक—रूपों का यथोचित प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः 'ओड़िसी' अभिनय से शून्य नहीं है।

नृत्य-स्वरूप :

ओड़िसी-नृत्य की मूल भावना धर्मगत है। वह आध्यात्मिकता और सौन्दर्य दोनों से अभिसिंचित है। अतएव ओड़िसी का प्रत्येक अंग मूलतः भक्ति-भावना का व्यञ्जक है। इसकी परम्परा जैसा कि बताया गया, नृत्य और नृत्त दोनों के संयोग से जुड़ी है; अतः इसके हर नृत्यांग में उसका मिला-जुला आभास स्पष्ट उभर कर आता है। एक दशक पूर्व ओड़िसी एक लम्बा कार्यक्रम मात्र था, जिसमें नृत्य की अनेक भंगिमाएं इस तरह जुड़ी थीं कि अंत में वह चरमोत्कर्स पर पहुंचता था। सुविधा के लिये इस प्रदीर्घ नृत्य-शृङ्खला को विविध अंगों में बांट दिया गया। हर भंगिमा के पीछे शास्त्रीय सिद्धान्त का ध्यान रखा गया। उसकी समस्त मुद्राओं, पदगतियों और गत्यात्मक आवर्तों का यथाविधि भेद-प्रभेद किया गया और उन्हें नृत्य के नियमों में बांधा गया। नाटकीय मुद्राओं में भावों की अभिव्यक्ति विशुद्ध और परम्परात्मक है। संगीत मधुर और लयात्मक होता है। शास्त्रीय रागों का यथाविधि प्रयोग स्पष्ट है। प्रत्येक पद, नृत्य के समय, विशेष राग और ताल के साथ गाया जाता है। पदों के रचयिताओं द्वारा अपनी कृतियों को अपेक्षित रागों में गाने के लिए यथेष्ट संकेत दिये होते हैं। नृत्य के साथ मर्दला (पखावज), गीनि, मंजीरा, और बांसुरी का प्रयोग किया जाता है। कभी-कभी बांसुरी के स्थान पर इन वाद्यों के साथ वायलन का उपयोग इधर होने लगा है। ओड़िसी—नृत्य के विभिन्न अंगों के नाम हैं—मंगलाचरण, बाटु-नृत्य, पल्लवी, अभिनय और मोक्ष-नाट।

मंगलाचरण प्रारम्भिक नृत्य है, जो कि वस्तुतः आह्वान के रूप में दिया जाता है। इसके द्वारा वाद्यों की संगति में नर्तकी श्लोकों के माध्यम से पृथ्वी, गणपति, गुरु और दर्शक की वंदना करती है।

बाटु-नृत्य विशुद्ध नृत्य है, जो कि ओड़िसी-नृत्य का सर्वाधिक कठिन अंश है।

इसका प्रारम्भ वास्तुकला में प्राप्त (उत्कीर्ण) कारी हुई मूर्त्तियों की नृत्य-भंगिमाओं के प्रदर्शन से होता है। वीणा-वादिनी, मृदंग वादिनी, बांसुरी और मंजीरा-वादकों की अभिनय-मुद्राएं भी इसमें सम्मिलित होती हैं। बाटु-नृत्य में कोई गीत या पद नहीं होता, सम्पूर्ण नृत्य तालबद्ध सगीत के सहारे चलता है।

पल्लवी अत्यन्त सुन्दर अंश होता है। इसमें गीतात्मकता दृष्टव्य है। पल्लवी का तात्पर्य विस्तारण से है। मगर यह केवल नृत्य विस्तार से ही सम्बन्धित नहीं, बल्कि संगीत से भी उसी तरह सम्पृक्त है। इसकी गतियां अत्यन्त सुदृढ़ और गीतात्मक हैं; उसी तरह इसके साथ बजने वाला संगीत होता है। नर्तकी नेत्रों के संचालन और भौहों की गतियों से शुरूआत कर क्रमशः परम्परागत मुद्राओं और वृत्तों के रूप में सम्पूर्ण नृत्त की सृष्टि करती है।

अभिनय यह वस्तुतः व्याख्या परक नृत्य है, जिसके द्वारा गीत के भाव और अर्थ का प्रेषण दर्शक के हेतु किया जाता है। प्राचीन कवियों के पदों के आधार पर इस नृत्यंग की रचना की जाती है। एक दृष्टि से यह काव्य-रचना का नृत्यमय रूप कहा जा सकता है। अभिनय में प्रयुक्त अनेक पद राधा और कृष्ण सम्बन्धी होते हैं। जयदेव के 'गीत गोविन्द' से अवश्य कोई न कोई अंश इसके लिए चुना जाता है। अन्य कवियों के पदों को भी इसमें समाहित किया जाता है। इनमें प्रायः मध्यकालीन उड़िया कवि उपेन्द्रभंज, बनमालीदास, कविसूर्य बलदेव रथ और गोपाल कृष्ण पटनायक के गेय पदों को प्रयोग में लाया जाता है,

मोक्ष-नृत्य : ओड़िसी-नृत्य का अंतिम अंग होता है। मोक्ष अर्थात् आत्मा का ब्रह्म में विलीन होना। नृत्य इसी भावना को उत्कर्ष देकर ओड़िसी की श्रृङ्खला को पूरा करता है। मोक्ष-नृत्य विशुद्ध नृत्त है। इसकी गति तीव्र होती है। मर्दला पर घटित तालों के अनुसार गमकाते हुए नृत्य के बोल नर्तकी-नृत्य को उत्कर्ष देते हैं। इसमें संगीत नहीं होता, केवल ताल मात्र ही 'पहापत' या 'झूला' में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

उपसंहार :

ओड़िसी नृत्य के पुनरुद्धार के लिए किये गये आरम्भिक प्रयत्नों में यद्यपि तनिक मत-भेद हुए, परन्तु शीघ्र ही भारतीय शास्त्रीय नृत्यों की प्रमुख शैलियों में ओड़िसी का अपना स्थान बन गया। श्रीमती इंद्राणी रहमान, यामिनी कृष्ण मूर्त्ति, रीता देवी, सोवल मानसिंह, सुजाता पाणिग्राही, कुंकुमदास और कई अन्य नृत्य-निपुणाओं ने अपने

प्रदर्शन द्वारा समस्त विश्व में ओड़िसी के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में बड़ा योग दिया। उड़ीसा में इस नृत्य-शैली को सिखाने के लिए कई केन्द्र हैं। इन केन्द्रों के अतिरिक्त नयी दिल्ली में पाँच गुरुजन विभिन्न केन्द्रों में अनेक कलाकारों, जिनमें कुछ विदेशिनियां भी हैं, इस नृत्य शैली की शिक्षा दे रहे हैं। विदेशिनियों में, जो इस नृत्य को बड़ी कुशलता से अपना सकीं, फ्रेड्रिका (अमेरिका), ऐन मेरिया गेस्टन (कनाड़ा), मिराथा बेरवी (अर्जेन्टाइना) तथा स्टिफनी लिलिवेल्ड (अमेरिका) के नाम उल्लेखनीय हैं। ओड़िसी नृत्य के गुरुओं में श्री केलुचरण महापात्र, श्री पंकज चरण दास और श्री मायाधर राउत प्रमुख हैं।

ओड़िसी नृत्य उड़ीसा के बहुमूल्य सांस्कृतिक वैभव का महत्त्वपूर्ण पक्ष है। सदियों से इसमें अनेक ललित-तत्त्वों का क्रमशः समावेश होता गया, जिससे कि अन्त में जाकर ओड़िसी-नृत्य भारतीय कला की एक महत्त्वपूर्ण और अनूठी धरोहर सिद्ध होने में सफल हुआ।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

उड़ीसा की चित्रकला और भित्तिचित्र

विनोद राउतराय

प्राचीन स्मारकों की दृष्टि से समूचे भारत में कलाप्रिय उत्कलों की भूमि उड़ीसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज भी इस क्षेत्र में प्राप्त अनेक स्मारक अपने पूर्ववत् रूपों में अक्षुण्ण हैं। किन्तु इस सन्दर्भ में उड़ीसा के परम्परागत चित्रों का उचित और स्तरीय मूल्यांकन अभी नहीं हुआ। पुरातन काल से ही उड़ीसा में चित्रकला की परम्परा और उसकी अपनी विशेषताएं रही हैं। स्पष्टतः इनका सम्बन्ध जनपदीय चित्रांकन-शैली से जोड़ा जा सकता है। प्रमाण-स्वरूप पुराणों, काव्यों, कला-कृतियों, अभिलेखों और जगन्नाथ मंदिर की 'मादला पांजि' में इसके अनेक उल्लेख उपलब्ध हैं। मूर्त्तिकला की भाँति चित्र तो अधिक समय तक सुरक्षित नहीं रह पाते। इसी कारण प्रायः प्रागैतिहासिक काल से आगे तक प्राचीन चित्रों के प्रमाण प्राप्य नहीं हैं। ई० पू० दूसरी शताब्दी की कुछ रंगीन मूर्त्तियां भुवनेश्वर के निकट खंडगिरि की गुफा में मिली हैं। अनुमान किया जाता है कि उनमें श्यामल, लोहित और पीत-वर्णों का प्रयोग किया होगा। खारबेल-काल की यही एक उपलब्धि है। उस काल का एक प्रसिद्ध अभिलेख इस बात को सिद्ध करता है कि खारबेल राजा को साहित्य और और संस्कृतियों की विविध विधाओं के साथ कला (रूप विद्या) के प्रति भी गहरा लगाव था। कुछ अंशों में चित्रकला के कतिपय उपयोगी प्रमाण हमें शिशुपाल की खुदाई में प्राप्त मृत्तिका-पात्रों में भी मिलते हैं, पर उन्हें ई० पू० पहली शताब्दी के

पहले का स्वीकार नहीं किया जा सकता।

भित्ति-चित्र :

उड़ीसा में भित्ति-चित्र का पता कुछ वर्षों पहले केउंभर जिले के सीताभिजी स्थान में चला। १९४९ ई० में स्वर्गीय डॉ. कैलाशनाथ काटजू की प्रेरणा से कलकत्ता के कला विद्यालय के तत्कालीन प्राचार्य स्वर्गीय रमेन्द्रनाथ चटर्जी तथा ललितकला अकादमी, उड़ीसा के तत्कालीन उपसभापति स्वर्गीय गोपाल कानूनगो ने उस भित्ति-चित्र की प्रतिलिपि बनायी। यह प्रतिकृति कलकत्ता के कला-संग्रहालय में सुरक्षित है। यह चित्र उड़ीसा की उस पुरानी चित्रांकन-पद्धति का परिचायक है, जो भंज के समय प्रचार में थी। चित्र अपने मूल रूप में एक विचित्र चट्टान, जिसे 'रावण-छाया' कहते हैं, में छत के नीचे काटे गये सपाट स्थान पर अंकित है। यह जगह नदी के तट पर स्थित है। हवा और मौसम से चित्र का रूप बदल गया है। जो कुछ शेष है, उसमें जलूस का एक दृश्य है और दृश्य के नीचे महाराज दिशाभंज का उल्लेख है। यह चित्र अजंता के चित्रों के समय का लगता है। सम्भवतः ई० सन् की ८वीं शताब्दी में इसे बनाया गया होगा। राष्ट्रीय संग्रहालय के निर्देशक श्री सी. रामशिवमूर्त्ति के शब्दों में–'यह चित्र उड़ीसा में प्राप्त सर्वाधिक प्राचीन चित्र है, जिसे भारत की किसी एक पुरातन चित्र-कला-शैली से सम्बन्धित माना जा सकता है[1]।' इसके अतिरिक्त जगन्नाथ के मन्दिर में भी कुछ भित्ति-चित्र हैं, जिनसे हमें तात्कालीन वेष-भूषा, सामाजिक रीति-रिवाजों और आभूषणों का पता चलता है।

जगन्नाथ के मन्दिर में अंकित चित्र अपनी रचना-प्रक्रिया में एक भिन्न शैली का परिचय देते हैं। उनकी संरचना, रंग-योजना और सज्जा कुछ अंशों में दाक्षिणात्य चित्र-शिल्प से प्रभावित है। उड़िया कलाकार इस सम्बन्ध में दक्षिण-भारतीय चित्रकारों की तरह ही यथार्थ को देखते थे। राजा नरसिंह देव ने जगन्नाथ के मन्दिर को सजाने के लिए सबसे पहले परम्पराशील चित्रकारों को ही नियुक्ति किया था 'मादला पंजि' में इस बात का उल्लेख आया है कि किसी पीताम्बर पटनायक ने महालक्ष्मी मन्दिर और गुण्डिया-गृह के जगमोहन को भी चित्रित किया था। यह चित्र गजपति कपिलेन्द्र देव के समय का है। प्राचीन भारतीय चित्रकला की दो शैलियाँ—विधा-चित्र और अविधा-चित्र—बताई जाती हैं। विधा-चित्र ग्राम जीवन के चित्रों को अंकित करने से सम्बन्धित है, जबकि अविधा-चित्र व्यक्ति की प्रतिकृति को यथावत् अंकित करने की

---

१. इण्डियन पेंटिंग, पृष्ठ ५०।

शैली है। उड़िया-साहित्य में व्यक्ति-चित्र बनाने के अनेक उल्लेख मिलते हैं। १८वीं शताब्दी के कवि सूर्यबल देव की कृति 'चंद्रकला' में एक पद आता है, जिसमें राजकुमारी चंद्रकला द्वारा विविध रंगों में अपनी माता का चित्र बनाने का वर्णन है। उस चित्र की सर्वत्र प्रशंसा होती है।

भारतवर्ष में कई स्थानों में चट्टानों को काट कर निर्मित गुफाओं में स्मारक बनाये गये। अजंता, बाघ और जोगीमारा की गुफाओं में कलात्मक दृष्टि से उत्कृष्ट कई भित्तिचित्रों की रचना हुई। उस समय तक श्रीलंका, चीन, हिन्देशिया और मध्यवर्ती एशिया में बुद्ध-धर्म का प्रभाव बढ़ गया था। इस देशों में इस समय बहुत से भित्ति-चित्रों का निर्माण हुआ। श्रीलंका की सिगिरिया गुफा और चीन की तुनहुम गुफा की कृतियां इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण हैं। अब तक कुछ गुफायें तो नष्ट हो गई हैं। पश्चिमी देशों की तुलना में इसकी रचना-पद्धति बिलकुल अलग है। प्रायः गुफा की दीवारें पहले सपाट बना ली जाती हैं और तत्पश्चात् 'फ्रेस्को सेको' पद्धति में लेप लगाकर उसे सुखा लिया जाता है। फिर 'टेम्प्रा' पद्धति में अपार-दर्शी रंगों में चित्र बनाया जाता है। भित्ति-चित्र की पृष्ठभूमि बनाने की एक पुरानी शैली भी रही है। श्रीलंका, नेपाल और अजंता की दीवारों पर प्राप्त रचना-पद्धति का रूप थोड़े-बहुत अंतर से एक ही है। शिल्पाचार्य नन्दलाल बोस ने अपने ग्रन्थ 'शिल्पचर्चा' में इसी पृष्ठभूमि बनाने के सम्बन्ध में तुलनात्मक सामग्री उपलब्ध की है। पश्चिमी-पद्धति के अनुसार भित्ति-चित्र की पृष्ठभूमि नम होती है और फिर उस पृष्ठभूमि पर पारदर्शी रंगों से चित्र बनाये जाते हैं। यही विश्वकोशों में वर्णित 'बोनो फ्रेस्को' पद्धति है। उसमें लिखा है—'ताजे लेप पर जलरंगों में अथवा दीवार पर या छत पर लेप के सूखने के पहले ही चित्र बनाने की क्रिया भित्ति-चित्र कहलाती है। सीताभिजी में प्राप्त भित्ति-चित्र सूखी पृष्ठभूमि पर अपारदर्शी रंगों में बनाया गया है। इस चित्र का अधिकांश अब काल-कवलित हो गया है। जो बचा है वह भी अच्छी हालत में नहीं है। लगभग छः प्रकार के रंग—पीला, गेरुआ, लाल, कत्थई, नीला और काला—इसमें प्रयुक्त किये गये हैं।

यह आशंका का विषय है कि इस उल्लेखनीय कृति के तत्काल बाद ही कलाकारों के हाथ क्यों रुक गये? उड़ीसा में इसका दूसरा उदाहरण कहीं भी नहीं मिलता। पिपिलिया नामक एक स्थान यहां से ६ किलोमीटर की दूरी पर है, अनुमान लगाया जाता है कि पहले वहां सात गुफाएं थीं, जिनमें भित्ति-चित्र थे। परन्तु अब इन गुफाओं में प्रविष्ट होना असम्भव है। नागार्जुन कोंडा में एक अभिलेख पाया गया है,

जिसके अनुसार पिपिलिया में चट्टाने काट कर सात 'अभ्रक' गुफाएं बनाई गई थीं।

परम्परागत शैली :

भारत एक महान देश है। इसी कारण यह महाद्वीप भी है। जिस तरह इस भूमि के लोग विविध भाषाएं बोलते हैं, उसी प्रकार इन लोगों की विभिन्न संस्कृतियां और सभ्यताएं हैं। मध्यकालीन चित्रकला के अंतर्गत हमें यहां अनेक शैलियां मिलती हैं। इनमें राजपूत चित्रकला, पहाड़ी चित्रकला, मुगल कला, लखनऊ चित्रशैली, कालीघाट और उड़िया चित्रशैली प्रमुख हैं। पूर्वी भारत की प्राचीन चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरण बंगाल, बिहार और उड़ीसा में मिलते हैं। उड़ीसा में शाबर, द्राविड़ और आर्य इन तीनों संस्कृतियों का परस्पर मेल हुआ है। इन्हीं की प्रवृत्तियों ने, अपनी विविध सांस्कृतिक विधाओं से, उड़ीसा की सांस्कृतिक परम्परा को संवारा है। उत्तर और दक्षिण भारत की सभ्यताओं का प्रभाव भी उड़ीसा के मन्दिरों, लिपि, साहित्य, चित्रकला, संगीत, नृत्य, धर्म और दर्शन पर भी कम नहीं है।

उड़ीसा की प्राचीन संस्कृति और सभ्यता को आर्य-संस्कृति का रिक्थ नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह बताना कठिन है कि उड़ीसा में आर्यों का आगमन कब हुआ। किन्तु 'हरिवंश पुराण' के अनुसार आर्य सम्राट् वैवस्वत मनु के दश पुत्र और एक पुत्री का पता चलता है। पुत्री का नाम इला था। मनु का राज्य उसके बेटों और बेटी में बंट गया। इला को दक्षिण कोसल और गोदावरी तक का राज्य मिला था। उसे चार पुत्र हुए और जब उसका भी राज्य आगे चलकर बांटा गया तो उसके तीसरे पुत्र के साथ निरन्तर 'उत्कल' जोड़ा गया। इससे ज्ञात होता है कि उड़ीसा में आर्य-संस्कृति का प्रवेश दक्षिण कोसल की ओर से हुआ होगा। स्पष्ट है कि वर्तमान उड़ीसा की संस्कृति में आर्य और आर्येतर दोनों संस्कृतियों का मेल है। ९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से १५ वीं शताब्दी के आरम्भ तक उड़ीसा में लगातार छः सौ वर्ष तक गंग-राजाओं ने उड़ीसा पर शासन किया। उनके समय में केशोरी वंश का नैकट्य द्रविड़-सभ्यता से हुआ। दोनों में वैवाहिक सम्बन्ध भी हुए।

उड़ीसा के मंदिर मूर्तिशिल्प और स्थापत्य के उत्कृष्ट नमूने हैं। भारतीय मंदिर मुख्यत: दो प्रकार के होते हैं—बेसर और नागर। उड़ीसा में दोनों का समन्वय हुआ। मंदिर के निचले भाग में बेसर और ऊपरी भाग में नागर स्वरूप देखा जा सकता है। उड़ीसा के मंदिर भी दो प्रकार के स्थापत्य से प्रभावित हैं। विमान या जगमोहन का मुख्य मदिर इसके उदाहरण हैं। जगमोहन मंदिर का आधार खंड और उसकी सीढ़ियां

द्रविड़ ढंग की हैं। इन्हीं स्थापत्य और मूर्त्तिशिल्प की भाँति उड़ीसा की चित्रकला का स्वरूप उपलब्ध है। प्राचीन-काल से लगाकर अब तक उड़िया चित्रकला पर राजपूत चित्रकला और दक्षिण-भारतीय-शिल्प का प्रभाव देखा जा सकता है। पुरी, भुवनेश्वर और कोणार्क के शिल्पवैभव का प्रभाव स्पष्टतः उड़िया चित्रकला शैली का वैशिष्ठ्य है।

जगन्नाथ उड़ीसा के सर्वोच्च प्रभु हैं। जगन्नाथ का पंथ ही उड़ीसा की संस्कृति का आधार-बिन्दु है। जगन्नाथ प्रभु की श्रद्धा सहित पूजा-आराधना के बाद ही हर उड़िया परदेश जाने के लिए घर से चलना है। घर-घर में जगन्नाथ की पूर्ण निष्ठा के साथ अर्चना होती है। दुःख-सुख और संकट के सहायक हैं जगन्नाथ। उनकी वेदी पर सभी धर्म आकर मिलते है। अतः जगन्नाथ समन्वित-संस्कृति के प्रतिनिधि हैं। उनका महत्त्व इन सभी तरह की संस्कृतियों के मध्य इस रूप में उजागर होता है कि उसे उड़ीसा की संस्कृति कहा जा सकता है। पुरी का जगन्नाथ मंदिर वस्तुतः समस्त ब्रह्म विद्याओं का केन्द्र है। बंगाल की कालीघाट चित्रशैली और तंजोर के बृहदेश्वर चित्रों की तरह जगन्नाथ के पट-चित्रों का सम्बन्ध भी सीधे-सीधे धर्म स्थानों से है। पुरी में अनेक यात्री आते हैं और अपनी स्थानीय कला चेतना सहित वहां के चित्र-कर्मियों से परिचित होते हैं। उड़ीसा के राजाओं ने अपनी विजय के लिए अनेक राज्यों को जीता था। इसीलिए उड़ीसा की पुरानी चित्रकला पर राजस्थानी चित्र-शैली, जैन ग्रन्थों के लघु चित्र, कालीघाट और दक्षिण-भारतीय चित्रकला का प्रभाव चिह्नित हुआ है। उड़िया चित्र-शैली ने विविध प्रभाव लिए ही नहीं, बल्कि उन्हें पचाया भी है। अतः उसमें एक तरह का वैशिष्ट्य स्पष्ट है।

चित्रों में रंग-विन्यास :

परम्परागत 'टेम्परा' चित्र-पद्धति में उड़ीसा के पटचित्र और गंजाफा चित्रों का बड़ा महत्त्व है। गंजाफा ताश के रंगीन पत्ते होते हैं, जो किसी समय पुरी जिले के नयागढ़ और बोलानगीर जिले के सोनपुर आदि स्थानों में खेले जाते थे। मगर अब उनका चलन समाप्त हो गया हैं।

जब परम्परागत चित्र कला को आत्मलीन चित्रकार की दृष्टि से परखा जाता है तो हमारे मन में दो बातें आती हैं। एक है भावाभिव्यक्ति और दूसरी है सज्जात्मक रूपों से बद्ध पटुता। चूंकि परंपराशील चित्रकार आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि से अपरिचित होते हैं, इसलिए चित्र-संरचना की शुरुआत वे अपने आसपास की जिन्दगी और भावनाओं के अंकन से करते है। यही उनकी चित्र-प्रक्रिया की लयात्मक भूमि है। प्रारम्भ में इनके

द्वारा मुख्य आकृति मध्य में चित्रित की जाती है। उसके बाद उपाकृतियां बनायी जाती हैं। ये सभी आकृतियां खास तरह से अलंकृत शैली में रची जाती हैं। मगर इनमें यथार्थतः भाव, मुद्रा, समतोल और अनुभूति स्पष्ट होते हैं। जब इन चित्रों में रंग भरे जाते हैं, तो वे प्रायः मूल रंग ही होते हैं। यदि विभिन्न काल के इन चित्रों का अध्ययन किया जाये तो पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल के चितेरों ने लाल, कत्थई, हरित और श्वेत रगों का उपयोग किया है। इजिप्त की चित्रकला में श्वेत, हलका लाल, पीत, हरित और श्यामल प्रयुक्त हुए हैं। अजंता और बाघ की गुफाओं में उपलब्ध भित्तिचित्रों में श्वेत, लाल, सिन्दूरी, पेवड़ी, जलीय हरित, लाज वर्दीय नील और काले रंगों का भी उपयोग मिलता है। उड़ीसा के भित्ति-चित्रों में उपयुक्त रंगों के मेल से बनाये हुए ही रंग काम में लाये गये हैं। जैनों के हस्तलिखित ग्रन्थों के चित्रों की रजत, स्वर्ण या सिन्दूरी पृष्ठभूमि पर कोमल लाल, ज़र्द पीत, श्वेत, हरित और लाजवर्द नील का प्रयोग किया गया है। उनमें काली रेखाओं से आकृतियों को उभारा गया है। मुगल, राजस्थानी, पहाड़ी और इनसे सम्वन्धित कलम के चित्रों में अन्य मिश्रित रंग और रंगतों की छटा मिलती है। पर उड़ीसा के परम्परागत पट-चित्रों में केवल शुद्ध (श्वेत), कज्जल (काला), करितल (पीला), गैरिक (लाल) और नील का प्रयोग होता आया है। इन रंगों का उपयोग इतनी कुशलता से किया जाता रहा है कि वे कभी भी आंखों को नहीं खटके। ऊष्ण रंगों का इस रूप में हमें जो लालित्य पूर्ण सुमेल पट-चित्रों में मिलता है, वस्तुतः वह आँखों को परितोष देने वाला ही सिद्ध हुआ। जगन्नाथ के चित्र में, जगन्नाथ की आकृति काले रंग से प्रायः बनायी जाती है, मगर उस पर के वस्त्र का रंग पीला होता है। बलराम की आकृति सफेद रंग से और वस्त्र-सज्जा नीले से की जाती है। सुभद्रा को पट-चितेरे पीले रंग से अंकित करते हैं और उसकी साड़ी को चटक लाल से बनाते हैं। ये सभी रंग उड़िया चित्रकार खनिजों और वनस्पति से बनाते हैं। श्वेत रंग शंख को पानी में पीस कर प्राप्त किया जाता है। वज्रलेप और निर्यास कल्क क्रमशः पशुओं की चर्बी और वनस्पति माध्यम से उपलब्ध किये जाने वाले वर्ण हैं। त्रिपादिका के बीज से एक प्रकार का गोंद (निर्यास कल्क) तैयार किया जाता है, जिसे इन रंगों में स्थायित्व देने के लिए मिलाना आवश्यक है। जगन्नाथ पट-चित्र की पृष्ठभूमि प्रायः जगन्नाथ के वस्त्रावरण से भरी जाती है। इसलिए आम लोग इन्हें पवित्र वस्तु मानते हैं। इन पट चित्रों को रंगने के लिए तूलिका बछड़े के नर्म बालों से बनायी जाती हैं। ये बाल-गुच्छ लाख से एक जगह जोड़ कर कलम में बांध लिये जाते हैं। इन चित्रों में आकृतियां बनाने के

पश्चात् लहरिया, बिन्दु, सीधी लकीरें आदि की सहायता से पूर्णता प्रदान की जाती हैं। इससे चित्रों में चमक और प्रभाव आ जाता है। मोटी और स्पष्ट रेखाएं पट-चित्रों के प्रभाव को उभारती हैं, उनमें जीवन्तता भरती हैं।

उड़ीसा की इस परम्परागत चित्र-शैली को राजाओं और पुरोहितों ने संरक्षण दिया। उड़ीसा में नरेशों ने न केवल मूर्त्ति-शिल्प को ही बढ़ावा दिया, उन्होंने मंदिरों में देवी-देवताओं की मूर्त्तियां स्थापित करने के साथ-साथ स्थानीय कलाकारों को मंदिरों और राजदरबारों में चित्रकारी करने के लिए नियुक्त भी किया। डॉ. मानसिंह ने लिखा है[1]—'राजा खारवेल के समय—ई० पू० पहली शताब्दी से लगाकर ई० सन् तेरहवीं शताब्दी तक—ठीक बारह शताब्दियों तक—उड़ीसा की प्रतिभा आत्माभिव्यक्ति के उस दौर से गुजरी कि उसने उड़ीसा को विश्व में सर्वोच्च निर्माता का स्थान प्रदान किया।'

चित्रों की पृष्ठभूमि :

उड़ीसा के परम्परागत चित्रों की विषय-सामग्री प्रायः पुराणों और देवी-देवताओं की कथाओं से ली जाती है। भारतीय चित्रकला का यही महत्त्वपूर्ण आधार-स्रोत है। आनन्दकुमार स्वामी ने उचित ही कहा है : चूंकि धर्म-विज्ञान भारतीयों का प्रभावशाली बौद्धिक मनोभाव रहा है, अतः प्राच्य-कला को उससे मुक्त नहीं माना जा सकता। हमारा आशय यहां पंथों से सम्बन्धित केवल मूर्त्तियों के निर्माण से नहीं, अपितु विचारों के संयोजन से है, जिनका सम्बन्ध विविध कार्यकलापों से रहा है[2]। उड़िया पट-चित्र धार्मिक आन्दोलनों के फलस्वरूप उत्पन्न सांस्कृतिक प्रयासों की दृश्यात्मक अभिव्यक्ति हैं। यह विधा अचानक उत्पन्न नहीं हुई, बल्कि जगन्नाथ-पंथ से सम्बंधित उत्कलों की आध्यात्मिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण की सतत प्रतिक्रिया है। कलाकारों ने देवी-देवताओं की छवियां केवल पुराने ढंग की अनजानी, अनचीन्ही वेषभूषाओं में ही नहीं बनायीं, बल्कि ये देवी-देवता उनकी दृष्टि में, उनके आसपास के जीवन में विचरण करने वाले व्यक्तित्व के रूप में स्वीकार्य रहे। विषय को उदात्त बनाने के लिए उड़िया चित्रकार ने पुराण-कथाओं, पशुओं, पक्षियों, फूल-पत्तों और लता-बेलों को अपने चित्रों में स्थान देना आवश्यक समझा। यों देखें तो इनका बृहत्तर परिवेश में उतना महत्त्व नहीं है। मगर हाथी, अश्व, हरिण, शुक, मयूर, सिंह, नाहर, कदम्ब, अशोक, आम्र-पत्र, हरे नारिकेल आदि उड़िया चित्रकला में बहुतायत से चित्रित किये गये हैं। कहीं-

१. 'सागा ऑफ लार्ड जगन्नाथ।'

२. 'दी फिलासफी ऑफ एन्शियन्ट एशियाटिक आर्ट।'

कहीं इन पशु-पक्षियों और लता-बेलों में मानवीय गुणों की अभिव्यक्ति को भी स्थान मिला है। कभी-कभी यक्ष और अन्य देवी-देवताओं की आकृतियों में पशु-पक्षियों के शारीरिक अंगों का समन्वय पाया जाता है। उदाहरणार्थ नृसिंह, गजानन, हयग्रीव और नागकन्या इस दृष्टि से उल्लेख्य हैं। इनमें हाथी के मस्तक को मानवीय शरीर से जोड़ कर गजानन की कल्पना साकार की गई, सिंह-मुख को मनुष्य से मिलाकर नृसिंह अवतार, अश्व का सिर जोड़कर हयग्रीव और मानवीय धड़ के नीचे नाग-अंग संयुक्त कर भारतीय मानस ने नागकन्या की कल्पना को रूप दिया। दुर्गा-माधव के चित्रांकन के अतिरिक्त उड़िया कलाकारों ने कंदर्परथ, कामकुंजर, कामकुसुम और नवगुंजार की आकृतियां भी बनायी हैं।

नवगुंजार एक ऐसी मिली-जुली आकृति है, जिसमें उड़िया चित्रकार ने शुक, काग, वृषभ, सिंह, अश्व, नाहर, मयूर, सर्प और मानवीय अंगों का मेल किया है। इसका वर्णन सूर्य-वंश-काल के सारलादास कवि की कृति उड़िया 'महाभारत' में भी मिलता है। उसमें वर्णन आया है कि श्रीकृष्ण अर्जुन के समक्ष नवगुंजार का रूप धारण कर उपस्थित होते हैं। कामकुंजर के चित्र में ऐसी नौ सुन्दरियां हाथी के रूप में कल्पित की गई हैं, जिन पर कामदेव सवार है। कंदर्प-रथ (कामदेवी का रथ) और काम-कुसुम भी इसी प्रकार उड़िया चितेरों की अपनी कल्पनाएं हैं। मगर काम-कुंजर के चित्रांकन में दक्षिण का प्रभाव लक्षित होता है। इस शैली के चित्रों में उच्यापा की भित्ति पर अंकित अश्वों का चित्र आता है। इसमें पांच युवती सुन्दरियों को अश्व के रूप में अंकित कर उन पर एक दाढ़ी वाले युवक को सवारी करते हुए दिखाया गया है। हाथी और अश्व का अंकन उड़ीसा और उच्यापा में महज संयोग नहीं है। वस्तुतः उड़ीसा के चित्र उत्कल-संस्कृति की उदात्तता के द्योतक हैं। जहां तक संरचना का प्रश्न है, काम-कुसुम की किसी से तुलना सम्भव नहीं है। यदि तुलना की जाये तो यही कहा जा सकता है कि रासलीला का अष्टसखी अंकन, जिसमें कृष्ण आठ गोपियों के साथ दिखाये गये हैं, इसके अनुरूप है। यद्यपि इस चित्र का लक्ष्य नितान्त अलग है और पश्चिम की संरचना-पद्धति के सात सिद्धान्तों से इसका तनिक भी सम्बन्ध नहीं आता, मगर संयोग से यह इजिप्त की चित्रांकन-शैली तथा वृत्तात्मक चित्र जो राज-स्थान और अजंता में मिलते हैं, उनके निकट अवश्य कहा जा सकता है। दूर के दृश्य, चाहे वे भूमि के हों या आकाश के, उड़ीसा की प्राचीन चित्रकला में नहीं पाये जाते। अन्तर और दूरी (स्पेस) चित्रों में अन्तर और दूरी की तरह ही प्रयुक्त किये जाते हैं।

विषयों की भाँति उड़िया-चित्रकला में प्रत्येक आकृति मुख्य भागों विभक्त कर ली

जाती है। मुख्य आकृति की तरह उसी आकृति के आस-पास अलंकरण के उपकरण उसी तरह चित्रांकन के लिए आवश्यक अंग हैं। प्रायः विषयों का क्षेत्र व्यापक नहीं, बल्कि प्रतिनिधित्व पूर्ण है, इसे भी कुछ उप भागों में बांटा जा सकता है। प्राकृतिक विषय तथा काम-कुंजर, गजानन, नव-गुंजार आदि के परम्परागत एवं प्रतीकात्मक अंकन रूढ़ हैं। मानव-आकृतियां प्रायः चित्रकार की स्मृति से बद्ध हैं, मगर उनमें लम्बी आँखों वाला चेहरा, सीधी नाक और गोल चिबुक की बनावट में सधी हुई सौन्दर्य-दृष्टि स्पष्ट है। प्रत्येक चित्रकार आकृति-अंकन में जनपदीय चित्र-परक सिद्धान्तों का अनुसरण करता हुआ देखा जाता है। प्रत्येक आकृति प्रायः रूपरेखा मात्र होती है। सम्भयतः यह ढंग चित्र-कर्म के लिए आसान है। इन चित्रों में, जिन्हें हम लोककला की श्रेणी में स्थान देते हैं, अधिकतर मालू-वैद्य, केलू-केलानी, नाग, योद्धा, बैलों की लड़ाई, युद्ध-दृश्य जैसे सामाजिक विषय तथा महिषासुरमर्दिनी, अनन्त-शयन, राधा-कृष्ण, कृष्ण-यशोदा जैसे पुराकथात्मक विषय अंकित किये जाते हैं। इनमें सज्जा शुद्ध रूप से अलंकरण प्रधान होती हैं। सुनियोजित अथवा अनियोजित, जैसे भी है, अलंकरण में वृत्तात्मकता, लता, पक्षी, फुन्दे और ज्यामितिक-आकृतियों का अंकन रूढ़ है। अन्य अलंकरण-प्रधान आकृतियां, जो कि वनस्पति-जगत से ली गई हैं, उनमें भी कुछ प्रमुख पुष्प और कुम्भ महत्त्वपूर्ण अभिप्राय हैं। यही उड़ीसा चित्रकला की स्वाभाविक सौन्दर्य-प्रियता का केन्द्रीय क्षेत्र है। भेद और उपभेदों के बाद भी हम देखते हैं कि उड़ीसा की चित्रकला में कमल के चित्रण की विविधता दृष्टव्य है। अलंकरण-प्रधान आकृतियों में यह अभिप्राय वनस्पति-जगत से ही आया है और प्रकट है कि भारतीय कला में कमल का स्थान मुख्य और व्यापक है। उड़ीसा की परम्पराशील चित्र-कला के सम्बन्ध में चर्चा करते समय कमल का उल्लेख इसीलिए नितान्त अनिवार्य है। उसके बिना उड़िया चित्र-कला का वर्णन अपूर्ण माना जायेगा।

ताड़-पत्रों पर लिखित ग्रन्थ :

उड़िया साहित्य का आरम्भ सूर्य-वंश के प्रथम नरेश कपिलेन्द्र देव गजपति के समय से होता है। इसी समय आदिकवि सारलादास ने उड़िया 'महाभारत' की रचना की, जो कि उड़िया का पहला महाकाव्य है। यह १५वीं शताब्दी की रचना है। इसके पूर्व लोक साहित्य, रीति-रिवाजों और उत्सवों की कथाएं तथा 'कलशा चौतीशा' के रूप में साहित्य की विधा जीवित थी। सारलादास के बाद बलराम दास ने 'दडी रामायण' और जगन्नाथ दास ने उड़िया 'भागवत' की रचना की, यद्यपि सारलादास के पहले,

१३वीं शताब्दी के आसपास उड़िया भाषा का रूप बनने लगा था। उड़िया की उत्पत्ति मागधी प्राकृत से हुई। विद्वानों का कहना है, यह वही मागधी है, जिसके पूर्वी रूप से बंगला, उड़िया और असमी की उत्पत्ति हुई। असमी और बंगाली लिपि की उत्पत्ति हुई है—देवनागरी से, किन्तु उड़िया अक्षरों का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि उनका निचला अंश देवनागरी और ऊपरी भाग दक्षिण भारतीय लिपियों के मेल से बना है। तामिल लिपि का उड़िया अक्षरों पर इस दृष्टि से बहुत प्रभाव है। ताड़-पत्रों पर धातु की तीक्ष्ण लेखनी से उड़िया लिखी जाती रही है। उड़िया अक्षरों का ऊपरी अंश गोलाई में है। इसका कारण यही होगा कि ताड़-पत्र को लेखनी के आघात से फटने से बचाने के लिए सम्भवतः वैसा रूप अक्षरों को देना पड़ा होगा।

प्राचीन काल में पुराण और काव्य-ग्रन्थ ताड़-पत्रों पर ही लिखे जाते थे। उस काल में इन हस्तलिखित ग्रन्थों को चित्रों और आकृतियों से सजाया भी जाता था। इसका उपयोग गुजरात के पश्चिम भारतीय जैन-ग्रन्थों में भी हुआ। यह उपयोग ११वीं शताब्दी से आरम्भ हुआ लगता है, और स्पष्ट है जैन-ग्रन्थों का ताड़ पत्रों पर लेखन और अंकन लगभग १६वीं शताब्दी तक होता रहा। चित्रांकन की पद्धति में फर्क आया। १६वीं और १७वीं शताब्दी के बीच जब कि 'बाबर नामा', 'अकबर नामा', आदि ग्रन्थ चित्रित किये गये। जब बंगाल, बिहार और उड़ीसा मुसलमानों के हाथ में आये। तब पूर्व-भारत में हस्तलिखित ग्रन्थों के चित्रांकन में अद्‌भुत लालित्य और ओप देखने में आये। उड़ीसा में हस्तलिखित ग्रन्थों को चित्रित करने का सिलसिला हमें १७वीं शताब्दी से मिलता है। कुछ ग्रन्थों में केवल लेखनी से रेखाकृतियां बनाई गई और रंगों का तनिक भी उपयोग नहीं किया गया। रंगों का उपयोग जिन चित्रों में हुआ है, उनमें आकृतियों का रूप परम्परागत तो है ही, साथ ही उनमें रेखाएं भी शक्तिपरक और कलात्मक हैं। कुछ अंशों में ताड़-पत्र पर बने ये चित्र गुजरात के जैन-ग्रन्थों की चित्र-शैली और दक्षिण के विजयनगर कलम के प्रभाव से अपने को मुक्त नहीं रख सके। जयदेव के 'गीत गोविन्द', जगभंज के 'दासोपोई' तथा उपेन्द्र भंज के चित्रकाव्य 'वन्ध्या' में इस प्रकार के चित्रांकन पाये जाते हैं। इनमें केवल मानव-आकृतियां ही नहीं, चितेरों ने अनेक सुन्दर अलंकरण, फूल-पत्तों की बेलें तथा छोटे-छोटे पशु-पक्षियों और बाग-बगीचों को भी स्थान दिया है। एक और प्रकार के चित्र, जिन्हें रागचित्र कहते हैं, इनके साथ-साथ संस्कृत के हस्तलिखित ग्रन्थों में भी बनाये गये। रंगनाथ प्रुष्टी के 'संगीत दामोदर' में भारतीय राग-रागिनियों के ऐसे कई चित्र उड़ीसा की उपलब्धियों में स्थान पाते हैं।

यह चित्र चटक रंगों में ताड़-पत्रों पर बने हुए हैं। इनका महत्त्व अक्षरों की सुन्दर संरचना और पांडुलिपि के विषय को चित्रात्मक अभिव्यक्ति देना दोनों के लिए रहा है। इन पांडुलिपियों में अंकित चित्रों के किनारे तथा पृष्ठभूमि की सजावट लालित्य और सुरुचि के परिचायक हैं। इनमें सुलेखन का वैशिष्ट्य तथा रचनात्मक सूक्ष्मता स्पष्ट नजर आते हैं। चूँकि ये पांडुलिपियां ताड़-पत्र पर ही लिखी जाती रहीं, अतः इनके लिए भारी और धातु की नुकीली लेखनी का उपयोग ही सम्भव था। लेखनी के इस रूप की वजह से इन चित्रों के 'टेक्श्चर' में धातुपरक गुण साफ हैं। इन स्वाभाविक कठिनाइयों के अतिरिक्त चित्रकार को कुछ अन्य कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता रहा है। वह यह कि ताड़ के धरातल पर आधार—आकृति रेखित करना सम्भव न था। धातु उत्कीर्ण और काष्ठ की खुदाई की तरह चित्रकार जो भी रेखा ताड़ पर खींचता है, वह अंतिम होती है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। यद्यपि इन चित्रों में रंगों का प्रयोग 'ब्लॉक पद्धति' के अनुसार किया गया, तब भी अन्तिम सज्जा रेखाओं के माध्यम से ही की जाती रही है। ये सरल और प्रवहमान रेखाएं अद्वितीय संरचना और भावों की गहराई को प्रकट करती हैं। वास्तव में ये चित्र अपनी विशेषताओं के कारण चित्रकला के क्षेत्र में ऊंचाई तक पहुंचे हैं। पांडुलिपि चित्रों का मुख्य शिल्प वास्तव में रेखाओं की कोमलता, रंगों की प्रगाढ़ता तथा सज्जा की सूक्ष्मता से अवद्ध हैं। इन चित्रों में यद्यपि अनुदृष्टि का अभाव है, मगर तेज रंगों तथा सुलेखन-रेखा-कौशल इस अभाव की पूर्ति करते हैं। इस प्रकार के चित्र-कर्म ने एक परम्परा की रक्षा की और वस्तुतः रूढ़ चित्र-निर्माण-शैली को शताब्दियों तक ज्यों का त्यों कायम रखा है।

लोक चित्रकला :

प्रत्येक जनपदीय चित्रकला दो भागों में बंटी होती है—परम्परागत चित्रकला और लोक-शैली की चित्रकला। दोनों प्रकार की कला-शैलियों ने मिलकर हमारे जीवन को समृद्ध और सौन्दर्यमय बनाया है। किसी एक की भी हम अवहेलना नहीं कर सकते।

परम्परागत चित्रकला, शास्त्रीय संगीत-नृत्य-साहित्य की तरह बौद्धिक और शास्त्रीय निर्णय से सम्बन्धित है। जिन लोगों को एक समय का भी भोजन नहीं मिलता, जिन्हें पहनने के लिए मामूली कपड़े भी नसीब नहीं होते, और जो हमेशा ही अपने भयंकर दुःखों और पीड़ाओं से अभिशप्त हैं, उनके लिए उन्नत परम्परागत कला

का कोई उपयोग नहीं। लेकिन अपने दुःखों और निराशाओं के बीच से इन लोगों ने भी अपने स्तर की संगीत, नृत्य और चित्रकला विधाओं का सृजन किया, आत्मानुभूति को अभिव्यक्ति दी, ताकि उनके द्वारा वे कुछ क्षणों के लिए सुख अनुभव कर सकें। यद्यपि दोनों तरह की कला-शैलियों में विभेद को कोई बड़ी दीवार नहीं है, परन्तु परम्परागत कला का अध्ययन करने के लिए लोककला का अध्ययन बहुत आवश्यक है। मगर यह स्पष्ट है कि लोककला किसी भी रूप में परम्परागत कला से ही उत्पन्न हुई हो। गणनाथ, लोकनाथ और जगन्नाथ लोक-संस्कृति के प्रतीक हैं। परन्तु अपने स्वाभाविक ढंग से ये परम्परागत रूपों में ही पूजे जाते रहे हैं। तब भी लोगों ने परम्परागत कला, धर्म और दर्शन की अभिव्यक्ति के अच्छे अंशों में से अपने लिए इच्छा से वे ही अंश चुने, जो सरल और जीवन के लिए उपयोगी रहे हैं।

हमारी शास्त्रीय परम्पराशील कला एवं धर्म राजाश्रय में पनपे। चित्रकला भी उन्हीं के प्रोत्साहन से विकसित हुई। इस नाते उसे दरबारी-चित्रकला भी कहा जा सकता है। उस पर बहुत कुछ विदेशी प्रभाव भी लक्षित किया गया। धर्म और शासन के विकास से इसकी भी उन्नति हुई। स्पष्ट है मोहन्जोदड़ो की सभ्यता के समय की भारतीय चित्रकला-शैली बुद्ध-काल में आकर बदल गई। सच तो यह है कि इस चित्रकला-परम्परा पर यवनों के आक्रमण का प्रभाव पड़ा। उसी प्रकार फारसी और अंग्रेजी संस्कृति और सभ्यता का बहुत बड़ा अंश भी उसने अपनाया। उसे अब छोड़ पाना मुश्किल है। आज की परम्परागत भारतीय चित्रकला इस पूरे परिप्रेक्ष्य में अनेक कठिनाइयों, और विविध परिस्थितियों के प्रभाव से उत्पन्न कला-शैली की द्योतक बनी। उस पर सभी प्रकार के बाह्य और आन्तरिक प्रभाव लक्ष्य किये जा सकते हैं। मगर शहर की विकृतियों ने उसे अभी नहीं छुआ। जैसा कि प्रत्यक्ष है—दो तरह की सभ्यताएं गांवों और शहरों में क्रमशः पनपीं। इनमें से गांवों की संस्कृति ने एक खास तरह की लोकपरक चित्र-शैली का विकास किया। गांवों की तमाम विशेषताएं एवं रूढ़ि तथा धर्म-परक मान्ताएं लोककला में उदित हुईं। आज भी इसी लोक-शैली को जैसा हम देखते आये हैं, हजारों वर्षों से यह कला ऐसी ही चली आ रही है। यद्यपि उसमें यहां-वहां कहीं कोई परिवर्तन आया भी तो उसने अपने रूढ़ रूप शैली में, सादगी और गठन में उन्हें समाहित कर लिया।

अल्पना और रंग-विन्यास :

शास्त्रीय चित्रकला में समय, अर्थ और बुद्धि की आवश्यकता है, जो साधारण लोगों

के पास नहीं है । तब भी साधारण समाज में कलाभिरुचि अवश्य हैं । अपने मनोभावों को व्यक्त करने के लिए लोकमन चित्र ही नहीं बनाता, गाता और नाचता भी है । लोक-चित्रकला राष्ट्र की सम्पदा है । उसका विकास लोक-परक सौन्दर्य बोध के आधार पर हुआ है । आमतौर पर गांव की स्त्रियां लोककला की निरन्तरता बनाये रखने वाली अग्रणी शक्ति हैं । उन्हीं के प्रयत्न से यह कला-शैली अपने सही रूप में चली आती रही । ये स्त्रियां अनेक तरह के चित्र बनाती हैं, जिनके लिए उन्हें अपने वास्तविक जीवन के अनुभवों से विषय मिलते हैं । अतः प्रयोग करने का भी इनमें साहस होता है । किसान जंगल में लकड़ी चीरता है या कुओं से सिंचाई के लिए पानी निकालता है, युवा ग्रामीण खेत गोड़ता है या धान के रोपे लगता है; मगर उसकी अर्द्ध-शक्ति उसी के इन कठिन और परिश्रम-साध्य जीवन को चित्रकला का विषय बना कर स्थायित्त्व देती होती है । इस चित्रकला में अमीर और गरीब, धर्म, जाति और परम्परा सभी का चित्रण हुआ है ।

उड़ीसा की लोक चित्रकला तीन भागों में विभक्त है : गोलाकार अल्पना, रांगोली पद्धति की अल्पना और गुदना । इन प्रकारों में हम सामाजिक उत्सवों, अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों से सम्बन्धित अल्पना के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार करना होगा । दशहरा, दीपावली, जन्मपूजा, श्राद्ध आदि के अवसर पर जो आकृतियां बनायी जाती हैं, उनमें मानवीय इच्छाओं और धार्मिक दृष्टि की अभिव्यक्ति पायी जाती है। इनके अतिरिक्त कुछ गुदनाकृतियां हैं । जिन्हें ग्रामीण स्त्रीपुरुष अपने अगों पर अंकित करते हैं । यद्यपि इन आकृतियों में बहुत कुछ अनगढ हैं, पर ग्रामीण जीवन में इनका अर्थ शरीर की सज्जा से आवद्ध है ।

अल्पना के चित्रण की सामग्री अत्यन्त साधारण उपकरण हैं । चावल, नरम पत्थर, पीला और लाल पत्थर, काजल आदि से अल्पना के लिए रंग बनाये जाते हैं । यह सामग्री कूटी-पीसी जाती है और बाद में पानी घोलकर उससे रंग उपलब्ध कर लिये जाते हैं, जिनका कि सीधे-सीधे आंगन, दीवार, मृत्तिका-पात्र, चौक आदि पर चित्रांकण करने के लिए उपयोग किया जा सकता है । लाल, पीले और श्वेत पत्थरों का महीन चूरा रांगोलीनुमा अल्पना के काम में आता है । इनके अलावा नरिकेल का खोखा जलाकर काले और हरे पत्ते धूप में सुखाकर उसके चूरे से हरित रंग बनाये जाते हैं । काला चना, हरा चना, वड़ा चना, मसूर, रोंगी, चावल, गेहूं और अन्य धान और दालों को पीसकर रांगोली वाली अल्पना में रंग बुरकाये जाते हैं । इन चित्रांकनों के सम्बन्ध में तपन मोहन चटर्जी का कथन है— 'स्त्रियों द्वारा बनायी जाने वाली

अल्पना में, दूसरी कलाओं से अलग, कलात्मक प्रक्रिया की ओजस्विता लक्ष्य की जा सकती है।' (अल्पना, पृष्ठ ३) । चूंकि बूरेवाली अल्पना के रंग पानी में घोले नहीं जाते, उनका उपयोग सीमित है। उनका कुंकुम, मेंहदी और चंदन के लेप के साथ उपयोग नहीं किया जाता है। क्योंकि चूरे के रूप में होने की वजह से वे स्थायी नहीं होते। एक समय था, जब उड़ीसा की स्त्रियां मेंहदी के पत्तों को पीसकर एक खास तरह का रंग बनाया करती थीं। बलसम के फूलों से इसी तरह रंग निकाला जाता था। इन दोनों चीजों से बनाये गये घोल से वे अपनी हथेलियां पाँव और उंगलियों को सजाती थीं, उन पर विविध आकृतियां बनाती थीं। इनके अतिरिक्त कुछ जंगली लताएं और पत्ते, हल्दी, काली स्याही आदि से कृमिनाशक घोल बनाये जाते हैं। कांटों से शरीर में छेद कर इन्हीं रंगों को ऊपर से लगाने से, सूखने पर और घाव से भर जाने पर, शरीर पर स्थायी आकृतियां अंकित हो जाती हैं। उड़ीसा की ग्रामीण स्त्रियों के अंगों पर प्रायः ये आकृतियां देखी जा सकती हैं। इन्हें चेहरों, छातियों, हाथों, भुजाओं, जांघों और पांवों पर बनाया जाता है। यह प्रथा गुदना कहलाती है। इसमें बहुत पीड़ा होती है। मगर तब भी सैकड़ों स्त्रियां गुदना अंकित कर अपने शरीर को अलंकृत हुआ अनुभव करती हैं।

उड़ीसा की लोकचित्रकला में प्रायः रेखाओं का प्रयोग अधिक होता है। इनमें परिदृश्य, सधाव, सामंजस्य आदि सभी सम्भव हैं। स्त्रियों के लिए अंकन प्रक्रिया इस माध्यम में सरल होती है। चूंकि लोककला में उदात्त भावों के निस्सरण की गुँजाइश नहीं होती, इसलिए लोककलाकार पेड़ों, पक्षियों, देवताओं आदि विषयों को ही चित्रित करता रहा है। इनमें सर्वाधिक चित्रण कमल का होता आया है। कमल इन कलाकारों की दृष्टि में जीवन स्रोत है। लक्ष्मी के पांवों का अंकन उड़ीसा में प्रायः घरों के मुख्य द्वार की ओर ही किया जाता है। इन पद्चिह्नों को घर की ओर ले जाने का आशय यही है कि घर में धन-धान्य वृद्धि और सौन्दर्य का प्रवेश हो। लक्ष्मी के पदचिह्न के आसपास कमल और लताबेलें भी बनाए जाते हैं। कई बार इस कला-शैली में हमें अमूर्त आकृतियां, डालियां और लतागुच्छ भी बनाए हुए मिलते हैं। साधारण रूप से खजूर से चित्रित पट होते हैं, पर जब खजूर में पुष्प अंकित किये जाते हैं तो ऐसी आकृति पुष्पलता या फूलडाली कहलाती हैं। एक दूसरी लताकृति में पक्षी और पशु की आकृतियों से भराव किया जाता है।

आदिवासी चित्रकला :

उड़ीसा के गहरे और सघन वनों वाले क्षेत्रों में आदिवासी रहते हैं। उड़ीसा की कला

और संस्कृति को इन वनपुत्रों से बहुत कुछ मिला है। सर्वोच्च प्रभु जगन्नाथ और उसके पंथ के प्रति उड़ीसा को गर्व है। आदिकाल में शबरों का आदिम देवता नीलमाधव जगन्नाथ के रूप में ही पूजा जाता रहा है। जिस प्रकार आर्यों के ईश्वर ने दश अवतार लिये, उसी तरह शाबरों का देवता, भी अवतारों के रूप में बार-बार अवतरित हुआ। शबर आदिवासी अपने कतिपय अनुष्ठानों और उत्सवोंमें उसके दश रूपों को चित्रित करते हैं। उसके दसों रूपों की वे पूजा भी करते हैं। कुछ लोगों की राय है कि जगन्नाथ के रूप में कितुंग देवता का पहला अवतरण हुआ था। इसी प्रथम रूप को बाद में जगन्नाथ के नाम से पूजा जाने लगा। यह लक्ष्य करने की चीज है कि विश्वासु (सावर राजा) की पुत्री ललिता ने केवल राजपुरोहित विद्यापति से विवाह ही नही किया, बल्कि इस सम्बन्ध के साथ ही साथ पूर्वकाल में आर्य संस्कृति का साबर संस्कृति से सम्बन्ध भी हुआ। इससे स्पष्ट है कि जंगल में रहने वाले आदिवासियों का सम्पर्क आर्यो से हुआ। उनकी संस्कृति दूसरी संस्कृति से मिली एवं उनके रीतिरिवाज, रहन-सहन के ढंग और लोककलाएं उत्कलों के जीवन के निकट आये।

उड़ीसा में लगभग ३३ आदिवासी जातियां हैं। इनमें हो, गन्दा, मुंडा, संथाल, शबर या शाबर, गदबा, कंध, जुआंग, कोल, ओरांव, भूमिजा, और पुरजा मुख्य हैं। यद्यपि इन जातिवासियों को सभ्य-संसार का सम्पर्क नहीं मिला है, तथापि अपनी सौन्दर्याभिरुचि में आज भी वे अपना अलग स्थान रखती हैं। यह अभिरुचि आर्य संस्कृति से किसी रूप में भी न्यून नहीं है। कला ऐसा आईना है, जिसमें किसी भी जाति या देश का वास्तविक चरित्र देखा जा सकता है। यदि हम इन जातियों के सम्बन्ध में जरा भी जानना चाहें तो हमें उनके नृत्य, संगीत और चित्रकला का अध्ययन करना आवश्यक होगा। संक्षेप में, इन आदिवासियों का सादा जीवन, सीधी और स्पष्ट अभिव्यक्ति, धर्मभीरुता, ईमानदारी और दृढ़ता ने उनके चित्रांकन शैली को सुघड़ बनाया है। उनकी साफ दृष्टि, लय, स्पष्ट और सादगीपूर्ण आकृतियों ने उनकी चित्रकला को समृद्ध किया है। उनकी चित्रशैली का परम्परात्मक गुण ज्यामितिक आकृतियां हैं, जो वस्तुतः सरल और दृढ़ रेखाओं में बनायी जाती हैं और उसी तरह मूल रंगों से अलंकृत की जाती हैं। वास्तव में उनकी कला में व्यर्थ के अलंकार और हर तरह के व्यापक भराव का अभाव होता है। इसलिए उसमें हमें हृदय को छूने वाले भाव मिलते हैं, जो अपने मूल में इस चित्रकला के योग्य होते हैं। चूंकि लोकशैली की चित्रकला में रूपाकृतियों को सरलता से अंकित करने की प्रवृत्ति है, इसलिए उसमें ज्यामितिक रेखाओं का सहारा लेना ही अनुकूल पड़ता है। कई बार लोकपरक चित्र-

शैली बच्चों की चित्रकला का आभास देती है। इसलिए कला-समीक्षक रोजर फ्राई की दृष्टि में—'इन संक्षिप्त रेखाओं में हमें आदिम-कला और बालचित्र-कला के मूल सिद्धान्त मिलते हैं[1]।'

आदिवासी अपनी प्रवृत्तियों की दृष्टि से चित्र बनाते हैं। मोटे तौर पर वे अपनी घरेलू वस्तुओं को सुन्दरता प्रदान करना चाहते हैं। एक माने में कला के बहाने वे अपना कौटुम्बिक जीवन सुखी बनाते हैं। अपने घरों की दीवारों को सजाने के लिए वे कई रंगों की मिट्टी से उन पर चित्रांकन करते हैं। यह स्पष्ट है कि उनमें हमें लघु-चित्र-कला की प्रवृत्ति नहीं मिलती। बाह्यरूप से उनमें कहीं छाया-चित्र मिल जाते हैं। जुआंग आदिवासी युवक अपनी प्रेमिकाओं को कंघियों की भेंट देते हैं। ये कंघियां बांस से बनाई जाती हैं। इनके कई रूप होते हैं तथा इन कंघियों को चिकना बनाकर तेज चाकुओं से उन पर खुदाई का काम किया जाता है। यह खुदाई प्रायः गुदना-चिह्नों की तरह लगती है या कई बार उनमें ताड़पत्र पर उकेरी गई आकृतियों का आभास होता है। आदिवासी-जन कला की उपयोगिता में विश्वास रखते हैं। इसलिए वस्तुओं को सजाने का महत्त्व उनमें अधिक है।

वे घर जहां कलात्मक अभिरुचि और हस्तशिल्प का रिवाज है, सामाजिक दृष्टि से अपने पड़ोसियों की अपेक्षा अच्छे होते हैं। कला के प्रति उनका प्रेम उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान दिलाता है। यही कारण है कि हमें इस तरह के परिवारों के घरों के दरवाजों पर खुदाई का काम देखने को मिलता है। ये लोग अपने अंगों को भी गुदना-चिह्नों से सजाते हैं। आदिकाल से ही सुन्दरता की ओर लक्ष्य देना और उसे पसन्द करना उनकी प्रवृत्ति रही है। यही प्रवृत्ति उन्हें कलात्मक वस्तुएं बनाने के लिए प्रेरित करती है। अपने दुःख-सुख में इसी प्रवृत्ति से उन्हें राहत मिलती है। एक आदिवासी गीत का भाव है : 'इस बात की चिन्ता न करो कि हम भूखों मरते हैं, मगर तब भी हम सुखी हैं।' खुले और लम्बे-चौड़े जंगलों और घाटियों में रहने वाले इन लोगों के आत्मसुख की इससे बड़ी अभिव्यक्ति क्या हो सकती है!

उड़ीसा के आदिवासी भी अपने घरों की दीवारों, दरवाजों और फर्शों पर अल्पनाएं अंकित करते हैं। ये आकृतियां खेती-बारी की समृद्धि, भूत-प्रेतों से रक्षा, जन्म-संस्कार और पूर्वजों की श्रद्धा के लिए बनायी जाती हैं। मोटे तौर पर सभी आकृतियों का आनुष्ठानिक महत्त्व होता है। इनके लिए भी ये लोग चावल के बूरे से रंग बनाते हैं। कभी-कभी ये आकृतियां पीली, लाल और काले रंगों से भी चित्रित की जाती हैं।

---

१. विजय एण्ड डिजाइन, पृष्ठ ७८।

इन में प्राधानतः हमें हाथी, बैल, मनुष्य, शुक, मोर आदि की आकृतियां मिलती हैं। अन्य पक्षियों में आदिवासियों को रंग-बिरंगे मोर का चित्र पसन्द है। सच तो यह है कि मोर का उनके धार्मिक विश्वास से सम्बन्ध है। शाबर भी मोर की आकृति काष्ठ में खोदते हैं। खास कर तारवाद्य पर उसकी आकृति देखने में आती है। यही वाद्य है, जिसका जादू-टोने के गीत गाते समय भी उपयोग में किया जाता है। भारतीय कला में यह पक्षी ई० पू० ६०० से बनाया जाता है। ए० के० भट्टाचार्य ने लिखा है, 'ई० पू० ६०० से लगाकर आगे की सभी पंचचिह्न-मुद्राओं पर हमें अन्य प्रतीकों के साथ पांच तीरों वाले टेकड़ियों पर मोर का प्रतीक भी मिलता है[1]।' भित्ति-चित्रों में हाथी की आकृति प्रमुख होती है। आदिवासी शहरों से दूर जंगलों में रहते हैं। नागर सभ्यता से उनका सम्बन्ध लेश मात्र भी नहीं होता। मगर तब भी हमारी सभ्यता आदिवासी संस्कृति और कला की ऋणी है, क्योंकि उनकी कला ऐसी कला है, जो उनके सामाजिक रीति-रिवाजों और जीवन से प्रागाढ़ रूप से आबद्ध है।

रंगीन मूर्त्ति-शिल्प :

उड़ीसा में मिट्टी, लाख और काष्ठ के रंगीन मूर्त्तियां बनाने की परम्परा है। बालासोर में लाख के खिलौने और कटक में मिट्टी के खिलौने मिलते हैं। काष्ठ के बने खिलौने प्रायः कठपुतली के रूप में प्राप्त हैं। छाऊ-नृत्य में प्रयुक्त किये जाने वाले मुखौटे, घोड़ा नाच के लिए मुखौटे—घोड़ों, बैलों, राजा और रानी के मुखौटे अथवा काली-नृत्य में काम आने वाले चेहरों की रंगाई का ढंग पूरी तरह से उड़ियायी है। लकड़ी की पेटियों और डिब्बों पर भी पशु-पक्षियों, फूल-पत्तों की आकृतियां रंगी जाती हैं। उड़ीसा के पुराने परिवारों में काष्ठ की बनी ये पेटियां शादी के अवसर पर आज भी जरूरी समझी जाती हैं। इनका उपयोग धीरे-धीरे कम होता जा रहा है। मंदिरों के अहातों में पड़ी मूर्त्तियों को रंगने की भी परम्परा उड़ीसा में देखी जाती है। उड़िया कलाकार प्रायः मिट्टी से आदमकद मूर्त्तियां बनाते हैं। उनका यह कार्य अद्भुत है। तुलना की जाय तो उन्हें हम पश्चिम बंगाल के कृष्णनगर के कलाकारों की कोटि का मान सकते हैं। कुल मिलाकर मुखौटे और मूर्त्तियों पर कलात्मक रंगसाजी और विविध आकृतियों का बनाने का ध्येय दर्शकों को आकृष्ट करना ही होता है।

समाज की संस्कृति का सही-सही आकलन—रोज के जीवन में काम आने वाली वस्तुओं की सुन्दरता के अनुमान से—करना आसान होता है। ई० पू. २००० साल पहले

---

१. 'कल्चरल फोरम'. जनवरी, १९६४, पृष्ठ ११६।

मोहन्जोदाड़ों की खुदाई में प्राप्त मृत्तिका-पात्र के अंश प्राचीन भारतीय सभ्यता के द्योतक हैं। पुरी जिले के तेरांदिया ग्राम में भी पुराने बरतन-भांड़े मिले हैं। मगर वे ४ थी या ५ वी शताब्दी से अधिक पुराने नहीं हैं। इनसे भी उड़ीसा की कला परम्परा का ज्ञान होता है। हस्तकारी की वस्तुएं लोक-कला से अलग नहीं। उड़ीसा के लोगों में ऐसी बहुत-सी चीजें प्रचलित हैं, जो हस्तशिल्प की उत्कृष्टता प्रमाणित करती हैं। इन्हीं सब चीजों से हमें उड़ीसा की कलाभिरुचि का परिचय मिलता है।

पहले विहार और उड़ीसा बंगाल के अन्तर्गत थे। बंगाल के विकास के साथ ही इन प्रान्तों का विकास जुड़ा था। चूंकि कलकत्ता उस समय भारत की राजधानी था, विकास का कार्य उसके आसपास बंगाल में ही अधिक हुआ। इस परिप्रेक्ष्य में आधुनिक कला और संस्कृति की चर्चा की जा सकती है। १९०६ ईस्वी में ई. बी. हावेसे, जो कि भारतीय कला का उपासक था, मद्रास से कलकत्ता के कला विद्यालय का प्राचार्य हो कर आया। उसी वर्ष अवनीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रोफेसर के रूप में विद्यालय से सम्बन्ध हुआ। यहीं से आधुनिक कला-विकास के सूत्रपात रूप में १९०७ ई० में 'इन्डियन सोसायटी ऑफ ओरिएन्टल आर्ट' की स्थापना हुई। कला के क्षेत्र में इन सभी प्रवृत्तियों को आगे बढ़ाने के लिए अवनीन्द्रनाथ ठाकुर और उनके शिष्यों ने बड़ा काम किया। परिणाम-स्वरूप फर्ग्युसन, कनिंघम, हॉवेल, कजिन्स और पारक्षी ब्राउन जैसे अंग्रेजों ने भारतीय कला की सौन्दर्य-दृष्टि को समझने का भरसक प्रयत्न किया तथा उसे नष्ट होने से बचाने के लिए ठोस कदम उठाये। हॉवेल ने लिखा है : 'बीस वर्ष पूर्व मुझे भारतीयों को कला की शिक्षा देने के लिए अपने देश से भेजा गया था, मगर उन्हें शिक्षा प्रदान करने के दौरान मैं स्वयं भी शिक्षित हुआ। मैं समझता हूं पश्चिम को आखिर यह समझने में एक शताब्दी क्यों लगी कि भारत से उसे और भारत को उससे अभी बहुत कुछ सीखना है[1]।'

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ के उड़िया चित्रों पर पश्चिमी चित्रकला का प्रभाव प्रायः लक्ष्य किया गया। उस समय के अंग्रेजाधीन भारत में उड़ीसा के क्षेत्र में कुछ चित्रकारों का बड़ा नाम था। वसन्त कुमार, गोपाल कानूनगो, उपेन्द्र महारथ, बिपिन-बिहारी चौधरी, श्रीधर महापात्र, बिम्बधर वर्मा, मुरलीधर ताली तथा अन्य ने चित्र-कारी को पेशे के रूप में स्वीकार किया। इन सभी ने अपनी-अपनी शैली को विकसित किया। इनमें से कुछ में तो अद्‌भुत् कुशलता देखी गई। वसन्त कुमार पंडा ने प्रकृति

---

१. 'विश्व भारती,' त्रैमासिक, मई, १९४२।

चित्र बनाने में कमाल हासिल किया और उसके ये जल-रंगीय चित्र अपनी मौलिकता के लिए, वास्तव में बहुत मान्य रहे। इसके मुकाबिले के ही प्रतिभाशाली कलाकार गोपाल कानूनगो को केउंझर स्थित सीताभिजी के भित्ति-चित्रों के अध्ययन का कार्य सौंपा गया था। उसे उड़ीसा की खुदाई की कला और मूर्त्ति-शिल्प के अध्ययन के लिए शोधछात्रवृत्ति भी दी गई। विपिन विहारी चौधरी, जो कि गूंगा और बहरा है, जीवन-चित्रों के क्षेत्र में बहुत सफल रहा। वह पेन्सिल और रंग दोनों के प्रयोग सफलता से करता है। विपिन उड़ीसा का एक मात्र कलाकार है, जिसे लंदन के 'रॉयल कॉलेज ऑफ आर्ट्स' में डबल्यू० टोथिन्स्टेन से शिक्षा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला। पंडा, कानूनगो, महारथी और ताली ने कई अच्छे पोर्ट्रेट और पश्चिमी-शैली के चित्र बनाये। विविध कृत्तियों में-कई शैली के कई चित्रों में-ताली के पोर्ट्रेट चित्र भारतवर्ष में अपना महत्त्व रखते हैं।

बिम्बधर वर्मा राजस्थान के रामगोपाल विजयवर्गीय का समकालीन था। गुजरात के रविशंकर रावल भी इसी समय अपनी पूरी ख्याति में थे। बिम्बधर बहुत महत्त्वपूर्ण कलाकार और संरचनाकार था। उसने साहित्य का गहरा अध्ययन किया तथा अपना सम्पूर्ण जीवन उड़ीसा की परम्परा को समझने में लगाया। मगर उसने कभी भी किसी कला विद्यालय या संस्थान में अध्ययन नहीं किया। इसीलिए उसकी कृतियों में शिल्पगत विशेषताएँ देखने की कोशिश करना व्यर्थ होगा। वस्तुतः उसमें जो ललित अलंकरण-शैली और काव्यात्मक प्रभाव हम पाते हैं, वे महाकाव्य-युग और बंगाल के पुनरुद्धार-काल की याद दिलाते हैं। उसे ही इस बात का अधिक श्रेय है कि उसने अपनी चित्रकला में उड़िया शैली, वेशभूषा और अलंकरण को विकसित किया। बी० वर्मा का 'पल्ली वधू' चित्र आधुनिक कला के क्षेत्र में अपने ढंग का अलग ही है। उस में बड़ी कलात्मक खूबी है तथा स्पष्ट ही उसे रेशमी कपड़े पर हल्के रंगों में बनाया गया है। उसकी रेखाओं में सौंदर्य, बल और चमक है। उपेन्द्र किशोर दास कभी भी पेशेवर कलाकार और कला विद्यालय का छात्र नहीं रहा। किन्तु उसका पेशेवर-रहित काम निश्चय ही उच्च कलाकारों से किसी माने में भी कम प्रभावशाली नहीं है। उसकी उत्प्रेरक कृतियों में निहित साहित्यिक दृष्टि ने उसे बहुत सफलता प्रदान की। १९२६ में 'वारुणी' नामक साहित्यिक पत्रिका पहले-पहल प्रकाशित हुई। उस पत्रिका के आवरण पृष्ठ से लगाकर अन्दर के हर पृष्ठ को कुशलता से सजाने का काम उपेन्द्र, वसन्त कुमार पंडा और आनन्द कुमार ने किया। इन युवा कलाकारों ने आधुनिक उड़ीसा में कला-शिक्षा के प्रचार का बीड़ा उठाया।

१९४७ में उड़ीसा में पहली चित्रकला प्रदर्शनी कटक में हुई। इस प्रदर्शनी का आयोजन स्वरूप पंडा की देख रेख में हुआ था, क्योंकि वही एक मात्र व्यक्ति था जो राज्य की चित्रकला सम्बन्धी गतिविधियों से जुड़ा हुआ था। वह पारसी ब्राउन, आनन्द मिश्रा, वसन्त कुमार पंडा और गोपाल कानूनगो का शिक्षक रह चुका था। इसी वजह से इनकी चित्रकला में पश्चिमी-शैली का असर साफ है। इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में उपेन्द्र किशोर को भुलाया नहीं जा सकता। वह पहला व्यक्ति था, जिसने 'वारुणी' में अपने तथा अपने मित्रों के रंगीन चित्र छापे। आधुनिक समय के उड़िया चित्र कुल मिलाकर उड़ीसा के स्वतन्त्र राज्य बनने के पूर्व के चित्रों की अपेक्षा अधिक अच्छे हैं।

कला की वर्तमान उपलब्धि :

१९५७ में खल्ली कोट में शासकीय कला और शिल्प-विद्यालय खोला गया और १९६० में उड़ीसा 'ललित कला अकादमी' की स्थापना हुई। दोनों की स्थापना उड़ीसा की कला-प्रतिभाओं को सुविधा देना है। १९६१ में उड़ीसा ललित कला अकादमी ने पहली चित्रकला प्रदर्शनी का आयोजन किया। यह प्रदर्शनी भुवनेश्वर में की गई थी और वह पांच दिनों तक चली। इसका परिणाम यह हुआ कि उड़ीसा के कला जगत में समकालीन कला के प्रति तेजी से रुचि पैदा हुई। बहुतों को प्रेरणा मिली। कुछ कलाकारों ने पश्चिमी कला प्रवृत्तियों को ज्यों का त्यों अपनाना शुरू कर दिया। अधुनातन कलाकारों में अजीत केशरी रे, काले और सफेद रंगों के चित्र बनाने में बेजोड़ हैं। उसके 'ग्राफिक्स' में आधुनिक और प्राचीन का अद्भुत समन्वय हुआ है। विषय वस्तु भी उसने आधुनिक और यथार्थ जीवन से ही चुनी है। प्रफुल्ल मोहन्ती ने उड़ीसा की लोकचित्र कला को आधुनिक सन्दर्भ दिया है। उसने परम्परागत उड़िया आकृतियां, अल्पना आदि को भी अपने चित्रों का विषय बनाया। उसके जल रंगीय चित्रों में सरलता और जीवन्तता है।

उड़ीसा की परम्परागत कला-शैली को आधुनिक-चित्र-प्रवृत्तियों के परिणाम काफी पिछड़ जाना पड़ा। कुछ चित्रकारों ने बड़ी कुशलता से वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुरातन को पुनःप्रतिष्ठा देने का सफल प्रयत्न भी किया है। गौरांग चरण सोम ने कलकत्ता में बिरला प्लेनेटेरियम में चित्र बनाये हैं, जो वास्तव में बहुत आकर्षक हैं। हिन्दुस्तान में कई कलाकारों और कला समीक्षकों ने उनकी सराहना की है। क्योंकि उनमें स्पष्ट ही उड़ीसा की कला में प्राप्त ओज, जीवन्तता, रंगों की ऊष्मा और रेखाओं की समृद्धि का संयोग मिलता है। 'रागमाला' की भूमिका में ओ. सी, गांगुली

जैसे विद्वान ने लिखा है—'श्री सोम ने राग-रागनियों को चित्रबद्ध कर बड़ा उपयोगी काम किया है। उसकी आकृतियों और अलंकरण शैली का आधार संस्कृत के संगीत ग्रन्थ 'नाद विनोद' के ध्यान-श्लोक हैं, जिनका उसने अपनी कृतियों में यथावत् चित्रण किया है।' उड़ीसा की परम्परागत कला में प्राप्त अलंकार प्रधान रेखांकन और शिल्प ने गोकुल बिहारी पटनायक के कृतित्व को बहुत प्रभावित किया। उनके द्वारा ताड़पत्र पर लिखी गयी कई आकृतियों में उड़ीसा की परम्परागत कला की अकल्पित ऊंचाई देखने में आती है। उसने पाश्चात्य कलाकारों की तरह अपनी चित्रकृतियों में परम्परागत और लोकशैली की कला में उपलब्ध भावना, गति और प्रसन्नता की चेतना को प्रश्रय दिया है।

गत दो दशकों में उड़ीसा के युवा चित्रकारों ने अनेक अत्याधुनिक चित्रों का अंकन किया। उन्होंने अनेक नये प्रयोग करना भी शुरू किया। यहां तक प्रयोग करना इनके लिए सम्भव हुआ कि ये कलाकार उड़ीसा की परम्परा से एकदम अलग जा पड़े। इनके चित्रों में एक बड़ा 'ब्रेक थ्रू' देखने में आता है। अमूर्त चित्रों का अंकन स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई। इनके पहले के चित्रकार कुछ सिद्धान्तों का पालन करते हुए ही चित्र कर्म करते थे। उनके विषय भी सीमित थे। मगर अब विषय और रंग-रेखाओं के प्रयोग की स्वाधीनता है। हम उड़ीसा की समकालीन चित्र कला को निश्चय ही दो खंडों में बाँट सकते हैं - अमूर्त और स्वयं स्फूर्त। आज का कलाकार भावुक कम और यथार्थवादी अधिक है। जीवन अपने बहुरूपों में कुंठाग्रस्त और अस्पष्ट हो गया है। आधुनिक संस्कृति एक ऐसे बिन्दु पर आ गई है, कि उससे आगे जाने की अब सम्भावना नहीं आती। अतः चित्रकार को काँटों के रास्ते से गुजरना और अनचाही स्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। सामाजिक असुरक्षा, असंतुलित मस्तिष्क, आन्तरिक द्वन्द्व और सांस्कृतिक भ्रष्टता ने जीवन के वास्तविक अर्थ को भी बदल दिया है। अतः चित्रकार के लिए विभेदों को पैदा करने वाली रुकावटों, असहायक स्थितियों और कीचड़-उछालू परिस्थितियों से लड़ने के बजाय बौद्धिकता का ही आश्रय लेना सुरुचिकर लगने लगा है। फिर भी; कलात्मक सृजन के लिए आज का सामाजिक वातावरण अपेक्षाकृत अधिक अनुकूल है।

अनुवाद : डा० श्याम परमार

नीलमणि मिश्र

उड़ीसा की तालपत्री पोथियाँ

उड़ीसा में तालपत्री पोथी का व्यवहार कब से आरंभ हुआ, इसके सम्बन्ध में कुछ भी निर्दिष्ट कह सकना संभव नहीं है। फिर भी विभिन्न सूत्रों से अनुमान लगा कर इतिहासकार-लिपितत्त्वविद् श्री सत्यनारायण राजगुरु का मत है कि तालपत्रों पर लिखने की कला का आरंभ उड़ीसा में संभवतः खीष्टीय पंचम या षष्ठ शताब्दी में माठर-वंशीय राजाओं के समय हुआ था। उस समय शिल्प-कला का प्रचार अग्रगति के पथ पर था। शिल्पीगण कला के मौलिक नियमों को पहले तालपत्रों पर लिखकर, उसका एक रेखाचित्र अंकन करके, निर्माण-कार्य आरंभ करते थे। आरम्भ में गठन-कौशल के मूल-सूत्र और सिद्धान्तों को तालपत्र पर लिपिबद्ध करके, उस पर आलोचना करने के बाद, कार्यारंभ करने की बात असमीचीन नहीं लगती। विशेषकर पृष्ठपोषक राजाओं को निर्माण-कार्य के सम्बन्ध में सही और विस्तृत धारणा देने के लिये शिल्पीगण अपनी प्रारंभिक योजना को निश्चित रूप से लिपिबद्ध करते होंगे और इसके लिये तालपत्र की आवश्यकता रहती होगी, क्योंकि उड़ीसा में शिलालेख, ताम्रलेख और तालपत्र पर लेखों के अतिरिक्त अन्य किसी भी आधार पर लिखे जाने का प्रमाण नहीं है। अवश्य खीष्टीय अष्टादश शताब्दी के शेषार्ध में लिखित हाथ से बने कागज के कुछ ग्रंथ कटक और पुरी जिले से संग्रहीतकर राज्य संग्रहालय में रखे गए हैं। उसी तरह भूर्जपत्र पर लिखित (वास्तव में वह भोजपत्र नहीं, उसकी छाल होती है) कुछ पोथियां भी वहां

संग्रहीत हैं। यह पोथियां उड़ीसा में अथवा अन्य किसी क्षेत्र में लिखित हुई थीं, यह निर्दिष्ट रूप से कहना संभव नहीं है, क्योंकि उनमें से अधिकांश पोथियों की लिपि बंगला है। इससे प्रतीत होता है कि शायद ये पोथियां किन्हीं दूसरे प्रांतों से लाई गई थीं और यहां संरक्षित हैं। जो भी हो, ख्रीष्टीय षष्ट शताब्दी से आरंभ होकर उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध तक उड़ीसा में लेखन के लिये एकमात्र आधार तालपत्र ही था।

तालपत्र-पोथियों की निर्माण-विधि :

उड़ीसा में ताड़-वृक्षों की बहुलता है। इसलिए यहां ताड़ के पत्तों से कई काम लिये जाते हैं। विशेषकर उड़ीसा के कुटीर-शिल्प के लिये यह एक महत्त्वपूर्ण उपादान है। ताड़ के पत्रों को लेखनोपयोगी बनाने के पहले उन्हें आवश्यकतानुसार माप से यत्न के साथ काट कर सजाना पड़ता है। उसके बाद उसके ठीक केन्द्रबिन्दु पर छेद करके तालाब में दो-तीन दिन के लिये पंक से ढंक कर रखना पड़ता है। फिर उसे बाहर निकाल कर दिन में धूप में सुखा कर, रात को खुला रखना होता है, जिससे उस पर ओस पड़ सके। इस तरह दो-तीन दिन करने के बाद उन पत्रों को धान्याशय में धान से ढंक कर लगभग एक सप्ताह तक रखने से पत्ते पीले हो जाते हैं और उस अवस्था में उन पत्तों पर लिखा जा सकता है। फिर उन पत्तों के गुच्छे को सीधा रखने के लिये दोनों ओर जिल्द-सी काठ की पटरी लगायी जाती है और बीच में बने छेद में धागा डाल कर बांधा जाता है। इस पूर्णरूप पोथी को 'सांच' या 'छंचा' भी कहते हैं। 'सांच' के तैयार हो जाने पर उस पर लेखन कार्य आरंभ कर दिया जाता है।

यहां यह उल्लेखनीय है कि कागज पर लिखने की तरह इस पर कलम से नहीं लिखा जा सकता। लोहे से बनी एक लेखनी के द्वारा लिपियों की खुदाई की जाती है। इसलिए आजकल के लिखने वाले इस पर लिख नहीं सकेंगे। लिपि की खुदाई के समय दोनों हाथ और घुटनों को काम में लगाया जाता है। यह कार्य टेबल-कुर्सी पर संभव नहीं होता।

तालपत्र पर लिपि की खुदाई हो जाने पर पोथी को स्थाई रूप से संरक्षित करने के लिये प्राचीन-पद्धति से बने एक रसायन का प्रयोग किया जाता है। उस रसायन के प्रयोग से लिपियां एक तो स्पष्ट हो जाती हैं और साथ ही; कीटों के द्वारा नष्ट नहीं होतीं। सेम के पत्तों का रस, हल्दी, तिलतेल एवं पुआल की राख—इन सबको मिला कर वह रसायन प्रस्तुत किया जाता है।

पोथिकाओं को भाद्रपद या आश्विन में धूप में सुखाना और उन्हें सही तरह से बांध कर रखना हितकर है। उस पर पानी गिराना अथवा केवल तेल का प्रलेप देना अत्यन्त हानिकारक है। साथ-साथ श्लथबन्धन और चूहों से बचा कर रखने की चेतावनी भी प्राचीन लिपिकारों ने दी है—

जलाद्रक्ष तैलाद्रक्ष रक्ष मां श्लथबन्धनात् ।
आखुभ्यः परहस्तेभ्यः एष वदति पुस्तकम् ।

इसके साथ-साथ लिपिकारों ने पोथीलेखन के परिश्रम की सूचना देकर उन्हें संरक्षित कर रखने के लिये समाज से अधिक यत्नशील होने का अनुरोध किया—

भग्नः पृष्ठः कीट ग्रीवा तुलौदृष्टिरधोमुखः ।
यत्नेन लिखितं ग्रन्थं पुत्रवत् परिपालयेत् ।

प्राचीन काल में प्रायः सभी आवश्यक लेखन-कार्य तालपत्रों पर होता था। दैनिक हिसाब से लेकर मुकदमे की राय, दलील दस्तावेज आदि हर लेखन-कार्य के लिये ताड़ के पत्रों को काम मे लाया जाता था। उड़ीसा में आज भी विवाह के अवसर पर कन्या के घर से भेजा जाने वाला प्रथम आमंत्रण तालपत्र पर ही लिखा जाता है।

तालपत्र पर लेखन और उड़िया-लिपि :

उड़िया लिपि का आरंभ और तालपत्र पर लेखन-कला का विकास लगभग एक साथ हुआ था। तालपत्र पर लिखने की सुविधा के लिये उड़िया-लिपि में शिरोरेखा नहीं है और लिपियां वर्तुलाकार हैं। ऊपर शिरोरेखा के रहने से पत्तों के कट जाने का डर बना रहेगा और लेखन कार्य भी शीघ्रता से नहीं होगा। लिपितत्त्वविदों के मतानुसार तालपत्र पर लिखे जाने के कारण उड़िया अक्षरों की आकृति वर्तुल है।

इस कथन में कोई अत्युक्ति नहीं है कि आज तक उड़ीसा के विभिन्न अंचलों से जो पोथियां संगृहीत हुई हैं, अथवा लोगों को जिनकी जानकारी है, उनकी संख्या नगण्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के शेषार्ध में जे. लंग, जॉन बीम्स, सण्टर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने उड़ीसा में लक्षाधिक तालपत्र पोथियों का विवरण प्रकाशित किया था और १९१६-१७ में स्वर्गीय हरप्रसाद शास्त्री और मैकडोनाल्ड ने केवल पुरी के सोलह शासनों में संरक्षित लक्ष-संख्यक पोथियों का प्रामाणिक तथ्य उद्घाटित किया था। इसके अलावा पुरी के विभिन्न मठों में हजारों की संख्या में संरक्षित पोथियों को वे देख आए थे। आजकल भी उड़ीसा के विभिन्न अंचलों में गवेषणा के लिये जाने वाले विद्वानों को लगभग प्रत्येक गांव में एक हजार-दो हजार के आसपास की संख्या में पोथियों का

संधान प्राप्त हो रहा है। अवश्य धीरे-धीरे तालपत्र पोथियों के प्रति लोगों का आदर घटता जा रहा है, फलस्वरूप कई जगह ये पोथियां नष्ट होती जा रही हैं।

उड़ीसा में आजकल दो-तीन संगठन तालपत्र पोथियां संग्रहीत कर रहे हैं, उनमें से एक है—राज्य संग्रहालय, जहां इस समय लगभग सोलह-सत्रह हजार पोथियां हैं। ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय में लगभग एक हजार पोथियां हैं। इन संगठनों के अलावा रघुनन्दन पाठागार (पुरी), केन्द्रीय संस्कृत महाविद्यालय (पुरी), विद्याभूषण संस्कृत महाविद्यालय (बलांगीर) आदि संस्थानों में भी शताधिक पोथियां हैं। व्यक्तिगत रूप से अध्यापक डाक्टर बंशीधर महन्ति, अध्यापक श्री सुदर्शन आचार्य, पंडित श्री अनन्त त्रिपाठी शर्मा, भिंगापुर के चौधुरी महाशय, पंडित श्रीधर शतपथी आदि विशिष्ट विद्वानों के तत्त्वाधान में भी कई पोथियां सुरक्षित हैं।

उड़ीसा राज्य संग्रहालय में संरक्षित पोथियों को वेद, तंत्र, ज्योतिषशास्त्र, पुराण, धर्मग्रंथ, आयुर्वेद, काव्य आदि छब्बीस विभागों में बांट कर एक सूचीपत्र बनाया गया है। इनमें से कुछ ग्रंथों को सांस्कृतिक व्यापार-विभाग के माध्यम से साहित्य अकादमी द्वारा और अन्य प्रकाशन-संस्थाओं द्वारा प्रकाशित किया गया है।

तालपत्र पर चित्रकारी ओडिशी कला का एक आश्चर्यजनक वैचित्र्य है। लोहे से बनी लेखनी से तालपत्र पर खुदाई करके चित्रांकन करना भारत भर में शायद उड़ीसा के शिल्पियों का एकाधिपत्य या अधिकार था। उत्कलीय शिल्पियों ने विभिन्न काव्यों का चित्रमय संस्करण तालपत्र पर प्रस्तुत करके संसार को चमत्कृत किया है।

इन चित्रों में अद्‌भुत विशेषताएं भी हैं। जैसे कि केवल एक आँख बना कर उसके जरिये समग्र शरीर के स्वरूप को प्रकाशित करना। चित्रों में पुरुषों की नुकीली नाक, स्त्रियों द्वारा धारण किये हुए 'कच्छ', पुरुषों के शिर पर काढ़ी हुई वेणी, और स्त्रियों से आभूषणों में 'नथ', 'दण्डी', 'चन्द्रहार', 'वलय', 'बाहुली', 'सुवर्नबाही', 'बिदमुदि', 'झुण्टिआ', 'पाहुड़' आदि विशेष आकर्षण हैं।

राज्य संग्रहालय में संरक्षित पोथी-चित्रों में 'अमरुशतक', 'गीत गोविन्द', 'उषा-हरण', 'चित्र काव्यबन्धोदय', 'चउपठि रतिबन्ध', 'आर्त्तत्राण चउतिशा', 'वसन्तरास', 'दशावतार' आदि चित्र भारतीय तथा विश्व के कला प्रेमियो को आकर्षित करते हैं।

संक्षेप में, हम इतना ही कहेंगे कि ऐतिहासिक तथ्यों के प्रामाणिक उपादान में तालपत्रीय पोथियों की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्‌गाता

डॉ॰ कृष्णचंद्र पाणिग्राही

उड़िया स्थापत्य

'ईसा की ७वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी के मध्य, उड़ीसा में असंख्य मंदिर बनाए गए। यह सच ही कहा गया है कि समूचे शेष भारत के मंदिरों को मिला देने पर भी उड़ीसा में आज कहीं अधिक मंदिर हैं'—ये विचार हैं प्रो॰ एस॰ के॰ सरस्वती के, जो प्राचीन भारतीय स्थापत्य के एक अधिकारी विद्वान माने जाते हैं। उड़ीसा में इन प्राचीन स्मारकों के बहुतायत में बचे रहने के अनेक ऐतिहासिक कारण हैं। भारत में मुस्लिम-शासन १२वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में तब प्रारंभ हुआ, जब घुर के मुइजुद्दीन मुहम्मद ने तराई की दूसरी लड़ाई में पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर मार डाला, और उसके सहयोगी योद्धाओं ने बंगाल समेत उत्तरी भारत पर अपना अधिकार पूरा कर लिया। तब भी सन् १५६८ ई॰ तक उड़ीसा एक कट्टर हिन्दू राज्य रहा और इस प्रकार उसे हिन्दू परंपराओं के अनुसार मंदिर निर्माणादि की गति-विधियां निर्विघ्न-रूप से चला पाने के लिये, ३७५ वर्षों का लम्बा कालखण्ड सुलभ हुआ। उड़ीसा में मुस्लिम शासनकाल कम समय तक रहा, केवल ९६ वर्षों तक। इस बीच केवल औरंगजेब के शासन के कुछ वर्षों को छोड़ कर, उड़ीसा में हिन्दू मंदिरों और स्मारकों का बड़े पैमाने पर विनाश किया जाना विदित नहीं होता। इतना ही नहीं, उड़ीसा पर राज्य करने वाले एक के बाद दूसरे राजवंशों में अपने-अपने राज्यों के प्रमुख धार्मिक केन्द्रों पर, मंदिरों की संख्या बढ़ाने की होड़-सी

लगी रही। ये समस्त कारण, पूर्वीय भारत के इस भाग में, आज भी प्राचीन मंदिरों और स्मारकों का, इस बहुतायत में बच रहना स्पष्ट करते है।

लेकिन उड़िया स्थापत्य के इतिहास का प्रारंभ मंदिर-निर्माण की गतिविधियों के समय से नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि उड़िया स्थापत्य का इतिहास तथा उड़ीसा का इतिहास—जो उड़ीसा प्रदेश पर अशोक विजय से अर्थात् २६१ वर्ष ईसा पूर्व से माना गया है—साथ-साथ चलते हैं। भुवनेश्वर के निकट धौली में और गंजाम जिले के जऊगड़ा नामक स्थानों पर प्राप्त अशोक के शिलालेखों में, तोषाली एवं समपा नामक दो नगरियों का उल्लेख मिलता है, जिनमें से पहली नगरी कलिंग-साम्राज्य की राजधानी रही प्रतीत होती है। अशोक के धौली के शिलालेख में तोषालि के राजकुमार के नाम दो विशेष आदेश अंकित हैं, जब कि जऊगड़ा के शिला लेख में, यही विशेष आदेश महामात्यो के नाम संबोधित किये गए हैं। इससे स्पष्ट ही यह विदित होता है कि तोषाली अधिक महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि वहां राजकुमार का निवास-स्थान था। धौली और जऊगड़ा के अशोक के शिलालेख यह भी बताते हैं कि उसका नव-विजित कलिंग-राज्य दो भागों—उत्तरी और दक्षिणी—में बंटा हुआ था और प्रमाणतः तोषाली ही, जो उसके उत्तरी भाग में स्थित थी, उसकी राजधानी थी। अधिकांश विद्वान आजकल सोचते हैं कि शिशुपालगढ़ में, जो भुवनेश्वर से एक मील तथा धौली से तीन या चार मील की दूरी पर स्थित है, तोषाली की प्राचीन नगरी अवस्थित रही है। १९४७-४८ और १९४८-४९ में उड़ीसा सरकार की सहायता से, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग ने, इस प्राचीन किले की खुदाई की, उससे जो अवशेष प्राप्त हुए, उनसे तोषाली के साथ इसकी एकरूपता का पूर्ण आभास मिलता है।

शिशुपालगढ़ के खंडहर एक सुनियोजित तथा सुरक्षित नगरी का परिचय देते हैं, जो वर्गाकार हैं, जिनकी प्रत्येक दिशा पौन मील लम्बी है और दो मजबूत प्रवेशद्वार हैं। उत्खनन का कार्य, पश्चिमी द्वार पर तथा किले के भीतरी भाग में—जो इस द्वार से दूर नहीं था—किया गया था। जो वस्तुएं पाई गईं, उनमें मिट्टी के बरतन, सिक्के और मुद्राएं विशेष थीं। इन वस्तुओं के परीक्षण से खुदाई करने वाले लोग इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि यह नगरी ई० पू० ३री-४थी शती में बसी थी और ईसा की ८वीं शती तक इस पर अधिकार कायम रहा। पश्चिमी द्वार के मार्ग में जिन भवन-अवशेषों का पता लगाया गया वे बहुत ही सुन्दरता के साथ निर्मित दरवाजे की ओर आने का मार्ग दिखाते हैं। उसमें दोनों ओर दो भव्य प्रहरी-स्तंभ बने हुए हैं।

खोदकर निकाला गया यह रास्ता, निस्मन्देह खुदाई से ही प्रकट हुआ—सर्वोत्तम स्मारक है। यह सच्चाई, कि शिशुपालगढ़ ई० पू० ३री शताब्दी में विद्यमान था, धौली में अशोक के शिलालेख की, तोषाली के साथ उसकी समानता के पक्ष में एक सबल तर्क प्रस्तुत करती है। शिशुपालगढ़, यह नाम निस्सन्देह कालान्तर में गढ़ा गया है।

इस प्रकार शिशुपालगढ़ में हम धर्म-निरपेक्ष स्थापत्य के वे प्राचीनतम नमूने पाते हैं, जो उड़ीसा तथा भारत के दूसरे भागों में भी दुर्लभ हैं। उडीसा के अन्य स्मारकों में जो निश्चित रूप से अशोक के शासन-काल के माने जा सकते हैं, एक हाथी का वह अग्रभाग, जो धौली में अशोक के शिलालेख वाली चट्टान पर ऊपर की ओर खुदा हुआ है तथा एक अशोक-स्तम्भ, जो अब विशाल शिवलिंग के रूप में बदल गया है, जो अब भुवनेश्वर में भास्करेश्वर मंदिर में स्थापित है, विशेष हैं। किन्तु हाथी की यह आकृति, अशोक के स्थापत्य की सामान्य विशेषताएं प्रकट नहीं करती। जैसे प्रभावशाली परिष्कार और शारीरिक अंकन में दृढ़ यथार्थवाद। इस प्राणी के मूर्त्ति-शिल्प में, जो अवश्य ही अशोक के शासनकाल की कृति है, सामान्य मौर्य-विशेषताओं की अनुपस्थिति के कारण, कुछ विद्वान यह सोचने लगे हैं कि यह किसी स्थानीय कलाकार की रचना है। वे यह मानने के लिये तैयार हैं कि प्राचीन कलिंग युद्ध में, अर्थात् पूर्व-मौर्यकाल में, स्थानीय कलाकारों को, पत्थर पर खुदाई करने का अच्छा अनुभव प्राप्त था। यह पत्थर भुवनेश्वर में सरलता से सुलभ और काम में आने की वस्तु है। अपनी शक्ति और संस्कृति से जागरूक कलिंग ने, अशोक के काल में, मगध के उभरते साम्राज्यवाद को एक बड़ी चुनौती दी और खारबेल के शासन-काल में इस चुनौती ने आक्रमण का रूप ले लिया। अशोक के शासन-काल में, कलिंग अवश्य ही अपनी शक्ति के शिखर पर रहा होगा, नहीं तो उसने मगध के साम्राज्यवाद को चुनौती देने का साहस न किया होता। इस स्थिति में यह सोचना अकारण नहीं है कि अशोक ने ई० पू० २३१ में जब उस पर चढ़ाई की, तब कला का उसका अपना एक स्कूल था, जिसमें उसके अपने कलाकार थे। यही कारण है कि उड़ीसा में प्राप्त होने वाले अशोक-स्मारकों पर जहां अशोक के समय में कलिंग के नाम का अंकन हुआ है, सामान्य मौर्य-विशेपताएं दिखाई नहीं देतीं।

भुवनेश्वर के निकट उदयगिरि और खंडागिरि की गुफाएँ, उड़ीसा में भवन-निर्माण गतिविधियों का नया विकास प्रदर्शित करती हैं। इन दो पहाड़ियों पर—जिनके पुराने नाम कुमार तथा कुमारी पर्वत हैं—कई कृत्रिम गुफाएँ भी हैं। स्थानीय जनों द्वारा उन्हें कई नामों से पुकारा गया है, जैसे—जय-विजय गुम्फा, पनस गुम्फा,

स्वर्गपुरी, मंचपुरी, हाथी गुम्फा, गणेश गुम्फा, रानी गुम्फा, अनंत गुम्फा, नवमुनि गुम्फा, ललतेन्दुकेसरी गुम्फा आदि। ये स्मारक विशद रूप से दो वर्गों में बांट दिये गए हैं—प्राचीन तथा अर्वाचीन। प्राचीन-वर्ग के पुरातत्त्व-स्मारकों का काल—जो ई० ५० की प्रथम अथवा द्वितीय शताब्दी माना गया है,—कई ब्राह्मी शिलालेखों, हाथी गुम्फा में खारवेलों के शासन-काल के एक लम्बे शिलालेख, के आधार पर—निश्चित किया गया है। हाथी गुम्फा के शिलालेख में यह उल्लिखित है कि अपने शासन के १३ वें वर्ष में खारबेल ने कुमारी पर्वत पर (उदयगिरि में; जैन तपस्वियों के रहने के लिए ११७ गुफाएं खुदवाईं। ऐसा लगता है कि खारवेल द्वारा खुदवाई गई इन समस्त गुफाओं का हमें पता नही चल पाया है। और यह बहुत संभव है कि उनमें से कुछ गुफाओं को भुवनेश्वर के मंदिर-निर्माताओं ने—जो इन पर्वतों से पत्थर प्राप्त किया करते थे—नष्ट कर दिया हो। इन दो पहाड़ियों में जो गुफाएं आज बची हुई हैं, गुफा-स्थापत्य के प्राचीन वर्ग से संबंधित हैं। मूलभूत जैन-आदर्शों और परम्पराओं से प्रेरित, जैन मुनियों के लिये बनाये गए ये गुफा रूपी निवास, जैन पूजा की वस्तुएं और विधि, पवित्र वृक्ष अथवा पवित्र प्रतीक की पूजा के चित्रमय दृश्य तथा बीते-पुराने युग की कथाओं—जिनमें से कुछ का अर्थ आज भी अज्ञात है—का वर्णन करते हैं। यद्यपि अधिकांश मूर्त्तियाँ साधारण हैं, उनमें कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जो वास्तविक कलात्मक श्रेष्टता एवं अपने निर्माण के युगानुरूप शक्ति और सरलता की प्रतिमूर्त्ति हैं। प्राचीनता की दृष्टि से वे भरहुत, साँची और बोधिगया की कोटि में आयी हैं, और उनमें इन कलातीर्थों की समस्त विशेषताएं भी मौदूद हैं।

ये गुफाएं बहुत पूर्व के उड़िया भक्तिवादी मंदिर-स्थापत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके बारे में भव्य और उत्तम कुछ भी नहीं है। वे छोटी, सरल, और गठन-निर्माण की दृष्टि से उपयोगितावादी चरित्र लेकर बनाई गई है। उनका उद्देश्य वर्षा ऋतु में भ्रमण करते हुए साधुओं के लिये रहने-ठहरने की सुविधाएं प्रदान करना था। उनमें से कुछ इतनी छोटी हैं कि उनमें केवल एक या दो व्यक्ति ही ठहर सकते हैं। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं, जैसा कि रानी गुम्फा, तथा मायापुरी और वैकुण्ठपुरी गुम्फा, जो दो मंजिली और इतनी बड़ी हैं कि उनमें कई व्यक्ति एक साथ निवास कर सकते हैं। प्रथम वर्ग की समस्त गुफाएं, कला और स्थापत्य की उसी शैली से संबंधित हैं, जिसका निर्माण महान सम्राट् खारवेल ने किया था और जो उसकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद ही नष्ट हो गई—लगती हैं। खंडगिरि में स्थित द्वितीय वर्ग के गुफा-मंदिर, निश्चय ही ११ वीं शताब्दी के हैं, जैसा कि सोमवंशी राजा उद्योत

केसरी का उल्लेख करते दो शिलालेखों द्वारा प्रमाणित होता है। खारवेल के युग से लेकर जो ई० पू० पहली शताब्दी में समाप्त हुआ, ७ वीं शताब्दी तक जब शैलोद्भव ने उड़ीसा पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया, राजनैतिक घटनाओं और स्थापत्य की कोई सिलसिलेवार अनुक्रमणिका प्राप्त नहीं होती।

यह लम्बा कालखण्ड उड़िया इतिहास का अंधकार-युग माना गया है। यद्यपि हमें इस युग का स्पष्ट राजनैतिक इतिहास ज्ञात नहीं, तथापि आज यह संभव है कि कला और स्थापत्य के कुछ उदाहरणों को इस अंधकार-युग की ही देन के रूप में पहचाना जा सके। अभी कुछ दिन पूर्व भुवनेश्वर क्षेत्र से यक्ष की चार प्रतिमाएं खोज निकाली गई हैं और उन्हें उड़ीसा राज्य-संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। बाद के मंदिरों के रूढ़िगत बौनों के समान, ये यक्ष भी किसी वस्तु के बोझ से, जिसे वे ऊँचे हाथों से ऊपर उठाते हैं, दब रहे दिखाए गए हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि उनका किसी वस्तु के निर्माण में उपयोग किया था। बहुत संभव है कि स्तूप-स्थापत्य में इन यक्षों की बिल्कुल वही विशेषताएं हैं, जो सांची के स्तूप के पश्चिम द्वार के आसपास के भागों को आधार देने वाले स्तम्भों के ऊपरी भाग पर खुदी यक्षों की मूर्त्तियों में पाई जाती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि भुवनेश्वर-क्षेत्र में कुछ स्तूपों का निर्माण हुआ था, जिनके कि ये यक्ष अवशेष हैं। कुछ नाग-प्रतिमाएं, जो मथुरा और राजगिरि की प्रतिमाओं से मिलती हैं, भुवनेश्वर के उपनगरों से प्राप्त हुई हैं और उन्हें उड़ीसा राज्य-संग्रहालय में सुरक्षित रखा गया है। कुछ विद्वानों का मत है कि ये प्रतिमाएं ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी की हैं। सही है कि कला-स्थापत्य के ये पुराने प्रतिरूप उस युग के लोगों के धार्मिक विश्वासों की झलक दिखाते हैं। ऐसा लगता है कि खारबेल राजवंश के पतन के पश्चात् जब जैनमत को एक धक्का लगा, तब नागपूजा और यक्षपूजा उड़ीसा में अत्यधिक लोकप्रिय थी।

यद्यपि अनेक शिलालेखों से, उड़ीसा पर इस समय, गुप्त प्रभुत्व के युग का आभास मिलता है, कला और स्थापत्य की वस्तुओं में मात्र गुप्त-विशिष्टताओं की छाप वाली वस्तुओं की पहचान करना कठिन है। गुप्त-कला का जो एक निश्चित नमूना केऊँझर जिले के देनगापोसी नामक स्थान पर प्राप्त हुआ है, वह एक भित्ति-चित्र है, जिसमें एक शाही जलूस दिखाया गया है। उसके नीचे एक पंक्ति भी लिखी हुई है जिसमें भंजराजा दिशाभंज का उल्लेख है एवं पुरालिपि ४ थी या ५ वीं शताब्दी में अंकित की गई है। इस भित्ति-चित्र के बिल्कुल आसपास कई प्राकृतिक गुफाएं हैं, एक मुखलिंगम् है और ईंटों के कई छोटे चबूतरे हैं। यह स्पष्ट है कि यह मुखलिंगम्

इस स्थान के मुख्य देवता थे, जिन्हें ईंटों से बने एक मंदिर में, जो अब चबूतरा बन गया है—प्रतिष्ठित किया गया था ।

कुछ विस्थापित मूर्त्तियां और स्थापत्य की ऐसी वस्तुएं भी हैं, जो भुवनेश्वर में पाई गई हैं । उन्हें या तो किन्हीं मन्दिरों में रख दिया गया है या वहां प्रतिष्ठित कर दिया गया है । लेकिन वे निस्सन्देह उन मन्दिरों की मूर्त्तियां हैं, जो आज कहीं दिखाई नहीं देते । पूर्वयुग के मन्दिरों की आज भी इन जीवित पहचानों से यह विदित होता है कि रेखा-मन्दिर के मुख्य प्रकार के रूप में उभरने से पूर्व, मन्दिर-निर्माण के क्षेत्र में प्रयोग का भी एक दौर चला था। मूर्त्तिकला और स्थापत्य के वही अंश जो बाद के मन्दिरों में जुड़े हुए हैं, जाजपुर में भी प्राप्त होते हैं । इससे यह प्रदर्शित होता है कि यहां भी कई प्राचीन मन्दिर बनाये गये थे । उड़ीसा में पुराने मन्दिरों को सुरक्षित रखने की—उस स्थिति में भी जब कि मूल मन्दिरों को नष्ट कर दिया गया—एक रीति रही है । उसी जगह नए मन्दिर बना दिए गए हैं, जिनमें कला और स्थापत्य के पहले के प्रतिरूप रख दिये गए हैं अथवा जोड़ दिये गए हैं । इन बाद में जोड़ी हुई कला-वस्तुओं का जब बारीकी से अध्ययन किया जाता है, तब यह प्रमाणित होता है कि आज के मन्दिरों के बनने से पूर्व भी उड़ीसा के सांस्कृतिक केन्द्रों में कई मन्दिर थे । पहले के मन्दिरों का—जो आज हमारे सामने नहीं हैं और जिनसे आज के मन्दिरों में मौजूद कई विलग हुई स्थापत्य की वस्तुएं कभी जुड़ी हुई थीं—रूपाकार निश्चित करना कठिन है । लेकिन वे यह बताते हैं कि स्थापत्य की जिस मूल-शैली और प्रकार से उनका संबंध है, वह शैली और प्रकार हमसे अज्ञात ही रहा है । ये रूप शायद तत्कालीन कला के क्षेत्र में उन प्रयोगों का परिणाम रहे हैं, जिन्होंने उड़ीसा में अन्ततोगत्वा शिखर तथा रेखा-मन्दिरों को विकसित किया । उदाहरणस्वरूप, मुक्तेश्वर मन्दिर के सामने छोटे मन्दिरों में नाग की दो मूर्त्तियां हैं, जैसा कि मसूराकार छिद्रों से प्रतीत होता है । इन चित्रों का उपयोग सम्भवतया कोष्ठक चित्रों के रूप में किया गया है, लेकिन इस प्रकार के मन्दिर, जिनमें नाग का उपयोग कोष्ठकों के रूप में हुआ हो, अन्यत्र कहीं दिखाई नहीं देते । इससे यह प्रत्यक्ष है कि उड़ीसा के प्राचीन स्मारकों का रूप निश्चयात्मकता से नहीं बताया जा सकता ।

नाग तथा दक्ष की ये प्रतिमाएं जो निश्चय ही किसी वृहत् निर्मिति का अंग रही थीं । अपनी मूल वस्तु से अलग हो गया कलात्मक स्थापत्य का वह अंश, आज तक सुरक्षित बचे ई० पू० की पहली शताब्दी और ७वीं शताब्दी के बीच निर्मित उन मन्दिरों में देखा जा सकता है, जिनकी ऊपर चर्चा की गई है । इसे कुछ विद्वानों ने

उड़ीसा के इतिहास का अंधकार-युग माना है। जहां तक राजनैतिक इतिहास का सम्बन्ध है, यह सही है कि यह नितान्त घटना-विहीन युग रहा। पर जहां तक सांस्कृतिक इतिहास का सम्बन्ध है, पुरातत्त्व और मूर्त्ति-शिल्प की जो वस्तुएं अध्ययन के लिये उपलब्ध हैं, उनसे इस खाई को पाटने में सहायता मिलती है। फिर भी ईसा की ७वीं शताब्दी में एक महान स्थापत्य-आन्दोलन की शुरुआत हुई तथा तब के बने कुछ मन्दिर आज भी अपनी मौलिक, पूर्ववत् स्थिति में विद्यमान हैं। ७वीं शताब्दी के पहले चरण में उड़ीसा भारत की तीन महाशक्तियों—उत्तर में कन्नौज के हर्षवर्धन; दक्षिण-पश्चिम में पुलकेसिन द्वितीय; और पूर्व में अशोक—के संघर्ष का केन्द्र बिन्दु बन गया। कलिंग अथवा उड़ीसा पर सशांक का अधिकार पहले से ही था। शेष दो शक्ति-पुरुष उससे यह प्रदेश छीन लेना चाहते थे। अन्ततोगत्वा सन् ६४३ ई० में उड़ीसा पर विजय प्राप्त कर सकने में हर्षवर्धन सफल हुआ। इन संघर्षरत प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों की युद्ध-भूमि बनने के कारण, पूर्व-पश्चिम और उत्तर-दक्षिण से उड़ीसा के सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित हुए और इस प्रक्रिया में उड़ीसा ने मन्दिर-निर्माण-कला का एक ऐसा रूप प्रस्तुत और विकसित किया, जिसमें इन सब भारतीय भूभागों का प्रभाव लक्षित किया जा सकता है। डॉ० आर. सी. बनर्जी ने, बेल्लारी जिले के एक शिला-लेख का हवाला देते हुए दिखाया है कि नागर, कलिंग, द्राविड़ और वेसरा ऐसे चार प्रकारों के मन्दिरों का भारत में प्रचलन था। प्रो० बनर्जी के इस मत का समर्थन कुछ अन्य विद्वानों ने भी किया है। जो यह मानते हैं कि उड़ीसा में विकसित मन्दिर-स्थापत्य उस कलिंग-शैली का स्थापत्य है, जो पूर्व में बांकुरा, पश्चिम में अमरकंटक और दक्षिण में विजगापट्टनम् तक फैले हुए क्षेत्र में पाया जाता है। यह फिर भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि कलिंग-स्थापत्य नागर-शैली—जो बुन्देलखण्ड के खजुराहो मन्दिरों में चित्रित हुई है—की ही एक उपशाखा है। कलिंग और नागर-मन्दिरों के स्थापत्य और संरचना में थोड़ा अन्तर है, लेकिन मुख्यतया दोनों एक ही मूलधारा से प्रसूत हैं। खुजराहो का कन्दरिया महादेव मन्दिर और भुवनेश्वर का लिंगराज मन्दिर इन दो प्रकारों का अच्छा प्रतिनिधित्व करते हैं।

उड़ीसा के प्राचीनतम मन्दिर, विशेषतः भुवनेश्वर के मन्दिर, यद्यपि लिंगराज के महान मन्दिर की विशिष्टताओं से कम ही सरोकार रखते हैं, तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि उन मन्दिरों ने उस विकसित स्थापत्य और शिल्प के लिए, जो हम लिंगराज मन्दिर में देखते हैं, राह बनाई। भरतेश्वर, लक्षमणेश्वर और शत्रुन्धेश्वर के मन्दिर, जो भुवनेश्वर में रामेश्वर की निकटस्थ परिसीमा में पाये जाते हैं, उड़ीसा के प्राचीन-

तम प्रचलित मन्दिरों में से हैं। वे खंडहरों की स्थिति में हैं, लेकिन उनके अवशेषों से उनकी आकृतियों का अध्ययन किया जा सकता है। शत्रुघ्नेश्वर मन्दिर में कोई शिला-लेख प्राप्त हुआ था, जो बताता है कि मन्दिर का निर्माण लगभग ७वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भ में हुआ। परशुरामेश्वर का मन्दिर इस समूह से काफी मिलता-जुलता था। इन प्राचीन स्मारकों में एक पूर्ण-शिखर मन्दिर की समस्त विशेषताएं थीं, जैसे विमान, शिखर एवं जगमोहन। जगमोहन एक झुका हुआ मण्डप होता है, जिसमें खिड़कियों की कतार वाली ऊपरी मंजिल के साथ बड़ी-बड़ी गुफाएं और पत्थर की जालीदार खिड़-कियां होती हैं। इस मण्डप के अन्दर का भाग, खम्भों से बना एक बड़ा कमरा होता है, जिसमें प्रवेश के दो द्वार होते हैं, जो खिड़कियों के साथ कमरे को प्रकाशयुक्त रखते हैं। मन्दिर के शीर्ष पर शोभायमान हो रहे देवतागण, बाद के मन्दिर में प्रतिष्ठित हुए देव ही हैं और आधार देने वाला झुका हुआ पाषाण-चाप अथवा तोरण मन्दिर के आन्तरिक भाग के द्वार पर सचमुच स्थिति में लगा दृष्टिगोचर होता है। ये समस्त मन्दिर त्रिरथ प्रकार के हैं लेकिन उनमें के 'पग' अथवा उनके आधार स्तम्भ पूरी तरह बनाए नहीं गए। वे लघु चबूतरे से भी अधिक प्रतीत होते हैं, बाद के मन्दिरों के समान आधार-स्तम्भ कम। विमान के प्रत्येक अग्रभाग में तीन आले होते हैं और प्रत्येक आले में, किसी एक ही पत्थर को काटकर बनाई प्रतिमा रखी होती है। इनमें प्राप्त होने वाली ऐसी असंख्य मूर्त्तियां प्रतिमा-विज्ञान के अध्ययन के लिए प्रचुर सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इनके अतिरिक्त शिवजी के जीवन-प्रसंगों और रामायण अथवा महाभारत की घटनाओं का भी इन रेखांकनों में प्रमुख स्थान है। इन अति प्राचीन किन्तु जीवित मंदिरों में कुछ समान विशेषताएं पाई जाती हैं। उनकी ऊंचाई विशेष नहीं है और उनके शिखर तथा अन्य अनुपात (लम्बाई-चौड़ाई) भी साधारण ही हैं। लेकिन वे ऊपर से नीचे तक पूरी तरह अवतार चित्रों और धर्मकथाओं के अंकन से सुशोभित हैं। इन सब को चैत्य-तोरणों, छोटे आलों और पाषाण पट्टिकाओं पर तराशा गया है। ये सौन्दर्य और समर्पण (devotion) के लघु संग्रहालय बन गए हैं। जैसा कि जाजपुर के मन्दिरों में सुरक्षित मूर्त्तिकला और स्थापत्य के कुछ उदाहरण संकेत देते हैं। परशुरामेश्वर मन्दिर की कोटि के मन्दिर, जाजपुर क्षेत्र में भी अवश्य निर्मित हुए होंगे, इस प्रकार का एक मन्दिर गंजाम जिले में, भंजनगर के निकट बड़ागाम में आज भी अच्छी स्थिति में खड़ा है। अतएव उपलब्ध प्रमाण हमें यह सोचने के लिये विवश करते हैं कि इस प्रकार के मन्दिर भुवनेश्वर तक ही सीमित नहीं थे। ऐसा लगता है कि ईसा की ७वीं शताब्दी मे, जब कंगोड़ा के शैलोद्भव नरेश उड़ीसा पर राज्य

करते थे, मंदिरों का यह उपर्युक्त प्रकार उड़ीसा में सर्वत्र प्रचलित था। उन्हें शैलोद्भव प्रभुत्व के कालखंड के साथ निर्धारित करना समीचीन होगा।

७वीं शताब्दी ई० में निर्मित मन्दिर उसके बाद आने वाले युगों के मन्दिर-निर्माताओं के लिए उदाहरण बने रहे। शिखर एवं रेखा-मंदिर ही मुख्य प्रकार के रूप में चलते रहे, अलबत्ता मन्दिर स्थापत्य के दो नए प्रकार, जो भद्र या पिढ़ा और खक्करा नामों से जाने जाते हैं, भी अस्तित्व में आए। यह अंतिम प्रकार, जो भुवनेश्वर के वैताल और गौरी मन्दिरों में तथा पुरी जिले के प्राची घाटी के चौरासी नामक स्थान के शक्ति मन्दिर में दिखाई देता है, अधिक प्रचलित नहीं है। ये भद्र और पिढ़ा मंदिर, अपनी शैली में अग्रणी होने के कारण, दसवीं शताब्दी ई. के बाद बनने वाले सब मंदिरों के द्वार, मण्डप से बन गए। अनेक ऊपर टिकी हुई आड़ी कतारें ज्यों-ज्यों ऊपर चढ़ती हैं, अदृश्य होती जाती हैं और शीर्ष पर अमलोक के साथ समाप्त हो जाती हैं। यह एक विशिष्ट द्रविड़ प्रभाव का सूचक है। इस प्रकार उड़ीसा के मन्दिर नागर और द्रविड़ शैलियों का मिश्रण हैं। उड़ीसा की स्थिति के कारण, जो उत्तर में आर्य-संस्कृति और दक्षिण में द्रविड़-संस्कृति को एक दूसरे से जोड़ती है, यह अपरिहार्य था।

परशुरामेश्वर और उसके सजातीय मंदिरों के बाद जिस प्रकार का मंदिर समूह प्रकट हुआ, उसे उन भौम-नरेशों के सांस्कृतिक और राजनैतिक कालखंड के साथ जोड़ा जा सकता है, जिन्होंने ८वीं और १०वीं शताब्दी के मध्य उड़ीसा पर शासन किया। उनके भवनों में परम्परा की निरंतरता सुरक्षित रखी गई है, लेकिन कुछ नवीनताएँ, परिवर्तन और सुधार जो उनमें देखे जाते हैं, उनको एक विशिष्ट वर्ग-सत्ता प्रदान करते हैं। पहले के सभी मन्दिर त्रिरथ कोटि के थे, लेकिन भौम-कालीन मंदिरों में पंचरथ-प्रणाली का प्रयोग किया गया। मंदिर के शयन-कक्ष (Pagas) अभी भी अविकसित ही हैं और जैसा कि परशुरामेश्वर में है, वे सपाट प्रक्षेपण ही लगते हैं, अलबत्ता उनकी संख्या बढ़कर पाँच हो गई है। शैली और अभिनय में भौम-मंदिरों की मूर्त्तियाँ अपने सन्तुलन और प्रति-सन्तुलन के साथ शक्ति तथा उत्साह, सुन्दर गठन, लचीलापन और परिप्रेक्ष्य भी लिये हैं (अर्थात्-दृष्टि)। कला और स्थापत्य दोनों में, इन अन्य कई विशेषताओं का ध्यान रखते हुए, हम उड़ीसा के अनेकानेक मंदिरों में से भौम-स्मारकों को अलग कर सकते हैं। मात्र भुवनेश्वर में, उपर्युक्त विशिष्टताओं से सम्पन्न लगभग एक दर्जन मंदिर खोज निकाले जा सकते हैं, लेकिन भौम-युग के लोग बहुत बड़े भवन-निर्माता थे और भौम-स्मारकों के अवशेष उड़ीसा के अन्य भागों में भी पाए जाते हैं। पुष्पगिरि विहार का कला तथा स्थापत्य का बौद्ध-संप्रदाय, जिसे युआन-

च्वांग ने देखा और जिसका उसने अपने यात्रा-संस्मरण में वर्णन किया और जो अब कटक जिले की उदयगिरि, ललितगिरि और रत्नागिरि पहाड़ियों के अवशेषों में दिख-लाई देता है, भौम-युग में ही फूला-फला था। इस क्षेत्र में जो विशाल अवशेष मिले, उन्होंने प्राचीन वस्तुओं के संग्राहकों के लिये खूब सामग्री जुटाई। ये लोग उन वस्तुओं को कलकत्ता, पटना और पेरिस जैसे सुदूर स्थानों को ले गए। श्री जॉन बीम्स इस क्षेत्र से एक बारसक और मूर्त्तियों का संग्रह कटक लाए। आज भी इस संग्रह की अधिकांश वस्तुएँ कटक की बनियाशाही में और रवैना कॉलेज के पास एक आधुनिक संग्रहालय में देखी जा सकती है। अभी कुछ ही दिन पूर्व भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण-विभाग द्वारा रत्नागिरि पहाड़ी पर कुछ टीलों की खुदाई की गई। इस खुदाई में कई सुन्दर प्रतिमाओं और अन्य प्राचीन वस्तुओं के साथ स्तूपों, विहारों तथा मंदिरों के चिह्न भी प्राप्त हुए, जिन्हें उसी स्थल पर बनाए एक संग्रहालय में रखा गया है। सभी विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि इन पहाड़ियों में जो विशाल खंडहर प्राप्त हुए हैं, उनका संबंध उड़ीसा पर भौम-प्रभुत्त्व के कालखंड से ही था।

भौमनरेशों ने, जिनकी राजधानी जाजपुर थी, अनेक स्मारक भी बनवाए। उनके अवशेष आज भी मिलते हैं। जाजपुर से छः या सात मील की दूरी पर, भद्रक उप-खंड के खादीपाड़ा ग्राम में भी, भौम-युग के खंडहर प्राप्त होते हैं। कटक जिले में सालेपुर पुलिस थाने के अन्तर्गत चित्रोत्पल नदी के किनारे-किनारे भी भौम-युग के विशाल खंडहर देखे जा सकते हैं। इस युग के अवशेष उड़ीसा के पहाड़ी अंचलों में जैसे कि अंगुल में तालमुल, नरसिंहपुर की भूतपूर्व रियासत में बनेश्वरनासी, फुलबानी जिले में बौद्ध, बालासोर जिले के भद्रक उपखण्ड में कुपारी नामक स्थान पर भी पह-चाने जा सकते हैं। ये अनेक उदाहरण जो आकस्मिक अभियानों द्वारा ही अब तक मिल पाए हैं, हमें इस बात का बोध कराते हैं कि भौमकालीन जन कितने महान भवन-निर्माता थे।

सोम-वंशी केशरी नरेश जो महानदी की ऊपरी घाटी से आए थे एवं जिन्होंने भौम नरेशों के पश्चात् राज्य पर अधिकार किया, अपने साथ कला और स्थापत्य की कुछ परंपराएँ भी लाए और उन्हें उड़ीसा की तत्कालीन प्रचलित परंपराओं से संयुक्त कर १०वीं शताब्दी के प्रथम चरण से १२वीं शताब्दी के प्रथम चरण के बीच, अपने शासन-काल में कई स्मारकों का निर्माण करवाया। भुवनेश्वर में मुक्तेश्वर का मंदिर, जो उड़ीसा का प्राचीनतम सोमवंशी स्मारक प्रतीत होता है, पूर्वकालीन तथा उत्तर-कालीन परंपराओं की छाप लिये हुए है। वास्तविकता तो यह है कि उड़ीसा में पूर्व-

कालीन तथा उत्तरकालीन मंदिरों में मुक्तेश्वर का मंदिर एक अन्तर-रेखा के रूप में है। लेकिन इस काल की सर्वाधिक उल्लेखनीय उपलब्धियों में लिंगराज और ब्रह्मेश्वर के मंदिर हैं। लिंगराज और ब्रह्मेश्वर के मंदिरों में हम कुछ ऐसी निश्चित आकृतियां और विशिष्टताएं पाते हैं, जो उत्तर-युग के उड़ीसा के मंदिर-शिल्प को एक स्वतंत्र इकाई प्रदान करती हैं। अन्त में यह कहना शायद अनुचित न होगा कि मंदिरों का उड़िया रूप, सोमवंशी-काल के अंत में, अपनी सर्वाङ्ग-पूर्णता को प्राप्त हुआ। हालांकि उत्तर युग में भवन-मंदिर-निर्माण की गतिविधियां किसी भी तरह कम नहीं हुई थीं, उनमें विस्तार की चिन्ता अधिक पाई जाती है, विकास की नई दिशाओं का परिचय देने वाली नई आकृतियों और उनकी नवीन गठन के समावेश और प्रयोग की चिन्ता कम। भुवनेश्वर में लिंगराज और ब्रह्मेश्वर मंदिरों से मिलते-जुलते कई मदिर हैं, जो निश्चय ही सोमवंशी-काल में बने हैं। लेकिन इस युग में दूसरे सांस्कृतिक केन्द्रों में भी कई स्मारक बनाए गए। महानदी के ऊपरी क्षेत्र में जो कि कोशल नाम से जाना जाता था और जहां सोमवंशियों की शासन सत्ता का केन्द्र-बिन्दु था। रानीपुर झरिया नामक स्थान में एक महान सांस्कृतिक केन्द्र था। इस स्थल पर आज भी इस कालखंड में बने कई मंदिर खड़े हैं।

सोमवंशियों के पश्चात् गंग-सम्राट् सिंहासनारूढ़ हुए और उनकी चौदह पीढ़ियों ने ३१६ वर्ष तक उड़ीसा पर एक-छत्र शासन किया। असंख्य मंदिरों का निर्माण करा कर उन्होंने भी उड़ीसा की शोभा बढ़ाई। ऐसे निश्चित प्रमाण प्राप्त हैं कि महान गंगनरेश तथा उनके संबंधियों ने ऐसे कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण मंदिर बनवाए, जो आज इस काल में भी सुरक्षित हैं। इस वंश के संस्थापक चोड़ गंग और उसके उत्तराधिकारी अनग भीमदेव ने जगन्नाथ का महान मंदिर बनवाया। योद्धा सम्राट् नरसिंहदेव प्रथम ने १३वीं शताब्दी के मध्य कोणार्क के अद्भुत सूर्य मंदिर का निर्माण करवाया। अनंग भीमदेव तृतीय की पुत्री चंद्रिका देवी ने भुवनेश्वर में अनन्त वासुदेव का मंदिर बनवाया। उसी स्थान पर मेघेश्वर का मंदिर राजा राजदेव द्वितीय और अनंग भीमदेव तृतीय के एक सेनापति की रचना है। दूसरे गंग-नरेशों की भवन-निर्माण गतिविधियों की हमें कोई जानकारी नहीं है। साधुमना व्यक्तियों ने भी अपने निजी स्तर पर इन सांस्कृतिक केन्द्रों में विशेषकर भुवनेश्वर में, अवश्य ही अनेक मन्दिर बनवाए होंगे।

कला तथा स्थापत्य की निकटतम समानताओं में बद्ध गंग-मंदिरों का इसी युग में निर्माण हुआ है, यह सहजता से पहचाना जा सकता है। सप्तरथ प्रकार का उद्भव

भी इसी काल की उपज है । इस युग में मंदिरों की निर्माण-पद्धति का भूतकालीन संचित अनुभव, शक्तिशाली और ठोस भवन बनाने में प्रयुक्त हुआ । इसी काल में त्रिकक्षीय द्वारमंडप बनाने की अवधारणा ने भी जन्म लिया । परिणाम हुआ एक चार-कक्षीय मंदिर-स्थापत्य का उद्‌भव । इन चार कक्षों का विभाजन इस प्रकार होता था—मुख्य कक्ष, जगमोहन, नट-मंडप और भोगमंडप । समस्त गंग-मंदिर स्थापत्य की इस विशिष्टता से भूषित है । मूर्त्तियों में भी कुछ नवीनताएं प्रयुक्त की गईं । बारीक आकृतियाँ और लघु प्रतिमाएँ पत्थरों पर इस कुशल कलाकारिता के साथ काटी और खोदी गईं कि वे बिल्कुल लकड़ी तथा हाथी दांत पर तराशी गई कलाकृति का भ्रम उत्पन्न करती हैं । सोमवशी स्मारकों की सजावट में जिस संयम की प्रतीति होती है वह गंग-मंदिरों में कहीं नजर नहीं आता । इसके विपरीत सभी महत्त्वपूर्ण निर्माणों में दीवारों, वर्गाकार खम्भों तथा आधार-भूमि के समस्त रिक्त स्थानों पर ऐसी सजावट की गई, जिससे चित्रकला के प्रति उनका अनुराग दृष्टिगोचर होता है । इसकी चरम परिणति कोणार्क के महान मंदिर में हुई । अश्लील प्रतिमाएं जिनका चलन मंदिर-निर्माण के क्षेत्र में भौम काल से ही शुरू हो गया था, अब अधिक सामान्य और मुखर हो गईं । इस काल का अति विशिष्ट स्मारक निस्सन्देह कोणार्क का सूर्य मंदिर है । इस महान मंदिर में जगमोहन तथा विमान के संयुक्त गठन की परिकल्पना एक रथ के रूप में की गई थी, जो चौबीस विराट् चक्रों के साथ लम्बे-चौडे चबूतरे पर टिका था और जिसे वस्त्रों से आभूषित सात शक्तिशाली घोड़े खींचते थे । इसके अवशेष पूर्वी-द्वार के दोनों ओर आज भी देखे जा सकते हैं । जगमोहन के तीन द्वार थे, लेकिन अब सब बंद कर दिये गए हैं और अन्दर के भाग को रेती से पाट दिया गया है । रचना-प्रक्रिया में इस मन्दिर में उन्हीं नियमों का ध्यान रखा गया है, जो अन्य पीढ़-मंदिरों में प्रयुक्त हुए हैं ।

जगमोहन से ३० फीट की दूरी पर एक नट-मंदिर भी था और इसके बीच की जगह में एक सर्वोच्च स्थान पर ३० फीट ऊँची, सोलह-कोणीय, एक ही शिला में काटी गई सूर्य के सारथी अरुण की सुन्दर प्रतिमा प्रतिष्ठित थी । लेकिन १८ वीं शताब्दी में मराठे इसे पुरी ले गए और तब से यह प्रतिमा जगन्नाथ मंदिर के पूर्वीय द्वार में स्थापित कर दी गई है ।

कोणार्क मंदिर की प्रतिमाओं के बारे में विचार व्यक्त करते हुए श्री पर्सी ब्राउन कहते हैं—'बहुत कम भवन इस विशाल रचना के समान मृदु-श्रृङ्गार की असंयमित राशि का दावा कर सकते हैं । बाह्य आकृति का प्रत्येक भाग अमूर्त्त ज्यामितीय आभू-

पण के रूप में, परंपरागत वेलबूटों के रूप में, पौराणिक, प्राणियों, अर्द्ध-नर एवं अर्द्ध-सर्पिल विस्मयकारी जीवों, तथा देवी और आसुरी आकृतियों के रूप में; अथवा भारतीय मस्तिष्क में सम्भाव्य किसी भी कल्पनागम्य विचार अथवा विषय के रूप में इतनी दक्षता एवं बारीकी के साथ मोड़ा और तराशा गया है कि कार्य-कुशलता की यह सम्पन्नता पत्थर में उभरी हुई नक्काशी के काम की सजावट और सूक्ष्मतर बारीकी से लेकर शक्तिशाली एवं भीमकाय भवनों में समान रूप से मुखर हो उठी है। कोणार्क मंदिर का विमान, जिसका कि केवल आधार मात्र ही आज सुरक्षित है, उड़ीसा में और शायद समूचे भारत में इस प्रकार की सरंचना में सर्वाधिक भव्य था। श्री एम. एम. गांगुली ने शिल्प-शास्त्र के आधार पर मंदिर की ऊँचाई की गणना की और बताया कि मंदिर किसी भी स्थिति में २२७ फीट ऊँचा अवश्य था। विद्वानों ने सूर्य मंदिर के गिरने के कई कारण बताए हैं। लेकिन उसकी इतनी अधिक ऊँचाई संभवतः उसके असमय धराशायी होने का एक कारण है।

उड़िया कला और स्थापत्य की चरम परिणति कोणार्क में हुई। यह उसका शिरोबिन्दु बन गया। इसके बाद हालांकि १६ वीं शताब्दी तक अनेकानेक भवन बनते रहे, कोई भी स्मारक इतने गर्वीले स्थान का दावा नहीं कर सका। कपिलेन्द्र देव, जिसने १४३५ ई० में गंग-सिंहासन पर बलपूर्वक अधिकार कर लिया, एक महान योद्धा और साम्राज्य-निर्माता थे। लेकिन ऐसा एक भी स्मारक आज उड़ीसा में नहीं है, जिसके निर्माण का श्रेय उसे दिया जा सके। भुवनेश्वर में पापनाशिनी सरोवर के निकट एक अर्ध-नष्ट मंडप अवश्य है, जहां उसके शासनकाल का उल्लेख करते हुए एक शिलालेख लगा है, जिससे असंदिग्ध-रूप से यह सिद्ध होता है कि वह संरचना उसके शासनकाल में ही हुई थी। ऐसा लगता है कि राजवंश के परिवर्तन के साथ स्थापत्य की शैली में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। यद्यपि उस काल की भवन-निर्मितियों में एक स्पष्ट गतिरोध अवश्य लक्षित होता है। श्रृंगार की हुई जिन नारियों के चित्रों का अंकन इस अर्ध-नष्ट मंडप पर हुआ है, वह पूर्व-युग की उसी प्रकार की आकृतियों का सस्ता अनुकरण मात्र ही है। भुवनेश्वर का वर्तमान कपिलेश्वर मंदिर, जैसा कि उसके नाम से प्रतीत होता है, कपिलेन्द्र देव ने बनाया था। धवनेश्वर का मंदिर, जो महानदी के एक टापू पर स्थित है, परंपरा से इस राजा का बनाया माना जाता है। इसी प्रकार परंपरागत रूप से ही ऐसा माना जाता है कि कपिलेन्द्र के प्रपौत्र प्रताप रुद्रदेव ने जाजपुर का बराह मंदिर बनवाया था। इन स्मारकों के अतिरिक्त, कपिलेन्द्र के मंत्री गोपीनाथ महापात्र ने कटक से आठ मील दूर गोपीनाथपुर में एक मंदिर

बनवाया, जहां उस काल की कीर्त्ति-वर्णन करता हुआ एक शिलालेख अब भी लगा है। इन कतिपय उदाहरणों को, जो सूर्यवंशी काल के माने जा सकते हैं, कला और स्थापत्य के क्षेत्र में किसी नई दिशा का मार्ग प्रशस्त करने वाले स्मारक नहीं माना जा सकता। यह स्पष्ट है कि सांस्कृतिक और वास्तुगत रूप से, सूर्यवंशी युग, गंग युग के साथ इतना संपृक्त-सा है कि उसकी अलग अस्मिता बचती ही नहीं।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, १५६८ ई० से उड़ीसा एक मुस्लिम राज्य बन गया और तब से अब तक उड़ीसा के किसी भी भाग में कोई महान् हिन्दू मंदिर नहीं बनाया गया। चूंकि मुस्लिम आधिपत्य भी उड़ीसा में बहुत कम समय तक रहा, मुस्लिम संस्कृति का भी कोई उल्लेखनीय स्मारक उस अवधि में उड़ीसा में नहीं बना, यद्यपि कुछ गिनती के उदाहरण हैं, जिनमें औरंगजेब के शासन-काल में बनी जाजपुर की महान् मस्जिद निश्चित ही अद्वितीय है।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

अनन्त पण्डा

उड़ीसा के भित्तचित्र

छत या दीवार पर बनाये हुए चित्रों को भित्ति-चित्र कहते हैं। प्रागैतिकहासिक-युग से, विभिन्न स्थानों में, विशेषकर गुफाओं के भीतर, छत और दीवारों पर भित्ति-चित्रों के अंकित होने के प्रमाण क्रमशः मिलते रहे (discover) हैं। इनमें से स्पेन के 'आलटामिरा' के गह्वर-चित्र और फ्रांस के 'लासाक्स' की गुहाओं में बने चित्र प्राचीन-तम प्रागैतिहासिक कृतियों के रूप में विशेष उल्लेखनीय हैं। विंध्य-पर्वतमाला और मध्यभारत के अनेक स्थानों में भी इन चित्रों के प्राचीन उदाहरण मिलते हैं। मुख्यतः हाथी, गेंडा, सांवर, हिरन आदि वन्यजन्तु और शिकार संबंधी विवरण इन भित्ति-चित्रों के उपजीव्य विषय के रूप में गृहीत हुए हैं।

काव्य-युग में और पुराणों में भी भित्ति-चित्रों के प्रचलन का उदाहरण मिलता है। 'उत्तर रामचरित्र' में श्रीराम के बनवास-कालीन घटना को प्रासाद-भित्ति पर चित्रित करने का आदेश इसका एक सशक्त दृष्टान्त है। विदग्ध भित्ति-चित्र के रूप में खी० पू० १५०० में अंकित क्रीट द्वीप के राजमहल के चित्र, और पाश्चात्य-शैली का प्रतिनिधित्व करने वाले 'सिस्टाइन चेपल,' और प्राच्य-जगत का प्रतिनिधित्व करने वाले 'अजन्ता' के भित्ति-चित्र उल्लेखनीय हैं।

सृजन की प्रेरणा अथवा लालसा (urge) जब मनुष्य को होती है, तब उसे अविलंब ही कोई ठोस रूप देने की उत्कण्ठा में वह अपने किसी निकटस्थ क्षेत्र

(ground) को ही रेखांकन के लिये चुन लेता है। (ground) की निर्दिष्ट प्रस्तुति अथवा पूर्व-प्रस्तुति के विद्यमान न होने की अवस्था में, अपने ही परिपार्श्व में सहज-लभ्य और संभाव्य क्षेत्र जैसे प्रशस्त प्रस्तर-गात्र, गुहा-गात्र, चट्टान, दीवार या छत आदि को ही रेखांकन या चित्रांकन के लिये क्षेत्र के रूप में ग्रहण करता है। साधारण मनुष्य अथवा शिशु, बालक-बालिका अथवा घर की बहू-बेटियों में यह स्वभाव किस प्रकार काम करता है, इसके अनेक उदाहरण और प्रमाण सामान्य सचेतना के साथ लक्ष्य करने पर हमें सब जगह मिल जायेंगे। अब भी तो अपने घर की दीवारों पर, इधर-उधर नहीं तो कम से कम जीने-सीढ़ियों की दीवाल पर, लकीरें खींच कर कुछ भी रेखांकित करने की आदत बच्चों में पाई जाती है।

राजपथ की दोनों ओर बनी दीवालों पर, विशेष भ्रमण-केन्द्रों में, वासगृहों में, मन्दिर, कब्र, या मीनारों पर या किसी दर्शनीय जगह में अपने प्रियजनों को या अपने को ही स्मरणीय बनाये रखने की इच्छा से जागी प्रवृत्ति का प्रकटन आश्चर्य की बात नहीं है। उसकी अन्तर्निहित स्वाभाविकता का सुपरिकल्पित और सुगठित परिप्रकाश ही नामान्तर में भित्ति-चित्र की योजना है।

इस संदर्भ में अब तक पाए गए उत्कलीय भित्ति-चित्रों में रायगढ़ के समीपवर्ती सिंहनपुर, और कालाहांडी में गुडहांडी के निकटस्थ गह्वर भित्ति-चित्रण तथा रेखांकन दर्शनीय ही नहीं, अपितु विशिष्ट उदाहरण हैं। पूर्व-वर्णित जीव-जन्तु, शिकार और नृत्य-विषयक रूपाकृति इन चित्रों के प्रधान विषय हैं। इन चित्रों को आदिवासियों ने अंकित किया होगा, ऐसा अनुमान है। उनकी चित्रण-शैली में प्रागैतिहासिक रुचि और रस-व्यंजना है। यह आदिवासी अथवा 'शबर सभ्यता' अपने विकास-क्रम में श्री जगन्नाथ में मुखरित हुई, तथा इसी रूपाकृति के अनुकूल पुरी, गंजाम और उड़ीसा के अन्य क्षेत्रों में भी कुछ भित्ति-चित्रों के उदाहरण मौलिक रंगों में (काला, सफेद, लाल, नीला, हल्दी या पीला आदि) पाये जाते हैं।

पुरी मंदिर-गात्रस्थ 'अनन्त शयन,' 'कांचि कावेरी,' 'माणिक गड्डुणी' और बुगुडा के विरंचिनारायण मंदिर के भित्ति-चित्र धर्म-भित्तिक हैं। इन सब की रचना त्रयोदश शताब्दी से चतुर्दश शताब्दी के बीच हुई थी, ऐसा अनुमान है। अत्युक्ति नहीं होगी, यदि पुरी मंदिर के गरुड-स्तंभ के पार्श्व-भाग में बने 'अनन्त-शयन भित्तिचित्र में विराट् शेषनाग पर लेटे हुए विष्णु, पदसेवारता लक्ष्मी, और विष्णु की नाभि से उद्गत कमल पर स्तुतिपाठ-रत पद्मासनासीन ब्रह्मा, तथा आकाश मार्ग से सप्तर्षियों द्वारा आदि पुरुष की वन्दना आदि पुराण-वर्णित चित्र-कल्पों के वर्णाढ्य चित्रण को

पारंपरिक 'ओड़िशी' चित्रण शैली का एक प्रतिनिधि निदर्शन कहा जाए। क्योंकि स्वल्प-स्फीत भास्कर्य पर मौलिक रंगों के प्रयोग से भित्ति-चित्र की रचना-संपादन करना उत्कल भूमि के अतिरिक्त पृथ्वी में अन्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता। अवश्य 'सीताभिंचि' इस शैली का एक व्यक्तिक्रम है तथा अजन्ता एवं सीताभिंचि में इस संदर्भ में सहज सादृश्य है।

पारलाखेमुण्डि का राजमहल और कुछ मंदिरस्थ भित्ति-चित्र, तथा जानकीदेईपुर का बूढालिंग मंदिर-गात्रस्थ 'दोलयात्रा,' और पुरी के अनेक मठों में कई सामाजिक विषयों पर धर्म-निरपेक्ष भित्ति-चित्रों की रचना का दृष्टान्त है। इन निदर्शनों में 'मल्ल-युद्ध,' 'क्रीड़ा,' 'वृषभ-युद्ध,' और 'गुण्डिचाघर' के भित्तिचित्रों में 'मलुवैद्य' आदि प्रधान हैं। 'मलुवैद्य' भित्तिचित्र युगपत् हास्य-कारुण्य-व्यंजक रस का परिवेषण करने के साथ-साथ नीति-शिक्षा की ओर भी संकेत करता है। चित्र में एक वैद्य के, बीमार गृहस्वामी को नाड़ी-परीक्षा करते समय, रोगी की तरुणी पत्नी कैसे अपने देवर के साथ रंग-रास में मत्त हो उठी है, यही परिलक्षित किया गया है।

इसके अतिरिक्त कुश्ती-कसरत के शिक्षा-स्थलों में 'नागा' भित्त-चित्रों के निदर्शन पुरी के अनेक 'येगाघरों' में पुनरावृत्त हुए हैं। इन चित्रों में साधारणतः किसी असाधारण शारीरिक क्षमता-सम्पन्न व्यक्ति को ढाल, शिरस्त्राण, तथा अस्त्र-शस्त्रों के साथ विचित्र वेश-भूषा में चित्रित किया जाता है। उसे वाद्यों की धुन के साथ-साथ नाचता हुआ वीररस की व्यंजना सृष्टि करता हुआ दिखाया जाता है।

इन सब चित्रों में साधारणतः पार्श्वमात्रिक रेखांकन, अलंकरण तथा अविमिश्रित मौलिक रंगों का स्वच्छन्द प्रयोग देखने को मिलता है। इन भित्तिचित्रों में कई जगह दाक्षिणात्य के प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। उड़ीसा की व्यापक और विपुल परम्परा में जो लालित्य और गरिमा है, उसका संधान भित्तिचित्रों या पटचित्रों में पाना एक विडंबना मात्र है। फिर भी पारंपरिक कला-कुशलता में इस प्रकार की चित्रण-धारा ने कला के एक विशिष्ट मौलिक अंग और वैशिष्ट्य की रक्षा की है, इसे स्वीकारना ही होगा।

उड़ीसा के सुदूर पल्ली-ग्रामों में दीवालों पर जो 'झोटी' और 'चिता' (अलपना) के दृष्टान्त मिलते हैं, वे सब अनाविल भित्तिचित्रों के लोक-भित्तिक मौलिक उदाहरण ही हैं। उड़ीसा के घने अरण्यांचलों में आधुनिक सभ्यता से दूर बसने वाले आदिवासियों के कुटीरों में अंकित भित्तिचित्रों को सबसे अधिक ऋद्धिमन्त कहा जा सकता है। प्रागैतिहासिक चित्रण-शैली के साथ सूक्ष्म-सादृश्य रखने वाले इन आदिवासी भित्ति-

चित्रों की मौलिकता और अविमिश्रितता में जीव-जन्तु, शिकार और शस्य-संपर्कीय विषय वस्तु ही प्रधान उपजीव्य या उन चित्रों की आत्मा कही जा सकती है। कोरापुट के 'गदवा', 'सउरा', फुलवाणी के 'कंध', 'मुरिआ', और बालेश्वर तथा मयूरभंज के 'सान्ताल' उपजातियों द्वारा चित्रित ऐसे भित्तिचित्र कला की अमूल्य निधि हैं।

पल्लियों में लोक-कला-धर्मी जन-रंजक भित्तिचित्रों के उदाहरण सामाजिक अनुष्ठान और तीज-त्योहारों में लक्षणीय हैं। विवाह, व्रतोपनयन, षष्ठीपूजा और अन्य तीज-त्योहारों पर आधारित चित्रों की रचना उड़िया घर की बहू-बेटियां अपने घरों में या पड़ोसी घरों में करती हैं। दीवालों पर पिसे हुए चावल से बने 'पिठउ' से निर्मित चिता, झोटी, पालकी, सवारी, पूर्ण-कुंभ, दधि-भाण्ड, मछली, कदली-स्तंभ, पीढ़ा, सरौता, काजलदान, छलनी, कमल के फूल, कपोत-युगल, लक्ष्मी, उल्लू, और हाथी आदि के चित्र और अमूर्त्त 'कउडि मण्डन' आदि में चित्र-रचना का स्वच्छन्द परिप्रकाश हुआ है। उनमें मौलिकता और अकंपित रेखा-दक्षता की जो विशिष्टता प्रतिपादित होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। पाश्चात्य देशों में इन चित्रों का नमूना मिलना भी असंभव है। किन्तु दुःख की बात है कि यह कला, विधिवत् एवं निष्ठा पर अनुसंधान, संकलन और संप्रसारण के अभाव में अवहेलित होकर धीरे-धीरे संकुचित होती जा रही है। उल्लेखनीय यह है कि सतीश गुजराल, एम० एफ० हुसैन, अरुण बोस आदि समकालीन आधुनिक कलाकारों ने इस तरह की लोक-कला पर आधारित कला-शैली का प्रयोग और परीक्षा करके आज विश्व के दरबार में प्रतिष्ठा पाई है। यही किसी समय अफ्रीकी आदिम-कला पर आश्रित पिकासो अथवा 'कालिघाट' के पट्टचित्रों पर आश्रित यामिनी राय आदि कई शिल्पियों की सफलता की कुंजी थी।

प्रसिद्ध कलाकार या कला-समीक्षक के रूप में पर्सीब्राउन से लेकर अशोक मित्र तक देशी और विदेशी पंडितों में से किसी ने भी उड़ीसा के भित्तिचित्रों की कोई कला-परक समीक्षा नहीं की है। यह जितने दुःख की, उतनी ही आश्चर्य की बात है। अवश्य इसका एक कारण यह भी है कि अब तक के अनतिक्रान्त उड़ीसा की व्यापक स्थापत्य-कला और भास्कर्य की विपुल परंपरा के बीच इन आनुष्ठानिक (academic) और विदग्ध भित्तिचित्रों की स्वल्पता ने कला के किसी समीक्षक को विशेष रूप से आकृष्ट भी नहीं किया। खण्डगिरि के वर्ण-लिप्त स्फीति-चित्रों का इन आनुष्ठानिक भित्तिचित्रों से साम्य होने के कारण इनकी ओर किसी कला-समीक्षक का विशेष ध्यान गया भी नहीं।

खी० पू० दूसरी शताब्दी में उत्कल में खारवेल के राजत्त्वकाल में खण्डगिरि की

ऐतिहासिक गुहा का खनन हुआ था। इसी खण्डगिरि की 'मंचपुरी' गुहा के अभ्यन्तरस्थ (छत के नीचे, ऊपरी हिस्से की स्वल्प स्फीति-भास्कर्य समन्वित वर्णलिप्त रूपानुकृतियां ही उड़ीसा के प्रथम आनुष्ठानिक भित्ति-चित्र हैं। बाद में स्फीति-चित्रण की इस शैली की पुनरावृत्ति पुरी मंदिर में कई भित्तिचित्रों में हुई। पर यह अनुकृतियाँ त्रयोदश या चतुर्दश शताब्दी की हैं।

नयी राजधानी भुवनेश्वर से दो मील दूर अवस्थित खंडगिरि की 'मंचपुरी' गुहा में बने इन स्फीति-चित्रों के वर्ण-लेप पर आज अवक्षय और विपर्यय स्पष्ट है। फिर भी निकट से देखने से कृष्ण, हरिद्रा, श्वेत और लोहित आदि रंगों के प्रलेपों का आज भी कहीं-कहीं अनुमान लगाया जा सकता है।

खी० पू० दूसरी से चौथी शताब्दी के बीच के (अजन्ता भित्तिचित्रों के रचना काल) किसी भी उल्लेखनीय आनुष्ठानिक भित्तिचित्रों के उदाहरण उड़ीसा में अभी तक नहीं मिल पाए हैं। चौथी शताब्दी से छठी शताब्दी तक राज्य करने वाले भंज-वंशीय राजाओं में महाराज दशभंज के राजत्वकाल में केऊंझरगड के सीताभिचि के एक अंश में अंकित 'रावण छाया' नामक एक गुहा की छत पर निर्मित एक विराट् भित्तिचित्र ही शायद उत्कल का सर्वशेष और सर्वश्रेष्ठ भित्तिचित्र है। कलकत्ता म्यूजियम में रखे स्वर्गीय रमेन्द्रनाथ चक्रवर्त्ती द्वारा अंकित 'रावण-छाया' के क्षुद्रानुकृति के से तैलचित्र से इस बात का अनुमान लगाया जा सकता है। स्वर्गीय गोपाल कानूनगो द्वारा अकित जलचित्र अथवा गौरांगचरण शोभ द्वारा अंकित रेखाचित्र से इस चित्र की स्पष्ट और अविकृत रूपानुकृति का अनुमान लगाना एक विडम्बना मात्र ही है। क्योंकि की शैली और चित्रणधारा पर विचार करने से इन दोनों चित्रकारों के चित्रण एक दूसरे से भिन्न ही नहीं, विषयवस्तु के परिवेषण में भी सम्पूर्ण विरोधी हैं। किसी भी उचित माध्यम से इस भित्तिचित्र के पूर्णांग चित्रण का प्रयास अभी तक नहीं हुआ है। इसके संरक्षण के लिये आवश्यक व्यवस्था के अभाव में, वृष्टिजल और दूसरे प्राकृतिक विपर्ययों के कारण इसके मौलिक औज्ज्वल्य में तो कमी आ ही गई है, साथ ही कुछ अंश अवलुप्त भी होने लगे हैं।

रावण छाया भित्तिचित्रों का निर्माण किन उपकरणों द्वारा हुआ है, और किस तरह हुआ है, इसका भी निश्चय नहीं हो पाया है। न ही इसे जानने के लिये कोई प्रयास या गवेषणाएं हुई हैं। यह कहना कि इसका निर्माण भी अंजता की शैली में हुआ है, अन्धेरे में लाठी घुमाने की तरह है, क्योंकि यह राय केवल मात्र चित्रों की समानता पर ही निर्भर करके दी जाती है। दरअसल इन तथ्यों का उद्घाटन विधिवत्

शोध के बिना असंभव है ।

पानी, पवन, मिट्टी की प्रकृति और उसकी प्रतिक्रियाओं पर निर्भरशील होकर विभिन्न देशों में भित्तिचित्रों की भूमि (ground) निर्मित होती है, जिसके लिये आवश्यकतानुसार भिन्न-भिन्न पद्धतियां अपनाई जाती हैं। इताली, श्रीलंका, अजन्ता, नेपाल और जयपुर आदि जगहों में ये उपादान भिन्न-भिन्न है ।

भारतीय शिल्पशास्त्र के अनुसार भित्तिचित्र की भूमि-निर्माण के लिये सीप-चूने को (सीप को फूंक कर बनाया हुआ भस्म) उबाल कर उसके साथ एक-चौथाई मूंग और उसके बराबर गुड़ और बालू मिलाना पड़ता है । उसके साथ उबाले हुए कच्चे केले को अच्छी तरह फेंट कर मिलाकर सुखाना पड़ता है। कुछ दिन सुखाने के बाद उसे गुड़ के साथ मिलाकर मक्खन की तरह पीसकर, भूमि तैयार करके, उस पर पानी सींचकर, भीगे रोएंदार नारियल के छिलकों से रगड़ कर उस पर गुड़ मिला पानी सींचना पड़ता है । और जब यह भूमि भीगी हुई हो, तब करनी से उसका धीरे-धीरे पलस्तर करना पड़ता है । भैंसे की चर्बी से प्रस्तुत 'वज्रलेप' के मिश्रण के साथ वर्ण-लेप के प्रयोग से चित्र-कर्म का संपादन करना इस प्रकरण-धारा के अन्तर्गत है । रंग लगाने से पहले निश्चित विषय को हल्की कूंची द्वारा रेखांकित करना भी इस पद्धति के अन्तर्गत है। पर 'रावण छाया' में यह 'भूमि' किस तरह प्रस्तुत की गई थी, यह एक गवेषणा-सापेक्ष विषय है ।

इस गुहा में भीतरी छत पर अंकित विराट् चित्र से किसी राजा की विजय-यात्रा के चित्रण का अनुमान लगाया जा सकता है। भित्तिचित्र में उत्तर-पूर्वांश के नीचे पत्थर पर उत्कीर्ण शिलालेख में ब्राह्मी लिपि में राजा दशभंज का नाम है । यह लिपि चौथी शताब्दी से छठी शताब्दी तक प्रचलित थी, ऐसी विशेषज्ञों की राय है । इसी समय मगध में गुप्त-वंश के राजाओं का राज्य था और इन्हीं गुप्तवंशीय राजाओं की सहायता से अजन्ता को विपुल-संभारों से सजाया गया था । कुछ आलोचकों के अनुसार रावण-छाया भित्ति-चित्र का मूल सूत्र अजन्ता से ही संप्रसारित होकर उड़ीसा आया।

इस धारणा के पक्ष में पोषित कारणों में प्रथमतः अजन्ता भित्तिचित्रों की चित्रण-शैली, वर्ण-विन्यास, छन्दमयता, सर्वोपरि लालित्य और सौकुमार्य के साथ रावण छाया भित्तिचित्र का सामंजस्य, द्वितीयतः गुप्त-शासित मगध से केऊंझर होकर उड़ीसा आने के लिये तात्कालिक गमनागमन की स्वच्छन्द सुविधा, और तृतीयतः उड़ीसा के राजाओं की शिल्प और कलाकारों के लिये औदार्यपूर्ण पृष्ठपोषकता का उल्लेख किया जा सकता है । चाहे जो भी हो, चोटी के पारखी एवं कला-समीक्षक भी इस सम्बन्ध

में एकमत हैं कि रावण-छाया भित्ति-चित्र समग्र भारतीय चित्रकला-क्षेत्र की एक अत्यन्त गुरुत्त्वपूर्ण और महिमान्वित चित्र-संपदा है ।

इसमें वर्णित विषय पर विचार करने से दृष्टिगोचर होता है, 'अजन्ता' या 'बाघ' चित्रण-शैली का निकटवर्ती एक विशालकाय हाथी । स्वस्थ बलशाली एवं तारुण्य की उच्छृङ्खलता-युक्त इस हाथी की छन्दमय गतिशीलता ने ही सारे चित्र को उद्दीपित और प्राणवन्त किया है । इस राजकीय कण्ठाभरण-युक्त हाथी का पृष्ठ-मण्डन करते हुए छत्रचामर सेवित उपविष्ट आदर्श पुरुष का प्रसन्न गांभीर्यपूर्ण व्यक्तित्व, प्रशस्त वक्षस्थल, विशाल स्कन्ध-देश, उस पर दक्षिण हस्त में अंकुश और वाम हस्त में लीला-कमल धारण की आजन्तिक भंगिमा; यह समग्र उपवेशन-शैली से ही उस व्यक्ति को राजपुरुष के रूप में अनायास ही प्रतिपादित कर देती है ।

हाथी के सामने कत्थई रंग से अंकित एक धुरंधर अश्वारोही, और अश्वारोही के सामने दिग्विजय-दण्ड धारण किये झांझ-मृदंग-वादन-रत चार अभि-यात्रियों का गतिशील चित्र-चित्रित है । हाथों में नैवेद्य धारण करती हुई, आजानुलंबित अधो-वस्त्र परिहीता, वक्षोज-बन्धनी और कंठाभरण-युक्ता, हाथी के पीछे-पीछे ललित पदों से इस राजकीय अभियान का अनुसरण करती-सी एक मनोज्ञ परिवेश की सृष्टि करती हुई कमनीया, कटिनग्ना परिचारिका या नर्त्तकी चित्रित हुई है ।

जहां हाथी और नारी के चित्र अंकित हैं, उसके ऊर्ध्वांश को देखने से एक अस्पष्ट अवलुप्त प्राय शरीरांश तथा कंकण पहने हुए एक कोमल प्रसारित हाथ दीखेगा । उसी के आसपास रहने वाले ग्रामीणों का कहना है कि अब चित्र के दिखाई देने वाले अंशों के अतिरिक्त कुछ और आनुषंगिक चित्र भी पार्श्ववर्ती जगहों में थे । पर वे सारे चित्र वर्षा से भीग कर क्षयप्राप्त होने लगे हैं और उन पर काई जमने लगी है ।

पीछे चलने वाली नारी के पहने हुए घाघरे की डोरी और सफेद वक्ष-बंधनी की चित्रणशैली तथा अजन्ता-वर्णित 'मुमूर्षु राजकन्या' की चँवर-धारिणी परिचारिका की चित्रण-शैली और वर्ण-विन्यास में अनेक समानताएँ हैं । अजन्ता के हाथी की छन्द-मयता के साथ 'रावण छाया' में चित्रित हाथी के अंकन-कौशल और चित्रण निपुणता, उसमें समाहित यौवन की उच्छृंखलता, तथा इस सम्पूर्ण परिवेश की चातुर्यपूर्ण संयो-जना ने उसे तत्कालीन अन्य चित्रों से समाधिक रसोत्तीर्ण किया है, इसे अवश्य ही स्वीकारना होगा । समकालीन अजन्ता मे चित्रित राजपुरुषों के विलास-व्यसन के बदले 'रावण-छाया' के भित्ति-चित्र में उत्कलीय पृष्ठभूमि पर चित्रित हस्ति-पृष्ठोपविष्ठ राजपुरुष का वीरोचित गांभीर्य और समाहित भाव-व्यंजना अजन्ता के रूपादर्श के

संदर्भ में निश्चित रूप से अपनी स्वकीयता और स्वतंत्रता सुरक्षित रख पाई है, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

विषयवस्तु के वर्णन, संयोजन और संगठन के साथ-साथ वर्ण-विन्यास और वर्ण-लेपन की पराकाष्ठा भी 'रावण छाया' में चित्रादर्श का अविस्मरणीय रूप-संभार है। यहां के भित्ति-चित्र में मुख्यतः छः रंगों का प्रयोग किया गया है। अजन्ता में हल्के कृष्ण-सबुज (Terrevert green) रंग का अधिक और व्यापक उपयोग हुआ है, पर यहां इस रंग का व्यवहार किंचिन्मात्र ही हुआ है। 'काई-माटिआ' (yellow ochre), 'ताउ' (Indian Red), कत्थई (dark brown), कृष्ण-नील (indigo), काला और सफेद—ये रंग ही यहां के वर्ण-विन्यास के उपजीव्य हैं।

अजन्ता के अनुरूप हाथ, पैर, बाँह, मुंह इत्यादि, एवं हाथी के पैर, सूंड आदि अवयवों के मध्यवर्त्ती अंशों को हल्के रंगों से रंग कर धीरे-धीरे परिधि-रेखा के समीपवर्त्ती (outline) अंशों को गाढ़े रंग से चित्रित करके शारीरिक वर्तुलता को प्रकाशित किया गया है। चित्रों में 'छाया लोक' प्रयोग की-सी यह शैली और कौशल अन्य किसी भी भित्ति-चित्र, पट्टचित्र या पोथी-चित्र में नहीं है। इसके अतिरिक्त रावण छाया में अनुसरित पूर्णमासिक या त्रैमासिक मुखमण्डल की चित्रण-रीति भी उड़ीसा के किसी अन्यचित्र में नहीं पायी जाती। इन सब दृष्टिकोणों से विचार करने पर ऐसा लगता है कि यद्यपि 'रावण छाया' के भित्ति-चित्र उत्कल की भौगोलिक सीमा के अन्दर ही संपादित हुए थे, तब भी इसके लिये चित्रकार बाहर ही से आये थे। विशेषज्ञों का मत है कि इस धारणा को केवल भ्रमात्मक कह कर ही नहीं टाल दिया जा सकता; जो भी हो।

उत्कल-भूमि में अब तक मिले हुए सम्पूर्ण चित्रों में मात्र 'रावण-छाया' ही एक ऐसा आनुष्ठानिक तथा विदग्ध भित्ति-चित्र है, जिसके चित्रण-चातुर्य और आनुपातिक मापों से लेकर भार-साम्यता, रंगों का सांमजस्य, चित्र-गठन में नैपुण्य और छन्दमयता, लालित्य, गांभीर्य और सौकुमार्य आदि शिल्पानुमोदियो को आमोदित करते आए हैं। यही विभव-छटा है, जिसके फलस्वरूप इस चित्र को सारे भारत तथा विश्व भर में रूप-रचना के क्षेत्र में अनमोल प्रतिष्ठा मिली है। पर आवश्यक प्रचार, उपस्थापना तथा संरक्षण के अभाव में यह चित्र अपने घर की चहारदीवारी (भारत) में भी पूर्ण रूप से परिज्ञात या उद्‌घाटित नहीं हो पाया है—यह दुःख का विषय है।

सीताभिंचि की तरह एक जनपद-शून्य, अरण्य-वेष्ठित जगह इस तरह के एक अनुपम चित्र की रचना के लिये शिल्पियों ने क्यों चुनी और फिर क्यों शान्त हो गये ?

इसका अनुशीलन होना आवश्यक है। उत्कल के विभिन्न राजवंशों द्वारा खनित (engraved) गह्वर तथा अन्य स्थानों में इस रीति की पुनरावृत्ति क्यों नहीं हुई ? यह भी एक रहस्यमयी बात है।

'रावण-छाया-गुहा' से लगभग चार मील दूर 'पिपलिया' नामक एक पहाड़ी जगह, और सात गुहाएँ खनित हुई हैं। इनके प्रवेश-पथ के मध्यवर्त्ती स्तम्भ के ऊपरी हिस्से को कृष्ण-वर्ण से रंगा गया है। इनकी निर्माण रीति से अनुमान होता है कि इसके अभ्यन्तरीण किसी प्रदेश में भी भित्ति-चित्रों की रचना हुई है। पर इनका प्रवेश-पथ दुर्गम है तथा इस आशंका से कि यह जगह हिंस्र-जन्तुओं से पूर्ण हो जायेगी, यहां के आदिवासियों ने पत्थरों से इनका प्रवेश-पथ बन्द कर दिया है।

इसके अलावा 'रावण-छाया' के इधर-उधर चारो ओर टूटी हुई ईंटों के स्तूप दृष्टिगोचर होते हैं। यह सब अवश्य ही पूर्वकाल के आवास-गृहों के भग्नावशेष हैं। इसके समीप में ही 'भण्डार-घर' नाम से एक छोटा-सा पहाड़ है। उसके भीतर कोई समाधि-पीठ है, ऐसा वहां के लोगों का कहना है। ऐसा भी लोक-प्रचलित है कि उस जगह मणि-रत्नों का कोई विपुल कोष है।

इस भण्डार-घर के पादमूल में एक चतुर्मुखी लिंग-मूर्त्ति की स्थापना हुई है। यह-'श्रुप-रेखा' नाम से विख्यात है। समीपवर्त्ती डेंगापोषी गांव के प्रवेश पथ पर एक पूर्ण गठित शावक-युक्त हाथी की मूर्त्ति दृष्टिगोचर होती है। अन्य गुहाओं के भास्कर्य निदर्शन के साथ इसका विपुल सादृश्य है। संभवतः इसीलिए यह स्थान चित्रकार और मूर्त्ति-शिल्पियों का प्रिय रचना-क्रीड़ास्थल का, ऐसा अनुमान होता है। नागार्जुन कुंड के अभिलेख के अनुसार—'पुष्पगिरौ शैल मंडपः पप्पिलायां अपवरकाः सप्तः' उड़ीसा के स्वनाम धन्य पंडित श्री बाणाम्बर आचार्य ने इस तथ्य के अवलम्बन से 'पप्पिला' को आधुनिक पिपलिया बताया है।

अब तक के अवहेलित इस क्षेत्र में अगर व्यापक खनन हो और तात्त्विक पर्यवेक्षण हो तो यह निश्चित-सा है कि इसके संप्रसारण के साथ-साथ अनेक रहस्यावृत्त तथ्यों का उद्‌घाटन भी हो सकेगा। उड़ीसा न होकर किसी पाश्चात्य प्रदेश या भारत के किसी और अन्य हिस्से में यह जगह यदि होती तो शायद सीताभिंचि की 'रावण-छाया' आज एक पृथ्वी-प्रसिद्ध कला-क्षेत्र के रूप में प्रतिष्ठित होकर प्रादेशिक, अन्तःप्रादेशिक तथा अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटकों के दैनंदिन गमनागमन का केन्द्रस्थल बन गई होती।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्‌गाता

डॉ० प्रभाकर माचवे

उड़ीसा का शिल्प-सौंदर्य

उत्कल-प्रदेश शिल्प, मूर्त्तिकला, भास्कर्य का मानो एक अपूर्व कोश है। मैंने इस प्रदेश में चार बार जाकर प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण मंदिर, म्यूजियम और शिल्प-कला के यत्र-तत्र बिखरे अद्‌भुत् नमूने देखे हैं। उनके रेखाचित्र बनाये हैं। पर अभीतक तबीयत अघाई नहीं है। पुनः कोई मुझे वहां भेजे तो जाने को तैयार हूं।

महान सौंदर्य का यही लक्षण होता है। वह कभी बासी नहीं होता। बार-बार देखने की इच्छा होती है। हर बार वह नया लगता है। 'जनम अवधि तव रूप निहारेलु नयन न तिरपित भेल' विद्यापपि ने राधा का यह वर्णन किया था। 'क्षणैः क्षणैः यं नवतामुपैति' ऐसी कालिदास ने व्याख्या की है। उड़ीसा के शिल्प-सौंदर्य में चाहे वह पशु-पक्षियों के हों, हाथी-घोड़ों के हों, या मृग-मोरों के हों, साधारण या असाधारण मानव-मानवियों के हों, यक्ष-किन्नरियों के हों या नट-मंदिर के वादक-नर्तकों के हों, राजाओं या रानियों के हों या दाताओं-दानियों के हों, देवी-देवताओं के हों, शिव या सूर्य के हों, पार्वती या गंगा-यमुना के हों—सबमें वही विलक्षणता मिलती है। जैसे नृत्य की एक ओड़िसी शैली है; मंदिर-शिखर तथा स्थापत्य की जैसी ओड़िसा पद्धति है; शिल्प की भी अपनी ओड़िया भंगिमा है। हिंदू, बौद्ध, जैन, शैव या वैष्णव, तांत्रिक या सामंती सभी तरह की विचारधाराओं में उड़िया शिल्प-सौदर्य निखरता गया है।

इतिहासकार श्री परमानंद आचार्य के अनुसार—'धउली पहाड़पुर अशोक की गिरि लिपि के ऊपरी भाग में निर्मित हाथी का सिर ओड़िसा का सबसे प्राचीन मानव-निर्मित भास्कर्य है। उसके बाद पुरी जिले के उदयगिरि और खंडगिरि नामक पहाड़ों की गुफाओं में खोदे गये मनुष्य, पशु-पक्षी, लता-वल्लरियां, वृक्षादि पाते हैं।' डॉ० कृष्णचंद्र पाणिग्राही के अनुसार यह तक्षण ई० पू० दूसरी शताब्दी का है और वह बोधगया, सांची और तिरहुत की मूर्त्तिकला से तुलनीय है। ८वीं शताब्दी के धउली पहाड़ और १० वीं या ११वीं शताब्दी के खंडगिरि में खुदी नव मुनि और लालाटेन्दु केशरी गुफाओं में उकेरी शैली वही बराबर बनी रही है, ऐसा लगता है, खंडगिरि और धौलगिरि के शिल्प अब काफी धुंधले पड़ गये हैं।

अशोक के कलिंग आक्रमण से पूर्व भी यहां मूर्त्तिकला रही होगी, इसके प्रमाण खारबेल के हाथीगुंफा-अभिलेख से मिलते हैं। शायद वहां एक जैन मूर्त्ति थी, जो मगध देश में नंदराज ले गये। कुछ और विद्वानों के अनुसार उड़ीसा में अशोक से पहले नाग-पूजा प्रचलित था। भुवनेश्वर के निकट कपिलेश्वर में एक नाग-मूर्त्ति और दो नागिनी-मूर्त्तियों से यही अनुमान होता है कि संभव है उड़ीसा की स्वस्थ-मात्र मानव-कृतियां आदिमकला का ही विकसित रूप रहा हो। वहां देवी-देवताओं की मूर्त्तियों के निर्माण में जो शिल्प-शास्त्रों के नियमादि थे, उन बन्धनों से परे स्वतन्त्र शिल्प का विकास हुआ हो।

डॉ० प्रह्लाद प्रधान कहते हैं कि 'लकुलीश पाशुपत का वैसे तो अवतार हुआ था—भृगुकच्छा के कायावतार या कायावरोहण में, किन्तु उनकी मूर्त्ति मिलती है भुवनेश्वर के उड़ीसा के म्यूजियम में। कभी उड़ीसा में लकुलीश पाशुपत का संप्रदाय बहुत प्रचलित था। भुवनेश्वर में उनके चारों शिष्यों—कौशिक, गर्ग, मित्र और कारुष्य के साथ लकुलीश की मूर्त्ति मिलती है। बालेश्वर कॉलेज में चार शिष्यों के साथ एक मूर्त्ति रखी गई है।'

तंत्र-काल में उड़ीसा बड़ा महत्त्वपूर्ण केंद्र रहा। निःश्वास तंत्र में पांच केन्द्रों में 'ओड़ियान' और कालिकापुराण के चार पीठों में 'उड्र' का विशेष उल्लेख है। बौद्धधर्म में जब तंत्र का प्रवेश हुआ तो 'युगनद्ध' साक्षात्कार का विषय बना। पंचसखा युग में नित्य गोलोकविहारी युगल राधाकृष्ण ही स्वाधिष्ठान साक्षात्कार के विषय स्थापित हुए। तंत्र की परम्परा यों चलती रही। वही उड़ीसा की मिथुन-मूर्त्तियों के मूल में रही होगी।

कोणार्क उड़ीसा और खजुराहो में, बनारस के नेपाल-मंदिर और मथुरा के मंदिर

मैं बाहरी-मण्डप के स्तम्भ-मूलों में खुदी मिथुन-मूर्त्तियों को मैंने ध्यानपूर्वक देखा है। प्राय: नौवीं से ग्यारहवीं शताब्दी की ये निर्मितियां हैं। ये मिथुन-मूर्त्तियां मंदिरों के साथ क्यों हैं, इनके बारे में मैंने अब तक सात मत पढ़े हैं। कुछ तो शिल्प-शास्त्रों से हैं, कुछ इतिहासकारों और आधुनिक भाष्यकारों से। वह इस प्रकार हैं—

(१) एक ग्रन्थ में यह लिखा है कि ऐसी मूर्त्तियों से मन्दिरों पर बिजली नहीं गिरती थी।

(२) विष्णु धर्मोत्तर पुराण में लिखा है कि जैसे प्रत्येक मनुष्य का शरीर होता है; प्रत्येक मन्दिर का भी शरीर होता है। जैसे शरीर के सब अंग, वैसे ही यह भी मन्दिर के गुप्तांग या गुह्यांग हैं।

(३) कुछ कला-इतिहासकारों का यह मत है कि ये मन्दिर कला-केन्द्र और कलाशालाएं थीं; जैसे चिदंबरम् के नटराज मन्दिर में नृत्य की मुद्राएं अंकित हैं; या नटमन्दिर (कोणार्क) में कई तरह के वाद्य और नृत्य-प्रक्रियाएं शिल्पित हैं; चित्रकारों और शिल्पकारों के लिए ये 'न्यूड' (नग्न) माडेल थे, उन्हें देखकर वे मनुष्य की विविध चेष्टाओं को अंकित करते थे।

(४) कुछ विद्वानों के अनुसार मनुष्य को अपने सब विकार यानी काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि षड्रिपुओं से मन को शुद्ध करके मंदिर में प्रवेश करना आवश्यक था। इन मंदिरों में प्रवेश के पूर्व पुनरावृत्त मैथुन-रत मूर्त्तियों को देखकर मनुष्य के विकारों का विरेचन हो जाता था।

(५) शिल्पशास्त्र के इतिहास में तंत्रों के प्रभाव का एक युग आता है। जैसे तिब्बती वज्रयान के पटों में युगनद्ध मूर्त्तियां मिलती हैं; उसी प्रकार शिव-पार्वती की एक साथ पूजा का विधान धीरे-धीरे कुमारसंभव काव्य की तरह, शिव और पार्वती की रतिक्रीड़ा में परिणत हुआ।

(६) सामंती विलास-युग का यह केवल एक प्रतीक है। कोचीन के राजमहल में महल पर अंकित शेषशायी विष्णु के प्रत्येक अंग से रतिक्रीड़ा करती हुई दिगंबरा स्त्रियों का कोई अर्थ नहीं था। राजा लोग ठीक उसी तरह ये मूर्त्तियां बनवाते थे, जैसे बाद में यूरोप की चित्र-कला और शिल्प-कला में यूनान या फ्रांस में नग्न-मूर्त्ति निर्माण एक बड़ी कला मानी गई। ओस्लो में (नार्वे देश) एक पूरे पार्क में मनुष्य के जीवन की सब अवस्थाओं का नग्न-मूर्त्तियों द्वारा चित्रण है, जो मूर्त्ति कला का भी अद्भुत् उदाहरण है।

(७) डा० भगवतशरण उपाध्याय ने 'खून के छींटे इतिहास के पृष्ठों पर' नामक

ग्रन्थ के अंतिम अध्याय में इस प्रकार से देवी-देवताओं के पवित्र स्थान में शृङ्गार-चेष्टाओं का उत्तान प्रदर्शन निचले वर्ग के राजाओं के हाथ में सत्ता आने पर, उच्च-वर्णियों द्वारा उनके मंदिर प्रवेश पर जो रोक लगाई थी, उसका जानबूझ कर लिया गया बदला रहा होगा, ऐसा बताया है। पर यह दूर की कौड़ी लगती है।

कुछ लोग दिगम्बर जैन-धर्म का भी प्रभाव इसे मानते हैं। पर दिगम्बर जैन मूर्त्तियों में स्त्रियों को कहीं नहीं दिखाया जाता। केवल मुनि और तीर्थंकर ही निर्वसन हैं। अतः यह प्रभाव भी यहां कारण नहीं हो सकता।

इस प्रसंग को यहीं समाप्त कर पुनः इतिहास की ओर दृष्टिपात करें।

अशोककालीन उड़ीसा के सिंह या हाथी स्थानीय बील पत्थर से बने हुए हैं और उनमें ओजगुण प्रधान है। राणी गुंफा में बन्दरों के भी दृश्य हैं। नारी-हरण का दृश्य गणेश गुफा में है। कल्पवृक्ष रेलिंग के भीतर पूजा का विषय बना है, यह जय-विजय गुफा में है। एक गुफा का मुंह ही बाघ की तरह है। दूसरी गुफा का मुँह सांप के फन की तरह है। खंडगिरि में एक गजलक्ष्मी पद्म पर खड़ी है, ऊपर दो हाथी पात्र से उस पर पानी उंडेल रहे हैं, ऐसा दृश्य है।

नव मुनी गुफा में जैन तीर्थंकरों के साथ उनके वाहन भी अंकित हैं, जैसे ऋषभ, अजित, संभव, अभिनंदन के वृषभ, हस्ती, अश्व, वानर आदि। इन गुफाओं में पशु-पक्षियों के साथ-साथ अनेक प्रकार के पद्म, लताएं, वृक्ष, (आम, केला, कटहल या पलाश, आदि) मिलते हैं। राणी गुफा में तो हाथी स्त्रियों के साथ लड़ते हुए दिखाई दिये हैं। कहीं हाथी द्वारपाल हैं, तो कहीं सिंह। हिरण, हंस, मोर, कछुआ, मछली के भी सुन्दर वास्तव शिल्प मिलते हैं।

श्री अर्जुन जोशी लिखते हैं कि 'ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी की चार यक्ष-मूर्त्तियों में से तीन खडगिरि के निकट जागमरा के पास डुमडुमा गांव से मिली है; दूसरी भुवनेश्वर के पास ब्रह्मेश्वर मदिर के पास। हर एक यक्ष ५ फीट ७ इंच ऊंचा है, सिर में एक छेद है। मूर्त्तियां घुटने उठाकर बैठी हैं। कानों में अलंकार और गले में हार हैं। धोतियां पैरों के बीच लटकी हैं। ये सांची की यक्षमूर्त्ति जैसी ही है। दूसरी या तीसरी शताब्दी की कार्त्तिकेय की मूर्त्ति उत्तरेश्वर मंदिर में है। उसके नीचे मोर और शक्ति है। बायें हाथ में कोई पात्र है।'

चौथी-पांचवी शताब्दी में शिल्प स्थापत्य का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कोरा-पुट में सुरगुलि ग्राम के एक टूटे मंदिर में एक यक्षमूर्त्ति मिली है, जो छोटी है, पर वह पूजा का यक्ष रहा होगा। उड़ीसा के अधिक समृद्ध और विशेषतापूर्ण शिल्प के

नमूने सातवीं शताब्दी के बाद मिलते हैं। जाजपुर में सात मातृकाएं मिलती हैं : वाराही (८ फीट १० इंच), इन्द्राणी (८ फीट, ८ इंच) क्लोराइट पत्थरों की है। एक मुक्तिमंडप में पंचमातृका मिलती हैं : वाराही, इन्द्राणी कौमारी, माहेश्वरी, नारसिंही। यह सब खंडित प्रतिमाएं हैं। यहीं पर एक अद्भुत् चामुण्डा-मूर्त्ति भी है। पुरी में भी जाजपुर की ही तरह सप्तमातृकाएं हैं। ये ध्यानमग्ना हैं। ये सब मूर्त्तियां जो म्यूजियम में मिलती हैं, शायद नौवीं शताब्दी की है। जाजपुर की चामुंडा भग्न-रूप में है; परम्यूजियम में जो सुरक्षित है, वह काफी प्रभावशाली है। चड और मुंड नामक दो असुरों का संहार करने वाली यह देवी है। उड़ीसा की सारी चामुंडा-मूर्त्तियां सुखासीन है, युद्ध-रत नहीं। इस प्रसंग में देवी माहात्म्य पढ़ने योग्य है। रक्तबीज की कथा उसी में दी है। अग्निपुराण में चामुंडा का वर्णन यों है :

'चामुंडार कोटरगत चक्षु, त्रिनेत्र, चर्महीन कंकाल, उर्ध्वकेशा,
शुष्क पाकस्थली, गजचर्मधारिणी, पट्टिशधारी देवी वामकरे नरमुंड,
डाहाण हाथ द्वारे खड्ग, एवं बर्छा, शवारूढ़ा आदि।

म्यूजियम की चामुंडा की शिरा-शिरा और धमनियां स्पष्ट हैं। उसके पीठ के स्थान पर श्मशान का दृश्य अंकित है, जहां श्रृगाल मृत-देह खा रहे हैं।

तात्पर्य, उड़ीसा का सारा शिल्प केवल श्रृंगार और काम-क्रीड़ा से भरा नहीं है; उसमें वीर, करुण और वीभत्स के भी दृश्य मिलते हैं। शांत और रौद्र के भी। जहां फुल-बूट पहने सूर्य भगवान (शकों के देवता) उपस्थित हैं, वहां निर्गुण निराकार बुद्ध भगवान भी विराजमान हैं। सातवीं शताब्दी में उड़ीसा में बौद्ध-धर्म का आधिपत्य रहा होगा। चीनी यात्री युआन-च्वांग ने कहा है कि राज्य के दक्षिण-पश्चिम में एक 'पु-सिक-पो-कि-ली' (पुष्पगिरि) मठ है। वहां के स्तूपों का वह वर्णन देता है, जिनमें अनेक सुन्दर मूर्त्तियां थीं। इन बोद्ध मठों में अवलोकितेश्वर, बुद्ध और तारा की मूर्त्तियां थीं।

उदयगिरि के नीचे भूमिस्पर्श मुद्रा में तथागत की एक विशाल मूर्त्ति मिली है। यह नौ फीट ऊंची है। दूसरी बुद्ध-मूर्त्ति कन्दा पत्थर की भद्रक के पास मिली है, जो पांच फीट पांच इंच की है। इस काल में उड़ीसा में बोधिसत्त्व मूर्त्तियां भी कई पाई जाती हैं। पद्मपाणि, अवलोकितेश्वर आदि की प्रतिमाएं, भीमवंशी शुभकर देवी के राज्यकाल में बनी होंगी।

दसवीं शताब्दी में शैव-कला का दौर दौरा शुरू होता है। पार्वती, कार्तिकेय की

मूर्त्तियों वाले शिव मंदिर मिलते हैं। एक स्थान पर गणपति की ऐसी मूर्त्ति मिली है कि शुंडा और हाथ गायब हैं, भीतर का शिवरूप निखर आया है। लकुलीशों का उल्लेख लेख के आरंभ में किया जा चुका है। नागर, द्राविड़, वेसर सभी शैलियों के स्थापत्य वाले मंदिरों के रूप में शिवालय हैं। मंदिर-शिल्प में पार्श्वमूर्त्तियां मिलती हैं, जैसे—शिव मंदिरों में पीछे, दाहिने और बांयें कर्तिकेय, गणेश और पार्वती। भुवनेश्वर की पार्वती प्रतिमा को जब पहली बार देखा, और काला पहाड़ की क्रूरता की कहानी सुनी, तब मैंने 'स्वप्नभंग' कविता-संग्रह में 'भुवनेश्वर में पार्वती की प्रतिमा देखकर' नामक सानेट लिखा, जिसमें चित्र-सम्बन्धी अन्तर्वेदना मैंने कविता के रूप में व्यक्त की[1]।

उड़ीसा के मंदिरों के शिल्प-सौंदर्य में वाहन सहित अष्ट-दिग्पालों का अपना माहात्म्य है। लिंगराज मदिर में, विष्णु मंदिर, जगन्नाथ मंदिर, कोणार्क के सूर्य मंदिर में दिग्पाल विविध रूप में मिलते हैं। अष्ट-सखियां भी उनके साथ होती हैं। ये सखियां वंशी, मृदंग, सितार, झांझ बजाती हुई मिलती हैं। ये उड़ीसा की बालिकाएं और नर्तकियां विश्वविख्यात हैं। राजाराणी मंदिर में और दूसरे कई मंदिरों में नागिनी कन्याएँ, मत्स्यकन्याएँ, अर्धपन्नग-अर्ध-मानुषी मूर्त्तियां बहुत सुन्दर हैं।

उड़ीसा की मूर्त्ति-कला का विचार विविध शिल्पानुबंधों से अलंकृत द्वारों के वर्णन के बिना अधूरा रहेगा। पुष्प, लता नाग, गजलक्ष्मी, पद्म आदि के साथ साथ मुक्तेश्वर मंदिर में तो गंगा और यमुना की दायें-बांयें मूर्त्तियां भी हैं। यमुना मकर और कच्छ पर सवार हैं। साथ ही नवग्रह की मूर्त्तियां भी बहुत कम अन्यत्र पाई जाती हैं। ग्वालियर के गूजरी महल में चंद्र की एक सुन्दर अर्द्ध प्रतिमा है। पर उड़ीसा के ही मंदिर में मंगलसूचक नवग्रहों का शिलांकन है। कोणार्क की नवग्रह-मूर्त्तियां तो भारतीय शिल्प के इतिहास में अपनी सानी नहीं रखतीं।

सबसे बड़ी बात उड़ीसा के एकदम यथार्थदर्शी घोड़े, हाथी, युद्धरत सैनिक और आहत सैनिक, कोणार्क की 'फ्रीज' पर पूरी सेना के चालन का दृश्य कमाल का है। सैवेल ने इस युद्धरत घोडे की अद्भुत शक्तिपूर्णता और ओजस्विता की तुलना वेनिस के शिल्पकारों के घोड़ों से की है। ऊपर दिये जानवरों के अलावा वराह, गाय, कबूतर, घड़ियाल भी शिल्प में मिलते हैं। लिंगराज मंदिर की बड़ी वृषभ-मूर्त्ति बहुत ही यथार्थवादी है। उड़ीसा के शिल्प की यह यथार्थवादी, आदिम ओजस्विता अपने आप में एकदम प्राचीन और आधुनिक लगती है। वह मनुष्य के श्रेष्ठतर सृजनात्मक क्षणों की अपूर्व निर्मिति और उपलब्धि है।

---

१. स्वपभंग, १९५५ का प्रकाशन, पृष्ठ—३६।

डा० एस० सी० बेहरा :

जगन्नाथ और कोणार्क मंदिरों की यौन-मूर्त्तियां

कला के इतिहास में उड़ीसा का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस भूमि को मुक्तेश्वर, राजगिरि, लिंगराज, जगन्नाथ और कोणार्क जैसे श्रेष्ठ मंदिरों के निर्माण का श्रेय प्राप्त है। इस भूमि के वास्तु-शिल्पियों को अपनी कुशलता के कारण स्थापत्य में कलिंग-शैली के प्रारम्भ का श्रेय मिला। इसी शैली ने कालान्तर में समूचे भारतवर्ष में अपनी विशिष्टता का सिक्का जमाया और आगे चलकर हिन्देशिया में भवन-निर्माण को प्रोत्साहन दिया। भारतीय मंदिर-निर्माण में उड़ीसा के मंदिरों की शैला अपना स्वतंत्र स्थान रखती है। इसका प्रमाण हमें होलाल के अमृतेश्वर मंदिर में प्राप्त एक शिलालेख से मिलता है[1]। इस शिलालेख से प्रकट होता है कि बम्मोजा नामक एक मूर्त्तिकार ने, जिसे कलियुग का विश्वकर्मा कहा गया है, चौंसठ कलाओं में निपुणता प्राप्त करने के साथ चार प्रकार के भवनों—नागरा, कलिंग, द्रविड़ और बेसरा—के निर्माण में कुशलता प्राप्त की थी। यह आलेख इस बात को भी प्रमाणित करता है कि प्राचीन कलिंग देश के अभियन्ता अपने समय के नामी शिल्पज्ञों में गिने जाते रहे हैं। उड़ीसा की प्रतिभा केवल बड़े-बड़े भवनों के निर्माण में ही प्रकट नहीं हुई, बल्कि धर्म-विश्वासों के क्षेत्र में भी उसने अपना योगदान दिया है। समन्वय की

---

१. देखिये, सहायक पुरातत्त्व अधिकारी, दक्षिणवृत्त की एपिग्राफी १९१५ के लिये लिखित वार्षिक-विवरण, पृष्ठ-४९, ९०।

प्रक्रिया ने उड़ीसा में वैष्णव-धर्म, शैव-मत, शक्ति-सम्प्रदाय, बुद्ध-धर्म और जैन-सम्प्रदाय के सम्मिश्रण से जिस स्थापना को स्वीकार किया, वही उत्कल के पुरापंथी और नवीन मतावलम्बियों की दर्शन-परम्परा का सार है। यह प्रक्रिया अपने चरम बिंदु पर पहुंच कर जगन्नाथ के मंदिर से सम्बद्ध हुई, जिसने कि कालान्तर में सभी धर्मों और विश्वासों को अपनाया। १३वीं शताब्दी के मध्य में उड़ीसा के कला-शिल्पियों ने अपनी कुशलता का परिचय कोणार्क के मंदिर-निर्माण में दिया, जो कि वस्तुतः भारतीय मूर्त्तिकला के क्षेत्र में अपने ढंग की अलग ही शैली का परिचायक मंदिर है। तब भी यह इतिहास की विडम्बना है कि जगन्नाथ और कोणार्क जैसे मंदिर, जो कि बावजूद कलात्मक वैभव और धार्मिक समन्वय की प्रसिद्धि के, कला-समीक्षकों की दृष्टि में व्यंग्य, आश्चर्य और आशंका के विषय बने रहे। अनेक दर्शकों ने इस बात की ओर लक्ष्य किया कि मंदिर जैसे पवित्र स्थान की दीवारों पर मिथुन की विविध मुद्राएं व्यक्त करने वाली मूर्त्तियाँ, आखिर किस मतलब से बनायी गईं। क्या इन नग्न-मूर्त्तियों के पीछे किसी तरह का कोई उद्देश्य रहा है? क्या इनमें किसी मुद्रागत भाषा अथवा उपदेश का संकेत है, जिसे कि कलाकार ने देना चाहा है? क्या इनमें किसी दर्शन, धर्म अथवा मनोविज्ञान का कोई गहरा तत्त्व निहित है? हम इन्हीं सब प्रश्नों को लेकर यहां चर्चा करेंगे। स्पष्ट ही लेखक का लक्ष्य यहां इस तरह की मूर्त्तियों को कला की दृष्टि से परखना नहीं है।

आरम्भ में ही यह बता देना उचित होगा कि यौन-परक मूर्त्तियां और उनकी संभोग-मुद्राएं केवल जगन्नाथ और कोणार्क के मंदिरों में ही नहीं मिलतीं, ऐसी मूर्त्तियों के दर्शन हमें और जगह भी होते हैं। सांची और भरहुत के बौद्ध-स्मारकों, मध्यप्रदेश के खजुराहो-मंदिरों, मदुरा तथा ११वीं शताब्दी में बनाये गए कुछ दक्षिण भारतीय मंदिरों—जिनमें खान देश के बालासा ने और नासिक जिले के सिन्नार नामक स्थान के निकट अस्वेरा में ऐसी मूर्त्तियां और यौन-परक मुद्राएं उदाहरण-स्वरूप लक्ष्य की जा सकती हैं। ऐसी ही शिल्प-सामग्री बंगाली वैष्णवों के काष्ठ रथों पर खुदाई रूप में और बंगाल के ही कुछ आधुनिक मन्दिरों में भी प्राप्त है[२]। गुप्तकालीन अजन्ता और बाघ गुफाओं की दीवारों पर अंकित चित्रों तथा देवगढ़ के दशावतार मंदिर में उत्कीर्ण मूर्त्तियों में हमें इसी प्रकार की यौनाकर्षण पूर्ण सुन्दरियों की छवियां देखने में आती [३] हैं। अति प्राचीन पुरातत्त्व सामग्री में भी हमें स्त्री और पुरुषों की कुछ

२. हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा, भाग २—आर. डी. बेनर्जी, पृष्ठ ४०१।

३. दी फ्लावरिंग ऑफ इन्डियन आर्ट—आर. के. मुकर्जी, पृष्ठ १८०।

नग्न-मूर्त्तियां संभोग की स्पष्ट मुद्राओं में मिलती हैं [४] ।

भारतीय साहित्य और कला में सदियों से यौन का उल्लेखनीय स्थान रहा है । वैदिक साहित्य में हमें ऐसे सूत्र मिलते हैं जिनमें व्यक्ति शक्ति तथा सुखपूर्ण कामक्रीड़ा के लिये प्रार्थना करता है । अथर्ववेद [५] में यौन-विषयक लगभग इकतालीस सूत्र उपलब्ध हैं । स्मृति साहित्य में काम को चार पुरुषार्थों में एक बताया गया है । भगवद्-गीता में भी उसका 'धर्माविरुद्धोकामोस्मि' कह कर उल्लेख किया गया है । कालिदास ने तो भारतीय काव्य में प्रेम के तत्त्व को अपनी लेखनी से अमर कर दिया है—

कान्ताश्लेषः प्रणयिनि जने कि पुनर्दू रसंस्थे ।

अथवा—

ज्ञातस्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ।

इन उक्तियों द्वारा कालिदास ने यौन-विषय को साहित्य क्षेत्र से अछूता न रहने दिया ।

भारतीय कला में संभवतः यौन विषय के आसपास प्रेम-तत्त्व की अभिव्यक्ति मानवीय और स्वर्गीय दोनों लोकों के लिये की गई है । नागार्जु न कोंडा के बौद्ध-कालीन स्मारकों में, जो कि ई० पू० दूसरी शताब्दी के हैं, ऐसी मूर्त्तियां मिली हैं, जिनमें मानवाकृतियों द्वारा प्रणयकेलि का अंकन किया गया है[६] । इनमें उमा-महेश्वर के क्रीडारत युग्म अद्भुत् हैं । उमा-आलिगन मूर्त्ति एक ऐसी शिल्पकृति है, जो समस्त भारतवर्ष के शिव मंदिरों में मिलती है । किन्तु उड़ीसा के अत्यन्त पुरातन मंदिरों में इस मूर्त्ति का स्थान तनिक संदिग्ध है । उड़ीसा के कवि उपेन्द्रसिंह [७] रचित सम्भवतः पहली संस्कृत रचना में, जो कि शैलोद्भव नरेशों के ताम्रपत्रों पर अंकित है, उमा-महेश्वर-युग्म का वर्णन मिलता है । । उमा-महेश्वर की आलिंगन-मय मूर्त्तियां उड़ीसा के कुछ पुराने मंदिरों में अवश्य पाई जाती हैं । ये मंदिर यद्यपि प्रख्यात नहीं हैं, पर जानकारी के लिये उनके नाम हैं: बनपुर के पास पंजियावा का मंदिर, गंजाम जिले के खल्लीकोट के पास कृष्णनगरी में मुक्तेश्वर का शिव मदिर, और भुवनेश्वर के शत्रुघ्नेश्वर और स्वर्णजलेश्वर के मदिर । कलिंग के मूर्त्तिकारों द्वारा निर्मित यह उमा-आलिगन प्रतिमा शैली इतनी प्रसिद्ध हुई कि पड़ौस के जनपदों में उसकी माँग

---

४. दी आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ इन्डिया—रोवलेंड, पृष्ठ ६ ।

५. देखिये 'खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देअर सिगनिफिकेन्स'—उर्मिला अग्रवाल–पृष्ठ २०८ ।

६. काम कल्प—प्रो. थॉमस–पृष्ठ ४६–प्लेट ३२ ।

७. एपिग्राफिका इन्डिका, खंड ३, पृष्ठ ४१ ।

होने लगी। ढाका के संग्रहालय[८] में आलिंगन मुद्रा में उमा-महेश्वर की एक मूर्त्ति है, जिस पर 'कलिंग महेश्वर' अंकित है। यह प्रतिमा निस्संदेह इस बात को उजागर करती है कि कलिंग के कला-शिल्पियों ने आलिंगन मुद्रा वाले उमा-महेश्वर-युग्म को इतनी कुशलता से बनाया कि बंग देश तक में उस शिल्पकृति की ख्याति पहुंची और उसकी सराहना हुई।

उड़ीसा के मंदिर-निर्माण-कला के इतिहास में गोकर्णेश्वर का मंदिर सबसे पुराना बताया जाता है। यह मंदिर पांच बड़ी शिलाओं से बनाया गया है और उन्हें एक के ऊपर एक इस तरह रखा गया है कि वे शिखर तक पहुंच गईं। उन्हीं में से शिखर का रूप निकाला गया। इस मंदिर में किसी तरह का मूर्त्ति-शिल्प उपलब्ध नहीं है। मगर शत्रुघ्नेश्वर मदिर-समूह में हमें मूर्त्तिकला के दर्शन होते हैं; मुख्यतः इनमें उमा-महेश्वर की प्रतिमाएं विशेष हैं। परन्तु ई० स० सातवीं शताब्दी के बने इन शत्रुघ्नेश्वर के मंदिरों में मिथुन-मुद्राओं का अभाव है। यद्यपि शिवनटराज की उर्ध्वलिंग प्रतिमा अवश्य ही उड़ीसा के मूर्त्तिकारों ने गुप्तकाल में बनाई हैं। केउंझर जिले के आसनपाट स्थान में प्राप्त नटराजशिव की उर्ध्वलिंग मूर्त्ति के नीचे ई० स० ५वीं शताब्दी अंकित है[९]। उड़ीसा के मंदिरों में पहली मिथुन-मूर्त्ति भुवनेश्वर के परशुरामेश्वर मंदिर में मिलती है। यह मंदिर संभवत भौम-कालीन है। यह काल ई० स० ७३६ से आरम्भ होता है। मगर आठवीं शताब्दी में यौन-संभोग की जो मूर्त्तियां बनीं, वे पहले से अधिक परिष्कृत और स्पष्ट थीं। उन्हें हम बाद में निर्मित मुक्तेश्वर, राज-गिरि, लिंगराज और जगन्नाथ के मंदिरों में देख सकते हैं। इस शिल्प अभिप्राय (मोटिफ) का चरमोत्कर्ष भारतीय स्थापत्य और मूर्त्ति-शिल्प के महान कृतित्व कोणार्क के सूर्य मंदिर में जाकर हुआ। अनेक कला-समीक्षकों और इतिहासज्ञों के लिए कोणार्क और जगन्नाथ के मंदिरों में उपलब्ध संभोग-प्रतिमाएं जिज्ञासा का विषय रही हैं। कभी-कभी इन्हें विकृत एवं अश्लील मानकर तिरस्कृत भी किया गया है। सन् १९१२ में एम. एम. गांगुली[१०] ने इस विषय में लिखा—'उड़ीसा के स्थापत्य और मूर्त्तिशिल्प का सर्वाधिक परेशान करने वाला पक्ष, गर्भगृहों को छोड़ कर, जग-मोहन, नटमंदिर आदि की दीवारों पर उकेरी हुई अश्लील आकृतियां हैं। इन

८. देखिये—आइकोनोग्राफी ऑफ बुद्धिस्ट एण्ड ब्राह्मिनिकल स्कल्पचर्स इन ढाका म्यूजियम (१९२९)—एन. के. भट्टासाली—पृष्ठ १२४-१२।

९. उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च जरनल, खंड, १३, पृष्ठ १।

१०. उड़ीसा एन्ड हर रिमेन्स—पृष्ठ २२३।

आकृतियों की मुद्राएं भद्दे दृश्यों को इस सीमा तक प्रकट करती हैं कि उबकाई आने लगती है। यह समझ में नहीं आता कि आखिर इन्हें पवित्र स्थानों में ही क्यों बनाया गया ?' उक्त विद्वान के मत से सहमत हुए बिना इतना कहना यहां उचित होगा कि जिन कलाकारों ने मंदिरों की दीवारों पर संभोग की मुद्राएं बनाईं, उन्होंने शिल्प शास्त्रों तथा अन्य कला-सिद्धान्तों और आश्रयदाताओं के आदेशों का ही पालन किया था। उन्होंने ऐसे रति-आसन बनाने की धृष्टता कभी न की होती, यदि उनके इस तरह के कार्य को तत्कालीन समाज ने मान्यता न दी होती। हमने इस लेख के आरम्भ में ही बताया है कि सभ्यता के आदिकाल से ही कलाकारों के लिये यौन-चित्रण का विषय रहा है। काम को कभी भी भद्दी वस्तु मान कर तिरस्कृत नहीं किया गया। बल्कि उसे तो चार पुरुषार्थों में से एक माना गया है, जो मनुष्य को पूर्णता प्रदान करता है।

'मानसर शिल्पशास्त्र'[११] का कथन है कि 'कला-साधना के पूर्व कलाकार को कठोर आध्यात्मिक अनुशासन से गुजरना पड़ता है। उसे अपनी समस्त इच्छाओं का शमन और विषय-वासनाओं का दमन कर अथर्ववेद, तीस शिल्पशास्त्र और उन सभी वैदिक मंत्रों का अध्ययन करना चाहिए, जिनमे देवताओं को प्रसन्न किया जाता है। कलाकारों से, उनके पवित्र मन से, मंदिरों की दीवारों पर आकृतियां उकेरने की सदैव अपेक्षा की जाती रही है। दीवारों को सजाते समय इसलिए जीवन के विविध पक्षों में वे मनुष्य की नैसर्गिक आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। कोई भी कलाकृति ऐसा आईना होती है, जिसमें सारा समाज देखा जा सकता है। भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं ने कभी भी 'काम' का निषेध नहीं किया। श्री वेदप्रकाश ने सही कहा है कि "इन यौन-परक मूर्तियों के प्रति अंतिम रूप से यही कहना उपयुक्त होगा कि उन्हें न चाहने वाले दर्शक पर, कभी भी थोपा नहीं गया; बल्कि वास्तकविकता यही है कि उनकी जरूरत रही है। अवश्य ही उन मूर्तियों ने परितोष दिया होगा[१२]।"

इस सन्दर्भ में यह बताना उचित है कि धर्मशास्त्र, न्यायशास्त्र, अर्थशास्त्र और अध्यातम के अध्ययन के साथ प्राचीन-काल में काम-शास्त्र का ज्ञान भी आवश्यक था। शंकर दिग्विजय में उल्लेख है कि परम्परा के अनुसार शंकराचार्य जैसे संन्यासी को भी परकाया-प्रवेश द्वारा काम का अनुभव करना पड़ा था। महर्षि वात्स्यायन ने गुप्त-

११. कोणार्क—आर. जे. मेहता, पृष्ठ २२।

12. Ibid—

काल में 'कामसूत्र' की रचना की थी। बाद में कोका पंडित ने 'रति शास्त्र' तथा कल्याण मल्ल ने 'अनंग रंग' की रचना की। मंदिरों की दीवारों पर मूर्तियों के निर्माण करते समय कलाकारों ने स्वाभाविक रूप से आलिंगन, चुम्बन और संभोग के दृश्यों के लिये इन ग्रन्थों का अनुसरण किया होगा।

यौन-परक मूर्त्तिकला के प्रचलन के प्रति अध्येताओं में अनेक तरह के मत प्रचलित हैं[13]। श्री कुंवरलाल का अनुमान है कि इस तरह के दृश्य कदाचित उक्त ग्रन्थों के कुछ सूत्रों के दृश्यगत रूप हैं। इनमें कलाकार की रचना-प्रक्रिया को बनाने वाली अव्यक्त भाषा मिलती है। इस सिलसिले में कुछ विद्वानों ने उपनिषद् का पद 'एकोऽहं बहुस्याम' उद्धृत किया है। ईश्वर ने अपने को सब में समाहित माना है। उसने कहा है कि मेरे अनेक रूप हों। यों 'पुरुष' प्रकृति की ओर देखता है और इससे समूचा विश्व गतिमान होता है। अग्निपुराण में संदर्भ आया है कि मंदिर की अन्तिम पट्टिका पर यौन मुद्रा वाली मूर्त्तियां बनाना शुभ है। अग्निपुराण के ही उत्कलखण्ड और वृहत् संहिता में उल्लेख है कि रतिक्रीड़ा वाली मूर्त्तियां मन्दिर को बिजली और तूफान से बचाने के लिए बनाई जानी चाहिये। अग्निपुराण का कथन है[14]—'शाखा शेषं मिथुनैर्विभूषयेत्'। लगता है कि इस दृष्टि से जिन विचारों को व्यक्त किया गया है, उनका व्यापक रूप से लोगों ने प्रयोग किया है।

जब तक कि मध्यकालीन मन्दिर शिल्प का रूप मध्यकाल में निखर पाया, हिन्दू-नरेशों ने वास्तुशिल्प को बढ़ावा दिया और प्रयत्न किया कि उनकी प्रजा भव्य और विशाल मंदिरों से आकृष्ट हो। मुसलमानों की तलवारों ने भारतवर्ष के बहुत बड़े भाग को अपने आधिपत्य में ले लिया था। हिन्दू नरेशों ने इस आघात से जनता को उबारने और विश्वास में रखने के लिए यही ठीक समझा कि मन्दिरों को विद्या और संस्कृति के महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनाया जाय, जिससे हिन्दुओं की धर्म के प्रति श्रद्धा विचलित न हो। चोलगंगदेव ने उड़ीसा पर बहुत काल तक राज्य किया। उनके राज्य का विस्तार गंगा से गोदावरी तक था। मगर उन्होंने ११९२ ई०स० में जगन्नाथ का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया, जो कि विद्या और संस्कृति का केन्द्र बना। उनके इतिहासकार के शब्दों में[15]—

---

१३. 'इम्मॉर्टल खजुराहो'—पृष्ठ १७५।

१४. अमनी कृति 'फ्लावरिंग इण्डियन आर्ट' में आर. के. मुकर्जी द्वारा उद्धृत—पृष्ठ १८०।

१५. उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च जनरल, खण्ड ५, पृष्ठ ५६।

पादौतस्य धरान्तरिक्षमखिलं नाभिश्च सर्वा दिशः
श्रोत्रे नेत्रयुगम् रवीन्दु युगलं मूर्धापिच द्यौरसौ।
प्रासादं पुरुषोत्तमस्य नृपतिः कोनाम् कर्मोक्षमः
तस्येत्यादि नृपैरुपेक्षितमयं चक्रेऽथ गंगेश्वर ।।

निस्सन्देह इस विशाल मन्दिर ने लोगों को अपने प्रति आकृष्ट किया था। इसमें मिथुन मुद्राएं बहुत अधिक प्रमाण में प्रयुक्त की गई हैं। आम लोगों ने अनुभव किया कि वे आध्यात्मिक अनुभूति के साथ-साथ इस रूप में काम-क्रीड़ा की भी अनुभूति ग्रहण कर सकते हैं। इन मिथुन-मूर्त्तियों के पीछे यह भी दर्शन था कि जो दर्शक संभोग मुद्राओं से अप्रभावित रह सकते हैं, वे ही मन्दिर में प्रभु की सेवा के अधिकारी हो सकते हैं। इस कोटि के रति-चित्र बौद्ध-कला में भी बहुत बनाये गये। जब बुद्ध गहरे ध्यान में थे, तब कामदेव ने उनकी समाधि भंग करने के लिए अनेक मोहक प्रयत्न किये। औरंगाबाद की एक गुफा में बुद्ध को आकृष्ट करते हुए एक ऐसा ही युक्त दृश्य दिखाया गया है। कदाचित बौद्ध-कला के सृजकों का प्रभाव हिन्दू मन्दिरों के निर्माण-कर्त्ता कलाकारों पर भी पड़ा होगा।

अलंकार-शास्त्रियों ने शृङ्गार को आदिरस माना है। साहित्य और कला में हमेशा ही शृङ्गाररस अभिव्यक्ति पाता रहा है। यही रस, जो कि मन्दिरों में प्राप्त मिथुन-मुद्राओं का आधार है, विश्वनाथ कविराज के शब्दों में 'ब्रह्मानन्द सहोदर' बनाया गया है। किसी भी कलाकार द्वारा ब्रह्मानन्द का अंकन मानवीय क्षमता के परे है। ब्रह्मानन्द की छाया या प्रभावी रूप का पर्याय शृङ्गाररस है। उपनिषदों में कहा गया है—'रसोवै सः रसोवायम् लब्ध्वानन्दी भवति'[१६]। भागवत में कृष्ण के प्रति गोपिकाओं के पवित्र प्रेम का वर्णन करने के लिए शृङ्गार का ही आश्रय लिया गया, क्योंकि यही वह रस है, जो लोक को पूर्णानन्द की अनुभूति से परिचित कराने का माध्यम है। 'काव्य प्रकाश' में मम्मट ने प्रतिपादित किया है कि शृङ्गार ब्रह्मानन्द है और प्रत्येक रसों को अपने में समाहित करता है[१७]। बृहदारण्यक उपनिषद में लिखा है कि 'मनुष्य अपनी प्रेमिका का आलिंगन करते समय समस्त संसार को विस्मृत कर देता है—यही नहीं, उन सभी वस्तुओं को भी भूल जाता है, जो उसके भीतर और

---

१६. लॉसन का काव्य-शिल्प—पृ० ३८।

१७. काव्य प्रकाश—उल्लास ४, उड़ीया साहित्य अकादमी प्रकाशन, पृष्ठ १०१
हृदयमिव प्रविसन् सर्वांगीणमिवालिंगन् अन्यत् सर्वमिव तिरोदधत्-ब्रह्मास्वाद-
मिवानुभावयन अलौकिक चमत्कारकारी शृङ्गानरादिकोरसः।

बाहर हैं।' इन उद्धृत विचारों से यही बात सिद्ध होती है कि मूर्त्तियों में मिथुन मुद्राएं एक तरह से सीमित मानवीय भाषा में चरमानन्द की अभिव्यक्ति हैं।

वस्तुतः फिर भी उड़ीसा के मन्दिरों की दीवारों पर अंकित यौन-प्रतिमाओं के काम-दृश्यों के पृष्ठ में निहित महत्त्वपूर्ण इतिहास को भुलाया नहीं जा सकता। आठवीं शताब्दी में भौमिकों के उदय के साथ उत्कल के राज-परिवार में बौद्ध-धर्म को पुनः प्रश्रय मिला। उड़ीसा के इतिहास का यह काल बौद्धकाल की महायान शाखा के विकास का काल रहा है। इसी शाखा में से तंत्रवाद का उदय हुआ। तंत्रवादी बौद्धधर्म में से आगे चलकर सहजयान की जिस शाखा का विकास हुआ, वह शाखा इसी काल में पूरी तरह से पनपी थी। सहजयानियों ने देवी-देवताओं की पूजा का विरोध किया और यहां तक घोषित किया कि बुद्ध तक मनुष्य के शरीर में रहते हैं। उन्होंने एक यौगिक-पद्धति का अनुसरण किया, जिसमें साधक को नारी-शक्ति का आलिंगन कर उसके साथ मिथुन-साधना करनी पड़ती है। इस साधना में नारी को 'सहज सुन्दरी' कहा जाता है। इसमें मिथुन-योग में साधक जिस सुख का अनुभव करता है, उसे 'महासुख'[१८] कहा जाता है। इस प्रकार के तान्त्रिक बौद्धवाद ने यौनक्रीड़ा को पूरी तरह छूट दी थी। तिब्बत में यह प्रक्रिया बहुत प्रसिद्ध रही। हेरिसन फोरमेन[१९] ने तिब्बत के मूर्त्ति-गृह का विस्तृत वर्णन किया है, जो कि तिब्बत में तांत्रिक बौद्धवाद का केन्द्र रहा है। उसने लिखा है 'मूर्त्तिगृह अनेक नग्न-प्रतिमाओं से भरा था। स्थूल रूप से कहा जाय तो वे मूर्त्तियां मिथुन के उन तमाम आसनों से सम्बन्धित थीं, जिनकी मनुष्य के लिए कल्पना कर सकना सम्भव है। जब कोई लामा उस आध्यात्मिक स्तर तक पहुंच जाता, जहां उसे विश्वास हो जाय कि वह नारी-शरीर को बिना विषय-वासना के देख सकेगा, तभी वह मूर्त्तिगृह में प्रवेश का अधिकारी होता। यहीं से उसकी साधना का प्रायोगिक पक्ष शुरू होता।

भौम-कालीन कला-शैली ने बौद्ध-धर्म के अभिप्रायों (मोटिफ्स) द्वारा शैव मन्दिरों को प्रभावित किया था। भौमकाल में ही तांत्रिक बौद्धवाद ने शैवमत और शक्तिमत दोनों पर अपना प्रभाव डाला। जिन्होंने इस तांत्रिक योग का अनुसरण किया। उन्होंने पंचतत्त्व के माध्यम से शक्ति की उपासना की। ये पांच तत्त्व—मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन हैं। यद्यपि तन्त्रवाद में ये पांचों तत्त्व गूढ़ प्रतीकार्थी हैं, मगर अपने विकृत-रूप में तंत्रवाद केवल नारी और मदिरा को लेकर ही जीवित रहा। इस मिथुन योग

---

१८. बुद्धिज्म इन उड़ीसा—डॉ. एन. के साहू, पृष्ठ १४०।

१९. ओड़िसा रिव्यू (मॉन्यूमेंट स्पेशल), पृष्ठ ३०।

की उपासना में साधक को मिथुन की सभी स्थितियों से गुजरते हुए वीर्य-स्खलन से स्वयं को बचाना पड़ता है।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि मध्यकाल में मिथुन-योग उपासना के प्रभाव से कला और साहित्य भी मुक्त नहीं रहे। इसी काल मे उन कौल और कापालिकों का भी उदय हुआ। इस विकृत यौन-साधना का उल्लेख भवभूति के 'मालती माधव', सोमदेव के 'कथासरित्सागर', राजशेखर के 'कर्पूर मंजरी' और 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में मिलता है। इन साधकों की दृष्टि में योग और भोग अलग वस्तु नहीं थे। यह बताया जाता है कि जब इस शाखा के कापालिक साधक मिथुन-उपासना में प्रवृत्त होते थे, तब उनके गुरु लिंग-प्रतीकार्थी डंडे से मिथुन-क्रीड़ा का अनुष्ठान करते थे। 'शिल्प प्रकाश' में इस बात का उल्लेख आया है कि इन्हीं उपासनाओं के कारण उड़ीसा के मन्दिरों में मिथुन मूर्त्ति-शिल्प का प्रचलन हुआ। 'शिल्प प्रकाश' इसी कोटि के एक साधक रामचन्द्र कौलाचार की कृति है। इस ग्रंथ का जो आलेख एलिस बोनर और एस. आर. शर्मा ने प्रकाशित किया है[२०], उसमें शिल्प-शास्त्र के अनुसार 'काम कला तत्त्व' की व्याख्या इस रूप में उपलब्ध हैं—

> शिवः साक्षात् महालिंगम् शक्तिर्भग स्वरूपिणी।
> तद्योगेन जगद्सर्वम् कामक्रिया सा उच्यते।।
> इति कामकला विद्या आगम तत्त्व विस्तारः।
> स्थानन् काम कलाहितं त्यक्तमंडलमुच्यते।।
> कौलाचारमते हिनाम् सर्वदात्यक्ता मंडलम्।
> कालाकक्ष समं त्यक्तेम तत्स्थानं गहनोपमम्।।

इस उद्धरण से यह प्रगट है कि कौल और कापालिकों ने अपने काम-कला तत्त्वों से परोक्षतः उड़ीसा के मूर्त्ति-शिल्प में मिथुन-मुद्राओं के विकास की भूमिका बनाई। जैसा कि स्पष्ट है कि पुराणों में यौन-मुद्राओं वाली मूर्त्तियों को बनाने का प्रावधान है और तदनुसार लोगों ने उनका अनुकरण किया। जगन्नाथ और कोणार्क के मंदिर, जो उत्तर-मध्यकाल में वैभव, सज्जा और विकास के स्थान रहे, कापालिकों और कौलों की उपासना से प्रभावित हुए बिना न रह सके। नृसिंह प्रथम (१२३८-१२६८ ई० स०) ने राधा और वरेन्द्र के मुसलमानों को बुरी तरह हराकर कोणार्क में विशाल सूर्यमंदिर का निर्माण करवाया। उस मंदिर की सजावट और सज्जा के लिये उसने

---

२०. शिल्प प्रकाश—सम्पादन, लिस बोनर और एस. आर. शर्मा (१९६६)—पृ० १०३।

बहुत लगाया। राजकीय इतिहास लेखक के शब्दों में—

कुर्वन् प्रकाशमनिशं द्विज साच्चकृत्वा
मेरु तुला पुरुषमुख्य महार्थदानैः
स्थातुंसुरैः सहसदृक् कलयन्त्रिकोणा
कोने कुटीर कमचीकरदूष्णरश्मैः ।।

इस प्रकार वैभव और प्रदर्शन की भावना से प्रभावित होकर तथा सहजिया कौल और कापालिकों के मतों के प्रभाव में आकर उड़ीसा के शिल्पियों ने न केवल सुन्दर वस्तुओं का निर्माण किया, बल्कि मिथुन-मुद्राओं के रूप में यौन-कला को भी प्रोत्साहन दिया। इन कलाकारों की निपुणता शरीर के विभिन्न अंगों को तराशने में देखी जा सकती है। इन्हें मानवीय शरीर के प्रत्येक भाग को सप्रमाण बनाने का ज्ञान रहा है। मिथुन-मुद्राओं का निकट से अध्ययन करने पर यह भी पता चलता है कि इन शिल्पियों ने दूसरे मतों पर छींटाकशी करने के लिये भी कुछ यौन-प्रतिमाओं का निर्माण किया। प्रमाण-स्वरूप कोणार्क की इन मूर्त्तियों में कई पुरुषाकृतियां शैव-मतावलम्बियों की सूचक हैं, जिन्हें कि नारी के साथ मिथुन-रत बताया गया है।

ये सभी कलाकार, जिन्हें इस कला को विकसित करने का श्रेय प्राप्त है, अपनी परंपरा एवं कला के ज्ञाता न थे। सभी सरल और पवित्रमना शिल्पियों की भांति भोले-भाले थे। किन्तु सभी यह अवश्य जानते थे कि विश्व में किसी भी सुन्दर वस्तु में विकृत और अश्लील कुछ नहीं होता। सद्गुणों का रास्ता ही उनके लिये सौन्दर्य का मार्ग था। मंदिर आखिर भगवान के विराट् स्वरूप का प्रतीक होता है, जहां गुण और अवगुण सापेक्ष होते हैं।

मंदिर उनके लिये संसार का ही प्रतिरूप रहा, जो बाह्यतः मात्र रूपों और नाम का खेल है। इसीलिए यह देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिये कि सूर्य मंदिर बनाते समय कलिंग के कलाकार उस पर उसी संसार को उकेर सके, जो सूर्य के उदित होने के साथ ही गतिशील हो उठता है। स्पष्ट है कि सूर्य, पृथ्वी पर प्रजनन के सभी रूपों का शक्ति-स्रोत है। हम देखते हैं कि कोणार्क के विचित्र सूर्य मंदिर में उत्कल की प्रतिमा, पराकाष्ठा, चरम सीमा एवं उन्नत स्थिति तक पहुँची और उसमें उड़िया-कला का पूरी तरह से समन्वय हुआ।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

कल्याणसागर वेहेरा

उत्कलीय मन्दिरों में मिथुन-चित्रण

ख्रीष्टीय षष्ठ शताब्दी से उड़ीसा के विभिन्न स्थानों में अनेक छोटे-बडे मन्दिरों का निर्माण हुआ है। शिल्प, स्थापत्य, मूर्त्तितत्त्व और भास्कर्य की दृष्टि से भारतीय कला के इतिहास में उड़ीसा के मन्दिरों का अवदान गुरुत्वपूर्ण है। इन मन्दिरों की एक विशेषता है—इनकी दीवालों पर खुदी हुई स्त्री-पुरुषों की मिथुन-मूर्त्तियां। साधारणतः ये मूर्त्तियां अश्लील समझी जाती हैं। अन्यथा सर्वांग सुन्दर मन्दिरों में ऐसी मूर्त्तियों के होने का कारण भी समझ में नहीं आता। दरअसल देव-मन्दिरों में इन मूर्त्तियों के समावेश ने समस्या ला खड़ी की है। उड़ीसा में मिथुन मूर्त्तियों के क्रम-विकास, प्रकार-भेद विशेषत्त्व, भास्कर्य-शैली या उस पर तुलनात्मक विचार करना इस निबन्ध की सीमा के भीतर संभव नहीं है। मन्दिरों में इन मिथुन-मूर्त्तियों को अवस्थापित करने के कारणों पर विचार करना इस निबन्ध का लक्ष्य है। मिथुन मूर्त्तियों के तात्पर्य के सम्बन्ध में आलोचना करने के पूर्व यह जानना आवश्यक है कि ये मूर्त्तियां मन्दिरों के बहिर्भागों में ही पाई जाती हैं तथा मन्दिर के अभ्यन्तर प्रदेश इन कारुकार्यों से शोभित नहीं हैं। एक बात और, इन मिथुन भास्कर्यों की कल्पना, मात्र उड़ीसा के शिल्पियों की ही नहीं है। भारतीय कला के इतिहास का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि यह परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। सांची, अमरावती, मथुरा और एलोरा आदि कला-क्षेत्रों में भी मिथुन

मूर्त्तियों को अंकित किया गया है। यह किसी एक निर्दिष्ट समय में या किसी एक निर्दिष्ट प्रदेश में ही सीमाबद्ध होकर नहीं था। केवल उड़ीसा ही नहीं, मध्य प्रदेश, महीशूर राजस्थान, गुजरात यहां तक कि नेपाल में भी विभिन्न समय में बने मन्दिरों में मिथुन-मूर्त्तियों की स्थापना हुई है।

मन्दिर स्थापत्य के प्रारंभिक काल में भुवनेश्वर के भरतेश्वर, शत्रुघ्नेश्वर और परशुरामेश्वर आदि मन्दिरों में स्त्री-पुरुषों की युगल मूर्त्तियां बनायी गई हैं। पर इनका चित्रण उतना अश्लील नहीं है। इन मूर्त्तियों के अंग वस्त्रों से ढंके हुए हैं। परवर्त्ती-काल में शायद तांत्रिक विचारधारा के प्रभाव से भुवनेश्वर के वैताल, शिशिरेश्वर और चौरासी के वाराही मन्दिरों में मिथुन मूर्त्तियां बनाई गई हैं। उड़िया शिल्पकला का 'सार संग्रह' या उड़िया स्थापत्य में 'रत्न' कहलाने वाले दशम शताब्दी में निर्मित भुवनेश्वर मन्दिर में इस तरह की मूर्त्तियां नहीं हैं। इससे प्रतीत होता है कि मन्दिरों में मिथुन मूर्त्तियों को उत्कीर्ण करने की कोई अनिवार्यता नहीं थी। एकादश शताब्दी में निर्मित राज-रानी मन्दिर, ब्रह्मेश्वर और लिंगराज आदि मन्दिरों में मिथुन-मूर्त्तियों का चित्रण है। साधारणतः ये मूर्त्तियां मन्दिर के ऊर्ध्वभाग की ओर (upper portion) तथा 'खान्दियों' (sections) पर पाई जाती हैं। गंग-युग में निर्मित मन्दिरों में भी ऐसी परम्परा का अनुसरण किया गया है। यह एक ऐसा बंधा हुआ नियम बन गया था कि पुरी में जगन्नाथ जी के मन्दिर और उसके भोग-मंडप के निर्माण में भी इसका व्यतिक्रम नहीं हो पाया है। कोणार्क मन्दिर में मिथुन-मूर्त्तियों की संख्या अधिक है। इन मिथुन-मूर्त्तियों में संयम या संकोच का लेशमात्र भी नहीं है। मन्दिर के पृष्ठों पर, चक्र आदि पर इस तरह की अश्लील मूर्त्तियां पाई जाती हैं। पाश्चात्य दर्शकों ने कोणार्क मन्दिर को दुनिया का सबसे सुन्दर और इसके साथ ही सबसे अश्लील मन्दिर बताया है। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में उड़ीसा में स्थित अंग्रेज कमिश्नर ककवर्न ने इन मूर्त्तियों को देख कर यह मन्तव्य जाहिर किया था कि इनके संरक्षण के लिये एक पैसा भी खर्च नहीं होना चाहिये, अथवा इन्हें ध्वस्त कर देना चाहिये।

मन्दिरों में इन मिथुन-मूर्त्तियों को स्थापित करने के कारण या यथार्थता के सम्बन्ध में 'नाना मुनीनां मतयोर्विभिन्ना' जैसी बात है। इसका सन्तोषप्रद कारण ढूंढ निकालने के लिये समीक्षा और गहन अनुसंधान की आवश्यकता है।

कुछ आलोचकों का कहना है कि मन्दिरों को सात्विक, राजसी और तामसी ऐसे तीन भागों में विभक्त किया जाता था। इसीलिये तामसी भाव जगाने वाली इन

अश्लील मूर्त्तियों को मन्दिरों में एक निर्दिष्ट भाग पर स्थापित किया जाता था। परन्तु मन्दिरों में इन मूर्त्तियों को विभिन्न अंशों में देख कर इस तर्क की युक्ति-युक्तता के प्रति सन्देह करना पड़ता है। साधारणतः इन मूर्त्तियों को 'ऊपर जांघ' पर उट्टंकित किया जाता था। फिर भी इसके लिये कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है, क्योंकि ऐसी मूर्त्तियां मन्दिरों में 'विमान', 'जगमोहन', 'नृत्य मंदिर', यहां तक कि 'भोग-मण्डप' में भी पाई जाती हैं।

एक विदेशी लेखक की एक हास्यास्पद युक्ति है। उनका कहना है कि ज्यादा से ज्यादा संख्या में लोग मन्दिरों के प्रति आकृष्ट हों, इस उद्देश्य से ये अश्लील मूर्त्तियां बनाई गई हैं। भारतीय धर्म और संस्कृति में मन्दिरों और तीर्थ-स्थानों की जो गुरुत्वपूर्ण भूमिका है, उसका ज्ञान शायद उन्हें नहीं था। कोई विनोद या विलास के लिये लोग मन्दिरों में नहीं जाते। वे जाते हैं, उस क्षेत्र के महात्म्य के प्रति सचेतन होकर देवदर्शन और उपासना की लालसा से। इसलिये दर्शकों को आकृष्ट करने के लिये इस प्रकार का कोई हीन उपाय अपनाने की कोई आवश्यकता ही नहीं थी। एक भ्रान्त धारणा और भी है। कुछ आलोचकों के अनुसार युवकों को यौन-शिक्षा देने के लिये इन मूर्त्तियों को स्थापित किया गया था। पर इस युक्ति की पुष्टि के लिये भी कोई प्रामाणिक तथ्य नही है। कुछ पंडितों का मत है कि उड़ीसा में बौद्ध-धर्म के प्रसार के फलस्वरूप मन्दिरों में दर्शनार्थियों की संख्या में कमी आ गई थी, जिसकी वृद्धि के लिये इन मूर्त्तियों को स्थापित किया गया था। सम्राट् अशोक से लेकर सदियों तक बौद्ध-धर्म उत्कल में लोकप्रिय रहा। बौद्ध-धर्म में साधारण गृहस्थों के लिये भिक्षुओं से पृथक् नियमों का अनुशासन था। इसलिये बौद्ध-धर्म की लोकप्रियता के कारण मंदिरों में आने वालों की संख्या में कमी होने की कोई संभावना नहीं थी। इसके विपरीत उड़ीसा में बौद्ध-धर्म के प्रतिष्ठा-काल में बने मन्दिरों में भी इन अश्लील मूर्त्तियों की स्थापना हुई है। साथ ही ये मूर्त्तियां केवल उड़ीसा के मन्दिरों में ही नहीं, वरन् भारत भर के मन्दिरों में पाई जाती हैं। इसलिये केवल उड़ीसा में दर्शनार्थियों की संख्या बढ़ाने के लिये इन मूर्त्तियों की स्थापना हुई थी— यह एक तर्कहीन मन्तव्य है।

इस सम्बन्ध में एक दूसरा मत भी उल्लेखनीय है। कुछ लोगों का कथन है कि विलासी राजाओं को सन्तुष्ट करने के लिये शिल्पियों ने ये मिथुन-मूर्त्तियां बनायी थीं। परन्तु प्राचीन-काल में कला किसी व्यक्ति-विशेष के द्वारा नियंत्रित नहीं होती थी। कला सामाजिक चेतना, आशा, आकांक्षा और ऐतिह्य की अभिव्यक्ति की

हेतु थी। इसलिये किसी आमोद-प्रिय पृष्ठपोषक के व्यक्तिगत परितोष के लिये या शिल्पियों की रसिकता के कारण इन मूर्त्तियों का सृजन नहीं हुआ था।

इन अश्लील कहलाने वाली मूर्त्तियों के निर्माण का कारण निर्णय करते समय भारतीय कला का तात्पर्य, प्रचलित लोक-विश्वास एवं शिल्प-शास्त्रों में दिये गए निर्देशों पर विचार करना आवश्यक है। भारतीय कला प्रधानतः आदर्शवादी है। संकेत-धर्मी और रहस्यमय है। यह आध्यात्मिकता की नींव पर प्रतिष्ठित है। इन मिथुन-मूर्त्तियों की स्थापना मुख्यतः सांकेतिक ही है। पुरुष और स्त्री का मिलन जीवात्मा और परमात्मा के मिलन के साथ तुलनीय है। इस प्रकार का चिन्तन 'वृहदारण्यकोपनिषद्' में मिलता है—

तद् यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरमेवमेवायं
पुरुषः प्राज्ञेनात्मना संपरिष्वक्तो न वाह्यं किञ्चन वेद नान्तरं............४/३/२१

श्री कृष्ण के प्रति गोपियों के प्रेम में यही आध्यात्मिकता थी। इसी संदर्भ में विचार करते हुए कुछ आलोचकों का कहना है कि ये मिथुन-मूर्त्तियां मोक्ष की प्रतीक हैं। उपनिषद् के इस गूढ़-तत्त्व को प्रदर्शित करने के लिये शिल्पीगण कितने प्रयत्न-शील थे, इस पर विचार करने से अनेक क्षेत्रों में सन्देह होगा ही। अगर केवल इन उपनिषदीय तत्त्वों को प्रदर्शित करने का अभिप्राय शिल्पियों का था तो फिर क्यों उन्होंने इतने कुत्सित ढंग से मूर्त्तियों का सृजन किया? वे मर्यादा-सम्पन्न आलिंगन-बद्ध मूर्त्तियों का निर्माण भी कर सकते थे। जो भी हो, मिथुन के प्रति उस समय जो विचार था, वह इन अश्लील मूर्त्तियों के तात्पर्य को हृदयंगम करने के लिये अवश्य ही सहायता करेगा।

'काम-क्रिया के बिना जीव-जगत की सृष्टि असंभव है', इस विचार को व्यक्त करना इन मिथुन मूर्त्तियों का एक और सांकेतिक तात्पर्य है। सृष्टि के मूल में 'काम' विद्यमान है, इसका पर्याप्त प्रमाण एवं वर्णन ऋग्वेद के नासदीय सूक्त में है—

'काम तद् अग्रे सम अवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमम् यद् आसीत।
सतो बंधुम् असति निर् अविनन्दन् हृदि प्रतीक्षा कवयो मनीषा॥'

—ऋग्वेद १०/१२६/४

पहले परमात्मा अकेला था ऐसा वृहदारण्यक उपनिषद् में वर्णित है। उसने अपनी निस्संगता को दूर करने के लिये अपने को दो भागों में विभक्त किया। सृष्टि का हेतु मिथुन है और मिथुन द्वारा ही सृष्टि-रचना का मार्ग प्रशस्त हुआ है—

स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत्।

स हैतावानास यथा स्त्रीपुमा ँ सौ संपरिष्वक्तौ स
इममेवात्मानं द्वेधापातयत्ततः पतिश्च पत्नी चाभवतां
तस्मादिदमर्धबृगलमिव स्व इति ह स्माह याज्ञवल्क्यस्तस्मा-
दयमाकाशः स्त्रियापूर्यत एव ता ँ समभवत्ततो मनुष्या अजायन्त ।।

—बृहदारण्यक उपनिषद् १/४/३

अर्थात्—वह रममाण नहीं हुआ। क्योंकि एकाकी पुरुष रममाण नहीं होता। उसने दूसरे की इच्छा की। वह, जिस प्रकार आलिंगित स्त्री और पुरुष होते हैं, वैसे ही परिणाम वाला हो गया। उसने अपनी इस देह को ही दो भागों में विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए। इसलिये यह शरीर अर्द्ध-बृगल-द्विदल अन्न के एक दल के समान है, ऐसा याज्ञवाल्क्य ने कहा। इसलिये यह आकाश (पुरुषार्थ) स्त्री से पूर्ण होता है। वह उससे (स्त्री से) संयुक्त हुआ। उसी से मनुष्य उत्पन्न हुआ।

'शतपथ ब्राह्मण' में जन्म का आरभ मिथुन से होता है, ऐसा वर्णन है—

मिथुनानि जुहोति। मिथुनात् बाइअधि प्रजातिर्यो वै प्रजायते

—श० ब्रा० ६/४/१/५

द्वंद्व हि मिथुनं प्रजननं तस्मात् द्वै द्वै वलाकंपृणेइ
उपधीयेते तस्माद्‌द्वाभ्यां चिति प्रणयन्ति। —श० ब्रा० १०/५/२/८

इस प्रकार की विचारधारा परवर्त्ती-युग में दर्शनों में भी प्रतिफलित हुई है। वराहमिहिर द्वारा रचित 'बृहत् संहिता' में लेख है कि सृष्टिपति, ब्रह्मा से लेकर निम्नतर कीटों तक सभी काम-क्रिया के अधीन हैं। इसमें लज्जा की क्या बात है।

आब्रह्म कीटान्तमिदं निबद्धं पुँस्त्री प्रयोगेण जगत् समस्तम्।
व्रीड़ाय का यत्र चतुर्मुखत्वमीशोऽपि लोभादमितो युवत्योः ।।

इस प्रकार की चिन्ताधारा के परिप्रेक्ष्य में विचार करने से ज्ञात होता है कि मियुन-मूर्त्तियों के माध्यम से सृष्टि-तत्त्वों को अवतारित किया गया है।

कुछ आलोचकों का मत है कि मन्दिरों के बहिर्भागों में बनी ये मूर्त्तियां अनित्य संसार की प्रतीक है। उपासकों को संसार के इस नित्य-अनित्य माया के बन्धन का अतिक्रम कर के मन्दिरों में प्रवेश करना चाहिये। आनन्द कुमारस्वामी की भाषा में—

'Love and desire are part of life. Life is a veil behind or within which is God. The outside of the temple is an image of this life, sansara, and the carvings on it represent everything that belongs to sansara, and perpetuate illusion, every bond and each

desire of loveliness that binds man to the wheel of life and death. Within, in an empty chamber, the image of God is alone, lit up by tiny lamps seen from very far away by the approaching worshipper. This symbolism of phenomenal life as an embroidered veil beyond which the devotee must pass to find his God has perhaps always and everywhere been present, whether consciously or not, in the mind of Indian cathedral builders.'[1]

इस दृष्टि से विचार करने से ये मूर्त्तियां आपत्तिजनक या अनावश्यक प्रतीत नहीं होतीं। लोगों के मन में विरक्ति-भाव उत्पन्न कर के उन्हें देवभावापन्न बनाना ही इन मूर्त्तियों का उद्देश्य है। उपासक इन्हीं मूर्त्तियों को देख कर 'ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है' का ज्ञान पाता है।

एक और मत है। ये अश्लील मूर्त्तियां संभवतः उपासकों की परीक्षा लेने के हेतु स्थापित हुई थीं। मन और शरीर को शुद्ध करके, समग्र चित्त से देवता की आराधना करने से मोक्ष लाभ होता है। इसलिए उपासक पवित्र शरीर से, कुप्रवृत्तियों का त्याग करके उपासना के लिये आया है या नहीं, यह परीक्षा लेने का कार्य ये मूर्त्तियां करती हैं। जो उपासक इन मूर्त्तियों के प्रलोभन में उलझ जायेंगे, वे निश्चित ही ईश्वर के मार्ग से भटक जावेंगे। उन्हें मोक्ष मिलना कठिन है। जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण होंगे, उन्हें ईश्वर का सान्निध्य मिलेगा। सच्चे एवं प्रकृत उपासक इन विषयासक्त मूर्त्तियों के प्रलोभन द्वारा आकर्षित नहीं होंगे; वरन् उनके मन में इन मूर्त्तियों को देख कर विरक्ति के भाव जागृत होंगे और वे देव-पूजन के लिये आग्रही होंगे। इस प्रकार के तर्कों में कुछ सत्यता अवश्य है। पुराणों में वर्णित है कि ऋषियों के तपोभंग के लिये अप्सराएँ भेजी जाती थीं। तिब्बत में लामाओं की परीक्षा लेने के लिये केवल अश्लील मूर्त्तियों को ही नहीं, बल्कि नारियों को भी व्यवहार में लिया जाता था। परिव्राजक मार्कोपोलो ने अपनी चर्चा में इस बात का उल्लेख किया है कि उसके समय में किस तरह नंगे संन्यासियों की संयम-परीक्षा के लिये सुन्दर देवदासियों को नियुक्त किया जाता था। लिंगराज, कोणार्क आदि मंदिरों में ऐसी मूर्त्तियां भी हैं, जिनमें जटाधारी तपस्वियों को रूपसी युवतियों के साथ चित्रित किया गया है। शिल्पियों ने भंड तपस्वियों के लिये ऐसी व्यंग-विद्रूपात्मक कल्पनाएँ की हैं,

1. A. K. Coomarswamy in 'Four Days in Orissa', Modern Review, April 1911, P 348.

यह अनुमान इन मूर्त्तियों को देख कर लगाया जा सकता है।

यह भी विश्वास किया जाता है कि यह मिथुन-मूर्त्तियां तांत्रिक-साधना से अनुप्राणित हैं। तांत्रिक-साधकों का मार्ग प्रदर्शन करने के लिये इन्हें मन्दिरों में स्थापित किया गया है। अतीत में इन अश्लील मूर्त्तियों का तांत्रिक विधियों से सम्पर्क था, इसके अनेक प्रमाण हैं। भुवनेश्वर में शत्रुघ्नेश्वर मन्दिर में कुछ मूर्त्तियों में कापालिक संन्यासियों के तांत्रिक अभिचारों को चित्रित किया है। चौरासी के निकटवर्त्ती वाराही मन्दिर में तांत्रिक शाक्तों के वशीकरण, सम्मोहन, आकर्षण, रजपान, योनि-अभिषेक आदि का चित्रण मूर्त्तियों द्वारा हुआ है। इसी तरह दूसरे मन्दिरों में भी ऐसी अश्लील मूर्त्तियां तांत्रिक-साधना से अनुस्यूत होकर बनी हैं। पर मन्दिरों में बनी समस्त अश्लील मूर्त्तियो की व्याख्या केवल तांत्रिक साधना के आधार पर ही नही हो सकनी। ये अश्लील मूर्त्तियां केवल स्त्री-पुरुषों के मिथुन-चित्रण तक ही सीमित नहीं हुई है। अनेक क्षेत्रों में हस्ति बन्ध, सिंह बन्ध, नाग बन्ध, यहां तक कि कुछ काल्पनिक जीवों के संभोग चित्र भी प्रदर्शित हुए हैं। इन जीवों के संभोग या मैथुन के साथ तंत्र-साधना का कोई सम्बन्ध नहीं था। केवल अश्लील चित्रों को या मूर्त्तियों को आधार मान कर भारतीय तंत्र-साधना के महत्त्व और स्वरूप का निर्णय करना भी अनुचित है। तंत्र साधना में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन इन पंच 'म' कारों का उपयोग है तथा ये सिद्धि प्राप्ति के लिये उद्दिष्ट हैं। स्मरण रहे कि मैथुन तांत्रिक-धर्म का लक्ष्य नहीं है। यह एक पंथमात्र है। यह साधना का एक अंग है और इसमें साधक 'भैरवोऽहं' 'शिवोऽहं' की कल्पना करता है। तान्त्रिक विधि-नियमों का सम्पादन गुरु के तत्त्वावधान में गुप्त रूप से होता था। इसलिए इसका चित्रण मन्दिरों में प्रकाश्य रूप से नहीं हुआ है। और यह भी कि यदि इन मूर्त्तियों को स्थापित करने का उद्देश्य साधकों को परिचालित करने का था, तो इन्हें केवल मंदिरों के बाहर ही क्यों स्थापित किया गया तथा क्यों इन्हें मन्दिरों के अभ्यन्तरीण प्रदेशों में स्थान नहीं मिला? पर उड़ीसा के किसी भी मन्दिर के अभ्यन्तरीण प्रदेश में अश्लील मूर्त्तियां नहीं हैं। तांत्रिक बौद्ध-धर्म के पीठ-स्थल उड़ीसा में ललितगिरि, उदयगिरि आदि में कोई ऐसी मूर्त्ति नहीं है। तांत्रिक शाक्तों के पीठ-स्थल हीरापुर और राणीपुर झरिया के चौंसठ योगिनी मंदिर में भी इस तरह की एक भी अश्लील मूर्त्ति नहीं है। इस सम्बंध में एक विरोधात्मक निदर्शन और है। जिस समय उड़ीसा में तांत्रिक-धर्म की प्रतिपत्ति थी, उस समय के निर्मित मन्दिरों में अधिक संख्यक अश्लील मूर्त्तियां नहीं है। तांत्रिक-धर्म के पतन के समय बने मन्दिरों में इनकी संख्या अधिक

है । उदाहरणार्थ त्रयोदश शताब्दी में जब कोणार्क मन्दिर का निर्माण हो रहा था, तब वैष्णव-धर्म की प्रतिष्ठा हो चुकी थी । तांत्रिक-पूजा ऐन्द्रीय विधि-विधानों का परित्याग करके मंत्र, यंत्र, मंडल, मुद्रा, न्यास आदि के माध्यम से होती थी । इससे प्रतीत होता है कि तांत्रिक साधना पर व्यंग्योक्ति के रूप में अथवा चिराचरित परंपरा के अनुसरण के रूप में इन अश्लील मूर्त्तियों को मन्दिरों में स्थापित किया गया है । यह सब समसामयिक तांत्रिक आचार-विचारों का प्रतिफलन नहीं है । मंदिर स्थापत्य की प्रारंभिक अवस्था में निर्मित कुछ मूर्त्तियों के साथ, हो सकता है, इसका सुदूर संपर्क हो, पर प्रत्येक क्षेत्र में इस संपर्क का होना विश्वसनीय नहीं है ।

प्रचलित लोक-विश्वास के अनुसार विद्युत और वज्रपात आदि आपदाओं से देव मन्दिरों की रक्षा करने के लिये इन अश्लील मूर्त्तियों का निर्माण हुआ था । 'स्कंध पुराण' के विष्णु खंड में इस सम्बंध में कथित है—

बज्र पातादि भीत्यादि वारणार्थ यथोदितम् ।
शिल्प शास्त्रेऽपि मण्यादि विन्यासं पौरुषाकृतिम् ।।

विद्युत स्त्री होने के नाते लज्जाशीला है और मन्दिरों में इन अश्लील मूर्त्तियों को देखकर वह मन्दिर के निकट भी नहीं आयेगी, ऐसा लोक-विश्वास है । यहाँ उल्लेखनीय है कि संस्कृत-साहित्य में विद्युत को कन्या के रूप में चित्रित किया गया है । जब इन्द्रदेव ब्रह्म-हत्या के अपराध से अभियुक्त हुए, तब उन्होंने अपने पाप को पृथ्वी, जल, वृक्ष और स्त्रियों में बाँट दिया, ऐसा भागवत-पुराण में वर्णित है । स्त्रियों ने चूंकि देवराज इन्द्र के पाप को ग्रहण किया, इसलिए ऐसा विश्वास है कि उनके संभोग-चित्रों से अलंकृत मन्दिरों को देवराज का वज्र आघात ही नहीं पहुँचाता । यह तथ्य विज्ञानानुमोदित नहीं है । हो सकता है, यह अंधविश्वास ही हो । परन्तु लोगों के विश्वास के पीछे किसी वैज्ञानिक सत्यता का होना या न होना अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है । चाहे वह कुसंस्कार ही क्यों न हो, कालान्तर में जाकर वही सामाजिक संस्कृति का अंग सा बन जाता है । यही आधुनिक काल तक भी प्रचलित है । आज भी तो नूतन-गृह निर्माण के समय कुदृष्टि के प्रभाव से उसे मुक्त रखने के लिये एक टूटा हुआ झाड़ू या टूटी हुई टोकरी को बांस पर लटका कर रखने की प्रथा कहीं-कहीं प्रचलित है ।

शिल्प शास्त्रों में भी मिथुन चित्रण के लिये निर्देश है । मंदिर के शिलान्यास से लेकर समाप्ति तक के प्रत्येक चरण में शिल्प-शास्त्र के निर्देशों के अनुसार ही शिल्पी-गण कार्य किया करते थे । शिल्प-शास्त्रों का अध्ययन करने से निर्माण-शैलियों का

अनुमान लगाया जा सकता है। वराह मिहिर की रचना 'वृहत संहिता' में चौखट को मंगलसूचक पक्षियों, श्री-वृक्ष, पूर्ण-कुभ, पत्रावली और मिथुन-चित्रों से अलंकृत करने का निर्देश दिया गया है—

शेषं मांगल्य विहगैः श्रीवृक्षैः स्वस्तिकैर्घटैः।
मिथुनैः पत्रवल्लीभिः प्रमथैश्चोप शोभयेत् ॥

इससे प्रतीत होता है कि मिथुन-चित्रों को मांगलिक संकेत समझा जाता था। यहाँ तक कि प्राचीनकाल में 'मीन-मिथुन' अष्ट-मंगलों में से एक माना जाता था। 'अग्नि पुराण' में 'द्वार-बंध' (चौखट) को मिथुन-चित्रों से विभूषित करने का वर्णन है—'मिथुनैर्विभूषयेतेतत्' कोणार्क के द्वारबंधों में इस निर्देश का पालन करते हुए मिथुन चित्रों का अंकन हुआ है। 'अग्नि पुराण' के इस निर्देश को स्मरण करके चन्द्र-भागा तीर्थ या कोणार्क के सम्बन्ध में सारलादास के महाभारत के विराट-पर्व में निम्नलिखित वर्णना है—

चन्द्रभागा तीर्थे तोर अछि अग्नि श्रुति। भास्कर पुराण भंड भंडहिँ सबुन्ति।
अष्टादश पुराण ये सबु भण्ड ग्रथ। तोहर छामुरे जेहु होइला भकत।

इससे प्रतीत होता है कि पंचदश शताब्दी में अग्नि पुराण के निर्देश के अनुसार कोणार्क मन्दिर में अश्लील मूर्त्तियों को स्थापित किया गया था।

भोज-प्रणीत 'समरांगण सूत्रधार' (एकादश शताब्दी) ग्रंथ में रति-क्रीड़ा में लिप्त नारी प्रतिमाओं का निर्माण करने को कहा गया है—

रति क्रीड़ा परानार्यो नायकस्तु यदृच्छया।
अपांडु देहच्छवयः स्वल्प चारु विभूषणाः ॥
किंचित् प्रतनुभिगर्भैः कार्याः सुरत लोलसाः।

'सुद्रर्भेदागम' में भी देवताओं और तपस्वियों की क्रीड़ा-विषयक मूर्त्तियों के निर्माण के लिये निर्देश हैं। शिल्प-शास्त्रों के इन निर्देशों पर विचार करते हुए उत्कलीय शिल्पियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वे ऐसी परंपरा के स्रष्टा नहीं थे। चिराचरित परंपरा का अनुमरण किये बिना मंदिर निर्माण में पूर्णता नहीं आयेगी, ऐसा उनका विचार था। इसके लिये धर्म का समर्थन था। मन्दिरों में अश्लील मूर्तियों का स्थापन वे उसी धर्म के अन्तर्गत मानते थे। यहां तक कि निकट-तम वर्त्तमान में बनने वाले मंदिरों में भी विधि-रक्षा के लिये एक-आध मिथुन मूर्त्ति या चित्र की स्थापना की जा रही है।

मंदिरों में मिथुन-मूर्त्तियों की स्थापना के प्रसंग पर विचार करते समय, अन्य

मन्दिरों की अपेक्षा कोणार्क मन्दिर में इन मूर्त्तियों की संख्या अधिक क्यों है, यह प्रश्न ध्यान में आता है। मिथुन मूर्त्तियों के लिये प्रसिद्ध 'खजुराहो' के मन्दिरों की सम्मिलित मूर्त्तियों की जो संख्या है, उससे अधिक मूर्त्तियां केवल कोणार्क मंदिर में होंगी। कला की दृष्टि से विचार करने पर ये मूर्त्तियां निश्चय ही अतुलनीय हैं। शिल्पियों ने कोणार्क की मूर्त्तियों को बनाने में जिस साहस, कौशल और अपूर्व दक्षता का परिचय दिया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कोणार्क मंदिर में स्थापित इन मूर्त्तियों को देख कर एक विदेशी आलोचक ने यह मत व्यक्त किया था कि उड़ीसावासियों का चरित्र अत्यन्त घृण्य था एवं उड़ीसा के सब राजा-महाराजा असभ्य और जंगली थे। पर्सीब्राउन नामक एक लेखक का कहना है कि इस नैतिक अवमूल्यन के कारण ही उड़ीसा का अध:पतन हुआ था। उनके मतानुसार कोणार्क तांत्रिक सौर-साधकों की घृण्य-साधना का पीठ-स्थल था। कोणार्क मन्दिर का निर्माण इसलिए एक जनहीन स्थल में हुआ था कि जन-लोचन से अगोचर रह कर इस जघन्य कार्य का संपादन हो सके। इस प्रकार के तर्कों का समर्थन करने के लिये न तो कोई प्रमाण है, न इतिहास की साक्षी। इस प्रकार की मूर्त्तियों को देख कर ही किसी जाति की नैतिकता पर दोषारोपण कर डालना उचित नहीं है। 'कला में अश्लीलता के लिये ही उड़ीसा का अध:पतन हुआ था', यह तथ्य उड़ीसा के इतिहास का सामान्य ज्ञान रखने वाले के द्वारा भी गृहीत नहीं होगा। गंगराजत्व के बाद सूर्यवंशीय राजाओं ने राजत्व किया था। उनके राजत्व-काल में उड़ीसा की उन्नति हुई थी। कोणार्क तब कोई घृणित संभोग का गोपन-स्थल नहीं था, वरन् हिन्दुओं का एक प्रधान तीर्थ था। मन्दिर में पूजा की रीति-नीति में भी कोई वीभत्सता नहीं थी। 'ब्रह्म-पुराण', 'तीर्थ चिन्तामणि' आदि ग्रंथों से ज्ञात होता है कि आज ही की तरह पुष्प-प्रदीप-धूपादि लेकर पूजा के लिये उपासक आते थे। इसलिये यह कह देना कि कोणार्क की इन मिथुन-मूर्त्तियों के कारण ही उड़ीसा प्रगति की ऊँचाइयों से पतन की गहराइयों में पहुँचा होगा, न तो इतिहास सापेक्ष है, और न तर्क एवं बुद्धिमत्ता पूर्ण।

एक आलोचक का मत हैं कि ये मिथुन-मूर्त्तियां देवदासियों की सुन्दरता के प्रचार के लिये बनाई गई थीं। यह मत भी विश्वास योग्य नहीं है। कोणार्क के नृत्य-मंदिर में इन मूर्त्तियों की संख्या नगण्य है। कोणार्क उत्कल का एक वृहत्‌काय मंदिर है। इसकी विशालता की दृष्टि से इसमें मूर्त्तियों की संख्या अधिक होना स्वाभाविक है, असंगत नहीं। फर्ग्यूसन की भाषा में कोणार्क धरती का सब से अधिक अलंकृत मंदिर है। कोणार्क में जीव-जन्तु, लता आदि का चित्रण भी महत्त्वपूर्ण है, और यह

कोणार्क की कला का एक विशेषत्व भी है। इसलिए यह कहना यथार्थ नहीं है कि यहाँ केवल मिथुन-मूर्त्तियों की ही संख्या अधिक है। शिल्पियों ने इन मिथुन-मूर्त्तियों को गढ़ने में जो दक्षता दिखाई है, वही दक्षता अश्व-मूर्त्ति की विजय-गौरव प्रमत्तता तथा सूर्य प्रतिमा में सौम्य, प्रशान्तता और पवित्रता को प्रकाशित करने में भी समान रूप से परिलक्षित है। इसलिए यह कहना कि वे केवल मिथुन मूर्त्तियों का निर्माण करने में ही सिद्धहस्त तथा कुशल थे, तथा उनका नैतिक, चारित्रिक स्तर अन्यथा उन्नत न था, अनुचित तथा यथार्थ से परे होगा। आज कोणार्क मंदिर का प्राङ्गण अवसर-विनोदन (Tourism) का स्थान बन गया है। इसीलिए शायद पर्यटकों अथवा यात्रियों की नजर सब से पहले इन मिथुन-मूर्त्तियों पर ही पड़ती है। मन्दिर की अक्षुण्ण अवस्था में शायद इस प्रकार का संकीर्ण (Secluded) प्रभावोत्पादन नहीं होता था। अथवा उनके औचित्य-अनौचित्य का प्रश्न इतना या किंचितमात्र भी विवादास्पद नहीं था। कोणार्क सूर्यदेव का शाश्वत क्षेत्र था। इसलिए सूर्यदेव की तेजस्विता, उत्तेजक शक्ति, प्रखरता दर्शाने के लिये शायद शिल्पियों ने इन मिथुन-मूर्त्तियों को बनाया था। सूर्यदेव पर सृष्टि निर्भरशील है। 'यास्क' ने सूर्य को 'सर्वस्य प्रसविता' गुण से आख्यायित किया है।

मिथुन केवल कला में ही सीमित होकर नहीं था। भारतीय दर्शन, साहित्य, दैनंदिन जीवन-प्रणाली पर भी इसका प्रभाव विद्यमान है। मिथुन के तात्पर्य पर विचार करते हुए अन्य विभागों पर भी उसके गुरुत्व को हृदयंगम करना आवश्यक है। तब कला में शृङ्गार अथवा मिथुन-मूर्त्तियों का यह चित्रण कोई विस्मय की वस्तु नहीं रह जायगी। भारतीय दर्शन और धर्म के इतिहास में 'काम' का प्रभाव प्राचीन युग से परिलक्षित है। विश्व-ब्रह्माण्ड की सृष्टि में काम की भूमिका के संबंध में 'नासदीय सूक्त', 'वृहदारण्यक उपनिषद्' और 'शतपथ, ब्राह्मण' आदि ग्रन्थों में अनेक प्रमाण और दृष्टान्त हैं। सांख्य के पुरुष-प्रकृति तत्त्व, शैव-धर्म की लिंग-उपासना, शाक्तों की शक्ति-उपासना आदि में इसका प्रभाव सुस्पष्ट है। लकुलीश पाशुपत की गोष्ठी के शैवों ने शृङ्गार को विधि रूप में ग्रहण किया है। कौल-कापालिक और कालमुख गोष्ठी के शैवों ने अनेक वीभत्स आचारों को धर्म में स्थान दिया है। तांत्रिक धर्म में वशीकरण, आकर्षण, मारण, उच्चाटन, विद्वेषण, स्तंभन आदि क्रियाएं हैं। तंत्र-साधना के अतिरिक्त साधारण पार्वण पर्वों में भी शृङ्गारिकता को कुछ न कुछ प्रश्रय दिया गया है। 'दमन भंजिका', 'मदन महोत्सव', 'उदक सेवा महोत्सव', 'शवरोत्सव' उत्सवों में कामाग्नि प्रज्वलित करने वाली अश्लील भाषा का

प्रयोग होता था—यह लक्ष्मी धर की रचना 'कृत्य कल्पतरु', 'कालिका पुराण' तथा 'जीमूत वाहन' की रचना 'काल विवेक' आदि ग्रन्थों से ज्ञात होता है। उड़ीसा में श्री जगन्नाथ महाप्रभु की रथयात्रा के समय भी अश्लील भाषा का व्यवहार किया जाता है। इस तरह एक धार्मिक परिवेश में ही ये मिथुन-मूर्तियां मंदिरों में बनायी गई थीं और यह प्रथा धर्मानुमोदित होकर धारावाहिक रूप से प्रचलित हो आयी थी।

संस्कृत साहित्य में शृंगार-रसात्मक व्यञ्जनाएं हैं। कालिदास, माघ, अमरु, जयदेव आदि की रचनाएं इसके उदाहरण हैं। संस्कृत की साहित्यिक कृतियों में वर्णित नायक-नायिकाओं के अनुरूप कुछ प्रतिकृतियां भी मन्दिरों में पाई जाती हैं। 'कामसूत्र', 'रति रहस्य' 'अनंगरंग' आदि कामशास्त्र संबंधीय ग्रन्थों का प्रभाव भी कुछ मूर्तियों में सुस्पष्ट है।

तत्कालीन समाज के दैनन्दिन जीवन में यौन-संभोग घृणित नहीं था। यह एक वैध और मानवोचित प्रवृत्ति के रूप में गृहीत हुआ था। इस प्रसंग पर आलोचना करते हुए श्री आनन्द कुमारस्वामी ने लिखा है—

'They appear in Indian temple sculpture, now rarely, now frequently, simply because voluptious ecstasy has also its due place in life, and those who interpreted life were artists. To them such figures appeared appropriate equally for the happiness they represented and for their deeper symbolism'.[1]

उपसंहार में बस इतना ही कहना है कि देव मंदिरों की इन मिथुन मूर्त्तियों पर विचार तत्कालीन धार्मिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर ही होना चाहिये। इस पर आधुनिक रुचि अथवा मनोविज्ञान की दृष्टि से आलोचना करना समीचीन नहीं होगा। मिथुन मंगल का संकेत है—इस धारणा से, अथवा तांत्रिक-धर्म, कामशास्त्र संबंधी साहित्य के प्रभाव, शिल्पशास्त्रों के निर्देश, चिराचरित परंपरा, मनुष्य में आदिम यौन-प्रवृत्ति आदि अनेक कारणों से मन्दिर-भास्कर्य में मिथुन-मूर्त्तियों को स्थान मिला होगा।

अनुवाद : श्रीनिवास उद्गाता

1. The Arts and Crafts of India and Ceylone—P 65.

भाषा एवं लिपि

विविध

चन्द्रसेन कुमार जैन

ओड़िया और हिन्दी

भारत जैसे विशाल देश में अपनी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति, प्राकृतिक सम्पन्नता एवं सांस्कृतिक विविधता के कारण इसका प्रत्येक अंचल सम्पूर्ण भारतीयता के निर्माण में एक अनिवार्य महत्त्व रखता है। इनमें से किसी एक की भी अवहेलना भारतीय संस्कृति को खण्डित एवं विकृत कर देगी।

हिन्दी मुख्यतः भारत के मध्यदेश की समन्वयी संस्कृति में उत्पन्न और पोषित भाषा है। प्रागैतिहासिक-काल से ही एशिया के प्रायः सभी भागों में प्रवाहित संस्कृति सरणियां इस पवित्र प्रयास की ओर उन्मुख रही हैं और उनमें संगम से एक नवीन सांस्कृतिक परम्परा का क्रमशः विकास होता रहा है। हिन्दी उसी परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाली एक संगठित शिष्ट भाषा है।

भारतीय संस्कृति की मौलिकता को युग-युगान्तर से राजनितिक बबंडरों से सुरक्षित रखने वाली विस्तृत विन्ध्य-पार्वत्य-प्रदेश से निःसृत नदियों द्वारा निर्मित पूर्वी समुद्रतट शस्य-श्यामल भूमि पर विकास प्राप्त करने वाली भाषा 'ओड़िया' है। यह पुण्य-भूमि उत्तरांचल के सांस्कृतिक संघर्ष से प्रताड़ित भारतीय जनता का आश्रयस्थल ही नहीं रही, वरन् वृहत्तर भारत के द्वीप-द्वीपान्तरों से सम्पृक्त करने वाले प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र के रूप का भी महत्त्व उसे प्राप्त है। मौलिक भारतीयता के साथ सतत विकासशील और प्रसारशील भारतीयता के समन्वय की ऐतिहासिक परम्परा

का प्रतिनिधित्व ओड़िया भाषा द्वारा हुआ है ।

ओड़िया और हिन्दी-प्रदेशों के सम्पर्क-सूत्र :

एक ओर त्रिवेणी के हरित् तट पर सघन-वृक्षों की छाया में विश्व की उच्चतम दार्शनिक मान्यताओं को प्रस्फुटित होने का सुयोग मिलता रहा, तो दूसरी ओर सुनहरे सागर-तट पर नीलांचल की छाया में देश-देशान्तर की समृद्धि एकत्र होकर उस समाज का पोषण करती रही, जिसमें उदार, व्यापक और निर्भीक दार्शनिक-चिन्तन सम्भव हो सका । अतः भारतीय संस्कृति को रूप प्रदान करने में इन दोनों ही प्रदेशों का पारस्परिक सहयोगपूर्ण अवदान रहा है ।

प्रागैतिहासिक काल से ही इन दोनों अंचलों में सांस्कृतिक सम्पर्क की ओर संकेत करने वाले अनेक प्रसंगों के उल्लेख मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रदेशों के बीच स्थित विन्ध्य की पूर्वोत्तर सीमा अंकित करने वाले पार्वत्य-अंचल अपनी दुर्गमता के लिये प्रसिद्ध हैं, फिर भी युगों से मनुष्य के अदम्य उत्साह ने प्रकृति के अमेद्य प्राचीर को लांघ कर दो विभिन्न परिस्थितियों से अनुप्राणित दृश्यों को परस्पर आलिंगनबद्ध करने में स्तुत्य सफलता पायी है ।

भारत के नृतत्व पर विचार करने वाले विद्वानों के मतानुसार आष्ट्रिक जातीय तत्त्व भारतीय जनता के निर्माण में आधारभूत सत्त्व है[1] । नवीन प्रस्तर-युग में इस जातीय तत्त्व का प्रसार उत्तर भारत में असम से काश्मीर तक था । ओड़िसा में भी नवीन प्रस्तर-युगीन-सभ्यता का उन्नयन इसी वर्ग द्वारा हुआ है । आर्यों ने गंगा-सिन्धु के मैदान में फैली निषाद जाति को जिस रूप में देखा था, उसका जातीय लक्षण भागवत पुराण में इस प्रकार वर्णित है—

> काक कृष्णोऽनिहस्कांगो हस्वाबाहुर्महाहनुः ।
> हृस्वपान्निम्ननासाग्रो रक्ताक्षस्ताम्रमूर्द्धजः ।। (४-१४-४४)

ओड़िसा के प्रायः सभी अंचलों में एवं मुख्यतः पार्वत्यांचलों में अभी भी इन्हीं जातीय लक्षणों की प्रधानता मिलती है[2] । सुनीति बाबू का अनुमान है कि अफगानिस्तान से पूर्वी बिहार तक की अधिकांश जनता आष्ट्रिक वर्ग की है, जो बाद में आर्य-भाषा और संस्कृति में दीक्षित हो गई है[3] । अतः नवीन प्रस्तर-युग से ही दोनों प्रदेशों

1. Indo Aryan and Hindi by S. K. Chatterji—P. 39.
2. Caste in India by J. H. Hutton—P. 26.
3. The Vedic Age—Bhartiya Vidya Bhawan—P. 154.

की जातीत एकता का संकेत मिलता है।

भारत में ताम्र-युगीन सभ्यता के प्रवर्तकों के रूप में द्रविड़ जाति का नाम अग्रगण्य है। इनके प्राचीनतम प्रवासों के प्रमाण उत्तर-पश्चिमी भारत में ही मिलते हैं, जहां से ये क्रमशः गंगा की घाटी में बंगाल तक फैल गये थे। आर्यों के भारत प्रवेश के बाद राजनीतिक दबाव एवं धार्मिक-वैषम्य के कारण इस जातीय वर्ग के एक बहुत बड़े भाग को पूर्वी-समुद्रतट से होकर दक्षिण-भारत में प्रवास करने को बाध्य होना पड़ा था। इसी वर्ग का एक प्राचीन राजवंश महाभारतकाल में चेदि-वंश के नाम से प्रसिद्ध था। चेदि-वंश का मथुरा के राजवंश के साथ वैवाहिक संबन्ध भी था। मनु की पत्नी इला का बुध से सम्पर्क होने पर इस वंश की उत्पत्ति मानी जाती है। इसीलिए हाथीगुम्फा के शिलालेख में प्रसिद्ध चेदिवंशीय कलिंग-सम्राट् खारवेल ने ऐल होने का गर्व किया है[४]। इस प्रकार ताम्र-युगीन सभ्यता में एवं उसके परवर्ती महाभारत-काल तक ओड़िसा का मध्यप्रदेश के साथ घनिष्ट संबन्ध परिलक्षित होता है। कलिंग-कुमारी चित्रांगदा के स्वयंवर में कर्ण एवं दुर्योधन की उपस्थिति तथा महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से कलिगराज श्रुतायु के सहयोग के उल्लेख इस घनिष्टता की सीमा स्पष्ट करते हैं[५]। बोद्धायन सूत्र में कलिंग आदि पूर्व के आर्येतर प्रदेशों में जाने वाले मध्यदेश के यात्रियों के लिये शुद्धि का विधान दिया गया है[६]। इससे संकेत मिलता है कि सूत्रकाल में सांस्कृतिक वैषम्य के कारण मध्यदेश और कलिंग के बीच सम्पर्क में पर्याप्त कमी आ गयी होगी। फिर भी संभवतः कलिंग एक व्यापारिक केन्द्र होने के कारण अथवा मध्यदेश की जनता के एक वर्ग का कलिंग के साथ परम्परागत सांस्कृतिक सबन्ध होने के कारण कुछ लोग मध्यदेश से कलिंग की यात्रा करने के लिये बाध्य होते थे और इनकी संख्या इतनी पर्याप्त थी कि धर्मशास्त्र को नियम बनाने की आवश्यकता हुई।

ऐतिहासिक सम्बन्ध-परम्परा :

ऐतिहासिक युग में भी मध्यदेश के साथ कलिंग के सम्पर्क की सूचना देने वाले अनेक प्रसंग मिलते है। पार्श्वनाथ के चरित के अनुसार तेईसवें जैन तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ (समय लगभग ई० पू० आठवीं शताब्दी) जब काशी के शासक थे, उस समय

4. The History of Orissa by H. K. Mahtab—P 17.
5. Ibid—P 5.
6. The History of Orissa by R. D. Banerjee— P 58.

उन्होंने कलिगराज को हराकर कौशल-कुमारी प्रभावती को मुक्त किया था और उससे विवाह किया था[७]। इससे ई० पू० आठवीं शताब्दी में कौशल-काशी और कलिग के पारस्परिक सम्पर्क पर प्रभाव पड़ता है। उत्तराध्ययन-सूत्र के अष्टादश अध्याय के अनुसार कलिगराज करकण्डु पार्श्वनाथ का शिष्य भी था[८]। इससे कलिग पर मध्यदेश की संस्कृति का प्रभाव भी सूचित होता है। उदयगिरि और खण्डगिरि में उत्कीर्ण जैन-मूर्त्तियों में से कुछ खारबेल के पूर्व की भी मानी जाती हैं। इनमें पार्श्वनाथ का प्राधान्य इस अनुमान का पोषण भी करता है। बुद्ध की ज्ञानप्राप्ति के समय का एक प्रसंग यह भी सिद्ध करता है कि उस युग में कलिग से मध्यदेश तक नियमित व्यापारिक यातायात होता था। इसीलिए गया के मार्ग से होकर जाते हुए कलिग के दो समृद्ध सार्थवाह तपुरी और भल्लिक ने बुद्धदेव को उनके बुद्धत्त्व प्राप्त करने के बाद सर्वप्रथम मधुपिण्डक प्रदान करने का सुयोग पाया था। ये बौद्ध-धर्म में दीक्षित भी हुए थे और उन्होंने बुद्ध के निर्वाण के बाद उनके केश और नख को कलिंग लेजाकर उसपर मंदिर का निर्माण किया था[९]। इससे विदित होता है कि ई० पू० छठी शताब्दी ग्रीक में भी मध्यदेश में होने वाली सांस्कृतिक क्रान्ति से कलिंगवासियों का घनिष्ट सम्पर्क था।

हाथीगुम्फा में प्राप्त खारबेल के शिलालेख से ज्ञात होता है कि मगध के किसी नन्दराजा ने कलिग पर आक्रमण कर, विजय के उपहार-स्वरूप कलिंग जिन को लेजाकर पाटलीपुत्र में स्थापित किया था[१०]। नन्दराज की सीमा पंजाब तक प्रसारित थी और मध्यदेश वैदेशिक व्यापार का केन्द्र बना हुआ था। इधर ओड़िसा-तट से भी समुद्र द्वारा मध्य-पूर्व से व्यापार के उल्लेख ग्रीक भौगोलिक टालेमी के वर्णनों में मिलता है[११]। अतः स्वाभाविक है कि इन केन्द्रों में परस्पर घनिष्ठ व्यापारिक सम्पर्क रहा होगा। सम्भवतः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में भी मगध के साथ कलिग का में भी सम्बन्ध सुरक्षित था, इसीलिए चन्द्रगुप्त की विजयों में कलिंग का नाम नहीं आता। सम्राट् अशोक के इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग युद्ध में कलिग की सैनिक पराजय तो हुई, परन्तु उसी रक्तरंजित भूमि पर कलिगवासियों के धार्मिक-विजय की पताका भी फहरायी। इस

---

७. ओड़िसारे जैन धर्म—डॉ० लक्ष्मीनारायण साहू–पृष्ठ २२।
८. ओडिसारे जैन धर्म—डॉ० लक्ष्मीनारायण साहू–पृष्ठ २४।
९. ओडिसारे बौद्ध धर्म—डॉ० बंसीधर महन्ति–पृष्ठ २।
10. The History of Orissa by H. K. Mahtab,—P 20.
11. Ibid—P 23.

युग में भी कलिंग से समुद्री यातायात के प्रमाण मिलते हैं। अशोक का पुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा ने कलिंग के मार्ग से ही धर्म-प्रचार के लिये सिंहलद्वीप की यात्रा की थी। इसी प्रकार ब्रह्मदेश या पूर्वी द्वीपसमूहों में अशोक द्वारा भेजे गये धर्म-प्रचारक कलिंग से ही गये होंगे।

प्रथम शताब्दी के बाद कलिंग-सम्राट् खारवेल ने मथुरा तक अपना सैनिक अभियान संचालित कर कलिंग के साथ मध्यदेश के सम्पर्क को एक नया स्वरूप प्रदान किया। इसके बाद सदियों तक यह सम्पर्क अक्षुण्ण बना रहा, यह अनुमान चतुर्थ शताब्दी में गुप्त सम्राट् समुद्रगुप्त के ओड़िसा-अभियान एवं सातवीं शताब्दी में कन्नोज सम्राट् हर्षवर्धन की ओड़िसा-विजय से पोषित होता है। एक ओर ओड़िसा मध्यदेश की राजनीति से सम्पृक्त हो चुका था तो दूसरी ओर ओड़िसा में विकसित धार्मिक-सिद्धान्तों को उत्तर भारत में फैलने का सुयोग मिल रहा था। मुख्यतः बौद्ध-धर्म के परवर्ती रूप वज्रयान और सहजयान से ओड़िसा का घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित किया जाता है। कुछ विद्वान् सम्बलपुर के राजा इन्द्रभूति को वज्रयान का प्रवर्तक तथा उनकी बहन लक्ष्मींकरा को सहजयान का प्रवर्तक मानते हैं[१२]। इसमें सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्रारम्भिक रूप की गढ़न में योगदान देने वाले चौरासी सिद्धों में से अनेक की जन्म-भूमि ओड़िसा में थी। आठवीं शताब्दी में इस सम्पर्क को नवजीवन देने वाली दो प्रमुख घटनाओं का उल्लेख महत्त्वपूर्ण हैं। ओड़िसा की संस्कृति में नवयुग के विधायकों के रूप में केशरी वंश के सम्राटों को प्रर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त है। इसी वंश के प्रथम सम्राट् ययाति केशरी (ई० सं० ७६५–८४०) ने कन्नोज से दस हजार ब्राह्मणों को निमन्त्रित कर वैतरणी तट पर अश्वमेघ-यज्ञ सम्पादित किया और ओड़िसा में फिर से विशुद्ध वैदिक संस्कृति की प्रतिष्ठा के लिये उन्हें अपने राज्य के विभिन्न भागों में बसने की सुविधाएं प्रदान कीं[१३]। इसी समय के लगभग प्रसिद्ध बौद्ध-विरोधी प्रचारक शंकराचार्य ने पुरी को एक वैष्णव-धाम के रूप में प्रतिष्ठित किया। इन दोनों घटनाओं के फल-स्वरूप एक वैष्णव-तीर्थ के रूप में पुरी का महत्त्व बढ़ गया। एक ओर भागवत-धर्म से प्रभावित ओड़िसा जनता प्रतिवर्ष बहुत बड़ी संख्या में अपने आराध्य कृष्ण की वंशी का मधुर स्वर आस्वादन करने की आशा लेकर उनकी लीलाभूमि मथुरा और वृन्दावन की यात्रा की प्रेरणा पाती रही तो दूसरी ओर मध्यदेश की जनता प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में जगन्नाथ की विजय-यात्रा और स्वर्ग-द्वार पर समुद्र स्नान का पुण्य-लाभ करने

१२. ओड़िसारे बौद्ध धर्म—डॉ० बंशीधर महन्ति—भूमिका।
13. History of Orissa by H. K. Mahtab—P 63-64.

का लोभ संवरण न कर सकी। मध्यदेश में नवीन भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक प्रसिद्ध वैष्णव सन्त रामानुजाचार्य ने भी बारहवीं शताब्दी में ओड़िसा के गंगवंशी सम्राट्-चोड़ गंगदेव को वैष्णव-धर्म के प्रति अनुरक्त कर और पूरी में एक वैष्णव-मठ की स्थापना कर इस सम्पर्क को घनिष्ठतर करने में सहायता पहुंचायी[१४]। गंगवंशी सम्राटों के अन्तर्गत पूर्वी द्वीपसमूहों के साथ ओड़िसा का समुद्री व्यापार अपनी चरम सीमा पर पहुंच चुका था। अतः व्यापारिक दृष्टि से भी ओड़िसा की महत्ता बढ़ जाने का अनुमान किया जा सकता है। यहां की प्रसिद्धि का संकेत हिन्दी साहित्य के एक प्रसंग में भी मिलता है। तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक चरण में रचित बीसलदेव रासो नामक हिन्दी महाकाव्य में नरपति नाल्ह ने अपने नायक बीसलदेव की ओड़िसा-यात्रा का विशद वर्णन किया है[१५]। स्पष्ट है कि मध्यदेश में ओड़िसा एक प्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र ही नहीं, समृद्ध व्यापारिक केन्द्र के रूप में भी परिचित था।

उत्तर भारत पर मुसलमानों के आक्रमण और साम्राज्य-स्थापन से ओड़िसा और मध्यदेश के सम्पर्क को बहुत हानि पहुंची। सम्भवतः मध्यदेश के व्यापारिक केन्द्रों के ओड़िसावासियों को सम्पर्क रखना कठिन हो गया। तेरहवीं शताब्दी के बाद अकस्मात् ओड़िसा के समुद्री व्यापार में ह्रास का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कारण हो सकता है। वितरण के केन्द्रों से सम्पर्क टूट जाने पर विदेशी आयात-निर्यात में ह्रास स्वाभाविक है। ओड़िसा की धर्म-प्रिय जनता के लिये भी मुस्लिम ध्वंसवाद से आतंकित मध्यदेश के तीर्थस्थानों का पर्यटन निरापद नहीं रहा। इधर विक्षुब्ध राजनीतिक परिस्थिति के कारण मध्यदेश की जनता को भी अपना वासस्थान छोड़कर ओड़िसा जैसे सुदूर प्रदेशों तक जाने का साहस नहीं होता था। फिर भी वैष्णव सन्तों और कुछ उत्साही भक्तों द्वारा इस परम्परा का पालन होता रहा। अनेक असफल अथवा आंशिक सफल प्रयत्नों के बाद सोलहवीं शताब्दी के मध्य में स्थानीय शासन की निर्बलता के कारण मुगल शासक अकबर को ओड़िसा के तटवर्ती प्रदेश में शासन स्थापित करने का अवसर मिला। इससे ओड़िसा के मध्यदेश में विकसित मुस्लिम-कालीन संस्कृति से परिचय तो हुआ, परन्तु व्यापार की दृष्टि से बंगाल का महत्त्व बढ़ जाने के कारण ओड़िसा अपनी व्यापारिक परम्परा को पुनः उज्जीवित नहीं कर सका। कुछ तो मुसलमानों के साम्प्रदायिक द्वेष के कारण और कुछ गंगवंश की समृद्धि के बाद राजनीतिक और व्यापारिक पराजय से उत्पन्न निराशा के कारण ओड़िसावासियों में ऐसा

---

14. The History of Medieval Vaishnawism by Prabhat Mukerjee—P 26-39.

१५. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ ३५।

आत्मसंकोच आ गया कि एक ओर प्रवास का प्रोत्साहन कुण्ठित हो गया तो दूसरी ओर ओड़िसा के बाहर के लोगों के प्रति अविश्वास और संदेह की भावना को पनपने का अवसर मिला। फलतः तेरहवीं शताब्दी के बाद मध्यदेश के साथ ओड़िसा का सम्पर्क मुख्यतः धार्मिक आधार पर पुरी तक ही सीमित रहा।

अंग्रेजों का शासन स्थापित होने के बाद संयोगवश बंगाल, बिहार और ओड़िसा एक शासकीय विभाग के अन्तर्गत आ गया। इससे इन प्रदेशों में परस्पर सम्पर्क की सुविधा तो हुई, परन्तु शासन का केन्द्र बंगाल में रहने के कारण और कलकत्ता की व्यापारिक समृद्धि बढ़ जाने के कारण सैकड़ों वर्षों की व्यापारिक निष्क्रियता से निर्धन एवं हताश ओड़िसा जनता के लिये यह सम्पर्क लाभकर होने की जगह शोषण का कारण बन गया। मध्यदेश के साथ ओड़िसा में सम्पर्क में वृद्धि की ओर कोई प्रोत्साहन नहीं मिला। अंग्रेजों के शान्तिमय शासन में धर्मप्रिय ओड़िसा जनता को मध्यदेश के तीर्थों की यात्रा का सुयोग अवश्य मिल गया, परन्तु निर्धनता के कारण इसमें भी विशेष प्रगति नहीं हो सकी। स्वतन्त्रता संग्राम के समय एक बार फिर ओड़िसा के साथ मध्यदेश के सम्पर्क में किंचित प्रगति आयी। ओड़िसा में कुछ ऐसे नेता उत्पन्न हुए, जिन्होंने अखिल भारतीय स्तर पर प्रसिद्धि पायी। महात्मा गांधी ने नमक सत्याग्रह के लिये ओड़िसा के समुद्रतट को अपना एक प्रमुख संघर्षक्षेत्र बनाकर शेष भारत से ओड़िसा को मानो फिर से परिचित कराया। स्वतन्त्रता के बाद भी यह सम्पर्क उत्तरोत्तर वृद्धि पर है। अब तक प्रवास से कुण्ठित ओड़िसावासी भी भारत के अन्य प्रदेशों के साथ घनिष्ठता बढ़ाने में सचेष्ट होने लगे। अतः क्रमशः वृद्धिशील इस घनिष्टता द्वारा संस्कृति, साहित्य एवं भाषा के आदान-प्रदान में प्रगति की सम्भावना स्वाभाविक है। औद्योगीकरण की प्रगति से इस सम्पर्क को अधिकाधिक प्रोत्साहन मिलेगा। अभी तक सम्पर्क की प्रगति मुख्यतः ओड़िसा के पश्चिमी अंचलों में तीव्र और व्यापक जान पड़ती है, जबकि अनेक कारणों से तटवर्ती अंचल में यह सम्पर्क कुछ नगरों तक ही सीमित है।

ओड़िया और हिन्दी के शब्दों में मौलिक समानता :

ऊपर के विवेचन से स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान समय तक ओड़िसा-भाषी-प्रदेश और हिन्दी-भाषी-प्रदेश में सम्पर्क की एक अबाध परम्परा रही है। राजनीतिक कारणों से समय-समय पर सम्पर्क की घनिष्टता में उतार-चढ़ाव अवश्य होता रहा, परन्तु सम्पर्क के तन्तु कभी भी विछिन्न नहीं हो पाये। सांस्कृतिक

सम्पर्क का थोड़ा या अधिक प्रभाव भाषा के स्वरूप-निर्माण पर भी अवश्य पड़ता है। चूंकि भारतीय सांस्कृतिक धारा में मध्यदेश को सभी युगों में महत्ता मिलती रही है और भारत के विभिन्न अचलों में विकसित सांस्कृतिक परम्पराएं भी मध्यदेश में जमने के बाद ही भारतीय स्तर पर मान्यता प्राप्त करने में समर्थ हो सकी हैं। अतः मध्यदेश की भाषा-परम्परा को अन्य अंचलों में प्रसारित होने एवं विकसित होने का जो सुयोग मिलता रहा, वह भारत के किसी अन्य अंचल की भाषा-परम्परा को सुलभ नहीं हो सका है। ओड़िसा में भाषा के प्राचीनतम उदाहरण धउली में प्राप्त अशोक के शिलालेख तथा खण्डगिरि में प्राप्त खारवेल के शिलालेख में मिलते हैं। भाषा-शास्त्रियों के अनुसार अशोक के शिलालेख की भाषा (ई० पू० चौथी शताब्दी) प्राचीन मागधी प्राकृत का एक आंचलिक रूप है। परन्तु इसमें 'श' 'ष' की जगह केवल 'स' का प्रयोग मिलता है, जो समान रूप से उड़ी और अर्धमागधी प्राकृत की विशेषता है। अतः ई० पू० चौथी शताब्दी में प्राप्त भाषा के प्रथम उदाहरण में ही ओड़िसा और मध्यदेश की भावनाओं में समानता के कुछ लक्षण मिलते हैं। खारवेल के अनुशासन की भाषा में पालि भाषा के अनेक लक्षण वर्तमान हैं और इसका स्वरूप अशोक की भाषा की अपेक्षा संस्कृत से अधिक प्रभावित है। पालि भाषा के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों का मत है कि कलिंग की भाषा ही पालि की आधारभूत भाषा थी। डा० ओल्डेनबर्ग और मूलर इस मत के प्रबल समर्थक हैं[१६]। वेस्टरगार्ड तथा कुहुन इत्यादि पालि में मागधी की कुछ विशेषताओं को स्वीकार करते हुए उसे मूलतः उज्जैन की भाषा मानते हैं[१७]। परन्तु अधिकतर विद्वान पालि को मध्यदेश की भाषा पर आधारित एक ऐसी साहित्यिक भाषा सिद्ध करते हैं, जिसमें विभिन्न बोलियों का सम्मिश्रण हुआ है[१८]। ओड़िसा के साथ मध्यदेश के सम्पर्क के आधार पर यह अनुमान युक्तिसंगत होगा कि पालि को साहित्यिक रूप प्रदान करने में ओड़िसा की तत्कालीन भाषा का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा होगा, क्योंकि उस समय के बहुत पहले ही ओड़िसा बौद्धधर्म का एक प्रमुख प्रचार केन्द्र बन चुका था। दूसरी ओर बौद्ध-साहित्य में पालि के महत्त्व के कारण मध्यदेश की भाषा के कुछ लक्षणों ने ओड़िसा की परवर्ती भाषा पर अपना प्रभाव डाला होगा। संभवतः इसीलिए वर्तमान ओड़िआ मध्यकालीन मागधी प्राकृत की अपेक्षा अर्धमागधी प्राकृत के अधिक निकट जान पड़ती है।

---

१६. भाषार यतिवृत्ति—श्री सुकुमार सेन, पृष्ठ ८६।

१७. कात्यायन व्याकरण—लक्ष्मी नारायण तिवारी, भूमिका, पृष्ठ ३४।

१८. आर्यभाषा और हिन्दी—सुनीति कुमार चटर्जी—पृष्ठ ७४-७५।

भारतीय भाषाओं के प्रायः सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि लगभग सभी वर्तमान आर्यभाषाओं का प्रारम्भिक विकास आठवीं शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के अन्तर्गत हुआ है। वज्रयानी सिद्धों की भाषा में जहां एक ओर हिन्दी का शैशव झलकता है, वहीं दूसरी ओर ओड़िआ के प्रारम्भिक रूप की भी झांकी मिलती है। कुछ रचनाओं में तो दोनों के प्रारूपों का गंगाजमुनी संगम मिलता है। अनेक प्रमाणों से सिद्ध उड्डीयान-वासी लुईपाद के एक चर्यागीत की पंक्तिकों इस प्रकार हैं[१६]—

भणई लुई आम्हे झाणे दिठा।
धमण चमण वेणि पिण्डि वइठा॥

यहां 'आम्हे' और 'वेणि' शब्द वर्तमान ओड़िआ में भी प्रयुक्त होते हैं तो 'बइठा' विशुद्ध हिन्दी में व्यवहृत शब्द है। इससे विदित होता है कि अपने जन्मकाल से ही दोनों भाषाएं एक ही पालने में झूलती हुई एक ही संगीत की स्वरलहरी से पोषित हुई हैं। सुनीति कुमार चटर्जी ने भी चर्यागीतों की भाषा पर शौरसेनी अपभ्रंश का, जो पश्चिमी मध्यदेश की भाषा थी, प्रभाव स्वीकार किया है[२०]।

हिन्दी और ओड़िआ का सारा बचपन एक साथ बीता है। इसका प्रमाण दसवीं से बारहवीं शताब्दी तक बंगाल से पंजाब तक पर्यटन करने वाले नाथपंथी योगियों की कुछ रचनाओं में प्राप्य हैं। ओड़िसा में नाथपंथी योगियों के भ्रमण के उल्लेख सारलादास इत्यादि प्रमुख मध्यकालीन ओड़िआ कवियों की रचनाओं में मिलत हैं। नाथ-पंथ के प्रसिद्ध सिद्धान्त ग्रन्थ गोरखवाणी में कहीं ओड़िआ का रूप निखरता है[२१]।

गरब न करिबा सहजैं रहिबा भणत गोरख रावं।—गो० वाणी, पृष्ठ ११

तो कहीं हिन्दी की तोतली वाणी सुनाई पड़ती है—

अवधु पवन सो काया मन सो प्राण।
परम पुरिस का धरिये ध्यान॥
सहज स्थान धरि काल सो रहे।
ऐसा विचार मछिंद्र कहे॥—गो० वाणी, पृष्ठ ११

कभी कभी दोनों ही बच्चे एक स्वर में चहक उठते हैं[२२]—

अवधु रहिबा हाटे बाटे रुख बिरख की छाया।

---

१६. गीतिका—खगेश्वर महापात्र-सम्पादित-पृष्ठ ६२।
२०. वही, पृष्ठ २७।
२१. ओड़िसारे नाथ सम्प्रदाय ओ नाथ साहित्य—डॉ० वंशीधर महन्ति-पृष्ठ १२२-१२३।
२२. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचद्र शुक्ल, पृष्ठ १९।

तजिबा काम क्रोध लोभ मोह संसार की माया ।।

यहां 'रहिबा', तजिबा' इत्यादि ग्रोड़िया रूपों के साथ 'बिरख की छाया' और 'संसार की माया' का संयोग आज के भाषावादियों के समक्ष भाषा की माया का वास्तविक रूप प्रस्तुत करता है । एक और उदाहरण देखिये[२३]—

घाये न खाइबा भूखे न मरिबा
अहनिसि तेबा ब्रह्म अगिनि का भेव ।
हठ न करिबा पर्‌या न रहिबा
यूं बोल्या गोरख देव ।।

यहां भी ओड़िआ क्रियापदों के साथ हिन्दी विभक्तियों का प्रयोग मिलता है । इन उदाहरणों से सकेत मिलता है कि बारहवीं शताब्दी से ओड़िसा से मध्यदेश का संपर्क इतना घनिष्ट था कि दोनों स्थानों की भाषाओं के सम्मिषण में अर्थबोध की बाधा नहीं थी । अत: ओड़िआ के प्रारम्भिक निर्माण-काल में ही उस पर हिन्दी के प्रारम्भिक रूप के कुछ प्रभाव का अनुमान भी किया जा सकता है । इस प्रभाव की दिशा और मात्रा का निर्धारण अभी भी खोज का विषय है ।

नवीं शताब्दी में सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शक के रूप में लाये गये कन्नौज के ब्राह्मणों का ओड़िसा की जनता और वहां के शासक वर्ग पर प्रभाव के सकेत मिलते हैं । चैतन्य भागवत में वैष्णव और बौद्धों के धार्मिक संघर्ष के उल्लेखों के आधार पर अनुमान किया जाता है कि केशरी राजाओं के राज्यकाल में ब्राह्मणों द्वारा यहां की बौद्ध जनता पर बहुत अत्याचार हुए थे[२४] । इन ब्राह्मणों की मातृ-भाषा निश्चय ही वर्तमान कन्नौजी का कोई प्रारूप तथा मध्यकालीन परवर्ती अर्धप्राकृत का कोई विकसित रूप रहा होगा । शिक्षक, पुरोहित एवं सांस्कृतिक पथ-प्रदर्शक के रूप में फैले इन ब्राह्मणों की मातृभाषा ने ओड़िआ के निर्माणकाल में ही भाषा के स्वरूप-निर्धारण में महत्त्वपूर्ण योगदान किया होगा; इस अनुमान के पोषण में कुछ प्रमाण भी मिलते हैं । चौदहवीं शताब्दी के लगभग मध्यदेश में सम्पादित प्राकृतिक पेंगलम्[२५] नामक ग्रन्थ के कुछ शब्दों के साथ ओड़िया में प्रचलित शब्दों की समानता जान पड़ती है । यथा—

प्रा० में दोहा संख्या	प्राकृत शब्द	ओड़िआ शब्द
४७	दुइ	दुइ

२३. नाथ सम्पदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी—पृष्ठ १८५ ।

24. The History of Orssa by H. K. Mahtab, rare 64.

२५. प्राकृत पेंगलम्—प्रथम भाग ।

४८	चारि	चारि
४१	तिणि	तिनि
	बासट्ठि	बासठि
	चउसट्ठि	चउसठि
१७१	पाइक्क	पाइक
६८	तुम्ह	तुम्हे

इनके अतिरिक्त हसंती, हरंती, पढ़न्ती इत्यादि वर्तमानकालिक क्रिया रूप जो अभी भी वर्तमान ओड़िया में प्रचलित हैं, उक्त ग्रन्थ में पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत है।

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी में बनारस और कन्नौज के गढ़वाल नृपति गोविन्द चन्द्र—(१११४ से ११४५)—के राज्यकाल में पण्डित दामोदर विरचित उक्ति-व्यक्ति प्रकरण नामक व्याकरण ग्रन्थ में कुछ ऐसे शब्द मिलते हैं, जिनकी तुलना आज भी प्रचलित ओड़िआ शब्दों से की जा सकती है। नीचे कुछ ऐसे शब्द दिये गये हैं जो साधारणत: मध्यदेश में अब प्रचलित नहीं है[२६]—

उ०व्य०प्र० में प्राप्त	संस्कृत रूप	ओड़िआ शब्द
कमार	कर्मकार	कमार
कहाणी	कथानिका	काहाणी
सुआर	सूपकार	सुआर
गुणिआ	गुणिक	गुणिआ
राति	रात्रि	राति
आगि	अग्नि	अगि (प्रचलित शब्द निआ)
नइ बाढ़ी	नदी वर्धिक	नइ बढ़ी

इन उदाहरणों से स्पष्ट होता है कि अनेक शब्द जो उस काल में ओड़िसा और मध्यदेश में समान रूप से प्रचलित थे, कालक्रम से मध्यदेश में लुप्त हो गये या उनके रूप में विकास हो गया, परन्तु वे उड़ीसा में अब भी प्रचलित हैं।

बारहवीं शताब्दी में श्री रामानुजाचार्य द्वारा ओड़िसा में वैष्णव भक्ति-मार्ग के उत्थान के बाद जयदेव के मधुर संगीत से उन्मत्त ओड़िआ जनता पर कृष्ण-भक्ति का इतना प्रभाव पड़ा कि मथुरा और वृन्दावन की यात्रा के साथ वहां की भाषा के प्रति भी आकर्षण उत्पन्न होने, लगा क्योंकि वह उनके आराध्यदेव की लीलाभूमि थी। इस

२६. उक्ति व्यक्ति प्रकरण—पण्डित दामोदर विरचित—आचार्य जिनविजय मुनि सम्पादित, भारतीय विद्या भवन बम्बई द्वारा प्रकाशित, भूमिका डॉ सुनीति कुमार चटर्जी।

आकर्षण के फलस्वरूप ओड़िआ भाषा में ब्रज-भाषा से प्रभावित एक नयी शैली की उद्भावना हुई, जो ब्रजबोली के नाम से प्रसिद्ध है। ओड़िआ भक्ति-साहित्य में ब्रज-बोली के प्रसिद्ध गायकों का अपना विशिष्ट स्थान है। ओड़िआ साहित्य में रसखान के समकक्ष मुसलमान कृष्ण-भक्त कवि सालबेग की एक ब्रजभाषा रचना का उदाहरण देखिये[२७]—

जय जय राधे गोपाल गोपांगना रे,
शीश मोर मुकुट नट शोहे कटि पीत पट।
किंकिणि अधिक सोहाओना रे,
भाल केशर तिलक काने कुण्डल झलक।
अधर धर मुरली सुख पाओना रे।

राय रामानन्द, चम्पति राय, माधवी दासी, नरसिंह इत्यादि प्रमुख ब्रजबोली कवियों की रचनाएं प्राप्य हैं। माधवी दासी की कुछ पंक्तियां इस प्रकार हैं—[२८]

जाम्बुनद हेम जिनि गोर वरण खानि,
तरुण वसन शोभे गाय।
प्रेम भरे गरगर आंखयुग झरझर,
हरि हरि बोल बलि धाय।

उड़ीसा पर मुस्लिम शासन स्थापित होने के बाद तटवर्ती अंचलों में यत्र-तत्र मध्यदेश, विशेषतः पूर्वी मध्यदेश से आगत मुस्लिम-वर्ग की बस्तियां भी बसने लगीं। ये लोग अरबी, फारसी शब्द बहुत मध्यदेश की भाषा-शैली का प्रयोग करते थे, जो उर्दू के नाम से प्रसिद्ध है और जो व्याकरण की दृष्टि से हिन्दी से भिन्न नहीं है। ओड़िसा की मुस्लिम बस्तियों में आज भी यही भाषा स्थानीय प्रभावों से कुछ विकृत रूप में मातृभाषा के रूप में व्यवहृत होती है। इस भाषा का प्रभाव मुख्यतः नागरिक अंचलों तक ही सीमित रहा, परन्तु ओड़िआ में अनेक ऐसे शब्द आ गये हैं, जो विदेशी होते हुए भी ओड़िआ में अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में समर्थ हो सके हैं। एक ऐसा ही शब्द ओड़िआ में हरित वर्ण के लिए प्रयुक्त 'सबुज' है जो फारसी 'सब्ज़' का विकसित रूप है। इसने स्थानीय अन्य समानार्थी शब्दों को हटा कर ओड़िआ पर एकाधिपत्य स्थापित कर लिया है। विशेषतः बालेश्वर, कटक, भद्रक आदि अंचलों में स्थानीय बोलियों पर मध्यदेशीय उर्दू शैली का प्रभाव विचारणीय है। अनेक ओड़िआ

२७. कोणार्क वर्ष ३, संख्या ३-४, पृष्ठ ४४।
२८. वही, पृष्ठ ४३।

कवियों ने भी इन शब्दों को अपने काव्यों में स्थान दिया है। न्यायालय एवं शासन प्रबन्ध से सम्बिन्धित अनेक परिभाषक शब्द मध्यदेश की भाषा से ही आये हुए हैं। इस प्रकार की उर्दू मिश्रित शैली का एक सुन्दर उदाहरण ओड़िआ के प्रसिद्ध उपन्यासकार फकीरमोहन (१८४३-१६१७) की भाषा में मिलता है। वर्ण्य विषय, भावधारा, भाषा तथा वाक्य-गठन की दृष्टि से फकीरमोहन-साहित्य का प्रेमचन्द के साहित्य से तुलनात्मक अध्ययन अत्यन्त रुचिकर हो सकता है।

सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में मुगल-साम्राज्य के निर्बल हो जाने पर मरहठों में राज्य-विस्तार की प्रवृत्ति बढ़ने लगी। अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही पश्चिम से उड़ीसा पर मरहठों के तूफानी आक्रमण होने लगे। तभी मरहठा दरबारों में साहित्य और शासन की भाषा के रूप में हिन्दी या उर्दू को महत्त्व प्राप्त था। भूषण आदि अनेक हिन्दी कवि इन दरबारों में सम्मान पाकर रहते थे। सम्भवतः मरहठा आक्रमण का कुछ प्रभाव ओड़िआ के साहित्यिक क्षेत्र पर भी पड़ा। इसका संकेत प्रसिद्ध ओड़िआ कवि श्री ब्रजनाथ बड़जेना— (१७३०-१८००) की रचनाओं में मिलता है। इन्होंने अपनी ओड़िआ रचनाओं में यत्र-तत्र हिन्दी के रूप भी समाविष्ट किये हैं। हिन्दी में 'गुण्डिचा विजय' नामक एक सम्पूर्ण खण्डकाव्य भी इनकी रचना है। दूसरी ओर भूपति पण्डित नामक एक पाश्चात्य सारस्वत ब्राह्मण द्वारा 'प्रेम पचामृत' नामक ओड़िआ रचना का उल्लेख भी मिलता है[२६]।

उड़ीसा में हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए योगदान :

बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संचालन में हुए देशव्यापी स्वतन्त्रता आन्दोलन की लहरों में उत्कल प्रदेश भी अछूता नहीं रहा। सभी क्षेत्रों में विदेशी का बहिष्कार और स्वदेशी की स्थापना इस आन्दोलन का मूल मन्त्र था। भाषा के क्षेत्र में भी अंग्रेजी का बहिष्कार कर एक भारतीय भाषा को भारतव्यापी सम्पर्क भाषा के रूप में प्रतिष्ठित करना भी इस आन्दोलन का एक अभिन्न अंग बना था। इस कार्य के लिए महात्मा गांधी ने मध्यदेश की भाषा को ही उपयुक्त समझा, परन्तु इसके तीन शैलीगत भेद हिन्दी, उर्दू और हिन्दुस्तानी में से किसे सर्वभारतीय स्तर का माना जाय, यह विषय स्वतन्त्रता के बाद तक विवादास्पद ही रहा। इस विवाद को होते हुए भी गांधीजी ने हिन्दी के प्रचार का कार्य विधिवत् आरम्भ कर दिया था। १६३७ में वर्धा में एक सर्व-भारतीय हिन्दी प्रचार संस्था की

२६. ओड़िया साहित्येर इतिहास, विनायक मिश्र, पृष्ठ १२२।

स्थापना की जा चुकी थी ।

ओड़िसा में भाषा सम्बन्धी इस नये आन्दोलन का सूत्रपात वर्धा की संस्था की स्थापना के वर्षों पहले यहां एक प्रसिद्ध राष्ट्रीय नेता उत्कलमणि श्री गोपबन्धुदास द्वारा किया जा चुका था । उनकी यह आन्तरिक कामना थी कि १९३२ में पुरी में होने वाले कांग्रेस के अधिवेशन में सारा काम हिन्दी के माध्यम से किया जाय। इसी उद्देश्य से स्थानीय स्वयं-सेवकों को हिन्दी सिखाने के लिए कलकत्ता से श्री अनुसूयाप्रसाद पाठक को बुलाया गया । काम प्रारम्भ हो चुका था कि राजनीतिक कारणों से कांग्रेस का अधिवेशन रुक गया और स्वतन्त्रता संग्राम के सैनिक के रूप में लगभग तीन हजार उत्कल-वासियों के साथ पाठक जी भी राजबन्दी बनकर पटना जेल में पहुंचे । उन्होंने जेल में ही सभी उत्कलीय राजबन्दियों को हिन्दी लिखना-पढ़ना सिखाया । ६ मास की सजा काट कर पाठकजी फिर कटक लौटे और स्थानीय सज्जनों का सहयोग पाकर घर-घर हिन्दी पढ़ाने का काम करने लगे । १९३३ में श्री राधानाथ रथ आदि कुछ प्रभावशाली उत्कलीय जन-नेताओं द्वारा 'उत्कल प्रांतीय हिन्दी-प्रचार-सभा' नामक संस्था की स्थापना हुई और एक कार्यालय तथा पाठागार की व्यवस्था कर हिन्दी-प्रचार का कार्य होने लगा । पढ़ने के लिए कांग्रेस स्वयंसेवकों के अतिरिक्त साधारण नागरिकों ने भी उत्साह दिखलाया। सर्वप्रथम १९३४ में प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन की परीक्षा में ७ परीक्षार्थी बैठे । १९३६ में ब्रह्मपुर में भी एक प्रचार केन्द्र खुला ।[३०]

स० १९३८ में ओड़िसा में कांग्रेस की सरकार बनने पर राज्य के शिक्षा-विभाग की ओर से सभी स्कूलों में हिन्दी पढ़ाने का आदेश भेजा गया । श्री आर्तवल्लभ महन्ती की सहायता से पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार की गयीं । जब तक कांग्रेस सरकार थी, हिन्दी की पढ़ाई चलती रही । परन्तु १९४० में कांग्रेस सरकार भंग होते ही स्कूलों में हिन्दी की पढ़ाई बन्द हो गयी । परन्तु स्थानीय नागरिकों के उत्साह के फल-स्वरूप सभा के प्रचार का काम उत्तरोतर प्रगति करता रहा । इस समय में कुछ उत्कलीय हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में भी अपना स्थान बना सके । इनमें प्रसिद्ध ओड़िया कवियत्री श्रीमती कुन्तला कुमारी का नाम उल्लेखनीय है ।

सन् १९४६ में पुनः कांग्रेस सरकार का गठन हुआ और १९४७ में भारत एक

३०. राष्ट्रभाषा प्रचार सम्बन्धी सूचनाएँ राष्ट्रभाषा रजत जयन्ती ग्रन्थ में संकलित श्री अनुसूया प्रसाद पाठक के निबन्ध तथा उन्ही के द्वारा लिखित 'मेरा उत्कल प्रवास' नामक संस्मरण पुस्तक से प्राप्त की गयी है ।

स्वतंत्र राष्ट्र घोषित हुआ। स्वतंत्र ओड़िसा राज्य के प्रथम मुख्यमन्त्री श्री हरेकृष्ण महताब ने तथा शिक्षामंत्री पं० लिंगराज मिश्र ने नये रूप से राज्य में हिन्दी-प्रचार का प्रोत्साहन दिया। उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार सभा को स्थायित्व देने के लिये सरकारी अनुदान की व्यवस्था हुई। ओड़िसा के सभी स्कूलों में हिन्दी को एक अनिवार्य पाठ्य विषय घोषित किया गया। इस समय सभा का अपना एक विशाल भवन, हिन्दी पुस्तकों का एक सम्पन्न पुस्तकालय और एक प्रेस है। इसके हिन्दी प्रचार केन्द्रों की संख्या में भी आशातीत वृद्धि हुई है। ओड़िसा सरकार के शिक्षा-विभाग ने भी राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी शिक्षण की व्यवस्था में रुचि दिखलाई है। इस समय ओड़िसा में कोई भी शिक्षित व्यक्ति ऐसा नहीं मिलता, जो थोड़ा-बहुत हिन्दी में अपने मनोभाव प्रकट न कर सके। अनुमानतः कम से कम पच्चीस प्रतिशत उत्कलीय जनता हिन्दी समझ सकती है।

वर्तमान उड़ीसा में हिन्दी-प्रचार की अवस्था :

सन् १९५० में भारत का नया संविधान बना और उसमें हिन्दी भारत की राष्ट्रभाषा निश्चित की गयी। परन्तु विगत सौ वर्षों से अधिक अंग्रेजी के माध्यम से पठन-पाठन की परम्परा के कारण एवं सेना, शासन, न्याय तथा सुरक्षा-सम्बन्धी सभी संस्थानों में अंग्रेजी एकमात्र सम्पर्क-भाषा के रूप में व्यवहृत होते रहने के कारण इन सब कार्यों के लिये हिन्दी का विकास नहीं हो पाया था। अतः हठात् उसे सर्वत्र अंग्रेजी का स्थान दे देना उचित नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त भारत की कम से कम एक तिहाई जनता हिन्दी में लिखने-पढ़ने और बोलने की योग्यता नहीं रखती थी। अतः व्यावहारिक रूप में हिन्दी को संविधान-सम्मत अधिकार देने के पूर्व भारत-व्यापी स्तर पर हिन्दी-शिक्षण का दायित्व केन्द्रीय सरकार के कर्तव्यों में आ गया। इसी कार्यक्रम के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार ने विभिन्न अहिन्दी भाषी राज्यों में हिन्दी का प्रचार करने के लिए केन्द्रीय संस्थाएं स्थापित्य कीं, पहले से इस कार्य में लगी हुई संस्थाओं को वित्तीय सहायता देकर प्रोत्साहन दिया एवं राज्य सरकारों को इस ओर ध्यान देने का आग्रह किया।

ओड़िसा में हिन्दी प्रचार-कार्य को दो भागों में बांटा जा सकता है—१. सरकारी चेष्टा द्वारा हिन्दी प्रचार एवं २. गैर-सरकारी अथवा अर्ध-सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रचार कार्य।

सरकारी प्रचार कार्य निम्नलिखित साधनों के द्वारा किया जा रहा है—

१९४६ में कांग्रेस सरकार द्वारा राज्य की शिक्षण-संस्थाकों में हिन्दी अध्यापन की सुविधाओं का जो सूत्रपात किया गया, वह शासन में अनेक राजनीति परिवर्तनों के बाद भी उत्तरोतर विकास करता रहा। राज्य के सभी विद्यालयों में चौथी कक्षा से ही हिन्दी के अध्यापन की व्यवस्था है, परन्तु उसे परीक्षा का एक अनिवार्य विषय नहीं माना गया है। मैट्रिक की परीक्षा में अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए हिन्दी भी एक वैकल्पिक विषय है और राज्य भर में अनुमानतः कम से कम बीस प्रतिशत ओड़िआ विद्यार्थी इस व्यवस्था का लाभ उठाते हैं। सभी माध्यमिक एवं उच्च विद्यालयों में कम से कम एक हिन्दी शिक्षक का रहना सरकारी शिक्षा नीति के अनुसार अनिवार्य है। हिन्दी शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिये राज्य में दो प्रशिक्षण संस्थाएं भी स्थापित की गयी हैं, जिनसे प्रतिवर्ष सौ से अधिक प्रशिक्षित हिन्दी शिक्षक निकल रहे हैं। सन् १९५६ से ओड़िसा के महाविद्यालयों में स्नातक स्तर तक हिन्दी अध्यापन की व्यवस्था की गयी है। इस समय लगभग १५ सरकारी महाविद्यालयों में और लगभग दस गैर सरकारी महाविद्यालयों में इस व्यवस्था के अन्तर्गत हिन्दी प्राध्यापक काम कर रहे हैं। इनकी उपस्थिति ओड़िया और हिन्दी के परस्पर विनिमय में भी सहायक सिद्ध होती है। अन्य महाविद्यालयों में भी अध्यापन-व्यवस्था न होने पर भी परीक्षा के एक विषय के रूप में हिन्दी को मान्यता प्राप्त है। परन्तु अभी तक ओड़िसा में हिन्दी में स्नातकोत्तर स्तर पर हिन्दी अध्यापन की कोई सुविधा उपलब्ध नहीं की जा सकी है। फिर भी उत्कल विश्वविद्यालय में एम० ए० स्तर तक हिन्दी परीक्षाओं की व्यवस्था है और प्रत्येक वर्ष इस सुविधा से लाभ उठाने वाले स्थानीय विद्यार्थियों की संख्या बढ़ती जा रही है। सन्तोष का विषय यह है कि ओड़िआ भाषा और साहित्य के अधिकांश विद्यार्थी हिन्दी के अध्ययन को आवश्यक महत्त्व देने लगे हैं। ओड़िआ में एम० ए० परीक्षा के लिए निर्धारित वर्तमान आर्य-भाषाओं में हिन्दी वैकल्पिक होते हुए भी सर्वप्रिय विषय है। उत्कल विश्वविद्यालय ने हिन्दी-शिक्षण के लिये एकवर्षीय सर्टिफिकेट कोर्स प्रारम्भ करने का भी निश्चय किया है। सरकार की ओर से राज्य की विभिन्न गैर-सरकारी संस्थाओं को हिन्दी अध्यापन एवं विकास के लिये अनुदान भी दिये जाते हैं।

गैर सरकारी क्षेत्र में हिन्दी प्रचार-कार्य में संलग्न संस्थाओं में प्रमुख स्थान उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा को प्राप्त है। सन् १९३३ में ओड़िसा के कुछ राष्ट्रकर्मी नेताओं की चेष्टा से इस संस्था की नींव पड़ी। १९४६ के बाद भी अनुसूया प्रसाद पाठक के संचालन में सरकारी सहायता द्वारा इसका प्रशंसनीय विकास

हुआ । इस समय इस संस्था के अन्तर्गत लगभग साढ़े चार सौ परीक्षा केन्द्र हैं, जिनमें वर्धा राष्ट्रभाषा-प्रचार-सभा द्वारा संचालित प्राथमिक से राष्ट्रभाषा-रत्न तक की विभिन्न हिन्दी परीक्षाओं में प्राय: १५ हजार विद्यार्थी प्रतिवर्ष भाग लेते हैं । विद्यार्थियों को हिन्दी की परीक्षाओं के लिये तैयार करने का भार सभा की ओर से तैंतीस वेतनभोगी नियमित प्रचारकों को सौंपा गया है । इसके अतिरिक्त चार सौ से भी अधिक ऐसे मान्य प्रचारक हैं, जो अपने कार्य के आधार पर सभा से आर्थिक सहायता पाते हैं [31]।

उक्त संस्था के अतिरिक्त पुरी में 'पुरी हिन्दी-परिषद्' नामक एक स्वतंत्र संस्था भी हिन्दी प्रचार का काम कर रही है । राज्य में स्थानीय जनता के उद्योग से कटक, भुवनेश्वर, बालेश्वर, सम्बलपुर, पुरी आदि अनेक नगरों में हिन्दी-माध्यम से शिक्षण प्रदान करने वाली भी कुछ संस्थाएं चल रही हैं । इनमें से कुछ तो सरकारी मान्यता प्राप्त हैं और कुछ को सरकार द्वारा वित्तीय सहायता मिलती है ।

ओड़िसा में हिन्दी के प्रचार और प्रसार की दृष्टि ने छाया-चित्र-व्यवसाय के अप्रत्यक्ष किन्तु व्यापक सहयोग की भी अवहेलना नहीं की जा सकती । राज्य के सिनेमा-घरों में अस्सी प्रतिशत हिन्दी छाया-चित्रों का ही प्रदर्शन होता है, क्योंकि प्रत्येक वर्ग की जनता में हिन्दी छायाचित्र ही सर्वप्रिय हैं । ग्राम्यांचलों में धीरे-धीरे छायाचित्रों के प्रदर्शन की व्यवस्था बढ़ती जा रही है और परिणामस्वरूप अज्ञात रूप से हिन्दी समझने वालों और अनुकरण में कुछ बोलने वालों की संख्या भी तेजी से बढ़ती जा रही है । हिन्दी के गीत तो ओड़िआ युवकों के मनोरंजन का सर्व प्रमुख साधन बन गए हैं ।

ओड़िसा से बाहर हिन्दी-प्रदेशों में शिक्षा, व्यापार, नौकरी या पर्यटन के उद्देश्य से जाने वाले और वहां कुछ समय के लिये बसने वाले ओड़िया लोगों की सख्या भी क्रमशः बढ़ती जा रही है । इनके द्वारा भी हिन्दी का प्रभाव ओड़िसा के परिवारों में प्रवेश करता रहता है । फलस्वरूप ओड़िसा में हिन्दी पुस्तकों की विशेषतः उपन्यासों की खपत बढ़ रही है । प्रायः सभी रेलवे बुक स्टालों पर हिन्दी पुस्तकों की अच्छी खपत होने लगी है ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में ओड़िया के सभी अंचलों

---

३१. सभा के प्रचार-कार्य से सम्बन्धित सूचनाएं सभा की वर्तमान संचालिका श्रीमती विनीता पाठक से व्यक्ति-भेंट द्वारा प्राप्त की गयी हैं ।

में हिन्दी के प्रति आकर्षण में संतोषप्रद प्रगति है। स्वतन्त्रता के पूर्व व्यापार उद्योग शिक्षा के क्षेत्रों में पिछड़ जाने के कारण जन-विनिमय की प्रक्रिया में जो कमी आ गयी थी, उसमें भी प्रगति हो रही है और इसका परिणाम भाषा-विनिमय पर पड़ रहा है।

हिन्दी-भाषी प्रदेशों में ओड़िया का प्रचार और प्रसार :

ओड़िआ और हिन्दी-भाषी प्रदेशों में विभिन्न युगों में सम्पर्क सम्बन्धी प्राप्त संकेतों का एवं ऐतिहासिक तथ्यों का वर्णन किया जा चुका है। इस सम्पर्क का प्रवाह सदैव एक ही दिशा की ओर उन्मुख रहा होगा, ऐसा विचार करना संस्कृति के प्रवाह सम्बन्धी मान्य सिद्धान्तों की अवहेलना करना होगा। चाहे जिस रूप में हो, जब दो विभिन्न वर्ग परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध में आते हैं और यह सम्पर्क यदि बहुकालीन होता है तो दोनों के सांस्कृतिक लक्षणों का एक दूसरे पर थोड़ा या अधिक प्रभाव अवश्य पड़ता है। भाषा के क्षेत्र में तो यह सिद्धान्त अनेक तथ्यों द्वारा प्रमाणित होता है। अतः ओड़िया के साथ मध्यदेश के सम्बन्ध का परिणाम मध्यदेश की भाषा-परम्परा पर कुछ भी न पड़ा हो और कम से कम कुछ शब्द ही ओड़िसा से प्रवाहित होकर मध्यदेश की त्रिवेणी में न मिल गये हों, ऐसा अनुमान करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। पालि पर कलिंग की भाषा के प्रभाव का संकेत हम पा चुके हैं। प्राकृत और प्रारम्भिक हिन्दी में भी ओड़िआ के मिश्रण का प्रमाण मिल चुका है। वर्तमान हिन्दी में भी पिल्ला, गण्डा, कोड़ी इत्यादि कुछ ऐसे शब्द हैं, जो अभी भी ओड़िआ में बहु-प्रचलित स्थानीय शब्द माने जाते हैं। हिन्दी सर्वनामों में षष्ठी विभक्ति में 'र' का प्रयोग यथा 'हमारा', 'तुम्हारा' इत्यादि ओड़िया के षष्ठी रूप 'आमर', 'तमर' आदि से समता रखते हैं—ओड़िया से होकर ही ये मध्यदेश में पहुंचे होंगे, इस प्रकार के अनुमान को बल मिलता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में दक्ष प्राचीन एवं मध्यकालीन उत्कल-निवासी अन्तर्देशीय व्यापार में अपनी प्रादेशिक सीमा के अन्तर्गत ही आबद्ध रहते होंगे, ऐसा नहीं माना जा सकता। ओड़िसा के व्यापारी मध्यदेश की यात्रा करते थे, इसमें संदेह नहीं। सम्भव है मध्यप्रदेश के सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों में ओड़िसा के व्यापारियों की भी अच्छी संख्या रही हो और उनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से ओड़िसा की भाषा का मध्यदेश की भाषा पर भी कुछ प्रभाव पड़ा हो। परन्तु इस अनुमान को प्रमाणित करने वाले तथ्यों की खोज की ओर अभी दृष्टि नहीं जा सकी है। इस ओर चेष्टा अपेक्षित है।

प्रथम शताब्दी के लगभग लिखित भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ओड़ी को प्राकृत नाटकों के कुछ विशिष्ट प्रकार के पात्रों के लिये प्रयुज्य एक मान्य नाट्य-विभाषा के रूप में स्वीकृति मिली है। आगे भी हम 'सिद्धों और नाथपन्थियों की भाषा का जो स्वरूप देख चुके हैं, उसे ध्यान में रखते हुए इस अनुमान को आधार मिलता है कि प्रथम शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक ओड़िसा और मध्यदेश की भाषाओं में इतनी समता रही होगी कि दोनों भाषाओं को एक ही व्यापक भाषा के दो आंचलिक रूप समझा जाता रहा होगा। इसीलिए दोनों शैलियों का एक साथ प्रयोग करने में किसी कठिनाई का अनुभव नहीं होता था। यह परिस्थिति दोनों प्रादेशिक-शैलियों में परस्पर आदान-प्रदान में सहायक सिद्ध हुई होगी। सम्भवतः बारहवीं शताब्दी तक भाषा विनिमय की सहायक परिस्थितियों में विशेष अन्तर नहीं आया, लेकिन उत्तर-भारत में मुस्लिम-शासन की प्रतिष्ठा के बाद ही यह भाषा-विनिमय का क्रम लगभग विच्छिन्न-सा हो गया।

मुस्लिम-शासन में और इसके बाद अंग्रेजी शासन में भी ओड़िया एवं ओड़िसा की भाषा को सर्वभारतीय स्तर पर सम्मान प्राप्त नहीं हो सका। अतः इस युग में अर्थात् तेरहवीं शताब्दी से उन्नीसवीं शताब्दी तक ओड़िआ भाषा अपनी प्रादेशिक सीमा के बाहर अधिक दूर नहीं जा सकी। अंग्रेजी शासन के अन्तिम कुछ दशकों में अध्ययन की दृष्टि से ओड़िसा के कुछ युवक कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, बनारस आदि शिक्षण-केन्द्रों में अस्थायी भाव से प्रवास करते थे, परन्तु स्थानीय जनता के साथ उनका सम्पर्क इतना घनिष्ट नहीं हो सका कि ओड़िआ भाषा और साहित्य के प्रति उन स्थानों में रुचि या आकर्षण तो दूर, साधारण जानकारी भी उत्पन्न हो सके। इस दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय प्रगति बंगाल में विश्वभारती के द्वारा हो सकी। वहां हिन्दी के साथ-साथ ओड़िआ के लिये भी उच्च-स्तर पर अध्ययन और अनुसन्धान की सुविधाएं उपलब्ध की गयीं।

केन्द्रीय-शासन की भाषा-नीति :

स्वतन्त्रता के बाद सभी प्रादेशिक भाषाओं को भारतीय भाषा के रूप में सरकारी मान्यता मिली और हिन्दी प्रदेश के कुछ उत्साही विद्वानों का ध्यान प्रादेशिक भाषाओं के साहित्य-भण्डार की जानकारी प्राप्त करने की ओर आकर्षित हुआ। परन्तु प्रादेशिक भाषाओं के विकास में अंग्रेजी सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हुई। मध्ययुग में विभिन्न भाषा-भाषी प्रदेशों की जानकारी पाने के लिये तथा साहित्यिक आदान-प्रदान के लिये स्थानीय

भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक होता था। इससे प्रादेशिक भाषाओं को अपनी सीमा से बाहर फैलने का अवसर मिलता था। परन्तु सर्व-भारतीय स्तर पर सांस्कृतिक तथा साहित्यिक विचार-विनिमय के लिये एकमात्र अंग्रेजी का प्रयोग होने से एक दूसरे की प्रादेशिक भाषाओं को जानने की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी। अतः प्रादेशिक भाषाएं अपनी-अपनी सीमा में ही आबद्ध हो गयीं। भाषा-ज्ञान के अभाव के कारण विभिन्न भाषा-भाषियों में पारस्परिक उपेक्षा की भावना को पनपने का भी अवसर मिला। इस परिस्थिति का कुप्रभाव आर्थिक दृष्टि से अनुन्नत प्रदेशों की भाषाओं के विकास पर अधिक पड़ा। सर्व-भारतीय स्तर पर साहित्यिक विनिमय रुक जाने के कारण प्रत्येक भाषा, विषय, शैली आदि की दृष्टि से अपनी-अपनी रूढ़िगत परम्पराओं से चिपकी रही और साहित्य-समाज के साथ समन्वय स्थापित करने की क्षमता खो बैठी। ओड़िआ भी लगभग इसी अवस्था में रहने के कारण प्रादेशिक सीमा के बाहर अपना उचित स्थान प्राप्त करने में सफल नहीं हो सकी।

केन्द्रीय भाषा-नीति के अनुसार सभी प्रादेशिक भाषाओं की उन्नति के लिये उपाय किये जा रहे हैं। ओड़िआ भाषा के विकास के लिए भी चेष्टाएं हो रही हैं और कुछ अंशों तक इसका अनुकूल प्रभाव भी दिखलाई पड़ रहा है। इस ओर सबसे बड़ी बाधा जनता में अपनी भाषा के प्रति आत्मीयता का अभाव है। 'ओड़िसा साहित्य अकादमी' द्वारा ओड़िआ साहित्य का प्रकाशन एवं प्रचार किया जा रहा है। प्रति वर्ष केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा सफल ओड़िसा रचनाओं को पुरस्कृत कर उन्हें सर्वभारतीय आकर्षण का विषय बनाया जा रहा है। इस समय ओड़िआ भाषा रूस, ब्रिटेन आदि कुछ बड़े राष्ट्रों को भी आकर्षित करने में समर्थ हुई है। परन्तु जिस प्रकार प्रादेशिक सीमा के बाहर बंगला का प्रचार करने के लिए 'बंग-साहित्य-परिषद' द्वारा बंगला की कक्षाएं चलाकर, बंगाल के बाहर बंगीय-साहित्य-सम्मेलनों की आयोजना कर तथा बंगला साहित्य की प्रदर्शनियां कर सफलता प्राप्त की जा रही है, वैसा प्रयास करने वाली कोई संस्था ओड़िसा में अभी तक गठित नहीं की जा सकी। कुछ दिन पहले सूचना मिली थी कि ओड़िसा साहित्य अकादमी नागरी अक्षरों में ओड़िआ साहित्य का प्रकाशन करने की योजना बना रही है। इस प्रकार की योजना हिन्दी प्रदेशों में ही नहीं, भारत के अन्य प्रदेशों में भी ओड़िआ भाषा और साहित्य के प्रचार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगी—इसमें सन्देह नहीं। किसी भाषा का संसार की अन्य भाषाओं के साथ सम्पर्क जितना ही व्यापक होगा, उस भाषा का बहुमुखी विकास उतना ही तीव्र होगा। यह सम्पर्क भाषा-भाषियों के परस्पर सम्पर्क की घनिष्टता से ही उत्पन्न

होता है । इस दिशा में ओड़िआ भाषा-भाषियों की चेष्टा में क्रमशः प्रगति तो मिलती है, परन्तु इसकी गति अभी भी सन्तोषप्रद नहीं कही जा सकती । अन्य भाषा-भाषियों में ओड़िआ भाषा और साहित्य के प्रति रुचि और आकर्षण उत्पन्न करना प्रत्येक ओड़िआ भाषा-भाषी का जातीय कर्तव्य हो जाता है । पारस्परिक घनिष्टता बढ़ाने से ही ओड़िआ भाषा के प्रचार और प्रसार पर अनुकूल असर पड़ सकता है ।

ओड़िसा के बाहर ओड़िआ के अध्ययन-अध्यापन की वर्तमान सुविधाएं अत्यन्त सीमित और अव्यवस्थित अवस्था मे है । कलकत्ता, विश्वभारती और रांची विश्वविद्यालयों में स्नातकोत्तर स्तर तक ओड़िआ के अध्ययन की सुविधाएं हैं । विश्वभारती में अनुसन्धान की भी सुविधा है । समाचार मिला है कि सम्भवतः दिल्ली विश्वविद्यालय में भी ओड़िआ विभाग स्थापित करने की योजना बनायी जा रही है । कलकत्ता, जमशेदपुर बर्नपुर आदि आसपास के औद्योगिक नगरों में जहां ओड़िआ भाषा-भाषी कर्मचारियों की संख्या पर्याप्त है, वहां गैर-सरकारी प्रयास से ओड़िआ माध्यम से शिक्षण प्रदान करने वाले कुछ माध्यमिक विद्यालय भी हैं, परन्तु इनकी व्यवस्था सन्तोषप्रद नहीं है । इन्हें ओड़िआ प्रचार-केन्द्रों के रूप मे संगठित किया जा सकता है । बिहार और बंगाल के उन अंचलों में जहां ओड़िसा भाषा-भाषी जनता का प्राधान्य है उच्च विद्यालय स्तर तक ओड़िआ शिक्षा का प्रबन्ध है । भारतीय भाषा-क्षेत्र में ओड़िआ के महत्त्व को ध्यान में रखने पर ये सुविधाएं नगण्य सी जान पड़ती हैं । इनमें सरकारी अथवा गैर-सरकारी प्रयासों द्वारा विकास अत्यन्त आवश्यक है ।

ओड़िया-हिन्दी साहित्यिक विनिमय :

कुछ ओड़िआ भाषा-भाषी विद्वानों ने हिन्दी में साहित्य प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है । कुछ ऐसे प्रयासों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:—

श्री ब्रजनाथ बड़जेना—ये एक प्रसिद्ध ओड़िआ कवि हैं । इनका रचनाकाल सन् १७३० से १८०० के बीच में माना जाता है । उन्होंने अपनी ओड़िआ रचनाओं में भी यत्र-तत्र हिन्दी का प्रयोग किया है । 'समर-तरंग' नामक ओड़िआ खण्ड-काव्य में इनका यह हिन्दी गीत मिलता है ।

अब सब सरदार विचारो ।
एकठो रगड़ हाथ न आया भले-भले तुम यारो ।।
ढाल-ढाल भार पैसा लेके कोई अब मारदो किल्ला ।
थोड़ा गड दुक लड़ते नहीं क्या करूं जाके बंगला ।।

लख फउज अब साथ हैं मेरा केता हाथि न घोड़ा ।
राजा मुझे क्या कहेगा काम नहीं बड़े थोड़ा ।।

श्री जेना ने अपने जीवन के अन्तिम काल में 'गुण्डिचा विजय' नामक एक सम्पूर्ण खण्ड-काव्य हिन्दी में लिखा है। इसमें पुरी की प्रसिद्ध रथयात्रा के अवसर पर महाप्रभु जगन्नाथ की गुण्डिचा-यात्रा का विशद विवरण कविताबद्ध है। उसकी कुछ पंक्तियां इस प्रकार है—

दाखिल है रथ खेंचनदार केतो गाओं के हैं असुआर।
कुदत दौड़त मन सुख सो गावत नाचत कोई मानस।
खींचने रथ को होए तुरंग भाव में पुलकित जिनके अंग।

कुन्तला कुमारी सावत— यह एक ओड़िआ महिला थीं, जिनका समय सन् १६०० से लेकर १६३८ माना जाता है। ओड़िआ साहित्य में एक कवियत्री के रूप में इनका अच्छा स्थान है। इन्होंने १६२८ के लगभग दिल्ली में प्रवास किया था और कुछ हिन्दी पत्रिकाओं में सम्पादन का भी कार्य किया था। दिल्ली-प्रवास के समय इन्होंने 'वरमाला' नामक एक गीत-संग्रह हिन्दी में रचा था। इस पुस्तक के सम्बन्ध में विशेष जानकारी अप्राप्य है। अपने समय में मध्यदेश के हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में इन्हें सम्मान प्राप्त था।

गोलोक बिहारी धल—ये ओड़िसा के शिक्षा विभाग में एक वरिष्ठ संस्कृत अध्यापक हैं। ध्वनि-विज्ञान के जानकार के रूप में हिंदी-क्षेत्र में भी ये एक मान्य विद्वान समझे जाते हैं। इन्होंने आगरा के हिन्दी प्रशिक्षण-केन्द्र में कुछ दिनों तक अध्यापन का काम भी किया है। इनके द्वारा हिन्दी में लिखित 'ध्वनि-विज्ञान' नामक पुस्तक हिन्दी में प्रथम प्रयास होते हुए भी भाषा-विज्ञान-क्षेत्र में अत्यन्त आदृत है। श्री धल ने 'पेट की हवा मुंह की बात' नामक एक बालोपयोगी हिन्दी पुस्तिका में ध्वनि-विज्ञान के मौलिक सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल एवं मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया है। श्री धल ने अनेक हिन्दी उपन्यासों का ओड़िआ में अनुवाद भी किया है।

श्री महेश प्रधान—ये उत्कल विश्वविद्यालय में संस्कृत विभाग के अध्यक्ष थे। इन्होंने कुछ दिनों तक चीन जाकर हिन्दी अध्यापन का काम भी किया है।

तारणीचरन दास—ये ओड़िसा शिक्षा-विभाग में हिन्दी के प्राध्यापक हैं एक कवि और आलोचक के रूप में परिचित हैं, इनकी कविताओं का एक संग्रह इतिवृत्त प्रकाशित हो चुका है। इनके निबन्ध प्रायः प्रकाशित होते रहते हैं।

वनमाली दास—ये उत्कल राष्ट्रभाषा प्रचार से सम्बद्ध एक प्रसिद्ध व्यक्ति हैं।

इन्होंने उत्कल के विद्यालयों के लिये हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों का निर्माण किया है।

सुरेश नन्दा—ये हिन्दी के प्राध्यापक हैं। इन्होंने हिन्दी और और ओड़िआ दोनों में आलोचनात्मक साहित्य प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

इनके अतिरिक्त ओड़िसा में अनेक ओड़िआ भाषा-भाषी विद्वान् अध्यापन तथा लेखन कार्य में संलग्न हैं। इनके द्वारा ओड़िसा में हिन्दी साहित्य के प्रसार की चेष्टाएं होती रहती हैं। ओड़िआ की पत्रिकाओं में प्रायः ओड़िआ लेखकों के द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में परिचयात्मक अथवा आलोचनात्मक निबन्ध प्रकाशित होते रहते हैं।

ओड़िया भाषियों में जिस प्रकार हिन्दी के प्रति आकर्षण मिलता है, उसी प्रकार की कोई उल्लेखनीय चेष्टा ओड़िआ के प्रति हिन्दी भाषा-भाषियों की नहीं देखी जाती। किसी हिन्दी भाषा-भाषी द्वारा ओड़िआ में साहित्य रचना की कोई सूचना नहीं मिल सकी है। आजकल साप्ताहिक-मासिक कुछ हिन्दी पत्र-पत्रिकाएं हैं, जिनमें ओड़िआ भाषा और साहित्य से सम्बन्धित परिचयात्मक निबन्ध कभी कभी देखे जाते हैं। ओड़िसा में निवास करनेवाले हिन्दी-भाषा-भाषियों द्वारा इस दिशा में विशेष प्रयास अपेक्षित है।

हिन्दी और ओड़िआ के बीच पारस्परिक अनुवाद की प्रवृत्ति भी उत्तरोत्तर प्रगति पर है।

श्री राधानाथ राय ओड़िआ काव्य में नवयुग के वाहक ने, तुलसीकृत रामचरित-मानस के कुछ छुटपुट अंश ओड़िआ में अनूदित किये थे, जो उनकी ग्रन्थावली में संग्रहीत है।

श्री जगद्बन्धु महापात्र द्वारा तथा श्री त्रिनाथ मिश्र के द्वारा अलग अलग 'राम-चरितमानस' के सम्पूर्ण अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं। जगद्बन्धु महापात्र का अनुवाद रामभक्त ओड़िआ परिवारों में अत्यन्त प्रिय है।

श्री स्वप्नेश्वर दास ने जयशंकर प्रसाद कृत 'कामायनी' का पद्यानुवाद प्रस्तुत करने का कठिन कार्य किया है।

श्री गोलक बिहारी धल ने प्रेमचन्द्र के 'गोदान' और 'गबन' नामक उपन्यासों का अनुवाद किया है।

श्रीनिवास उद्गाता ने भगवतीचरण वर्मा की प्रसिद्ध कृति 'चित्रकला' का, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'बाणभट्ट की आत्मकथा' और 'नारी जीवन की कहानियां' नामक पुस्तकों के अनुवाद प्रस्तुत किये हैं।

नवलकिशोरदास जो ओड़िसा कृषि-विभाग के एक अधिकारी हैं, ने आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत 'वैशाली की नगर वधू' और 'वयं रक्षामः' के अनुवाद पूरे कर दिये हैं, परन्तु ये अभी प्रकाशित नहीं हो सके हैं।

श्री परमानन्द महन्ति ने 'आवरण' और 'प्रवंचना' नामक दो उपन्यास ओड़िआ में रूपान्तरित किये हैं। अनुमान है कि ओड़िसा के विभिन्न भागों में अनेक उत्साही अनुवादक हिन्दी रचनाओं को ओड़िआ में प्रस्तुत करने के प्रशंसनीय कार्य में संलग्न होंगे। कालक्रम से उनकी चेष्टाएं प्रकाश में आ सकेंगी। इस प्रकार कहा जा सकता है कि अनुवाद के क्षेत्र में ओड़िआ भाषा-भाषियों का हिन्दी के प्रति आकर्षण प्रशंसा के योग्य है। इससे ओड़िआ में मौलिक साहित्य-रचना में नयी दिशाओं का सूत्रपात करने में भी सहायता मिल सकेगी। उत्कल प्रान्तीय राष्ट्रभाषा पत्रिका में भी ओड़िआ के प्राचीन साहित्य को हिन्दी में रूपान्तरित करने की प्रेरणा मिलती है।

साहित्य के विस्तार को ध्यान में रखने पर हिन्दी से ओड़िआ में अनुवाद की स्थिति जितनी सन्तोषप्रद कही जा सकती है, ओड़िआ से हिन्दी में अनुवाद का प्रयास उतना ही विरल है।

श्री फकीरमोहन सेनापति के दो उपन्यास 'लछमा' और 'छ मान आठ गुण्ठ' हिन्दी में अनूदित हुए हैं।

श्री **कपिलेश्वर प्रसाद** ओड़िआ शिक्षा-विभाग में हिन्दी प्राध्यापक हैं, ने ओड़िआ की लगभग चालीस उत्कृष्ट कहानियों के अनुवाद किये हैं, जो विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। केन्द्रीय सरकार द्वारा पुरस्कृत ओड़िआ के प्रसिद्ध उपन्यास 'अमृतर सन्तान' और 'माटिर मनुष्य' के अनुवाद भी प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री चन्द्रसेन कुमार जैन ने प्रसिद्ध ओड़िआ कवि श्री राधानाथ राय रचित 'चिलिका' नामक खण्डकाव्य को हिन्दी पद्य में रूपान्तरित करने का प्रयास किया है। यह उत्कल प्रान्तीय राष्ट्र-भाषा पत्रिका में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ है। ओड़िआ साहित्य को हिन्दी में प्रस्तुत करने की कोई व्यवस्थित योजना नहीं मिलती। हिन्दी साहित्य की समृद्धि के लिये और ओड़िआ के साथ हिन्दी भाषियों का सांस्कृतिक सम्पर्क घनिष्टतर बनाने के लिए इस ओर विशेष चेष्टा की आवश्यकता है। इस समय ओड़िआ में प्रकाशित पुस्तकों की संख्या लगभग दस हजार आंकी जा सकती है परन्तु इनमें आधी से भी अधिक धार्मिक पुस्तकें हैं, जो साहित्यिक दृष्टि से उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी जा सकतीं। किन्तु प्राचीन ओड़िआ काव्य तथा नवीन साहित्य में से अधिकांश अनूदित होने योग्य हैं।

अनुवाद-कार्य के लिये सम्पन्न पुस्तकालय और उत्तम कोष-ग्रन्थ आवश्यक हैं। ओड़िसा के बाहर ओड़िया साहित्य संकलित करने वाले पुस्तकालयों का सर्वथा अभाव है। इस दृष्टि से ओड़िया लिपि भी बाधक बन जाती है। बंगला, मराठी, गुजराती इत्यादि लिपियां मध्यदेश की नागरी लिपि से परिचित जनता के लिये जितनी बोधगम्य हैं, उतनी बोधगम्य ओड़िया नहीं हो पाती। अतः ओड़िया लिपि का प्रचार, नागरी लिपि में ओड़िया साहित्य का प्रकाशन और मध्यदेश के कुछ प्रमुख साहित्य-केन्द्रों में ओड़िया साहित्य के संकलन और अनुवाद में प्रगति उत्पन्न कर सकता है। ओड़िया में हिन्दी पुस्तकों का संग्रह भी उतना संतोषप्रद नहीं है। उन महाविद्यालयों में जहां हिन्दी एक पाठ्य-विषय है तथा पुस्तकालयों में हिन्दी विभाग भी है, पुस्तकों की संख्या नगण्य है। उत्कल विश्वविद्यालय के कनिका पुस्तकालय में हिन्दी विभाग अपेक्षाकृत समृद्ध कहा जा सकता है। राष्ट्र-भाषा सभा से सम्बद्ध राष्ट्रभाषा पुस्तकालय में भी लगभग आठ हजार हिन्दी पुस्तकों के संकलन की सूचना मिली है। गैर सरकारी प्रयास से भी कुछ नगरों में हिन्दी पुस्तकालय चल रहे हैं, परन्तु इनमें साहित्यिक दृष्टि से चुनाव नहीं होता और इनकी आर्थिक अवस्था भी शोचनीय है।

एक उत्तम तथा अधिकाधिक (anthoritative) हिन्दी-ओड़िया कोष का भी सर्वथा अभाव है। श्री गोपाल प्रहराज द्वारा सम्पादित 'पूर्णचन्द्र भाषा-कोष' में ओड़िया शब्दों के हिन्दी प्रतिरूप दिये गये हैं, परन्तु अपनी विशालता के कारण यह कोष अनुवादकों के लिये सुलभ और उपयोगी नहीं हो पाता। श्री निहार पात्र द्वारा सम्पादित 'ओड़िया-हिन्दी कोष' अपूर्ण एवं अत्यन्त लघु है। ओड़िया-भाषी और हिन्दी-भाषी कुछ विद्वानों के सम्मिलित प्रयास से ही यह कमी पूरी हो सकती है। नये पाठक उत्पन्न करने के लिये हिन्दी ओड़िया स्वयं-शिक्षक जैसी पुस्तकों की भी आवश्यकता अपूर्ण ही हैं। वर्धा राष्ट्र-भाषा प्रचार समिति द्वारा ऐसी एक पुस्तक प्रकाशित तो हुई है, परन्तु वह उद्देश्य की दृष्टि से उतनी सफल नहीं हो सकी है।

उपर्युक्त अध्ययन में ओड़िया और हिन्दी में सम्पर्क सम्बन्धी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का एक आभास मात्र दिया गया है। इस विषय पर पूरा प्रकाश डालने के लिये व्यवस्थित अनुसन्धान की आवश्यकता है। आशा है इस प्रारम्भिक प्रयास द्वारा ओड़िया और हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

डॉ० खगेश्वर महापात्र

उड़िया-लिपि का क्रम-विकास और देवनागरी से उसका सम्बन्ध

उड़िया-लिपि अन्य भारतीय भाषाओं की तरह ब्राह्मी-लिपि का ही विकसित रूप है। उड़ीसा में प्राप्त शिलालेख और ताड़-पोथियों का लिपि-तात्त्विक अध्ययन करने पर ईसा पूर्व तीसरी सदी के धउलिगिरि एवं जउगड़ में लिखे गये अशोका नुशासन में में विगत सदी के शेष भाग में लिखे गये ताड़-पोथी समूह के सहारे-उड़िया लिपि के क्रम-विवर्त्तन की धारा स्पष्ट हो जाती है। लेखनकारों की व्यक्तिगत कलात्मक अभिरुचि एवं लिखाई के उपकरण तथा उपादानों के अनुसार उड़िया-लिपि की कई स्वरूपगत विशेषताओं के बावजूद, इस लिपि में अब तक भी ब्राह्मी तथा अन्यान्य प्राचीन लिपियों की सत्ता स्पष्ट है। प्राचीन काल में उड़ीसा में लिखाई का प्रधान माध्यम था —पाषाण-गात्र, ताम्र-फलक, ताड़-पत्र एवं लिखाई के उपकरण थे—लौह निहाण एवं लेखनी। इसी भित्ति पर उड़िया-लिपि के रूप-संगठन में चतुर्विध वैशिष्ट्य विकसित हुआ था, यथा अर्द्धवृत्ताकार शीर्ष-मुण्डली (Top curve), पूंछ (Tail), पुड़ा (Loop) एवं कोणहीन कुटिल या वक्ररेखा curve) । हो सकता है ये उड़िया-लिपिकारों की नितान्त मौलिक सृष्टि न हों, क्योंकि पहले अक्षर के शीर्ष-भाग के आभरण के लिये चूल (परवर्त्ती-ब्राह्मी लिपि में), मुण्डली (तामिल बोहेलुनु लिपि में) चतुष्कोण पेटिका, शंकु (५वीं-६ठी सदी की लिपि में) इत्यादि का प्रचलन था। किन्तु ताड़-पत्र पर लौह-लेखनी द्वारा लिखाई के दृष्टिकोण से शीर्ष-मुण्डली

और कोणहीन वक्ररेखा का, एवं अलंकरण या एकाधिक अक्षरों के आकृति-मूलक सादृश्य में स्वतन्त्रता बताने के लिए पुड़ा और पूंछ का प्रयोग देख, उड़िया लिपिकारों ने इन सब आभूषणों की यथार्थता को समझा था। अत: उड़िया-लिपि की किसी एक विशेषता की ओर ध्यान देकर इसे बंगला, नागरी या तामिल से उत्पन्न कहना भी ठीक नहीं होगा।

उड़िया-लिपि की उत्पत्ति और क्रम-विकास :

उड़िया-लिपि की उत्पत्ति और विकास के मूल में प्राचीन उड़ीसा में प्रचलित विविध लिपियों का योगदान महत्त्वपूर्ण है। अब तक पाए गये शिलालेखों के सहारे वैसी लिपि-मालाओं का एक ऐतिहासिक विवरण यहाँ विचारणीय है—

ब्राह्मीलिपि : जउगड़ एवं धउलिगिरि के अशोक के शिलालेख (ई० पू० ३ सदी)।
उदयगिरि स्थित खारबेल के हाथीगुंफा शिलालेख (ई० पू० पहली सदी)।

कुशान–ब्राह्मी : भद्रक स्थित गण का शिलालेख (ई० तीसरी सदी)।

गुप्तलिपि : धर्मराज का सुमण्डल ताम्रपत्र (५७० ई०)।
लोक-विग्रह का कणास ताम्रपत्र (६०० ई०)।
शिवराज का परिआकिला ताम्रपत्र (६०२ ई०)।
माधव वर्मा का गंजाम ताम्रपत्र (६२० ई०) आदि।

कुटिल लिपि : पेटिका शिर (Box-headed) शंकुशिर लिपि (Wedge-headed)।
–गंग, भौम, कर और सोम राजाओं के शिलालेख (८ वी–११वीं सदी)।

दक्षिण नागरी : (Buhler's Later Kalinga Script के साथ तुलनीय) उरजाम शिलालेख (१०५१ ई०)।

ग्रंथ और तामिल : भुवनेश्वर का द्विभाषिक शिलालेख (१२६१ ई०)।

नागरी : श्री कुर्मेश्वर शिलालेख (१४०३ ई०)।

इस विवरण में यह ध्यान देने की बात है कि ईसा की सातवीं सदी से तेरहवीं सदी के बीच उड़ीसा में लिपि-प्रयोग के संबंध में अनेक परीक्षण होते रहे। राजनैतिक दृष्टि से उड़ीसा के भौगोलिक विभाजन और विभिन्न ऐतिह्य एवं संस्कृति के स्वातन्त्र्य बोध के कारण एकादि क्रम से उड़ीसा में विभिन्न लिपियों का प्रचलन हुआ। सत्यनारायण राजगुरु इस स्थिति का यथार्थ विवरण देते हुए कहते हैं—'आठवीं सदी से लेकर ग्यारहवीं सदी तक जो शिला-लेख खोदे गये, उनकी परीक्षा करने पर स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग में प्रचलित दो प्रकार की लेखनशैली के अन्तर्गत वर्णमाला, कालक्रम से सामान्य परिवर्त्तन के

साथ उभर कर आयी। फलत: उड़ीसा में विभिन्न प्रकार की लिखावट दिखाई देती है। पूर्वोत्तर-भाग में भौम, तुंग, शुल्कि, नन्दोद्भव, आदि वंशों के राजा जिस लिपि का प्रयोग करते थे, वह दक्षिण-पश्चिमी भाग में प्राय: नहीं पायी जाती। दक्षिण-भाग अर्थात् कलिंग में उस समय व्यवहृत लिपि के साथ तत्कालीन पड़ोसी राज्य वेंगी में व्यवहृत लिपि का सामंजस्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उसी तरह पश्चिमी भाग, अर्थात् दक्षिणी कौशल में सोमवंशी भंज, नाग आदि राजाओं द्वारा व्यवहृत लिपि पर उत्तर-भारतीय शैली का प्रभाव दिखाई पड़ता है। पूर्व-भारतीय शैली का व्यवहार भौम राजाओं के शिला-लेखों में स्पष्ट दिखाई देता है। संक्षेप में कहा जाय तो भारतीय वर्णमाला की प्राचीन आकृति, कालक्रम से प्रादेशिक भेद के कारण परिवर्त्तित होने के साथ-साथ उड़ीसा के विभिन्न भागों में इस प्रकार का लिपि-भेद हुआ था[१]।

इस तरह के लिपि प्रयोगों में जो परीक्षण संबंधी स्थिति हो गयी थी, उसका एक विचित्र दृष्टान्त अनन्तदेव वर्मा का मण्डासा ताम्रलेख (९९१ ई०) है, जिसमें व्यवहृत कुल ७३८ अक्षरों में से १९९ दक्षिण नागरी, ५९ तेलगू, १०१ ग्रंथ, १५७ उड़िया एवं शेष अक्षर कलिंग रागों में व्यवहृत लिपि के सदृश हैं[२]। स्थूलत: इसी समय विभिन्न लिपियों के आदर्श पर उड़िया वर्णमाला के यथार्थ और सुन्दर लेखन के निमित्त सब प्रकार की परीक्षा और प्रयोग शुरू हो गये थे। ध्वनि-मूलक दृष्टिकोण से ଲ–ଳ,–ଯ–ୟ,ବ–ୱ (ल–ळ, य–य, ब–व) में भेद दिखाने के लिये विशिष्ट आभूषण-प्रयोग, रचना-सौन्दर्य और स्थायित्व वृद्धि के लिए शीर्ष-मुण्डली और कुटिल-रेखा-विन्यास, सौन्दर्य-वृद्धि और ध्वनिगत स्वातंत्र्य प्रकट करने के लिये पूंछ संयोग आदि कई चारित्रिक विशेषताओं का प्रचलन हुआ था। अनुमान किया जाता है कि तोषाली के भौमवंशीय राजाओं ने पहले पूंछ का प्रयोग किया था और कोशलोत्कल सोमवंशी राजाओं ने कुटिलाक्षरों का यथेष्ट प्रचार किया था। परवर्त्ती-युग में यह पूंछ और कुटिलरेखा व्यापक उद्देश्यों को लेकर उड़िया-लिपि में संरक्षित हुई।

उड़िया और प्रतिवेशी लिपि-समूह में संपर्क :

ऐतिहासिक कारणों तथा शैलीगत समता की दृष्टि से उड़िया-लिपि चार भारतीय लिपियों के साथ तुलनीय है—तामिल और तेलगू, बंगला और नागरी। खारबेल के समय (ई० पू० पहली सदी) से तैलंगा मुकुन्ददेव (१६ वीं सदी) तक दाक्षिणात्य के साथ

---

१. ओड़िआ-लिपिर क्रम-विकास—१९६०।

2. G. Ram Das J.B.O.R.S, Vol. XVII, pts 2-3.

उड़ीसा का राजनैतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक संपर्क घनिष्ट रूप में प्रतिष्ठित हो चुका था। तामिल, तेलगू और कन्नड़ भाषा में उत्कलीय राज-आदेश दिये गये थे एवं उड़िया शिला-लेख तेलगू-लिपि में खुदे होने के कारण उत्कलीय-लिपि का दाक्षिणात्य लिपिमाला के साथ संयोग हुआ था। विशेषत: दोनों भागों में तालपत्र पर लौह्-लेखनी द्वारा लेखन पद्धति प्रचलित होने के कारण दोनों में वर्त्तुलाक्षरों का विवर्त्तन हुआ था। उभय लिपियों के संयोग के स्मारक के रूप उड़िया 'श' 'श्रा' (अ, आ) अक्षर तामिल बट्टेलुतु लिपि से गृहीत होकर अबतक चले आ रहे हैं।

पूर्वी-उत्तरी अर्थात् आसाम, बंगाल, उत्तर-विहार और उड़ीसा में १३ वीं सदी में मूल ब्राह्मी लिपि का क्रम-विवर्त्तित रूप प्रचलित था, जिसे Buhler ने Proto Bengali नाम दिया है। आधुनिक बंगला और उड़िया लिपि तो इसी से विकसित हैं। मैथिली और उड़िया-लिपि की भी यही भित्ति है। इसी कारण बंगीय आलोचक राखालदास बनर्जी का मत है[१]—'In the south the Bengali Script was used throughout Orissa × × × × The modern cursive Oriya Script was developed out of the Bengali after the 15th. century A.D. like the modern Assamese'. किन्तु डा० बनर्जी की उक्ति में बंगला और प्रोटोबंगला का आक्षरिक और लाक्षणिक अर्थ समन्वित हो जाने के कारण कई भ्रान्तियाँ पैदा हो जाती हैं और कुछ उड़िया आलोचक अनुरूप अभिमान प्रकाश कर 'प्रोटो बंगला' के बदले 'प्रोटो-उड़िया' नाम देकर पक्षपाती हो जाते हैं। वस्तुत: उड़िया-लिपि Buhler की Proto-Bengali के साथ संपृक्त है, पर १४ वीं सदी में बंगला से उद्भूत नहीं है। अनुमानत: १० वीं सदी में प्रोटो-बंगला लिपि का जन्म होने के बाद उड़िया और बंगला में दो स्वतंत्र दिशाओं में इसका क्रम-विकास हुआ था। उड़ीसा में यह नागरी, दक्षिण-नागरी (उत्तरकालीन कलिंग-लिपि) और तामिल-तेलगू द्वारा प्रभावित हुई थी। फलत: उड़ीसा में प्रोटो-बंगला-लिपि में बंगला-लिपि के समकक्ष कई विशेषताएँ आरंभ से ही दिखाई पड़ती हैं। तुलनात्मक रूप से देखा जाय तो समान्तराल शीर्ष-रेखा बंगला में रही, पर उड़िया में इसने वर्त्तुलाकृति धारण की। कुछ अक्षर बंगला में कोणयुक्त बने, पर उड़िया में कुटिलाकृति के हो गये। कुछ अक्षरों के शीर्षभाग के बायें त्रिभुज और पुड़ा (Napalese Hook —Buhler) बंगला में परित्यक्त होने पर भी उड़िया के प्राचीन शिलालेखों में व्यवहृत हुए हैं[२]। सर्वोपरि उड़िया लिपि में नागरी और दक्षिणी लिपि के कई अक्षर गृहीत

1. The Origin of the Bengali Script, 1919.
२. देखिये—नरसिंह द्वितीय का केन्दु पाटना शिलालेख १२९७ ई०।

हुए हैं। इन सब दृष्टियों से डा० कुंजविहारी त्रिपाठी का कहना यथार्थ है[१]—'The Oriya Script is more akin to Proto-Bengali than to modern Bengali'.

उड़ीसा में नागरी-लिपि का प्रचलन स्थूलत: ७ वीं–८ वी सदी से मिलता है। तत्-कालीन शैलोद्भव, सोम, पाण्डु-वंशीय शासक यज्ञानुष्ठान और राज्य-शासन के लिए उत्तर-भारतीय ब्राह्मणों को बहुत संख्या में नियुक्त करते थे। लगता है, उड़ीसा में नागरी-लिपि के प्रवर्त्तन के मूल में यह एक बलिष्ठ कारण है। एक ही शिलालेख में प्रोटो-बंगला और नागरी-लिपि का मिश्रित प्रयोग एवं राजा के आदेशों में स्थान-भेद के कारण उभय लिपियों के प्रयोग पर विचार करने पर उड़ीसा में नागरी-लिपि के प्रभाव और प्रतिष्ठा का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। डा० कुंजविहारी त्रिपाठी द्वारा निर्णीत प्रथम उड़िया शिलालेख—वज्रहस्त देव द्वितीय के उरजाम शिलालेख (१०५१ ई०) की लिपि दक्षिण-नागरी है। उड़ीसा में प्रथम पर्याय में इस दक्षिण-नागरी का व्यापक प्रयोग दिखाई पड़ता है। पर १४०३ ई० में श्री कूर्मेश्वर मन्दिर में खुदे शिलालेख की लिपि आधुनिक नागरी से मिलती है। उड़िया भाषा के ध्वनि-तत्त्व उड़ीसा की कुछ विशिष्ट लेखन-पद्धति के प्रति ध्यान देकर उड़ीसा में प्रचलित नागरी लिपि में जैसा संस्कार किया गया, वह वास्तव में कौतूहलप्रद है। उदाहरण-स्वरूप इसके कुछ नमूने नीचे दिये जाते हैं—

१. उड़िया भाषा में ଳ–ଲ ध्वनि का भेद बताने के लिये ଳ की जगह नागरी ल में एक पूंछ जोड़ी गयी (ल्) एवं ଲ की जगह नागरी के ल का प्रयोग किया गया।

२. उड़िया में ଯ–ୟ में भेद न होने के कारण नागरी 'य' का उड़िया ୟ के स्थान पर प्रयोग होता है एवं उड़िया ଯ की जगह नागरी पूंछयुक्त 'य' (य्) व्यवहृत होता है।

३. उड़िया में वर्ग्य व और अवर्ग्य व (ଵ) का उच्चारण समान होने के कारण नागरी अवर्ग्य व की स्वंतन्त्र अभिव्यक्ति के लिये विन्दुयुक्त ब़ (ଵ) व्यवहृत होता है।

४. उड़िया में କ୍ଷ (क्ष) का उच्चारण ଖ (ख) प्रधान होने के कारण 'ख' की जगह नागरी 'प' का व्यवहार हुआ है ଲେଖଇ (लेखइ) की जगह ଲେଷଇ (लेपइ)।

५. नागरी लिपि में क्वचित् उड़िया-पद्धति से मात्रा प्रयोग हुआ है—यथा देव की जगह ⸢दव।

1. Evolutien at Oriya Language & Script, 1962.

उड़िया-लिपि के क्रमविकास-पथ में नागरी-लिपि का प्रभाव अस्वीकार्य नहीं है । कुछ उड़िया अक्षरों का नागरी अक्षरों के साथ ऐसा सादृश्य है कि शीर्ष भाग पर मुण्डली के बदले रेखा खींच देने पर वे सब सहज ही नागरी हो जाएँगे । ग्रियर्सन ने दोनों लिपियों में आकृतिगत समता देख कर और कुछ ऐतिहासिक तथ्यों का आधार लेकर यह लिखा था[1]—

'The Maithili and Bengali alphabets are derived from Buhler's Proto-Bengali. The Oriya alphabets is, on the contrary, derived from Nagari and probably reached Orissa directly from the West'.

इस आलोचना में फिर से यह याद करा देना उचित होगा कि उड़िया-लिपि तामिल, तेलगू, बंगला या नागरी किसी एक लिपि से नहीं जन्मी । ई० पू० तीसरी सदी से लेकर उन्नीसवीं सदी में मुद्रणालय स्थापित होने तक उड़िया-लिपि विभिन्न पर्यायों में विभिन्न प्रभावों के अन्तर्गत होकर गुजरती हुई अपने वर्त्तमान स्वरूप तक पहुँच सकी है । ब्राह्मी-लिपि से गुप्त, कुटिल और प्रोटो-बंगला होती हुई तामिल, ग्रंथ और नागरी लिपियों के प्रभाव से उड़िया-लिपि की सृष्टि और उसका विकास हुआ है ।

प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि तिब्बती धर्मशास्त्रों में 'वार्त्तु' नामक एक लिपि का व्यवहार था । यह एक भारतीय लिपि है । प्राचीन उड़िया-लिपि के साथ इसका इतना सादृश्य दिखाई देता है कि इसमें उड़िया लिपि का ही एक प्रकार का रूपान्तर होने की धारणा पैदा हो जाती है । किसी जमाने में उड़ीसा और तिब्बत के बीच घनिष्ट संपर्क होने के कारण, एवं उड़ीसा के प्रसिद्ध बौद्ध गुरु और सिद्ध-साधक तिब्बती धर्म-परम्परा में प्रतिष्ठा पाने के कारण प्रोटो-उड़िया और वार्त्तु-लिपि के बीच संपर्क स्थापित हुआ हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। इस सूत्र से भी उड़िया लिपि के ऐतिहासिक विकासक्रम पर यथेष्ट प्रकाश पड़ सकता है, जिससे कि यह प्रतिपादित हो सके कि Buhler's Proto-Bengali के साथ बंगला या उड़िया में किस लिपि का आन्तरिक संबंध कितना अधिक है ।

उड़िया–लिपि का आकृति–वैशिष्ट्य :

उड़िया-लिपि के अन्तर्गत सारे मौलिक अक्षर, संयुक्ताक्षर, मात्रा आदि आकृति तथा लेखनरीति के आधार पर निम्नलिखित ढंग से सजाये जा सकते हैं :—

(क) आकृति वैशिष्ट्य :

(१) **मुण्डली युक्त :** କ ଙ ଚ ଛ ଜ ଡ ଢ ତ ଦ ନ ବ ଲ ହ
क ङ च छ ज ड ढ त द न ब ल ह

1. Indian Antiquary Supplement, 1932.

(२) **पूँछ युक्त :** ଇ ଉ ଋ ଭ ର ଲ (इ उ ऋ भ र ल)

(३) **यष्टि युक्त :** ଅ ଆ ଖ ଗ ଘ ଣ ଥ ଧ ପ ଫ ମ ଯ ୟ ଶ ଷ ସ
अ आ ख ग घ ण थ ध प फ म य य श ष स

(४) **युक्त शीर्ष :** ଏ (ଐ) ଓ (ଔ) ଞ
ए (ऐ) ओ (औ) ञ

(५) **शिखा शीर्ष :** ଝ ଟ (झ ट)

(६) **वृत्ताकार :** ଠ (ठ)

(ख) लेखन वैशिष्ट्य :

(१) **उर्ध्व-मूलक :** ଅ ଆ ଥ ଧ (आ आ थ ध)—लिखाई का आरंभ उर्ध्व भाग से होता है।

(२) **निम्न मूलक:** ନ ଲ ମ ଲ ସ (न ल म ल स)

(३) **मध्य मूलक :** (ଇ ଈ ଋ କ ଖ ଗ ଘ ଚ ଛ ଜ ଝ ଟ ଠ ଦ ପ

बाम सूत्री : (इ ई ऋ क ख ग घ च छ ज झ ट ठ द प
ଫ ଯ ୟ ର ଶ ଷ ହ
फ व य य र श ष ह)

दक्षिण सूत्री : ଉ ଏ ଓ ଙ ଞ ଡ ଣ ତ ଭ
(उ ए ओ ङ ञ ड़ ण त भ)

(४) **एक रेखा—** ଅ ଥ ଧ ଗ ଶ ମ ଣ ଠ ଚ ଟ ର ଋ ଇ ଉ ଡ ଙ ଭ
(अ थ ध ग श म ण ठ च ट र ऋ इ उ ड़ ङ भ
ଏ ଓ
(ए ओ) कलम उठाए बिना शुरु से आखिर तक गति करते हैं।

(५) **द्विरेखा—** ଆ ଦ ବ ଜ ନ ଲ ଲ ତ ପ ଯ ଘ ସ ଝ ଞ ଛ ଡ଼
(आ द व ज न ल ल त प य घ स झ ञ छ ड़)

(६) **त्रिरेखा—** କ ହ ଫ ଷ ୟ ଢ଼ (क ह फ ष य ढ़)।

(ग) मात्रा-विन्यास-वैशिष्ट्य :

स्वरवर्णों से हुई मात्रा को 'कार' एवं व्यंजन वर्णों से हुई मात्रा को 'फला' कहा जाता है।

पूर्वन्यास— एकार (`) (େ – କେ –के)।

परन्यास—आकार (ा) (।–କା –का) ଯଫଳା ୍ୟ (य) କ୍ୟ (क्य)
ଈକାର ୀ (ी) କୀ (की) अनुसार • କଂ (कं) और
विसर्ग ଃ କଃ (क:)

उर्ध्वन्यास—ଇ-कार ି (ि) रेफ, चन्द्रबिंदु (କି, ର୍କ, କଁ) (कि, र्क, कँ)

निम्नन्यास—ଇ-कार (ि) केवल ଧ (ध) ଥ (थ) के लिये
ଉ-कार (ୁ), ଊ कार (ୂ), ଋ-फला (ୃ) हलन्त
କ, ଜ, ନ, ଳ, ଲ, ଡ, ଢ, ତ, ଥ, ବ, ଭ, ମ, ର,
(क, ज, न, ळ, ल, ड़, ढ़, त, थ, ब, भ, म, र)
फलाएँ।

ଧି, ଥି, (धि, थि), କୁ (कु), କୂ (कू), କୃ (कृ)
କ୍ (क्), କ୍କ (क्क), କ୍ଜ (क्ज) କ୍ନ (क्न) କ୍ଳ–କଳ
(क्ल) ଣ୍ଡ (ण्ड), ଣ୍ଢ (ण्ढ), ନ୍ତ (न्त), କ୍ତ (क्त) ନ୍ଥ (न्थ)
ମ୍ବ କ୍ବ (म्व क्व), ମ୍ଭ (म्भ), କ୍ମ (क्म), କ୍ର (क्र)।

पूर्वापरन्यास—ଐ, ଓ, ଔ-कार (ै, ो, ौ)
କୈ, କୋ, କୌ (कै, को, कौ)

विशेष द्रष्टव्य—वैकल्पिक रूप से यष्टिहीन अक्षरों के साथ ଆ-कार (ा) ଇ-कार (ि) एवं ଧ (ध) के साथ ଯ–फला (य) संश्लिष्ट होती है। जैसे ଲା, ଲି, ଧ୍ୟ (ला, लि, ध्य) परन्तु ଚ (च) के साथ ଆ-कार संश्लिष्ट होने पर ଗ (ग) की भाँति होगी. अतः एक आभूषण जोड़ दिया जाता है–ଚା–ଚା (चा)।

(घ) संयुक्ताक्षर वैशिष्ठ्य :

(१) अपने वर्ग के साथ नासिक व्यंजन संयोग—

ଙ+କ, ଖ, ଗ, ଘ (ଙ୍କ, ଙ୍ଖ, ଙ୍ଗ, ଙ୍ଘ,) (ङ+क, ख, ग, घ= ङ्क, ङ्ख, ङ्ग, ङ्घ) व्यंजनों के निम्नांश में एक पुड़ा होता है और अनुस्वार लगता है। ଘ पुड़ायुक्त होने के कारण पुड़ा नहीं लगता। यहाँ अनुस्वार ଙ का सूचक है। और पुड़ा साधारण अनुस्वार-सूचक-ध्वनि से स्वातंत्र्य का सूचक है।

ଞ+ଚ, ଛ, ଜ, ଝ, (ଞ୍ଚ, ଞ୍ଛ, ଞ୍ଜ, ଞ୍ଝ) (ञ+च, छ, ज, झ= ञ्च, ञ्छ, ञ्ज, ञ्झ) यहां ञ का आभूषण सर्वत्र लगने पर भी मूल अक्षर की सत्ता नहीं मिलती।

ଣ+ଟ, ଠ, ଡ, ଢ (ଣ୍ଟ, ଣ୍ଠ, ଣ୍ଡ, ଣ୍ଢ) (ण+ट, ठ, ड, ड़ ढ़= (ण्ट, ण्ठ, ण्ड़, ण्ढ) यहाँ संयोग सहज, सुगम और स्पष्ट है।

ନ+ତ, ଥ, ଦ, ଧ, (ନ୍ତ, ନ୍ଥ, ନ୍ଦ, ନ୍ଧ) न+त, थ, द, ध =न्त न्थ, न्द, न्ध) यहाँ प्रथम दो में संयोग स्पष्ट है। अन्तिम दो में संश्लेषण हो जाता है। ନ୍ଧ के गर्भ-रेखा ଧ की सूचक है।

ମ+ପ, ଫ, ବ, ଭ (ମ୍ପ, ମ୍ଫ, ମ୍ବ, ମ୍ଭ,
म्+प् फ, ब, भ=(म्प म्फ, म्ब, म्भ)
यहाँ प्रथम दो में संश्लेषण दिखाई देता है ମ୍ଫ में बिन्दु ଫ का सूचक है।

(२) **द्वित्व अक्षर**—साधारणतः अक्षरों के नीचे पुड़ा लगता है एवं केवल (त) ତ पूँछ युक्त होता है—
ଚ, ଛ, ଝ, ଟ, ଦ, ବ, ତ, > ଚ୍ଚ, ଚ୍ଛ, ଜ୍ଝ, ଟ୍ଟ ଦ୍ଦ, ବ୍ବ, ତ୍ତ
(च, छ, झ ट, द, व, त > च्च छ्छ, झ्झ, ट्ट, द्द, व्व, त्त)

(३) **निरानुनासिक व्यंजन संयोग**—पहले व्यंजन के साथ द्वितीय व्यंजन फला के रूप में या क्षुद्र रूप में निम्नन्यास होता है। जैसे—ସ୍କ, ସ୍ଖ (व्यतिक्रम ର୍କ, କ୍ତ) स्क, स्ख (व्यतिक्रम—र्क, क्त)—वाद में द्रष्टव्य।

(४) **अन्यान्य स्वतन्त्र संयुक्ताक्षर**—ବ+ଦ=ଦ୍ବ, ଦ+ଭ=ଦ୍ଭ, କ+ଷ=କ୍ଷ, ଜ+ଞ=ଜ୍ଞ (व+द=व्द, द+भ=द्भ, क+ष=क्ष, ज+ञ=ज्ञ) केवल मुद्रण में प्रचलित କ+ର=କ୍ର, ତ+ର=ତ୍ର (क+र=क्र, त+र=त्र)।

यहाँ एक बात ध्यान देने की है कि उड़िया-लिपि में कई अक्षर केवल विशेष आभूषण द्वारा अन्य अक्षरों से स्वतंत्र पहचाने जाते हैं। लिपि-शिक्षण में इसकी विशेष उपयोगिता है। उदाहरणतः—

सामान्य रूप:—ଥ, ଲ, ଉ, ଏ, ଓ, ଦ, ଡ, ଢ, ଚ, ପ ଯ ଲ ମ

आभूषणयुक्त रूप:—ଧ, ଳ, ଊ, ଐ, ଔ, ଧ, ଡ଼, ଢ଼, ଛ, ଫ ଷ ୟ, ଳ, ଷ

ଚ – ଛ,
ଟ, ଘ, ଗ, ଋ ଌ,
ଝ, ଞ,
ଓ – ଔ ଓଁ ଉ ଊ ଭ
ଦ – ଧ, ବ, କ
ଜ   ଯ, ୟ, ଷ
ପ – ଫ, ଷ,   ଘ

उड़िया-लिपि की ध्वनि-संबंधी विशेषताएं :

मौखिक ध्वनि का रैखिक रूप लिपि होता है। लिखित अक्षर उच्चारित ध्वनि के प्रतीक मात्र हैं। आदर्श लिपि का लक्ष्य, भाषा के मौलिक ध्वनिग्राम का यथार्थ रूपायन करना होता है। अतः भाषा के ध्वनि-तत्त्व के अनुसार उड़िया-लिपि की कल्पना हुई है। नीचे उड़िया लिपि की ध्वनि संबंधी कुछ विशेषताएँ दी गयी हैं—

१. उड़िया लिपि का विशेष महत्त्व इस बात में है कि इसमें ध्वनि के लिखित रूप और मौखिक रूप में अन्तर नहीं होता। एक निर्दिष्ट अक्षर हर स्थिति में उसी एक ध्वनि को प्रकट करेगा ही। उड़िया ध्वनि और अक्षरों के इस सुसंपर्क की व्याख्या करते हुए ग्रियसेन लिखते हैं[1]—'As a rule it is pronounced as is spelt. Each letter of each word is clearly sounded.' भाषा के लिखित रूप और कथित रूप में इस प्रकार की समता अन्यान्य भाषाओं में कदाचित ही दिखाई देती है। उड़िया में ଙ और ଭ के (ङ और भ) के अलावा सब अक्षरों के नाम और ध्वनि समान हैं। इन दो अक्षरों का एकक प्रयोग बिलकुल दिखाई नहीं देता। अतः इनकी निजस्व ध्वनि के रूप का पता नहीं चलता।

२. उड़िया में प्रत्येक व्यंजन वर्ण स्वभावतः स्वरान्त है। किसी परिस्थिति में स्वरहीनता दिखाने के लिए हलन्त चिह्न का प्रयोग आवश्यक है।

३. उड़िया में कुछ अक्षरों का स्वतंत्र ध्वनि-मूल्य नहीं है। किन्तु संस्कृत-जात शब्दों के यथार्थ उल्लेख के लिए इन्हें संरक्षित रखा गया है। ये अक्षर हैं— ଋ, ଯ, ବ, ଶ, ଷ, କ୍ଷ ଜ୍ଞ (ऋ, य, व, श, ष, क्ष, ज्ञ)। इनका ध्वनिमूल्य क्रमशः ରୁ, ଜ, ବ, ସ, ସ, ଖ୍ୟ, ଗଁ୍ୟ, (रु, ज, ब, स, स, ख्य, ग्यँ) हैं। किन्तु अर्द्ध व्यंजन ବ, ଯ (व, य) को प्रकट करने के लिये क्रमशः ବ-फलायुक्त ଓ (ଓ୍ୱ) और एक स्वतन्त्र चिह्न युक्त ଯ (ୟ) का व्यवहार होता है।

४. उड़िया के द्विस्वर अक्षर ଐ, ଔ, (ऐ, औ) का ध्वन्यात्मक रूप क्रमशः— ଅଇ (अइ) ଅଉ या ଓଉ (अउ या ओउ) हैं।

५. उड़िया 'च' वर्गीय और 'त' वर्गीय व्यंजन-समूह का उच्चारण क्रमशः घृष्ट और दन्तमूलीय होता है।

---

[1] L. S. I. vol. V, pt II.

६. ଡ, ଢ (ड, ढ) नासिक्य व्यंजनों के साथ संयुक्त न होने पर पदाद्य के अलावा अन्य परिस्थितियों में ଡ଼, ଢ଼, (ड़, ढ़) के रूप में उच्चारित होते हैं।

७. उड़िया में ନ–ଣ, ଲ–ଳ (न-ण, ल–ळ) अक्षरों में ध्वनि-भेद अर्थ-भेदक होता है। (जैसे— କଣା–କନା, ଗଲା–ଗଳା।) (कणा=छेद, एक आँख का अन्धा, काना, कना=कपड़ा, गळा=गला, गला=गया)।

८. उड़िया में अनुस्वार का एक स्वतंत्र ध्वनिमूल्य है। प्राचीन काल से अनुस्वार का ध्वनिमूल्य कई प्रकार से निर्द्धारित होता आया है। तैतरीय प्रतिशाख्य में उसका एक विवरण मिलता है —'अनुस्वारो व्यंजनं वा स्वरोपेति परमतं तन्निरासार्थम् इवं उच्यते। अनुस्वारोपि उत्तमवद् व्यंजनम् एवास्मच्छा-ख्यायायम् अर्थात् कार रूपत्वात्'। उड़िया में अनुस्वार वास्तव में एक व्यंजन-ध्वनि है। इसका अर्द्ध 'ଗ' कार रूप एवं ଙ के साथ समता श्रुतिगोचर होती है। (अजकल कुछ लेखक इसे सब प्रकार से नासिक्य व्यंजन के प्रतीक रूपमें प्रयोग करने का प्रयास करते हैं।)

९. साधारणतः रचना की संक्षिप्तता के लिये संयुक्ताक्षर की सृष्टि हुई है। पर उड़िया संयुक्ताक्षरों की कल्पना के मूल में उड़िया उच्चारण पद्धति की विशेषता विद्यमान है। उड़िया में द्विविध संयुक्ताक्षर होते हैं — १-समीभूत और २-निम्नउर्द्धक्रम से विन्यस्त संयुक्ताक्षर।

उड़िया में संयोगशील व्यंजन-ध्वनियों के संश्लेषण से एक प्रकार की समीभूत ध्वनि (Homorganic Phnological unit) प्रकट होने के कारण इन ध्वनियों को रूप देने के लिए अनुरूप समीभूत लिपि बनी हैं। मुख्यतः वर्गीय व्यंजन ध्वनियों के साथ नासिक्य ध्वनियों का संयोग प्रकट करने के लिये इस प्रकार के अक्षर प्रचलित हैं। इसके अलावा ଗ୍ଧ,, ଞ୍ଚ,, ଢ , ଡ୍ଢ एवं ଢ, आदि द्वित्व वर्ण इस पर्याय के अन्तर्गत हैं। इन संयुक्ताक्षरों को विश्लेषित या प्रसारित रूपमें उल्लेख करने पर उड़िया उच्चारण का यथार्थ रूपायन नहीं होता। उदाहरणतः शुद्ध उड़िया उच्चारण ଲଙ୍ଘା शब्द ଲଂ + ଘା या ଲ + ଙ + ଘା के रूपमें उल्लेख करने पर वास्तविक ध्वनि की अभिव्यक्ति व्याहत होगी,। क्यों कि उड़िया उच्चारण में ଙ+ଘ ध्वनि आनुक्रमिक रूपसे पूर्णतः उच्चारित न होकर द्रुत भाव से परस्पर सहित समीभूत हो जाती हैं। दूसरी ओर अनुस्वार देकर लिखने पर उभय वर्णों के बीच संहति नष्ट हो जाती है। अतः ଙ+ଘ ध्वनि की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए ଙ୍ଘ जैसे समीभूत अक्षर की परिकल्पना की गयी है।

द्वितीयतः ओड़िया में व्यंजन वर्ण एक अनुक्रम में रहकर परस्पर के साथ संयुक्त

होने पर इसमें पहला वर्ण प्रधान रूप लेता है और उत्तर वर्ण मात्रा के रूप में नीचे संयोजित होता है। (इस पद्धति में तीन व्यतिक्रम हैं—रेफ, ତ (त) और ଯ (य) फला जिनका उर्ध्व, निम्न और पार्श्वन्यास होता है।) इस पद्धति के मूल में उड़िया-भाषा की ध्वनि-तात्त्विक विशेषता छिपी है। उड़िया में प्रत्येक व्यंजन वर्ण स्वरान्त है; अर्थात् मुक्त सिलेबल। किन्तु उड़िया उच्चारण में पदान्तर्गत व्यंजन वर्ण के अनुक्रम के प्रति ध्यान देने पर पता चलता है कि प्रथम वर्ण पूर्ण उन्मोचित न होकर अर्धोच्चारित या द्रुततर व्यक्त होकर परवर्त्ती व्यंजन में विलीन हो जाता है। इस परिस्थिति में प्रथम वर्ण का ध्वनि वैशिष्टय व्यक्त करने के लिये उसके साथ हलन्त जोड़ा जाता है। पर इससे लिपि का द्रुत-लेखन और मित-संस्थान लक्ष्य व्याहत होता है, क्योंकि हलन्त लगाने के लिये बीच में बार-बार लेखनी का प्रवाह खण्डित होगा। पुनश्च, हलन्त् के प्रयोग से उड़िया संयुक्त ध्वनि के सिलेबिक व्यवच्छेद एवं स्वराघात-विन्यास-पद्धति में विशृंखला हो सकती है। उदाहरणतः—हलन्त सहयोग से 'କ୍ଲେଶ' और ଶୁକ୍ଲ (क्लेश और शुक्ल) शब्द का क्रमशः କ୍‌ଲେଶ और ଶୁକ୍‌ଲ के रूप में लिखने पर उड़िया ध्वनि के अनुसार इसका सिलेबिक व्यवच्छेद होगा କ୍‌ଲେ+ଶ ଶୁ+କ୍‌ଲ (କ୍+ଲେ+ଶ या ଶୁ+କ୍+ଲ नहीं); क्योंकि रुद्ध सिलेवल उड़िया में स्वभाव सिद्ध नहीं हैं। अतः ध्वनि के यथार्थ रूपायन, द्रुत-लेखन और मित-संस्थान के प्रति ध्यान देकर इस तरह के व्यंजन संयोग के वास्तविक रूपायन के लिये उड़िया में संयुक्त व्यंजनाक्षरों की कल्पना की गयी है।

उड़िया और देवनागरी :

उड़िया लिपि के ऐतिहासिक विकासक्रम की आलोचना के प्रसंग में उड़िया और देवनागरी के बीच ऐतिहासिक संपर्क पहले दिखाया जा चुका है। इस प्रसंग में दो बातें मिलती हैं। उड़िया-लिपि के रूप-गठन में देवनागरी-लिपि का प्रभाव और उड़िया-ध्वनि के रूपायन के लिये नागरी-लिपि का संस्कार। उड़िया और देवनागरी दोनों का विकास एक ही सूत्र से हुआ है। दोनों लिपियों में सिर्फ आकृतिगत साम्य ही नहीं ; वर्णमाला का क्रम, वर्गीकरण, ध्वनिमूल्य आदि के दृष्टिकोण से भी अनेक समताएँ मिलती हैं। अतः दोनों लिपियों के बीच सामान्य तातरम्य भी उल्लेखनीय है।

ध्वनिगत प्रभेद :

१. उड़िया और देवनागरी के निम्नलिखित अक्षरों में ध्वनि-मूल्यों का तारतम्य है—

अक्षर	देवनागरी	उड़िया
ଋ ऋ	रि	ଋ रु
ଐ ऐ	आय	ଅଇ अइ
ଔ औ	अओ	ଓଉ ओउ
ଣ ण	न (दन्त्य)	ଣ (मुर्द्धन्य) ण
ଳ ल	ल (वर्त्स्य)	ଳ (मुद्धन्य) ल
ଯ य	य (अर्थव्यंजन)	ଜ (तालव्य व्यंजन) ज
ୱ व	व (अर्ध व्यंजन)	ବ (ओष्ठच व्यंजन) ब
ଶ ଷ शष	श	ସ स
କ୍ଷ	क्स	ଖ୍ୟ ख्य
ଅନୁସ୍ୱାର अनुस्वार	ङ् न्	ଙ୍ ङ

२. उड़िया व्यंजनवर्ण सर्वथा स्वरान्त हैं, पर देवनागरी में हलन्त् के प्रयोग बिना स्वरहीनता प्रकट होती है।

३. अन्त्यस्त ଯ उड़िया में वर्गीय ଜ के रूप में उच्चारित होने के कारण उड़िया में उसी अर्धव्यंजन-ध्वनि को प्रकट करने के लिये एक स्वतन्त्र लिपि-चिह्न ୟ प्रचलित है।

आकृतिगत प्रभेद :

देवनागरी अक्षरों की दो आकृतिगत विशेषताएँ हैं—शिरोरेखा और यष्टि। उधर उड़िया अक्षरों में शिरोरेखा के बदले अर्द्धवृत्ताकार मुण्डली एवं कुछ अक्षरों में यष्टि दिखाई पड़ती है। मुण्डली के बदले शिरोरेखा देने पर अनेक उड़िया अक्षर देवनागरी में परिणत हो जाएँगे। उभय लिपियों में आकृतिगत सादृश्य दिखाने के लिये निम्न अक्षर तुलनीय हैं—

अ ଅ	ए ଏ	क କ	ग ଗ
घ ଘ	ङ ଙ	ज ଜ	ट ଟ

ड ଡ	थ ଥ	ध ଧ
न ନ	प ପ	व ବ
ल ଲ	ष ଷ	स ସ

देवनागरी और उड़िया के संयुक्ताक्षरों की परिकल्पना में मुख्यत: तीन भेद दिखाई देते हैं। प्रथमत: देवनागरी में संयोगकारी व्यंजन में पहला अंशत: और बाद का द्वितीय पूर्णत: पास-पास लिखे जाते हैं। किन्तु उड़िया में पहला पूर्णत: और द्वितीय फला के आकार में नीचे संयुक्त होता है। दूसरे, उड़िया में व्यंजनों में स्वतंत्र प्रतीक रूप में फला रूप प्रचलित है, जिसका मूल अक्षर से बिल्कुल संपर्क नहीं। इस तरह की फला देवनागरी में केवल रेफ और रफला हैं। पर उड़िया में इनकी संख्या बहुत हैं। तीसरे, मूल अक्षरों से फला या आंशिक रूप निर्माण में देवनागरी पद्धति में यष्टियुक्त अक्षरों में यष्टि अपसारण, तथा उड़िया-पद्धति में मुण्डली युक्त अक्षरों में मुण्डली लोप होती है।

आजकल भारत में एक राष्ट्रीय लिपि के प्रवर्तन के लिये व्यापक चेष्टा हो रही है। इसके लिये एक ओर रोमन-लिपि, दूसरी ओर देवनागरी-लिपि के बीच प्रतिद्वन्द्विता चल रही है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जो हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के समर्थक हैं, उनमें से कई रोमन-लिपि के समर्थक हैं। यद्यपि रोमन-लिपि का काफी महत्त्व है, पर भारतीय भाषा और ध्वनि के यथार्थ प्रकाश के लिये देवनागरी जैसी भारतीय लिपि ही अधिक उपयोगी है। इस प्रसंग में विद्वान विलियम जौन्स का मत स्मरणीय है—'Devnagri system which as it is more naturally arranged than any other, shall here be the standard of my particular observations on Asiatic letters. Our English alphabets and orthography are disgracefully and almost ridiculously imperfect.' देवनागरी एक स्वदेशी लिपि है। तथा हिन्दी, संस्कृत, मराठी की लिपि के रूप में एक वृहत्तर जन-समाज के निकट परिचित है। अनेक ध्वनि-तात्विक प्रतीक या मात्रा के प्रयोग के अलावा सब भारतीय भाषाओं का मौलिक ध्वनि-समूह व्यक्त करने में समर्थ है। भारतीय रीति से अक्षर-लिखन पद्धति में अभ्यस्त भारतीयों के लिये इस लिपि में लेखन क्षमता अर्जित करना सहज साध्य है।

फिर भी इस प्रसंग में स्मरणीय है कि उड़िया आदि अनेक भारतीय लिपियों में संबंधित भाषा के ध्वनि-तत्त्व के अनुसार कई लिपि-तात्त्विक वैशिष्टय दिखाई पड़ते हैं। एक सर्वभारतीय लिपि के रूप में देवनागरी प्रचलित होने पर उसमें विभिन्न भाषाओं की ध्वनि तात्त्विक विशेषताएँ प्रकट करने के लिये कुछ संस्कार जरूरी हैं। प्रथमत: प्रत्येक अक्षर का ध्वनि मूल्य स्थायी और सार्वजनीन होना चाहिए। दूसरे, उड़िया और देवनागरी वर्णमाला के बीच ध्वनिगत तारतम्य दूर करना होगा। तीसरे,

संयुक्ताक्षर यथासंभव उच्चारणानुसार संप्रसारित भाव से लिखे जाने चाहिए। इस क्षेत्र में उड़िया से संक्षिप्त और सहज लेख व्यंजन मात्राएँ ग्रहण की जा सकती हैं। १३वीं-१४वीं सदी में उड़िया भाषा के यथार्थ लेखन के लिये नागरी लिपि में जैसा संस्कार परिकल्पित हुआ था, अब सब भारतीय भाषाओं की अभिव्यक्ति के लिये वैसे एक ऐतिहासिक लिपि-संस्कार की आवश्यकता है। देवनागरी लिपि के समर्थक इस छोटे से सत्य को भुला नहीं देंगे।

परिशिष्ट :

निम्नलिखित उड़िया कथा को देवनागरी में यथार्थ भाव से प्रकट करने के लिये कैसी लेखन-पद्धति का प्रयोग जरूरी है, इसका एक उदाहरण यहाँ दिया गया है—

ବୈତରଣୀ ନଦୀ କୂଳରେ ଜଣେ ଋଷି ବାସ କରୁଥିଲେ । ସେ ବ୍ରାହ୍ମଣ ହୋଇ-ଥିଲେହେଁ ପ୍ରତ୍ୟହ ଯଜ୍ଞ ଉପଲକ୍ଷରେ ଗୋଟିଏ ମୃଗ ଭକ୍ଷଣ କରୁଥିଲେ । ତାଙ୍କର ବିଦ୍ୟାବୁଦ୍ଧି କିଛି ନଥିଲା ଏବଂ ସେ ଅନାର୍ଯ୍ୟପରି କାର୍ଯ୍ୟ କରୁଥିଲେ । ତାଙ୍କର ବିଶାଳକାୟ ଆକୃତି ପ୍ରାଣୀମାନଙ୍କ ମନରେ ଭୟ ସଞ୍ଚାର କରୁଥିଲା । ଶେଷରେ ଜଣେ ଯୁବକ ତାଙ୍କୁ ସେଠାରୁ ତଡ଼ିବା ପାଇଁ ଗୋଟିଏ କୌଶଳ କଲା । ତାହାର ଆଜ୍ଞାରେ ସମସ୍ତ ଯୁବକମାନେ ଯୁଦ୍ଧ ପାଇଁ ପ୍ରସ୍ତୁତ ହେଲେ ।

देवनागरी में उल्लेखन—

वइतरणी नदी कूलरे ससि वासै करुथिले। से ब्राह्मण होइथिले हें प्रत्यह जग्यँ उपलख्यरे गोटिए म्रुग भख्यण करुथिले। ताङ्कर विद्याबुद्धि किछि न थिला एवं से अनार्ज्ज परि कार्ज्ज करुथिले। ताङ्कर बिसालकाय आक्रुति प्राणी मानङ्क मनरे भय सञ्चार करुथिल। सेसरे जैणे जुबक ताङ्कु सेठारु तडिबा पाइँ गोटिए कउसल कला। ताहार आग्याँरे समस्त जुबक माने जुद्ध पाइँ प्रस्तुत हेले।

हिन्दी अनुवाद : वैतरणी नदी के किनारे एक ऋषि रहते थे। वे ब्राह्मण होने पर भी रोज यज्ञ के नाम पर एक मृग का भक्षण करते थे। उनमें विद्या-बुद्धि कुछ न थी एवं वे अनार्य की तरह कार्य करते थे। उनकी विशालकाय आकृति से प्राणियों के मन में भय-संचार होता था। अन्त में एक युवक ने उन्हें भगाने के लिये एक कौशल किया। उसकी आज्ञा पाकर सब युवक युद्ध के लिये प्रस्तुत हुए।

अनुवाद : डॉ० शंकरलाल पुरोहित

बी० पी० महापात्र

उड़िया और देवनागरी

मोहेन्जोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई में प्राप्त लिपियों को छोड़कर, जो अभी पढ़ी नहीं जा सकीं और विवादास्पद हैं, भारतवर्ष में सबसे पुरानी लिपि मौर्य या ब्राह्मी लिपि समझी जाती है। यह लिपि मुख्यत: अशोक के तीसरी शताब्दी ई० पूर्व के शिलालेखों में प्रयुक्त हुई है। विकास की कई अवस्थाओं, जैसे नागर, कुटिला या पल्लव शैली, से निकल कर ब्राह्मी-लिपि अन्त में देवनागरी, उड़िया, बंगाली, मैथिली, गुरुमुखी आदि उत्तर-भारतीय एवं दाक्षिणात्य की तामिल, तेलगू, कन्नड़ आदि लिपियों में विकसित हुई। यह उल्लेखनीय है कि उड़िया, बंगाली, असमी आदि उत्तर भारतीय लिपियाँ अपने विकास की प्रक्रिया में बहुत-कुछ देवनागरी के समान हैं, तथापि दक्षिण की लिपियों में कभी-कभी उनकी कुछ समानताएँ मिल जाना अपवाद नहीं है। इसमें लक्ष्य करने योग्य उदाहरण यौगिक प्रकार के हैं—'ए' और 'ओ' स्वरों के लिए मात्राएं प्रयुक्त होती हैं।

सौभाग्य से उड़िया-लिपि में शताब्दियों पुरानी ताड़पत्रों पर लिखित असंख्य पोथियों के अतिरिक्त लगभग ८० शिलालेख भी मिलते हैं, जिनमें सबसे पुराना उर्जम में प्राप्त शिलालेख १०५१ ई० का है। यह स्वाभाविक है कि स्वतन्त्ररूप से विकसित हुई इस लिपि में विगत एक हजार वर्ष में बहुत परिवर्तन हुए हैं। कदाचित् इसमें सबसे महत्त्वपूर्ण कारण लेखन सामग्री से सम्बन्धित है, जिसने इस लिपि को वर्तमान स्वरूप तक पहुँचाया—खास कर उसके गोलाकार स्वरूप तक। सम्भवत: ताड़पत्र पर धातु की नुकीली लेखनी

से लिखते समय सीधे आघातों को बचाने के लिए रेखाएँ क्रमशः कोमल होती गईं और अंत में वर्णों ने गोलाकार प्राप्त कर लिया। इस दृष्टि से उत्तर-भारतीय लिपियों में उड़िया की विशेषताएँ अलग ही व्यक्त होती हैं, जिनकी वजह से उसे तनिक अप्रसिद्धि भी मिली है। 'माडर्न आर्यन लैंग्वेज़ेस् ऑफ इन्डिया' के सुप्रसिद्ध उत्तेजित लेखक जॉन बीम्स ने उड़िया लिपि को "कुरूप, भद्दी और बहुत बोझिल पाया। उसके कुछ अक्षर तो एक-दूसरे से इतने मिलते हैं कि उन्हें कठिनाई से अलग-अलग कर पहचानना सम्भव होता है।" जो भी हो, इस कथन की सचाई में बिना विस्तार से जाये यह जानना उपयोगी होगा कि इस कठिन लिपि को उड़िया बालक किस प्रकार सीखते आये हैं। वास्तविक अक्षर-ज्ञान के पूर्व उड़िया बालक को वृत्त बनाने का अभ्यास करवाया जाता है। इसे परम्परा से 'ब्रह्मा', 'विष्णु' और 'महेश' कहा जाता है। ज्यों ही वृत्त बनाने में बालक का हाथ सध जाता है, तो उसके समक्ष यह आदर्श रखा जाता है कि अक्षर शुद्ध, अनुपातिक और वर्तुल होने चाहिए, जैसे—मछलियों के अंडे या मोती। अवश्य ही एक मोती से दूसरे मोती को अलग कर पहचानना कठिन होता ही है और फिर यह संदेह करना भी कहाँ तक उचित होगा कि उड़िया-जन इस विशिष्ट प्रतिभा को लेकर ही जन्म लेता है। वास्तव में बात यह है कि उड़िया अक्षर दो अंगों से जुड़कर बनते हैं। एक सज्जात्मक अंग होता है और दूसरा सुव्यक्त अंग। पहला अंग दूसरे अंग के लिए ढाँचे का काम करता है। इन अंगों के अतिरिक्त अधिकतर उड़िया अक्षर केवल चार प्रकार के ढाँचों पर आधारित होते हैं। दूसरे शब्दों में ये अक्षर सज्जात्मक अंग सम्बन्धी नीचे लिखे चार प्रकारों में से किसी एक के अन्तर्गत अवश्य आते हैं। प्रकार ये हैं :—

१. **शीर्ष अर्द्धवृत्त**—इसमें वर्णों के सुव्यक्त आकारों के ऊपर अर्द्धवृत्त खींचकर अ, ङ, च, छ, ज, झ, ट, ठ, ड, ढ, त, न, ब, और ह अक्षर बनते हैं।
२. **छड़युक्त शीर्ष अर्द्धवृत्त**—यह छड़ सुव्यक्त अकारों के सिर पर जोड़ी जाती है। इस प्रकार जो अक्षर बनते हैं, वे हैं—ख, ग, घ, ण, प, फ, म, ज्ञ/य, स, श, और प।
३. **पुच्छ-युक्त वृत्त**—यह पुच्छ अंश पृथक् आकृतियों के ऊपर जोड़ा जाता है। इसके जोड़ने से बनने वाले अक्षर हैं—इ, ई, उ, ऊ, ऋ, भ, र, और ल।
४. **छड़युक्त तलीय अर्द्धवृत्त**—यहाँ छड़ पर पृथक् आकृतियाँ खींची जाती हैं। इसमें जो अक्षर बनते हैं, वे हैं—अ, आ, थ, और ध।

इससे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि अन्य लिपियों से उड़िया वर्णों की समानता उस सज्जात्मक, वैशिष्टय के कारण होती है, जिसका प्रयोग अधिकांश वर्णों की बनावट में होता है। यही वैशिष्टय इन अंग-वर्णों के वर्तुलाकार का जनक है, क्योंकि उक्त चारों प्रकार मूलत: मामूली परिवर्तनों के साथ अर्द्धवृत्तात्मक हैं। अतएव उड़िया वर्णों की पहचान वस्तुत: दो दिशाओं में किया जाने वाला अभ्यास है, अर्थात्—सज्जात्मक और सुव्यक्तात्मक। जहाँ तक देवनागरी के सुव्यक्तात्मक वैशिष्टय का सम्बन्ध है, विश्लेषण करने पर उड़िया अक्षर देवनागरी अक्षरों से शायद भिन्न होंगे। जो भी हो, इन वर्णों का अन्तर्भूत सादृश्य बहुत आसानी से लुप्त हो जाता है, क्योंकि इनकी प्रभाव सज्जात्मक विशेषता के कारण उड़िया और देवनागरी का अत्यन्तिक भिन्न प्रभाव पड़ता है। मात्र इसी सज्जात्मक अंग के परिचालन द्वारा दोनों में—उड़िया से देवनागरी अथवा देवनागरी से उड़िया में—प्रयुक्त बहुतेरे अक्षरों के बीच तादात्म्य स्थापित किया जा सकता है।

उड़िया और देवनागरी लिपियों में दूसरी एवं तनिक निकटतम समानता, दोनों लिपियों द्वारा संस्कृत लेखन-पद्धति के अपनाये जाने में दिखायी पड़ती है। दोनों लिपियाँ अक्षरात्मक हैं। इनमें प्रत्येक वर्ण, यूनानी अनुवर्णिक पद्धति से भिन्न, अक्षर का द्योतक है। दोनों लिपियों में दो प्रकार के वर्णों—स्वरों और व्यञ्जनों तथा अक्षर-गुणों (अयोगवाह या छंद-शास्त्र) के लिए संकेत चिह्नों की व्यवस्था है। व्यञ्जन वर्ण स्थूल रूप से दो उपवर्गों में बँटे हैं—वर्ग्य अथवा क्रमिक अक्षर और अवर्ग्य अथवा वे अक्षर जो किसी क्रम में नहीं आते। वर्ग्य समुदाय में पाँच क्रमाक्षर—क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग और प वर्ग सम्मिलित हैं। इन पाँचों वर्गों का सम्बन्ध मुख के भीतर पाँच सम्पर्क क्षेत्रों—कंठय, तालव्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठय से है। किंचित् प्रयत्न से स्वर-तंत्री में कंपन की उपस्थिति या अनुपस्थिति, महाप्राणत्व के प्रयोग या अप्रयोग एवं अनुनासिकता या निरनुनासिकता द्वारा प्रत्येक सम्पर्क क्षेत्र से पाँच प्रकारों की भिन्न ध्वनियाँ पैदा होती हैं। ये ध्वनियाँ पूर्णत: पाँचों क्रमाक्षर वर्गों—क से ङ, च से ञ, ट से ण, त से न और प से म तक—को घोषित करती हैं। उदाहरणार्थ एक सम्पर्क स्थान से, जैसे ओष्ठ से स्वर-तंत्री के कम्पन द्वारा ब और उसके बिना प, महाप्राणत्व से फ और भ तथा अनुनासिकता से म वर्ण ध्वनित होते हैं। इसी प्रकार अवर्ग्य अक्षर र और ल, स, श, क्ष और ह, यह एवं व दूसरी तरह से ध्वनित होते हैं।

यही संस्कृत-पद्धति का कुछ सार है। चाहे यह पद्धति पूर्ण हो या न हो, अधिकतर भारतीय भाषाओं ने इसे पूरे विश्वास के साथ अपनाया है। वास्तव में, इस पंगु अभि-

ग्रहण ने भारतीय भाषाओं में न केवल सादृश्य होने का आत्मसंतोष पैदा किया, बल्कि इसने युक्तिसंगत परिवर्तन के प्रति अवरोधक का काम भी किया है। यह सच है कि संस्कृत लेखन-पद्धति भाषा के ध्वनि-सिद्धान्तों के अनुकूल है। मगर भाषा में परिवर्तन स्वाभाविक है और उसी तरह ध्वनियाँ भी बदलती हैं। दक्षिण भारतीय भाषाओं से इतर आधुनिक भारतीय भाषाएँ, संस्कृत-जन्मा होते हुए भी विशेषताओं, इतिहास और संरचना में अलग हैं। अतएव लेखन-पद्धति को प्राचीन या आदर्श बताने का प्रयत्न करने के बजाय इसी सचाई को प्रकट करना चाहिए। देवनागरी और उड़िया, सादृश्य लेखन-पद्धति से बद्ध होते हुए भी, केवल संस्कृत से ही नहीं, अपितु एक-दूसरे से भी कितनी भिन्न हैं, यह केवल दोनों लिपियों की तुलना और उनके मूल्यों या उच्चारण सम्बन्धी ध्वनि विषयक विशेषताओं द्वारा प्रकट किया जा सकता है। नीचे देवनागरी (संक्षिप्त--दे०), उड़िया (संक्षिप्त--उ०) और रोमन (संक्षिप्त--रो०) अक्षरों की ध्वनि-गुणों की दृष्टि से तुलनात्मक सूची प्रस्तुत है।

उ०	दे०	रो०	
ଅ	अ	a	देवनागरी और उड़िया दोनों में यह अक्षर पूर्ण स्वरूप में लिखा जाता है, अधिकतर जब कि शब्द का प्रारम्भ ही इसी से हो। दूसरे, जब कि व्यंजनाक्षर मात्रा रहित होता है तो उसमें स्वर लुप्त होता है अथवा रिक्त होता है। देवनागरी में, उड़िया के प्रतिकूल, पूर्ण शब्द में अ लुप्त हो जाता है। उदाहरण के रूप में 'घर' शब्द दोनों भाषाओं में एक ही तरह से लिखा जाता है, किन्तु देवनागरी में इसका उच्चारण करते समय अन्तर्निहित स्वर लुप्त हो जाता है जब कि उड़िया में 'घर्' नहीं 'घरऽ' ही उच्चारण किया जाता है। ध्वन्यात्मक रूप से देवनागरी में यह अक्षर मध्य, केन्द्रीय एवं सपाट स्वर है, जब कि उड़िया में मध्य, पृष्ठीय और वृत्तात्मक है।
ଆ	आ	ā	दोनों भाषाओं में इस अक्षर का मात्रा-रूप व्यंजनाक्षर के पीछे खड़ी पाई की शक्ल में लिखा जाता है। ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से इस अक्षर का साधारणतया यही गुणधर्म है। दोनों भाषाओं में यह मन्द्र, केन्द्रीय और सपाट स्वर है। हिन्दी में अ और आ के बीच इतना सादृश्य है कि आ

की पहचान अ के द्वारा ही होती है। दूसरे शब्दों में आ दीर्घ और अ ह्रस्व है। उड़िया में इस तरह का विवेचन समीचीन न होगा।

ଇ इ i देवनागरी में इस अक्षर का मात्रा-चिह्न व्यंजनाक्षर में छड़ में जुड़े हुक की तरह अंकित किया जाता है। उड़िया में इसके तीन रूप हैं—एक वह, जो ऊपर बताये गये चतुर्थ प्रकार के व्यंजनाक्षरों के नीचे आँका जाता है ; दूसरा वह, जो प्रथम एवं तृतीय प्रकार के व्यंजनाक्षरों में समाहित होता है और तीसरा वह जो अक्षरों के ऊपर चिह्नित किया जाता है। ध्वनिसिद्धान्त की दृष्टि से दोनों भाषाओं में यह अक्षर दीर्घ, अग्र और सपाट हैं।

ଈ ई ī दोनों भाषाओं में इस स्वर का मात्रा-चिह्न व्यंजनाक्षरों में हुक के रूप में अंकित होता है। मगर उड़िया में देवनागरी की भांति ई और इ की ध्वनियों में कोई भेद नहीं होता। देवनागरी में उच्चारण-भेद अवधि से होता है ; जैसे—मिलना (इसमें इ ह्रस्व है) और मील (इसमें दीर्घ स्वर ई है) यह है शब्दों के उच्चारण में ध्वनि की अवधि।

ଉ उ u दोनों भाषाओं में इस अक्षर की मात्रा अक्षरों के नीचे लगाई जाती है। उच्चारण की दृष्टि से भी इस अक्षर का दोनों में समान गुणधर्म है। दोनों में यह दीर्घ, पृष्ठीय, और वृत्तात्मक स्वर है।

ଊ ऊ ū इसकी मात्रा दोनों लिपियों में नीचे लगाई जाती है। ध्वनि की दृष्टि से यद्यपि हिन्दी में उ और ऊ में भेद है, यानी एक ह्रस्व है और दूसरा दीर्घ। मगर उड़िया में ऐसा कोई भेद नहीं है।

ଋ ऋ ṛ उड़िया और देवनागरी दोनों में इस अक्षर का मात्रा-चिह्न अक्षर के नीचे लगाया जाता है। किन्तु देवनागरी में ऋ का उच्चारण प्रायः रि और कभी-कभी पंडिताऊ ढंग से रा होता है, उड़िया की तरह रु नहीं होता, जो कि उसमें एक मात्र

			स्वीकृत उच्चारण है। इस रूप में उड़िया दाक्षिणात्य प्रवृत्ति का अनुकरण करती है।
ଏ	ए	e	उड़िया में इस अक्षर का मात्रा-रूप व्यंजनाक्षर के पूर्व अंकित होता है, जब कि देवनागरी में यह ऊपर लगाया जाता है। ध्वनिनियमों के अनुसार दोनों भाषाओं में यह अक्षर दीर्घ-मध्य, अग्र और सपाट स्वर है। मात्र हिन्दी में इसे दीर्घ उच्चारित करने की प्रवृत्ति है।
ଐ	ऐ	ai	देवनागरी में इसकी मात्रा व्यंजनाक्षर के ऊपर लगायी जाती है। उड़िया में इस चिह्न का उपयोग लुप्त हो गया है, मगर इसका कुछ अंश व्यंजनाक्षर के पहले और शेष ऊपर लगाया जाता है। ध्वनिनियमों के अनुसार यह अक्षर पूर्ण स्वर है — ह्रस्व, अग्र और सपाट ; जैसे—पैसा, है, आदि शब्दों में देखा जा सकता है। उड़िया में इस ध्वनि का मिश्रित गुण दो पराकाष्ठाएँ व्यक्त करता है, अ और इ, जिसमें इ की प्रवृत्ति अ-अक्षरीय य् में परिवर्तित होती प्रतीत होती है।
ଓ	ओ	o	जहाँ तक सम्भव है ऐ का मात्रा-चिह्न उड़िया में निरुपयोगी हो गया है, मगर उसका अंश व्यंजनाक्षर के पीछे चलता है और उसका शेष भाग उसका अनुकरण करता है। ध्वनि की दृष्टि से उड़िया और हिन्दी दोनों में इसके उच्चारण में कोई भेद है, तो वह विशेष ध्यान देने योग्य नहीं है। यह दीर्घ-मध्य, पृष्ठीय और वृत्ताकार स्वर है।
ଔ	औ	au	इसकी मात्रा भी उड़िया में अब प्रयुक्त नहीं होती। मगर देवनागरी में यह प्रचलित है। हिन्दी में इसका उच्चारण शुद्ध स्वर की तरह होता है, जैसे—और, कौन आदि शब्दों में लक्ष्य किया जाता है। उड़िया में प्रचलित उच्चारण में अ और उ की मिश्रित ध्वनि मिलती है। इसमें भी उ की ध्वनि प्रायः रोमन के अनाक्षरीय w में जाकर खो जाती है।

नीचे चर्चित विसर्ग, अनुस्वार और चन्द्र-बिन्दु, जिन्हें अयोगवाह कहते हैं, कभी

स्वतन्त्र प्रयुक्त नहीं होते ; सदैव अक्षर के साथ आते हैं। उड़िया और देवनागरी में इन्हें अक्षर माना जाता है।

ঃ : h — सिवाय संस्कृत से लिये गये शब्द जैसे दुःख, मूलतः आदि को छोड़कर यह चिह्न कदाचित ही प्रयुक्त होता है। पंडिताऊ भाषिक प्रवृत्ति में भी यह कम उच्चरित होता है। इस चिह्न का ध्वन्यात्मक गुणधर्म दोनों भाषाओं में निःशब्द संघर्षी-स्वरयंत्र-मुखी है।

• ं m — यह अनुनासिक चिह्न जिसे अनुस्वार कहा जाता है, छपाई की उन्नति के पूर्व तक अपनाये गये संस्कृत या तत्सम शब्दों में व्यवहृत होता था ; मगर अब यह चिह्न भारतीय भाषाओं में बहुत उपयोगी हो गया है। यह क्रमशः तीव्रगति से अनेक संयुक्ताक्षरों की जगह लेता जा रहा है। ध्वनि के नाते देवनागरी और उड़िया दोनों में यह चिह्न बहुगुण-धर्मी है। च-वर्गीय व्यंजनों में यह तालव्य-अनुनासिक, ट-वर्ग में मूर्धन्य, त-वर्ग में दन्त्य, प-वर्ग में और अन्यत्र द्वैओष्ठ्य, क-वर्ग तथा स या श इत्यादि में यह कंठ्य होता है। देवनागरी में यह अनुनासिक स्वरों के लिए प्रयुक्त होता है।

ँ ँ ~ — यह द्रष्टव्य है कि यह चिह्न, जिसे चंद्रबिन्दु कहते हैं, देवनागरी में अब बहुत ही कम प्रयुक्त होता है। व्यवहार में इसकी जगह अनुस्वार ने लेली है। चाँद, गाँधी जैसे शब्दों में चन्द्र-बिन्दु प्रयुक्त होना चाहिए, किन्तु अब अनुस्वार ही प्रयुक्त होता है। इसके विपरीत उड़िया में दोनों चिह्नों का भेद कायम है। अनुस्वार के सम्भावित अपवादों को छोड़कर चन्द्रबिन्दु का उपयोग सामान्य रूप से किया जाता है। इससे स्पष्ट है कि यह अनुनासिक स्वर के रूप में व्यवहृत होता है, अनुनासिक व्यंजन के रूप में नहीं। उदाहरणार्थ काअँळा (कोमल), जाआँळा (जुड़वा), आइँस (निरामिष भोजन-सामग्री), पाउंस (क्षार), पेंकाळी (शहनाई) आदि।

କ क ka — दोनों भाषाओं में यह वर्ण 'निर्घोष कंठ्य विराम' का सूचक है।

देवनागरी में, वस्तुतः, यह नीचे नुक्ते वाले अक्षर के रूप में प्रयुक्त होता है, जो स्पष्ट ही फ़ारसी-अरबी शब्दों में आवश्यक है। यह परिष्कृत अक्षर 'निर्घोष अलिजिह्वीय विराम' को व्यक्त करता है; जैसे—क़लम, क़ैदी इत्यादि शब्दों में मिलता है।

ଖ	ख	kha	यह देवनागरी और उड़िया दोनों में 'निर्घोष महाप्राण कंठ्य' अक्षर है। इसका परिष्कृत रूप जो देवनागरी में भी उपयोग में आता है, ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से 'निर्घोष कंठ्य संघर्षी' है; जैसे—ख़ातिर, ख़ुशी आदि शब्दों में हम पाते हैं।
ଗ	ग	ga	यह अक्षर उड़िया और देवनागरी दोनों भाषाओं में 'घोष कंठ्य विराम' है। इसका परिष्कृत रूप, जो देवनागरी में भी प्रयुक्त होता है, ध्वनि-विज्ञान की दृष्टि से 'घोष-कंठ्य संघर्षी' है; जैसे—ग़ुलाम, ग़रीब आदि शब्दों में देखा जाता है।
ଘ	घ	gha	यह अक्षर दोनों भाषाओं में 'घोष महाप्राण कंठ्य विराम' की भाँति उच्चरित होता है।
ଙ	ङ	ṅa	यह अक्षर उड़िया में ଙ और हिन्दी में ङ होता है। इसका बहुत कम उपयोग होता है, क्योंकि इसकी कंठ्य अनुनासिक ध्वनि, अनुस्वार जैसे चिह्न द्वारा प्रयुक्त हो जाती है।
ଚ	च	ca	इस अक्षर का उच्चारण 'निर्घोष तालव्य संघर्षी' है। यह उच्चारण दोनों भाषाओं में समान है।
ଛ	छ	cha	दोनों भाषाओं में इस अक्षर का उच्चारण 'निर्घोष महाप्राण तालव्य संघर्षी' है।
ଜ	ज	ja	उड़िया और देवनागरी दोनों में इस का उच्चारण 'घोष तालव्य संघर्षी' है। इसका परिष्कृत रूप, जो देवनागरी में भी उपलब्ध है, ध्वनिविज्ञान के अनुसार वर्त्स्य 'घोष संघर्षी' है; जैसे—हम ज़मीन, बाज़ार आदि शब्दों में प्रयुक्त इस अक्षर-रूप को देखते हैं।
ଝ	झ	jha	यह अक्षर ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से दोनों भाषाओं में 'घोष महाप्राण तालव्य संघर्षी' है।

ଞ	ञ	ña	उड़िया में यह अक्षर 'न्यँ' और हिन्दी में 'ञ' रूप में प्रयुक्त होता है। यह तालव्य अनुनासिक वर्ण सजातीय व्यंजनों के पूर्व ही सही रूप में उच्चारित होता है, जैसे—सञ्चय, अञ्जन आदि शब्दों में लक्ष्य किया जाता है। यह वैकल्पिक चिह्नों, में भी व्यक्त होता है। अतः इस अक्षर का बनाये रखना जरूरी हो गया है।
ଟ	ट	ṭa	दोनों भाषाओं में इस अक्षर की ध्वनि 'निर्घोष मूर्धन्य विराम' है।
ଠ	ठ	ṭha	दोनों भाषाओं में यह अक्षर 'निर्घोष महाप्राण मूर्धन्य विराम' होता है।
ଡ	ड	ḍa	दोनों भाषाओं में इस अक्षर द्वारा 'घोष मूर्धन्य विराम' ध्वनि का प्रतिनिधित्त्व होता है। इसके परिष्कृत रूप की हिन्दी और उड़िया में जो स्थिति है, उसे हम 'घोष मूर्धन्य उत्पेक्ष' कह सकते हैं।
ଢ	ढ	ḍha	इस अक्षर की दोनों ही भाषाओं में 'घोष महाप्राण मूर्धन्य विराम' ध्वनि है। इसके परिष्कृत रूप की ध्वनि 'घोष महाप्राण मूर्धन्य उत्पेक्ष' है।
ଣ	ण	ṇa	इस अक्षर का दोनों भाषाओं में समान गुणधर्म है, अर्थात्—'मूर्धन्य अनुनासिक'।
ତ	त	ta	दोनों भाषाओं में 'निर्घोष दन्त्य विराम' है।
ଥ	थ	tha	दोनों भाषाओं में इसकी स्थिति 'निर्घोष महाप्राण दन्त्य विराम' है।
ଦ	द	da	उड़िया और हिन्दी दोनों में यह 'घोष दन्त्य विराम' है।
ଧ	ध	dha	दोनों भाषाओं में यह 'घोष महाप्राण दन्त्य विराम' है।
ନ	न	na	दोनों में यह 'वर्त्स्य अनुनासिक' अक्षर है।
ପ	प	pa	दोनों भाषाओं में यह 'निर्घोष द्विओष्ठ्य विराम' अक्षर है।
ଫ	फ	pha	दोनों भाषाओं में 'निर्घोष महाप्राण द्विओष्ठ्य विराम' अक्षर। इसका परिष्कृत रूप, जिसका देवनागरी में भी उपयोग होता

			है, 'निर्घोष ओष्ठ्य-दन्त्य संघर्षी' अक्षर है ; जैसा कि हम फ़कीर, फ़ैशन आदि शब्दों में पाते हैं।
ବ	ब	ba	उड़िया और हिन्दी दोनों में 'घोष द्विओष्ठ्य विराम' अक्षर है।
ଭ	भ	bha	दोनों भाषाओं में 'घोष महाप्राण द्विओष्ठ्य विराम' अक्षर।
ମ	म	ma	दोनों भाषाओं में यह द्विओष्ठ्य अनुनासिक अक्षर।
ଯ	य	ya	यद्यपि देवनागरी में यह एक अक्षर है, मगर उड़िया में यह द्वै-अक्षर है। इसका एक रूप शब्द के प्रारम्भ में आता है, जिसका उच्चारण वर्ग्य ज है। दूसरा रूप जो शब्द के प्रारम्भ में कभी नही आता, मगर ध्वनि की दृष्टि से उच्चारण वही—हिन्दी की तरह जिह्वीय अर्द्धस्वर है।
ର	र	ra	दोनों में इसकी ध्वनि 'वत्स्यं स्रावित' है।
ଲ	ल	la	देवनागरी का यह अक्षर उड़िया के द्वैअक्षर के समान है। पहले उड़िया अक्षर के उच्चारण की ध्वनि का वही गुणधर्म है—'वत्स्यं पार्श्वीय उत्क्षेप'—जैसा हिन्दी में है। दूसरा उड़िया अक्षर वस्तुतः 'मूर्धन्य पार्श्वीय उत्क्षेप' है जिसका देवनागरी में अभाव है, मगर मराठी, पंजाबी, हरयाणवी आदि अन्य भारतीय भाषाओं में उपलब्ध है।
ବ	व	va	देवनागरी के इस अक्षर के समान उड़िया में कोई अक्षर नहीं है, क्योंकि इसका बहुत बाद प्रवर्तन हुआ। इसे अभी भी स्वीकार नहीं किया गया है। उड़िया भाषा में हिन्दी या संस्कृत का व सहज ही ब बन जाता है। उदाहरण के लिए हिन्दी शब्द 'वन' या 'वीर' उड़िया में 'बन' या बीर' लिखे जाते हैं। वस्तुतः ध्वनि की दृष्टि से देवनागरी का द्विओष्ठ्य अर्द्धस्वर उड़िया में स्वामी (स्वा), तत्व (त्व) जैसे शब्दों में प्रयुक्त होता है। ऐसे शब्दों में उड़िया की ध्वनि हिन्दी के अनुकूल पड़ती है, जिसे द्वितीय व्यंजनाक्षर ब या व फळा कहेंगे।
ଶ	श	śa	यद्यपि देवनागरी का यह अक्षर उड़िया लिपि में हमेशा प्रयुक्त

होता है, ध्वनि की दृष्टि से यह 'निर्घोष दन्त्य उष्म' है, हिन्दी का तालव्य है।

ଷ	ष	ṣa	ध्वनि की दृष्टि से देवनागरी का यह अक्षर हिन्दी में 'तालव्य उष्म' और उड़िया में 'दन्त्य उष्म' है।
ସ	स	sa	दोनों भाषाओं में यह 'वर्त्स्य उष्म' है।
ହ	ह	ha	दोनों भाषाओं में इस अक्षर की स्वरयंत्रमुखी संघर्षी ध्वनि है।

देवनागरी और उड़िया के उक्त मूल अक्षरों के अतिरिक्त इन भाषाओं में कई युक्ताक्षर और फळा हैं। इस दृष्टि से उड़िया में देवनागरी की अपेक्षा युक्ताक्षरों और फळा का प्रयोग अधिक होता है। वस्तुतः यह द्रष्टव्य है कि देवनागरी का उपयोग केवल हिन्दी के लिए ही नहीं होता; मराठी, सिन्धी, काश्मीरी और संस्कृत में भी यही लिपि व्यवहृत होती है।

इस लेख में हमने हिन्दी के विशुद्ध उच्चारण की दृष्टि से ही देवनागरी के सम्बन्ध में विचार किया है। किसी भी दो लिपियों के मध्य अंतर जानने के लिए उन दोनों के ध्वनि-नियमों का ज्ञान आवश्यक है। ध्वनि की सत्यता का प्रतिनिधित्व ही वास्तव में लिपि का गुण-धर्म है। उड़िया और हिन्दी के ध्वनि-रूप नीचे प्रस्तुत हैं—

	हिन्दी											
स्वर :	ह्रस्व			दीर्घ				उड़िया				
	इ	उ		ई	ऊ			इ	अ	उ		
	ए	ओ		ऐ	औ			ए	आ	ओ		
		अ		आ								
अनुनासिकता : ँ												
व्यंजन :	प	त	ट	च	क	।	प	त	ट	च	क	
	फ	थ	ठ	छ	ख	।	फ	थ	ठ	छ	ख	
	ब	द	ड	ज	ग	।	ब	द	ड	ज	ग	
	भ	ध	ढ	झ	घ	।	भ	ध	ढ	झ	घ	
	म	न	ण		ङ	।	म	न	ण		(ङ)	
			र			।		र				
			ल			।		ल ळ				
		स	श	ह		।	स			ह		
	व				य	।	व			य		

उड़िया और हिन्दी की ध्वनियों में प्रमुख भेद निम्न प्रकार हैं :

१. उड़िया में ह्रस्व और दीर्घ-स्वर का अभाव है। इसलिए कई हिन्दी शब्द, जैसे दिन, दीन, सुर, शूर इत्यादि उड़िया में एकही तरह से उच्चारित होते हैं ।

२. उड़िया में स और श के उच्चारण में भेद न होने के कारण अनेक हिन्दी शब्दों जैसे सेर, शेर, सीसा, शीशा, आदि के उच्चारण एक ही होते हैं ।

३. हिन्दी में ल और ळ के उच्चारण में अंतर न होने के कारण उड़िया के कई शब्दों,—जैसे काला, काळा, बेल, बेळा आदि, के उच्चारण एक से होते हैं ।

यह स्वाभाविक है कि देवनागरी और उड़िया दोनों लिपियों में भारी समानता होते हुए भी, कुछ अंतर अवश्य है। यह अंतर ध्वनि सम्बन्धी गुणधर्मों का है, जो कि दोनों भाषा-भाषी लोगों के उच्चारण पर निर्भर करता है—

प्रस्तुत लेख के सन्दर्भ-ग्रन्थ

बीम्स, जे० : 'ए कम्पेरेटिव्ह ग्रामर ऑफ़ दी मार्डन आर्यन लैंग्वेज़ेस ऑफ इन्डिया' ; मुन्शीराम मनोहरलाल ; दूसरा भारतीय संस्करण, १९७० ।

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय : 'देवनागरी थ्रू दी एजेस' ।

फेअरबेंक्स : जी० एच० और बी० जी० मिश्र, 'स्पोकन एण्ड रिटन हिन्दी' ; कार्नेल यूनिवर्सिटी प्रेस, १९६८ ।

मेहरोत्रा, आर० सी : 'हिन्दी ध्वनिक और ध्वनामी', मुंशीराम मनोहरलाल ।

पटनायक, डी० पी० : उड़िया, रजिस्ट्रार जनरल के 'लैंग्वेज सीरीज' में का लेख ।

श्रीवास्तव, एम० डी० : 'एलीमेन्ट्स ऑफ हिन्दी ग्रामर, मोतीलाल बनारसीदास, १९६९ ।

त्रिपाठी, के० बी० : 'दी एव्होलूशन ऑफ उड़िया लैंग्वेज एण्ड स्क्रिप्ट', उत्कल विश्वविद्यालय प्रेस, उड़ीसा, १९६२ ।

अनुवाद : श्याम परमार

अन्नदाशंकर राय

उड़ीसा में मेरा बचपन—कुछ संस्मरण

मुगलों ने जब उड़ीसा पर विजय प्राप्त की, तब उनको प्रशासन चलाने के लिये फारसी भाषा जानने वालों की आवश्यकता हुई। इसके साथ ही, मुगल राज्य-व्यवस्था के तौर-तरीकों का अनुभव भी आवश्यक था। मेरे एक पूर्वज, जो हुगली जिले के कोटरंग नामक स्थान के निवासी थे, राजा टोडरमल के अधीन, राजस्व अधिकारी नियुक्त किये गए। सेवा-मुक्त होते समय उन्होंने उड़ीसा को, जिसके साथ उनका इतना लंबा प्रशासनिक संबंध रहा था, अपना घर बनाना उचित समझा। सम्राट् जहाँगीर ने उनको एक तालुका बख्शीस में दिया, जिसका अधिकांश भाग अब बालासोर जिले में पड़ता है। इस जागीर की मालगुजारी उनके एवं उनके उत्तराधिकारियों के लिये माफ कर दी गई। इस प्रकार यह परिवार, "राय महाशय जमीदारों का परिवार" के नाम से विख्यात हुआ।

जब अंग्रेज भारत में आए, पुनः एक ऐसी ही स्थिति सामने आई। प्रशासन चलाने के लिये अंग्रेजी जानने वालों की आवश्यकता हुई। कानून का कुछ ज्ञान भी जरूरी था। इन हालात में, मेरे नाना का परिवार, बंगाल छोड़ कर उड़ीसा में आकर बस गया। कलकत्ता में नया क्या हो रहा है, इसकी जानकारी प्राप्त करने के लिये, उनके घर पर एक बार चले जाना पर्याप्त होता। मेरे नाना का परिवार, मेरे पूर्वजों के उड़ीसा में बसने आने के दो सौ वर्षों बाद, वहाँ बसने आया था। मेरे पिता ढेंकानाल

की एक छोटी रियासत में रहते थे। वहाँ वे हिज हाइनैस राजा साहब की सेवा में शासकीय अधिकारी थे। मेरे मामा का परिवार कटक में रहता था। इस समय तक हमारी बालासोर की जमीदारी इतनी बिखर गई थी कि उसका कम ही आर्थिक महत्त्व शेष रह गया था।

मेरे पूर्वजों ने—हालाँकि उन्होंने कभी अपने को बंगाली समाज और संस्कृति से विच्छिन्न नहीं किया—उड़ीसा एवं वहाँ की संस्कृति को अपना लिया था। न तो उन्होंने अपने स्वयं को ही एक बाहरी व्यक्ति माना और न ही उड़ीसा की जनता ही उन्हें अपने बीच अजनबी मानती थी। वे आपसी सद्भाव तथा मित्र-तुल्य अनौपचारिकता के वातावरण में एक दूसरे के साथ हिल-मिल कर रहते थे। भाषा की और कोई दीवार नहीं बन पाई थी। प्रत्येक बंगाली उड़िया बोलता था और प्रत्येक उड़िया बंगाली। यहाँ तक कि अशिक्षित उड़िया जन भी बंगाली कीर्त्तन करना जानते थे। उन दिनों एक संगीत प्रतियोगिता होती थी, जो 'बाड़ी पाला' के नाम से जानी जाती थी। उड़िया जन इसमें बंगाली गीत गाते। बंगाली समाज के सदस्य उड़िया'जात्राओं' में अभिनय करते और औपचारिक नाटकों में भी भाग लेते। उनके मन में उड़ीसा की भाषा तथा संस्कृति के प्रति भी उतना ही सम्मान और स्नेह होता, जितना बंगाली भाषा और साहित्य के प्रति। काशीरामदास की महाभारत तथा कृत्तिवास की रामायण उनके घरों में रखी होती। कविकंकण की 'चंडी' का पाठ होता और वैष्णव पदावलियों का गान किया जाता। उपेन्द्र भंज की रचना 'अभिमन्यु' तथा सामंत सिंह की छंद-युक्त कविताएं भी पढ़ी जातीं और उन पर चर्चाएँ होतीं।

यह संस्कृति और परंपरा थी उन बंगालियों की, जो मुगलकाल में उड़ीसा में आकर बस गए थे। अंग्रेजी कालखंड में आकर बसने वाले बंगालियों की परम्परा तथा सस्कृति अलग रही। उड़िया के प्राचीन साहित्य का उनके लिये कोई महत्त्व नही था। उसमें किसी विशेष रस-परम्परा अथवा भाव-पूर्ण अभिव्यक्ति का परिचय नही मिलता। उड़ीसा का प्राचीन साहित्य अपने साथ वहाँ की श्रेष्ठ मूर्त्तिकला तथा स्थापत्य का प्रभाव लिये है। यही कारण है कि उड़ीसा की जनता को उस पर इतना गर्व है। फिर भी, कोणार्क को दोबारा नहीं बनाया जा सकता और न ही सिर्फ चाहने भर से वह साहित्य लिखा जा सकता है जो इन कलाकृतियों के परवर्त्तीकाल में लिखा गया। कई प्रकार के छंदों का योग्यता और मौलिकता के साथ प्रयोग कर पाना ही पर्याप्त नहीं है। मधुसूदन राव, फकीरमोहन सेनापति तथा उन जैसे अन्य महानुभावों ने यह सर्वप्रथम अनुभव किया कि पुराने छंदों के दिन सदा के लिये लद गए हैं और

उनको पुनर्जीवित करने का कोई भी प्रयास सफल नहीं हो सकेगा। बुद्धिमानी इसी में थी कि उड़िया साहित्य को जैसाकि बंगाली में हुआ था, नई कविता और नये गद्य से समृद्ध किया जाय। यह संभव था कि शुरू शुरू में भावना की अनिर्बन्ध अभिव्यक्ति के बजाय उपदेशपरक कविता लिखी जाती, लेकिन इसके सिवा और कोई चारा नहीं था। यही एक राह थी।

मैं जब बच्चा था, मुझे एक 'अबधान' द्वारा संचालित प्राथमिक शाला में भर्ती किया गया। संभवतः वहाँ पहली बार मैंने, उड़िया के सर्वाधिक प्राचीन छंद 'केसव कोइलि' को, सस्वर गाना सीखा। बाद में जब हम लोग उच्चतर माध्यमिक विद्यालय में पढ़ने आए तब वहाँ हमको जो उड़िया कविता पढ़ाई जाती थी, वह अगेय होती थी और उसका कभी हम सस्वर पाठ नहीं करते थे, हालाँकि हमको भिन्न-भिन्न छंदों तथा उनकी लयों की शिक्षा दी गई थी। मैंने शायद ही कभी गाया हो। वह युग लय-युक्त, संगीतमय कविता का काल था तथा मैंने इस प्रकार के कई कवि सम्मेलन सुने। यह प्रथा तो अब हमारे समय में बन्द हुई है।

हमारा परिवार साहित्य से परिचित ही नहीं, उसका प्रेमी भी था। बंगाली और उड़िया के साथ, संस्कृत तथा अंग्रेजी की शिक्षा भी दी जाती। मेरी माँ सांध्य प्रार्थना के समय, जयदेव-रचित 'गीत गोविन्द' का सस्वर पाठ करतीं। बंगाली भाषा से मेरा परिचय स्कूल में नहीं, बल्कि घर पर ही हुआ। मेरे पिता 'वसुमति' साप्ताहिक के ग्राहक थे और प्रति वर्ष वसंतोत्सव के अवसर पर कम दामों पर पुस्तकों की खरीद करते थे। अन्यान्य लेखकों की सम्पूर्ण कृतियों से, जो 'वसुमति' के विशेष संस्करणों में प्रकाशित होतीं, हमारा घर भरा हुआ था। कई अन्य अलग-अलग विषयों की पुस्तकें और अंग्रेजी, उड़िया तथा बंगाली की पुस्तकें भी घर में काफी रहतीं। इन पुस्तकों में कुछ थीं—फ्रांस और प्रशिया के युद्ध का इतिहास, नेपोलियन बोनापार्ट की जीवन-कथा, बड़ोगार दफ्तर, देशेर कथा, गृहोपयोगी विश्वकोष आदि। मेरे पिता एक अंग्रेजी पाक्षिक 'दी बंगाली' के ग्राहक बन गए। मुझसे अक्सर वे 'दी बंगाली' पढ़ कर उन्हें सुनाने के लिये कहते। उन दिनों कितनी कम अंग्रेजी मुझे आती थी। जब मैं यह समझ नहीं पाता कि मैंने क्या पढ़ा, तब पिताजी मुझे शब्दकोष की शरण भेज देते। धीरे-धीरे शब्दकोष के प्रति मेरी आरंभिक हिचकिचाहट दूर हो गई और फिर मुझमें शब्दकोष के प्रति रुचि का विकास हुआ। इस प्रकार, स्कूल में कम, घर पर अधिक, अपने ही प्रयत्नों से, मैंने अधिक अंग्रेजी सीखी।

हमारी शाला के पुस्तकालय में अंग्रेजी, बंगला एवं उड़िया की चुनी हुई पुस्तकें

थीं। ढेंकानाल से छोटे स्थान के लिये, जो उड़ीसा की पहाड़ियों में स्थित, सब तरफ से अलग पड़ा मुकाम था, अपने पुस्तकालय का यह वैभव एक अप्रत्याशित वरदान था। इस पुस्तकालय में टैगोर की पुस्तकें, उनको नोबल पुरस्कार दिये जाने के पूर्व से ही विद्यमान थीं। लेकिन जब मैं टैगोर साहित्य के संपर्क में आया, तब उन्हें नोबल पुरस्कार मिल चुका था। प्रधान शिक्षक और उपप्रधान शिक्षक जहाँ दोनों ही बंगाली थे, वहाँ प्रधान शिक्षक वेदांती थे और उपप्रधान शिक्षक उदार दृष्टि-संपन्न सज्जन थे। इनमें से एक महानुभाव ने मुझे बंगाली की ओर झुकाया तथा दूसरे ने अंग्रेजी की ओर। किन्हीं कारणों से एक दिन प्रधान शिक्षक ने मुझे पुस्तकालय के पत्र-पत्रिका विभाग का नियन्त्रण सौंप दिया। यह ज्ञान उन्हें भला किस प्रकार हो पाया कि मुझे पाठ्य पुस्तकों से भी कहीं ज्यादा आनन्द पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ने में प्राप्त होता है। बंगाली की अधिकांश प्रसिद्ध पत्रिकाएं वहाँ आती रहतीं, लेकिन जल्दी ही 'सबुज पत्र' मेरा प्रिय पठन हो गया। उस समय मेरी आयु बारह वर्ष की थी और शीघ्र ही उसका स्वर, उसकी नीति तथा उसके मन्तव्य मेरे अपने हो गए।

दो वर्ष पूर्व जब कि मैं दस वर्ष का था, बंकिमचंद्र की पुस्तकें मैंने पहली बार पढ़ीं। मैं शरत्चन्द्र के आरंभिक प्रशंसकों में एक था। हमारे कई पड़ोसियों के पास बंगाली भाषा की पुस्तकों का अच्छा संकलन था। उनमें से एक थे श्री द्विजेन्द्रनाथ बसु। वे ब्रह्म समाजी थे। उनके घर पर, उनके निजी पुस्तकालय में बैठ कर, मैं घंटों पुस्तकें पढ़ा करता। इस प्रकार बंगाली साहित्य से मेरा परिचय धीरे-धीरे बढ़ता गया। उड़िया-साहित्य के ज्ञान से मेरा बंगाली साहित्य का ज्ञान अधिक विशद था। उस समय उड़िया-साहित्य के बारे में यह सामान्य धारणा थी कि वह प्राचीन-युग की महान् कलाकृतियों और सामयिक पाठ्य-पुस्तकों तक ही सीमित है। दूसरी तरह की अन्य पुस्तकें कम ही उपलब्ध थीं। यदि ऐसी कोई पुस्तक उपलब्ध होती तो उसे मैं अवश्य पढ़ गया होता। हमारे शालेय पुस्तकालय में, पाठ्यक्रम की पुस्तकों के अतिरिक्त, सामान्य रुचि की अनेक पुस्तकें थीं, जो न तो प्राचीन युग की कोई क्लासिक कृति ही होती, न पाठ्यक्रम के लिये स्वीकृत और न किसी कक्षा के लिये नियत। सामान्य रुचि की इन्हीं पुस्तकों को पढ़ते हुए, जो कि विविध विषयों पर लिखी होतीं, मुझे सर्वाधिक प्रसन्नता होती। मैंने स्कॉट और डिकेंस को पढ़ा, इतिहास की पुस्तकें पढ़ीं, यात्रा और साहस की कहानियों का अध्ययन किया। पत्रिकाओं में एक इंग्लैंड की पत्रिका रहती 'माई मैगजीन'।

लगभग एक वर्ष तक स्वयं मैंने एक पत्रिका का सर्वांग सम्पादन किया। उड़िया में उसका नाम 'प्रभा' था। उसकी अधिकांश सामग्री मेरे द्वारा ही लिखित होती। लेख, कविताएँ, कहानियाँ एवं निबन्ध। संपादकीय लेखों का स्वर बड़ा ही गंभीर होता। मैंने नाटक लिखे और मित्रों की सहायता से उनको अभिनीत करवाया। ये नाट्य-आयोजन राजा साहब के महल में होते। मैं इनमें उपस्थित रहता। मेरे पिता, जो गंभीर वृत्ति के संजीदा व्यक्ति थे, किसी अनोखे संयोग से ही, इन नाट्य-आयोजनों के प्रबंधक थे। उनको यह काम, अपने शासकीय काम के अतिरिक्त, दिया गया था। मेरे कुछ मित्रों ने इस मंच पर अपना अभिनय प्रस्तुत किया, लेकिन मुझे ऐसा अवसर कभी नहीं मिला। एक दिन, आखिरकार, अपने स्वाभिमान को एक तरफ रख कर, मैंने पिताजी के सामने यह मनोकामना व्यक्त कर दी। उन्होंने उसे हँसी में उड़ा दिया। इस कारण, कोई अन्य उपाय न देख, मैं अपने घर पर ही अभियय करने को विवश हो गया। यह एक दिन उनकी नाराज़ी का कारण बन गया। यहीं मेरे नाट्य-प्रयोगों का अंत हो गया।

मेरे सबसे छोटे चाचा 'उत्कल साहित्य पत्रिका' मंगाते। वे उसमें लिखा भी करते। उनके द्वारा मैंने पुरानी पत्र-पत्रिकाओं का एक सेट प्राप्त कर लिया। 'उत्कल साहित्य' एक ऊँचे स्तर की पत्रिका थी, जिसके पृष्ठों पर आधुनिक उड़िया साहित्य विकसित हुआ। उसके संपादक श्री विश्वनाथ कर ब्रह्म समाज तथा उड़िया साहित्य की एक विभूति थे। उड़ीसा में उनका वही स्थान था जो बंगाल में रामानंद चटर्जी को प्राप्त था। दोनों ही ऐसे संपादक थे, जिन्होंने साहित्य का स्तर ऊँचा करने में अथक परिश्रम किया। इतना ही नहीं, दोनों ही महानुभावों ने अपने प्रिय जीवनादर्शों के लिये नुकसान भी उठाया। अपने जीवन में, बाद में, मैं इन महान् विभूतियों के संपर्क में आया। लेखक बनने में इन महानुभावों का मुझे उदार सहयोग प्राप्त हुआ।

मेरी ऐसी कामना थी कि मेरी रचनाएँ विश्वनाथ कर के 'उत्कल साहित्य' तथा रामानंद चटर्जी के 'प्रबासी' में प्रकाशित हों। जब मैं सोलह वर्ष का था, तब टाल-स्टॉय की एक कहानी का मेरे द्वारा किया हुआ बंगाली अनुवाद 'प्रबासी' में छपा था। इस समय तक मेरी कई उड़िया रचनाएँ 'सहकार' में—जिसका संपादन मेरे चाचा के मित्र लक्ष्मीनारायण साहू करते थे—प्रकाशित हो चुकी थीं। मेरा अंग्रेजी लेखन कॉलेज पत्रिका में छपता। मैं एक साथ तीनों भाषाओं में लेखन कार्य करता। बाद में वे रचनाएँ पटना-कॉलेज पत्रिका में प्रकाशित होतीं। मेरी रचनाएँ 'भारती' और 'प्रबासी' दोनों में छपतीं। मेरे एक लेख ने, जो उन्नीस-बीस वर्ष की अवस्था में

मैंने सामाजिक समस्याओं पर लिखा था, अमिय चक्रवर्त्ती की मां को काफी उत्तेजित कर दिया, तथा उन्होंने अपने नाम अनिन्दिता देवी के स्थान पर 'बंगनारी' उपनाम का प्रयोग करते हुए, असहमति में एक लम्बा विरोध पत्र भी लिखा था।

पुरी में अपने चाचा के साथ रहते हुए, वहां के जिला स्कूल में मैंने कुछ दिन अध्ययन किया। वहां सौभाग्य से मुझे कालिन्दीचरण पाणिग्रही का परिचय प्राप्त हुआ। वे मेरे सहपाठी थे। यहां हम आजीवन-मित्र बन गए। तब वे यह नहीं जानते थे कि मैं एक उदीयमान लेखक था। और न मैं ही उनके इस रूप से परिचित था। हम दोनों का स्वभाव कुछ ऐसा था, जो समान था, और इसीलिये हम एक-दूसरे की ओर आकर्षित हुए थे। समुद्र तट पर दूर तक घूमते हुए हमारा जी झूम उठता। वे इस समय गाते भी, और एक गीत के बोल तथा उसकी धुन मुझे अब तक याद है। वह गीत उनका अपना बनाया नहीं था। उसके रचयिता भिखारीचरण पट्टनायक थे। उड़िया साहित्य में बाद को जो 'सबुज युग' कहलाया, उसका बीजारोपण, पुरी में बिताए अपने विद्यार्थी काल की इन्हीं साहित्यिक चर्चाओं में हुआ था। तब हमें आगे की घटनाओं का कोई आभास नहीं था। साहित्य का अध्ययन मैं अवश्य कर रहा था, लेकिन मेरी प्रथम महत्वाकांक्षा, जिसके बारे में मैं सोचता, सपने देखता, वह यह थी कि मैं खूब लेखन कार्य करूँ और फिर देशाटन पर निकल जाऊँ। मैंने पत्रकारिता के क्षेत्र में राह बनाने की योजना बनाई। वह देश जहां मेरी दृष्टि टिक गई थी—अमेरिका था।

मैंने भारत के तमाम ख्याति-प्राप्त समाचार-पत्र इकट्ठे किये और उनका अध्ययन आरंभ किया, ताकि इस बहाने शायद अंग्रेजी भी सुधर जाय। मैंने महसूस किया कि मैं भी संपादकीय लेख लिख सकता हूँ। मैट्रिक की परीक्षा के अंतिम दिन मैंने अपनी पाठ्य-पुस्तकों को नमस्कार किया और 'मॉडर्न रिव्यू' साथ में ले लिया। असहयोग आन्दोलन की तैयारियाँ चल रही थीं। मैंने विचार किया कि परीक्षा पास करने से क्या लाभ, यदि मुझे उच्च शिक्षा के लिये किसी ऐसी फैक्टरी में जाना पड़े, जहाँ अंग्रेजों के लिये क्लर्क बनाये जाते हों? मैं अमेरिका जा रहा था। वहाँ मुझे कौन पूछने जा रहा था कि तुमने परीक्षा पास की है या नहीं? और यदि मेरी अंग्रेजी अच्छी हुई तो मुझसे कौन कहेगा कि डिग्री दिखाओ? मैंने अपने माता-पिता की इच्छा की परवाह नहीं की, और परीक्षा में बैठा। तत्पश्चात् मैं कलकत्ता के लिये निकल पड़ा। उस शहर में पत्रकारिता का कुछ अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद मैं अमेरिका भाग जाना चाहता था। लेकिन ईश्वर की इच्छा कुछ और ही थी। 'वसुमति'

के संपादक हेमेन्द्रप्रसाद घोष ने मुझे टकन कला और शीघ्र लेखन सीख लेने की सलाह दी। अब मेरी ऐसी मान्यता है कि किसी महत्वाकांक्षी युवा पत्रकार के लिये ये दोनों ही योग्यताएं आवश्यक हैं। लेकिन तब उन्हें मैंने गलत समझा। क्यों? क्या मुझे बंगाली लिखनी नहीं आती थी? 'दी सर्वेन्ट' के संपादक श्यामसुन्दर चक्रवर्ती ने मुझे पढ़ने तथा सुधारने के लिये गैलीप्रूफ दिये। मैं अब अनुभव करता हूँ कि प्रत्येक संपादक इस योग्य होना चाहिये कि वह गैलीप्रूफ पढ़ तथा सुधार सके। उस समय मुझे इस कार्य पर झुँझलाहट हुई थी। क्यों? क्या मुझे अंग्रेजी लिखनी नहीं आती थी? आखिरकार मेरी आशा, निराशा में बदल गई और मैं बीमार पड़ गया। अव्यवस्थित-सा असमय भोजन, और पैसे के अभाव-वश उपवास मुझे सहन नहीं हुआ। मेरे सब से छोटे चाचा ने जब मुझे लिखा कि मैं उड़ीसा वापस लौट आऊँ तो मैं खुशी-खुशी उनके पास कटक चला गया और वहाँ के रेवेन्शा महाविद्यालय में मैंने प्रवेश ले लिया। इस समय तक मैट्रिक की परीक्षा का परिणाम घोषित हो चुका था। मैं पास ही नहीं हुआ अपितु मुझे एक छोटी छात्रवृत्ति भी दी गई।

कटक में, मेरे पुराने सहपाठी कालिन्दीचरण पाणिग्रही भी मेरे साथ आ मिले। ढेंकानाल के एक दूसरे सहपाठी बैकुंठनाथ पट्टनायक भी हमारे बीच आ गए। हम सब एक साथ ही कॉलेज में भर्ती हुए। शरत्चन्द्र मुकर्जी और हरिहर महापात्र भी हमारे कक्षा-मित्र बन गए। हम पाँच मित्रों ने एक क्लब बनाया, जिसका नाम "नॉनसेन्स क्लब" रखा गया। इसी बीच हमने सोचा कि क्यों न हम अपनी एक हस्तलिखित पत्रिका भी निकालें। हममें से कुछ अंग्रेजी में लिखते, कुछ उड़िया में, कुछ बंगाली में। मैं तीनों भाषाओं में लिखता। लेकिन हमारी रचनाओं को पढ़ता कौन? जब तक वे पढ़ी नहीं जातीं, हमको यह कैसे विदित हो सकता था कि वे किस सीमा तक अच्छी अथवा बुरी थीं। हमारे पास अपनी पत्रिका को छपाने के लिए पैसे भी नहीं थे। इसलिये मैंने अपनी रचनाओं को अन्यत्र भेजना उचित समझा। अपने कॉलेज की पत्रिका में मेरी रचनाओं का अच्छा स्वागत हुआ। 'सहकार' और 'उत्कल साहित्य' में मेरी उड़िया रचनाएँ छपीं एवं बाद में बंगाली रचनाओं को 'भारती' ने प्रकाशित किया। इंटर की परीक्षा में मुझे अपेक्षा से अधिक अंक प्राप्त हुए और मैं पटना कॉलेज में प्रवेश प्राप्त कर सका। वहाँ से मैं अपने लेखादि, डाक द्वारा, कटक और कलकत्ता भेजा करता। हमारी हस्तलिखित पत्रिका बन्द हो गई थी। 'नॉनसेन्स क्लब' बिखर चुका था। मेरे साथ शरत्चन्द्र मुकर्जी भी पटना आ गए थे। क्लब के शेष तीन सदस्य कटक में ही रहे। उन्होंने लिखना जारी रखा। उनकी

तथा मेरी रचनाएँ, एक ही सी पत्रिकाओं में, साथ-साथ छपतीं। तब हमें इस बात का कोई अहसास नहीं था कि हम लोग एक ऐसे दल के सदस्य हैं, जो कालांतर में 'सबुज दल' के नाम से जाना जायगा। मैं नहीं कह सकता कि कब और कैसे यह नाम हमें दिया गया। उड़िया भाषा में सबुज शब्द नया था। इसका प्रयोग हमारे द्वारा हुआ था। कई पुराने लेखकों की, हमारी इस नयी खोज पर, भवें तन पड़ीं। हमारे लेखन में एक प्रकार की नवीनता थी। जीवन तथा साहित्य के प्रति हमारे दृष्टिकोण में भी एक ताज़गी और नयापन था, बिल्कुल सबुज-पत्र के समान। हमने उसे अपने मन की पूरी हार्दिकता के साथ स्वीकार किया था जिस प्रकार कि हम अपने जातीय और राष्ट्रीय उत्तराधिकार को अपनाते हैं। हम लोगों को अपने देश से भी बढ़कर, अपनी शताब्दी की चिंताएँ सतातीं। सबुज-दल, सबुज साहित्य समिति के रूप में विकसित हुआ, जिसने बाद में अपनी पत्रिका 'युगवीणा' निकाली। हरिहर महापात्र इस पत्रिका के संपादक बने। समिति का कामकाज शरत्चन्द्र मुकर्जी देखते।

इन्हीं परिस्थितियों में मैंने उड़िया और अंग्रेजी में लिखना बन्द कर दिया और अपना पूरा समय बंगाली भाषा के सृजन को देने लगा। मुझे यह अनुभव हुआ कि त्रिभाषा का त्रिशंकु थामना संभव नहीं। यदि मुझे साहित्य में कुछ शाश्वत लेखन करना था तो किसी एक तरफ ध्यान की एकाग्रता बहुत जरूरी थी। उधर मुझे समय भी अधिक देना होगा। मैं अपनी उन रचनाओं से संतुष्ट नहीं था, जो समसामयिक विषयों पर लिखी गई थी एवं जिनका प्रकाशन तत्कालीन भिन्न-भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में हो चुका था। मैंने विचार किया कि मुझको पुस्तकें लिखनी होंगी। निरा पत्रकार बनने की महत्वाकांक्षा मेरी कभी नहीं रही। मैं एक लेखक और साहित्यकार बनना चाहता था। अमेरिका का स्वप्न टूट चुका था। मेरे मस्तिष्क में यूरोप डोल रहा था। मैंने सिविल सर्विस परीक्षा की तैयारी करनी प्रारम्भ कर दी। एक दिन यकायक ही मुझे यह परिज्ञान हुआ कि यदि मुझे सचमुच कुछ शाश्वत साहित्य का सृजन करना है तो मुझे अपने सभी प्रयत्नों को किसी एक भाषा तक सीमित कर देना होगा। यह भाषा न तो उड़िया हो सकती थी, न अंग्रेजी। वह होनी थी बंगाली।

मेरी उड़िया कविताएँ 'उत्कल साहित्य' के प्रथम पृष्ठ पर पूरे सम्मान के साथ प्रकाशित होतीं। मेरे लेख और निबन्ध, मेरे अपने नाम से, अथवा कई बार उपनामों के साथ, छापते हुए किसी भी पत्रिका का अधिकांश स्थान घेरे होते। विश्वनाथ कर हमारी सीमित मित्र-मण्डली के सभी सदस्यों के प्रति अत्यधिक स्नेह रखते थे। लेकिन दूसरों की तुलना में, वे अपने पत्र में, मुझको अधिक स्थान देते। उड़िया में मुझे जो

मान्यता मिली वह मुझे बंगाली में भी नहीं मिल पाई। यह ठीक है कि 'प्रबासी' ने मेरी एक लम्बी कविता को, रामानन्द चटर्जी के सम्पादकीय लेख के बिल्कुल बाद वाले पृष्ठ पर छापा था। लेकिन यह एक अपवाद मात्र था। उड़िया साहित्य-संसार में मैं एक लेखक के रूप में सम्मानित हो चुका था और सबुज-दल का सदस्य होने के नाते मेरी अच्छी प्रतिष्ठा भी थी। बंगाली में मैं कुछ भी नहीं था। मैं 'कल्लोल' से अभी भी बहुत दूर था, चाहे कितनी ही मेरी मानसिक निकटता उससे क्यों न हो।

उस समय मेरे लिये यह निर्णय करना कि बंगाली और केवल बंगाली ही वह भाषा होगी, जिसमें मैं कुछ शाश्वत साहित्य लिख पाऊंगा, एक जोखिम भरा काम था। जैसी कि मेरी स्थिति थी, उड़िया का प्रथम श्रेणी का लेखक बनने की अपेक्षा, मैं बंगाली का द्वितीय श्रेणी का लेखक बन सकता था। इसमें मुझे क्या लाभ था? मुझे फिर कौन याद करता? उस समय मैंने इन भविष्यगत संभावनाओं पर कोई विचार नहीं किया। मेरे सामने प्रश्न यह था कि जो कुछ भी मुझे लिखना-कहना है, उसे मैं किस भाषा में सर्वाधिक प्रभावशाली ढंग से कह सकूंगा। इसका उत्तर स्पष्ट था—बंगाली। बंकिमचन्द्र चटर्जी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और प्रमथ चौधरी ने अपने साहित्य द्वारा बंगला भाषा को अभिव्यक्ति का इतना कलात्मक और लचीला माध्यम बना दिया था कि उसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म भावना एवं अत्याधुनिक विचार प्रेषित कर सकने की क्षमता आ गई थी। इस कोटि का इतना गहरा कार्य उड़ीसा में नहीं हुआ था। मेरे लिये यह संभव नहीं था कि यह सब करने का उत्तरदायित्व अपने अकेले के ऊपर ले लेता। मैं तो एक बना-बनाया रास्ता चाहता था, एक ऐसा साफ-सुथरा कंटकहीन राजमार्ग, जिस पर सरलतापूर्वक, जिधर चाहो उधर को तेजी से चला जा सकता हो। मैं उन उड़िया साहित्यकारों का अनुकरण नहीं करना चाहता था, जो भाषा में नई जमीन तोड़ते हुए कल तक की समूची साधना को नकार रहे थे। मैं जिस प्रकार की कविताएँ लिख रहा था उनका मधुसूदन राव अथवा राधानाथ राय की कविताओं से कोई साम्य नहीं था। मेरा गद्य लेखन भी फकीरमोहन सेना-पति की शैली और परम्परा से बिल्कुल भिन्न था। मैं इस सवाल पर विचार करता। मुझे ऐसा लगता कि यदि मैं उनकी परम्परा में अपने को फिट करना चाहूँगा तो मेरी अपनी कई व्यक्तिगत विशेषताएँ मिट जाएँगी। मेरे दोस्त मुझसे आगे निकल जाएँगे।

तो, इस स्थिति में मैंने 'कमल बिलासिर बिदय' (The Farewell of the Lotus Lover) नामक एक कविता लिखकर उड़िया से छुट्टी ली। सन् १९२१ से, जब से कि मैं उड़िया साहित्य-संसार में प्रविष्ट हुआ था, पाँच वर्ष बीत चुके थे।

१९२६ में मैंने उधर से विदा ली। इतने कम समय में कोई कितनी उपलब्धि पा सकता था? एक वर्ष के बाद मैं यूरोप चला गया। उधर से लौटने के उपरान्त बंगाल मेरा कार्य-क्षेत्र बन गया। परदेश के नाना-विध अनुभवों की कहानी जो 'पथे प्रवासे' में संकलित है, 'विचित्र' में प्रकाशित हुई थी और उसकी ओर रवीन्द्रनाथ ठाकुर तथा प्रमथ चौधरी दोनों का ध्यान खिचा था। तब से मैं बराबर उन दोनों ही महाशयों का स्नेहपात्र बना रहा। एक अधिकारी की हैसियत में, मेरा कामकाज इतना व्यस्त और उबाने वाला था कि अपने लेखन-चिन्तन को मैं उतना समय नहीं दें पाता था, जितना कि देना आवश्यक था। इसका परिणाम यह हुआ कि मैंने सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया और अपना कार्यकाल पूर्ण होने के पूर्व ही सेवा मुक्ति ले ली। सवा दो वर्ष तक मैंने तत्कालीन अविभाजित बंगाल के अनेक भागों में, तरह तरह के प्रशासनीय और कानूनी पदों पर कार्य किया। सबुज साहित्य समिति का गठन तब हुआ था, जब मैं इंग्लैंड के लिये प्रस्थान कर चुका था। 'युगवीणा' निकलना आरम्भ हुआ। समिति और उसकी पत्रिका 'युगवीणा' लगभग पांच-छः वर्षों तक जीवित रहे। इस समय तक सदस्यगण सब अलग-अलग लिखा करते थे, किसी संगठन के रूप में नहीं। उड़िया साहित्य में सबुज युग का कार्यकाल लगभग १९२१ से १९३१ अथवा १९३२ तक माना जाता है। इसके पूर्व सत्यवादी युग निकल चुका था। 'सत्यवादी' की स्थापना शान्तिनिकेतन की तर्ज पर की गई थी। मेरे चाचा मुझे वहाँ ले गए थे। मैंने मासिक 'सत्यवादी' और साप्ताहिक 'समाज' को प्रारम्भ होते देखा। गोपबन्धुदास, नीलकंठदास, गोदावरीश मिश्र आदि की साहित्यिक कृतियां सबके लिये परिचित थीं। जब इन महानुभावों ने १९२१ के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया तथा जेल चले गए तब साहित्य संसार में एक शून्य व्याप गया। गगाधर मेहर, चिन्तामणि महन्ती, नन्दकिशोर बल एवं पद्मचरण पट्टनायक अपनी साहित्यिक ऊँचाइयों से बहुत नीचे गिर चुके थे। यही कारण था कि 'सबुज दल' इतनी शीघ्रता और आसानी से स्वीकार कर लिया गया। उसने एक व्याप्त शून्य का स्थान ले लिया।

सबुज दल से न जुड़े हुए लेकिन एक ही वयमान के कई अन्य लेखक भी थे। बाद में कुन्तलकुमारी सबत और मायाधर मानसिंह ने ख्याति अर्जित की। इन लेखकों का दृष्टिकोण तनिक भी संकुचित नहीं था। विच्छन्दचरण पट्टनायक तथा उनके मित्र अवश्य ही रूढ़िवादी थे। उनका विश्वास था कि कोई भी कविता परम्परागत छंदों का त्याग करते हुए नहीं लिखी जा सकती। वे कविताएँ जो छन्दों की

अवहेलना करतीं, तिरस्कार की पात्र होतीं। उन्होंने घोषित किया कि यह बंगाली और अंग्रेजी कविता की फूहड़ नकल मात्र है। उनकी दृष्टि में हमने उड़िया को परकीय प्रभावों से लाद देने का अपराध किया था तथा रवि ठाकुर के प्रभाव में आकर उसका पारंपरिक वैभव नष्ट कर दिया था। हमारी गतिविधियों के बारे में ऐसी भावनाएं, दुर्भाग्यवश इस मण्डली तक ही सीमित नहीं थी। यहाँ तक कि वे लेखकगण भी, जो छंद के बंधन से मुक्त होना चाहते थे, यूं कहने लगे कि हम लोगों ने उड़िया कविता की परम्परागत धारा को नकार कर कुछ ज्यादती ही की है।

यह सत्य है कि हम लोग बंगाली और अंग्रेजी साहित्य की प्रेरणा के बगैर एवं उस प्रकाश के अभाव में, जो हमें इन भाषाओं के ऊँचे साहित्य के अध्ययन से मिला, कम ही प्रगति कर पाते। जब बंगाली सामूहिक लेखन द्वारा लिखित एक उपन्यास प्रकाशित हुआ तो हमने भी निश्चय किया कि क्यों न उड़िया में भी एक ऐसा ही प्रयोग किया जाय। इस काम में हम चार ही थे, क्योंकि बैकुण्ठ कविता को छोड़ और कुछ नहीं लिखते थे। हमने प्रमथ चौधरी की योजना 'चार मित्रों की कहानियाँ' का अच्छा खासा अनुकरण किया। हमें इस काम के लिए आठ लेखकों की आवश्यकता थी। यह आवश्यक नहीं था कि वे 'सबुज दल' से ही सम्बन्धित हों। कालिन्दी सम्पादक बने। 'बसन्ती' का लेखन उन्हीं के निर्देशन में संपन्न हुआ। विश्वनाथ कर ने उसे 'उत्कल साहित्य' में क्रमशः प्रकाशित किया। उपन्यास लिखने के प्रति मेरी अपनी कोई रुचि नहीं थी, लेकिन 'बसंती' लिखते समय मुझे जो अनुभव प्राप्त हुआ उसने मुझे न केवल उपन्यासकार ही बना दिया बल्कि उस वस्तु से भी अवगत कराया जिसकी मुझे अत्यधिक आवश्यकता थी।

सबुज दल के इन पाँच निर्माता मित्रों की कविताओं का संग्रह 'सबुज कविता' के नाम से प्रकाशित हुआ है। मेरे अनजाने ही, दूसरे मित्रों ने मुझे प्रथम स्थान दिया तथा मेरी ही सर्वाधिक रचनाएँ उसमें सम्मिलित कीं। कई वर्ष बीत जाने पर, मेरे उड़िया मित्रों ने, मेरी संपूर्ण उड़िया रचनाओं को एक ही खंड में संकलित किया। मैंने उसे 'सबुज अक्षर' के नाम से प्रकाशित कराया।

अनुवाद : डॉ० श्याम परमार

उड़ीसा : महत्त्वपूर्ण घटना-क्रम

वैदिक काल : वैदिक साहित्य में उड़ीसा का कोई उल्लेख नहीं मिलता। कुछ विद्वानों की राय में ३००० ई० पू० से २००० ई० पू० के बीच रचित 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में 'कलिंग' नाम आता है।

महाभारत काल : महाभारत में, जिसकी रचना ११०० ई० पूर्व के लगभग हुई, कलिंग, ओड्र और उत्कल के उल्लेख कई बार आये हैं।

छठी और ७वीं शताब्दी ई० पूर्व के मध्य : इस काल में पाली जातकों का संकलन किया गया। इन जातकों में कलिंग और उत्कल का वर्णन उपलब्ध है।

५९९ से ५२७ ई० पूर्व : जैनियों के 'हरिवंश पुराण' के अनुसार इस काल में महावीर वर्द्धमान ने कलिंग में जैन धर्म का प्रचार किया था।

४०२ से ३२० ई० पू० : नन्द वंश का शासन दृढ़ हुआ। जैन धर्म का प्रभाव बढ़ा। मूर्त्ति पूजा की शुरूआत हुई।

३२२ ई० पूर्व : नंदों का पतन तथा चन्द्रगुप्त मौर्य द्वारा यवनों (यूनानियों) का भारत से निष्कासन।

३२२ से २६१ ई० पू० : कलिंग पर मौर्यों का शासन; कदाचित मौर्यों का यह दूसरा राजवंश था। इसी समय कौटिल्य द्वारा सुप्रसिद्ध 'अर्थशास्त्र' लिखा गया।

२६१ से २६० ई० पू० : अशोक द्वारा कलिंग पर आक्रमण और विजय। कालजयी वास्तुकला और शिल्पकला के लिए पत्थर का माध्यम रूप में प्रवेश।

दूसरी तथा तीसरी शताब्दी ई० पू० के मध्य : पुराण-युग। पुराणों में कई जगह उत्कल, कलिंग और उसके निवासियों का उल्लेख आया है।

१८३ ई० पू० : खारवेल का राज्याभिषेक (खारवेल उड़ीसा का सबसे महान् शासक था, जिसने उड़ीसा पर शासन किया)। उड़ीसा का स्वर्णयुग। इसी समय हाथी गुम्फा का निर्माण तथा अभिलेखों की खुदाई की गई। उड़ीसा के साहित्य और कला के नये युग का आरम्भ। उदयगिरि और खंडगिरि की जैन गुफाओं का निर्माण।

४थी शताब्दी ई० : गुप्त साम्राज्य का काल।

३५०–४४० ई० : माठर राजवंश का काल—शक्ति वर्मा, अनन्त वर्मा, विशाख वर्मा आदि।

४४०–४४८ ई० : वशिष्ठ राजवंश का शासन।

५वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष : गंगों का पहली बार त्रिकलिंग के शासकों के रूप में आगमन। 'सुनिया' उत्सव की शुरूआत।

५४०–५६० ई० : गंग राजवंश—अनन्त वर्मा, देवेन्द्र वर्मा और सत्य वर्मा।

६ठी शताब्दी : राजा ययाति केसरी ने वैतरणी नदी के किनारे ययातिपुरा नामक नयी राजधानी बनायी।

५७० से ६७५ ई० : शैलोद्भव राजवंश। शैवमत धार्मिक आन्दोलन के रूप में उभर कर आया। संस्कृत ने राष्ट्रभाषा का स्थान प्राप्त किया।

६४३ ई० : हर्षवर्द्धन ने उड़ीसा पर आक्रमण किया और कंगोड़ा जीता।

सातवीं शताब्दी : मंजुश्री, बोधिश्री और चन्द्रगोमी ने उड़ीसा में बौद्ध-दर्शन की नागान्तक शाखा के उपदेश दिये।

७वीं और ८वीं शताब्दी के मध्य : भुवनेश्वर में भरतेश्वर, शत्रुघ्नेश्वर, लक्ष्मणेश्वर और परशुरामेश्वर मंदिरों का निर्माण।

८वीं और ९वीं शताब्दी के मध्य : ललितगिरि, उदयगिरि और रत्नगिरि में बौद्ध-संस्थानों का निर्माण।

८१०–९४० ई० : गंग राजवंश का पतन। ब्रह्मवंश का उत्कर्ष; जिसका समय उड़ीसा में स्वर्ण-युग के नाम से जाना जाता है। इस वंश की ख्याति केवल साम्राज्य स्थापना के लिए ही नहीं; अपितु उड़ीसा की संस्कृति और सभ्यता को सम्पूर्ण भारत में प्रचारित करने के लिए भी है। इसने उड़ीसा की कला और संस्कृति को चीन जैसे सुदूर देशों तक परिचित कराया। इस समय तंत्रवाद एक मत के रूप में फैला। प्रसिद्ध शिवकार देव और शुभकार देव का उदय।

९वीं शताब्दी : आदि शंकराचार्य का उड़ीसा में आगमन तथा पुरी में गोवर्धन पीठ की स्थापना (७८८–८२० ई०)।

९वीं तथा १०वीं शताब्दी के बीच : सोम अथवा केसरी राजवंश। वैतरणी के किनारे ययाति केसरी द्वारा अश्वमेघ यज्ञ (यह स्थान आजकल यजपुर के नाम से जाना जाता है)। भुवनेश्वर में लिंगराज मंदिर का निर्माण।

८९४–१४३५ ई० : गंग वंश का पुन: आगमन। कई वैष्णव मंदिरों का निर्माण। वैष्णव धर्म का प्रभुत्व बढ़ा तथा भानुदेव (१२६४–७८ ई०) के राज्य-काल में द्वैतवाद के सिद्धान्तों का प्रचार हुआ।

१११२–११४८ ई० : गंगवंश के राजा अनन्त वर्मा चोड़गंग देव द्वारा जगन्नाथ का मंदिर बनवाया गया। इसी समय कलिंग, कंगोड़ा, उत्कल (ओड्र) तथा त्रिकलिंग क्षेत्र एक राजकीय शक्ति के प्रभुत्व में आये।
उड़िया भाषा का उदय।

१२वीं शताब्दी : रामानुज का पुरी में आगमन (११२२–३७ ई०)। गीत गोविन्द के रचयिता जयदेव पुरी आये और उन्होंने राधा-कृष्ण के प्रणय-भाव का उपदेश दिया।

१२३८–१२६४ ई० : नरसिंह प्रथम द्वारा कोणार्क का भव्य सूर्य मंदिर बनवाया गया।

१४३५–१५३४ ई० : सूर्यवंशी गजपतियों का शासन। कपिलेन्द्र गजपति ने उत्तर में गंगा से लगा कर दक्षिण में अर्कोट तक पूर्वी समुद्र किनारे का समूचा प्रदेश जीता।

सारलादास द्वारा महाभारत की रचना।

१५१० ई० : चैतन्य महाप्रभु की उडीसा यात्रा ।

१५३४–१५६८ ई० : भोई तथा चालुक्य राजवंश का शासन । गोदावरी मिश्र, राय रामानन्द, बलराम दास तथा जगन्नाथ दास ने इस काल में साहित्य रचना की । 'पंच-सखा' द्वारा सृजन । काला पहाड़ ने उड़ीसा के मंदिरों पर आक्रमण किया ।

१५६८ ई० : मुकुन्द देव की मृत्यु । उड़ीसा अफगान सुल्तान सुलेमान कर्रानी के हाथ में आया ।

स्मृति-लेखक एवं कवि गजपति रामचन्द्र देव का जन्म ।

वटेश्वर मोहन्ती द्वारा 'मादला पांजी' का संकलन ।

१५७८ ई० : उड़ीसा नाम मात्र के लिए मुगल साम्राज्य में मिलाया गया ।

१५८० ई० : अफगान विद्रोहियों का उदय और मुगलों से उड़ीसा जीतना ।

१५९०–९२ ई० : अफगानों का आत्म-समर्पण तथा मुगलों की ओर से राजा मानसिंह से सन्धि ।

१५९२–९९ ई० : प्रतापरुद्र देव द्वारा पुर्तगालियों को उड़ीसा में व्यापार करने की अनुमति ।

गजपति रामचन्द्र देव की मृत्यु ।

१६११ ई० : मुगल साम्राज्य के अधीन राजा टोडरमल के पुत्र राजा कल्याणसिंह की, उड़ीसा के गवर्नर के रूप में, नियुक्ति ।

१६१७ ई० : मकराम खान की राजा कल्याणसिंह के स्थान पर नियुक्ति। खुरदा मुगल साम्राज्य में मिलाया गया ।

अंग्रेजों के उड़ीसा में आगमन की शुरूआत ।

१६३३ ई० : उड़ीसा के मुगल सूबेदार द्वारा अंग्रेज व्यापारियों को उड़ीसा में व्यापार करने की इजाजत ।

१६५७–६० ई० : राजा कृष्णचन्द भंज के नेतृत्व में उड़ीसा के जमीदारों का विद्रोह । खान-ए-दौरान द्वारा उड़ीसा को मुगलों से करीब-करीब फिर जीत लेना ।

१६६९ ई० : औरंगजेब द्वारा विद्यालयों और मंदिरों को नष्ट करने की आज्ञा जारी

करना ।

१६९७ ई० : औरंगजेब के धर्मान्ध सैनिकों द्वारा जगन्नाथ मंदिर को अपवित्र करना ।

१७०७ ई० : औरंगजेब की मृत्यु ।

१७१३ ई० : बादशाह फर्रुख सियार द्वारा मुर्शीदतुली खां को बंगाल का नाज़िम बनाया जाना, जिसने बंगाल, बिहार और उड़ीसा में १७२४ ई० तक निरंकुश शासन किया ।

१७४० ई० : मराठों का आगमन । मराठों की सेना ने अलीवर्दी खां को मार भगाने के लिए मुर्शीदतुली खां द्वितीय की सहायतार्थ उड़ीसा मे प्रवेश किया था, किन्तु बाद में उसने समूचे बंगाल और उड़ीसा को अधीन कर लिया ।

१७४५ ई० : रघुजी भोंसले का बंगाल और उड़ीसा पर आक्रमण, मगर अलीवर्दी खां द्वारा अंत में पराजय । अलीवर्दी खां का उड़ीसा पर कब्जा ।

१७६२ ई० : मराठों के अधीन उड़ीसा क्षेत्र में अंग्रेजी सेना द्वारा पटासपुर और शाहाबंदर पर हमला और लूटमार ।

१७६५ ई० : क्लाइव का मुगल सम्राट् से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लिए बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त करना ।

१७८० ई० : उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा ।

१७९८-१८०६ ई० : भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का पूर्ण अधिकार (१८०३ ई०) । मराठों को पूर्णतया पराजित कर अंग्रेजों ने उड़ीसा को अपने शासन में लिया ।

१८०४ ई० : अंग्रेज शासन ने उड़ीसा में सर्वप्रथम राजस्व व्यवस्था की।

१८१७ ई० : पाइक विद्रोह । उड़ीसा अंग्रेजों के विरुद्ध खड़ा हुआ, पर शीघ्र दबा दिया गया ।

१८२२ ई० : बेपटिस्ट मिशनरियों का उड़ीसा में प्रवेश ।

१८३५ ई० : प्रसिद्ध खगोलशास्त्री और 'सिद्धान्त दर्पण' के रचयिता चन्द्रशेखर का जन्म ।

१८४७ ई० : अंगुल के राजा के नेतृत्व में दूसरा विद्रोह । फकीरमोहन सेनापति

और राधानाथ राय का जन्म ।

१८५३ ई० : मधुसूदन राव का जन्म ।

१८५७-६१ ई० : स्वाधीनता की पहली लड़ाई ।

१८६६ ई० : नोआंक का भयंकर दुर्भिक्ष जिसमें लगभग दस लाख व्यक्ति भूख से मरे । रेवेंशा कॉलेज की स्थापना ।

१८७६-८० ई० : अंग्रेज़ों द्वारा भारतीयों को हथियार न रखने का कानून लागू ।

१८८५ ई० : राष्ट्रीय कांग्रेस का जन्म ।

१९०३ ई० : उत्कल साहित्य-समाज की स्थापना । कटक में एडवर्ड सप्तम की परि-पूर्ति के उपलक्ष्य में दरबार हुआ ।

१९१३-१४ ई० : दासपल्ला में उथल-पुथल ।

१९१५ ई० : प्रसिद्ध क्रांतिकारी बाघा जतीन की बालासोर में गिरफ्तारी ।

१९१६ ई० : 'सत्यवादी' आन्दोलन का गोपबन्धु दास द्वारा प्रारम्भ । पुरी में गोप-बन्धु दास द्वारा प्रथम जिला कांग्रेस कमेटी का गठन ।

१९१९ ई० : रॉलेट कानून लागू । जलियानवाला बाग में निहत्थे लोगों की हत्या ।

१९२१ ई० : महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन की शुरूआत । उड़ीसा में इसका नेतृत्व गोपबन्धु दास ने किया ।

१९२१-२२ ई० : उड़ीसा में बर्बर दमन । लगभग २५००० घर पुरी, कटक और बालासोर जिलों में पुलिस द्वारा जला कर राख कर दिये गये ।

१९२८ ई० : बामरा का विप्लव । गांधीजी का सम्बलपुर में आगमन । गोपबन्धु दास की मृत्यु ।

१९३० ई० : नमक सत्याग्रह का प्रारम्भ । महात्मा गांधी द्वारा दांडी यात्रा का नेतृत्व । उड़ीसा का उत्साहपूर्वक सहयोग ।

१९३३ ई० : अछूतोद्धार आन्दोलन के सिलसिले में महात्मा गांधी की पुरी से भद्रक तक पद-यात्रा ।

१९३६ ई० : उड़ीसा अलग प्रान्त बना । कोरापुट और गंजाम जिले मद्रास महाप्रांत से अलग कर उड़ीसा में मिलाये गये ।

१६३७ ई० : उड़ीसा में प्रथम कांग्रेस सरकार बनी।

१६३८ ई० : गांधीजी का पुन: उड़ीसा में आगमन। ब्रजराजनगर में पहला कागज बनाने का संयंत्र—ओरियन्ट पेपर मिल—की स्थापना।

१६३६ ई० : अंग्रेज पोलिटीकल एजेन्ट Bazelgette की ढेंकानाल अन्तर्गत रामपुर नगर में हत्या।

१६४० ई० : व्यक्तिगत अवज्ञा-आन्दोलन की शुरूआत।

१६४२ ई० : भारत छोड़ो आन्दोलन का प्रारम्भ। ढेंकानाल में समानान्तर सरकार स्थापित।

१६४४ ई० : उत्कल विश्वविद्यालय, उड़ीसा का पहला विश्वविद्यालय स्थापित।

१६४६ ई० : केन्द्र में अन्तरिम सरकार बनी। उड़ीसा में कांग्रेस मन्त्रि-मण्डल ने कार्यभार सम्हाला।

१६४७ ई० : भारत स्वतंत्र हुआ। उड़ीसा की सभी २६ रियासतों का एकीकरण। ७ जिलों से १३ जिले बनाये गये।

१६५६ ई० : हीराकुड बांध पूरा हुआ।

१६५६ ई० : राउरकेला इस्पात कारखाने का उद्घाटन।

१६६३ ई० : परादीप बन्दरगाह हर मौसम में काम आने वाले बन्दरगाह के रूप में पूरा हुआ।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—'अ'—लेखक-परिचय

अनन्त पंडा

डायरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शनस का दफ्तर,
गांधी भवन, भुवनेश्वर

जन्म : उड़ीसा के बालासोर जिले के ग्राम भोगराई में १ नवम्बर १९३४।

शिक्षा : १९५९ में शान्तिनिकेतन से स्नातक हुए।

१९६०-६१ : राजकीय म्युज़ियम में मॉडेलर। १९७० से अकादमी ऑफ फाइन आर्टस्, कलकत्ता के १९७२ से राजकीय ललित कला अकादेमी की जनरल कौंसिल के सदस्य हैं। १९४६ में प्रथम उड़ीसा फाइन आर्टस् प्रदर्शनी; १९५६ में इन्टरनेशनल यूथ फेस्टिवल आर्ट प्रदर्शनी। १९६१ में राजकीय ललितकला अकादमी की ओर से चित्रकला में तथा १९६५ में मूर्तिकला में पुरस्कार मिले। १९६३ में जलरंग में सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार एवं १९६७ में कलकत्ता की अकादमी ऑफ फाइन आर्टस् में मूर्तिशिल्प में पुरस्कार मिला।

अन्नदाशंकर राय

सेवा निवृत्त आइ. सी. एॅस.
२३३, जोधपुर पार्क, कलकत्ता-३१

जन्म : १५ मार्च १९०४ ई०, ढेंकानाल (उड़ीसा)।

शिक्षा : बी. ए. (ऑनर्स), प्रथम स्थान प्राप्त।
१९२७ ई० में आई. सी. एॅस. में प्रथम स्थान प्राप्त।
१९५१ ई० में सेवा निवृत्त हुए। उसी वर्ष पी. ई. एॅन. काँग्रेस में शरीक होने के लिये जापान गए।

प्रकाशन : साठ से अधिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें पंथे प्रवासे, सत्यासत्य (छः खण्डों में उपन्यास), जापाने, फलाइट एण्ड परसूट (अंग्रेजी) आदि प्रमुख हैं। सबुज-युग के प्रतिनिधि कवि के रूप में अनेक उड़िया कविताएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। बाईस निबंध और एक कहानी उड़िया में लिखने के बाद केवल बंगला में लिखने लगे थे।

साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत।

करुणा सागर बेहेरा

प्राध्यापक, इतिहास विभाग,
उत्कल विश्वविद्यालय, वाणी विहार, भुवनेश्वर-४

जन्म : दिसम्बर ५, १९३६ ई०, अनुगुल (जिला ढेंकानाल)।

शिक्षा : एम. ए. इतिहास (उत्कल विश्वविद्यालय) स्वर्णपदक प्राप्त।
डी. लिट. (उत्कल विश्वविद्यालय १९७२)।

संप्रति उत्कल विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग में रीडर हैं। कोणार्क के

सूर्य मंदिर पर गहन गवेषणा की है।

प्रकाशन : 'सूर्योपासना और कोणार्क का ऐतिह्य' प्रकाशित है। इसी शोध-ग्रंथ पर डी. लिट. मिली है।

कविचन्द्र कालीचरण पट्टनायक

जगन्नाथ बल्लव, कटक

जन्म : २३ दिसम्बर १८९८ ई०, बडंबा (जिला कटक)।

आरंभ में संगीत-नृत्य शिक्षक थे। १९२७ ई० में अपना रासदल बनाया। आगे जाकर १९३९ ई० में 'उड़ीसा थिएटर्स' नामक नाटक मण्डली बनाई। फिर अनेक वर्षों तक आकाशवाणी से संबद्ध रहे। ओड़िसी नृत्य की शास्त्रीयता सिद्ध करने के लिए घोर परिश्रम एवं अनुसंधान किया। केन्द्रीय नाटक अकादमी ने १९६८ ई० में इन्हें सम्माननीय फेलो के रूप में चुना। आधुनिक ओड़िआ रंग-मंच के पिता, एवं ओड़िसी संगीत और नृत्य पर आधिकारिक विशेषज्ञ।

प्रकाशन : शताधिक नाटक, एकांकी, काव्यनाटिका, काव्य-कविताएँ तथा संगीत-शास्त्र, आलोचना एवं अनुवाद ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। उनमें गीत-गोविन्द, गर्लस्कूल, भात, जयदेव, रक्तमाटि, कमला (नाटक), चंद्रिका, फुलरेणु, चक्री, फटा भूंई, कविचन्द्र गीतावली (पांच खण्ड) प्रमुख हैं।

कुंजबिहारी दास

यू. जी. सी. प्रोफेसर, महताब रोड, कटक ३

जन्म : २१ नवम्बर १६१४, रेंच शासन (जिला पुरी)।

शिक्षा : एम. ए. उड़िया (कलकत्ता विश्वविद्यालय), एक साथ तीन स्वर्णपदक प्राप्त। एम. ए. संस्कृत १६४५। पीएच. डी. (विश्वभारती) १६५४।

आरंभ में खल्लीकोट कॉलेज, ब्रह्मपुर में अध्यापक। तत्पश्चात् उड़ीसा शिक्षा सेवा में सम्मिलित। कुछ समय के लिये विश्व भारती में प्रोफेसर ऑफ इन्डोलॉजी एण्ड पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च के पद पर कार्य किया। रेवेंशा कॉलेज में उड़िया के प्रोफेसर की हैसियत से कार्य करने के बाद सेवा निवृत्त। आजकल उत्कल विश्वविद्यालय में यू. जी. सी. प्रोफेसर के रूप में कार्य कर रहे हैं। केन्द्रीय साहित्य अकादमी से वर्षों से संबद्ध रहे है।

प्रकाशन : कुंज विहारी संचयन (तीन खण्ड), काव्य संकलन, लंका यात्री, मो स्वप्नर काश्मीर, अमेरिकारु यूरोप, अफ्रीका आदि यात्रा वर्णन; समालोचना, साहित्यिका आदि निबंध संकलन, पल्लीगीत संचयन (दो खण्ड), ओड़िया गीत ओ कहानी (जिस पर डॉक्टरेट मिला है) आदि गवेषणा ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

भारत में लोकगीतों के आधिकारिक विद्वान माने जाते हैं। एशियन फोकलोर इंस्टीट्यूट, इंडियाना यूनिवर्सिटी, ब्लूमिंगटन, अमेरिका के सदस्य एवं उत्कल साहित्य समाज, कटक के सभापति।

कृष्णचंद्र पाणिग्रही

यू. जी. सी. प्रोफेसर, संतसाही, कटक

जन्म : १६१२ ई०, खीचिंग (जिला मयूरभंज)।

शिक्षा : एम. ए. प्राचीन भारत इतिहास एवं पुरातत्व, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

१९३७-१९४४ तक भारत सरकार के पुरातत्व विभाग में गवेषक का कार्य किया। १९४४ से १९६८ तक उड़ीसा शिक्षा सेवा में विभिन्न पदों पर रहे। बाद में ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय में इतिहास विभाग के अध्यक्ष रहे। संप्रति यू. जी. सी. प्रोफेसर के रूप में रेवेंशा कॉलेज में कार्य कर रहे हैं।

प्रकाशन : आर्कियोलॉजिकल रिमेंस ऑफ भुवनेश्वर एवं क्रॉनॉलॉजी ऑफ भौमकर एण्ड सोमवंशी ऑफ उड़ीसा (दोनों पुरातत्व पर अंग्रेजी ग्रंथ), इतिहास ओ किंवदंति प्रबन्ध मानस (उड़िया ग्रंथ) प्रकाशित हैं।

केदारनाथ महापात्र

मेन रोड, भुवनेश्वर

जन्म : १९११ ई०, भुवनेश्वर।

शिक्षा : बी. ए., पटना विश्वविद्यालय।

आरंभ में विभिन्न विद्यालयों में शिक्षक के रूप में कार्य किया। १९४३ से १९५० तक कालाहांडी में पुरातत्वज्ञ के रूप में रहे। इसके बाद १९७१ तक उड़ीसा म्यूज़ियम में रहे एवं सुपरिन्टेन्डेन्ट के रूप में सेवा निवृत्त हुए। उड़ीसा की अनेक प्राचीन कीर्तियों को प्रकाश में लाने का महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय कार्य किया।

प्रकाशन : खारवेल, तोषलीर इतिहास एवं खोर्धा इतिहास मौलिक ऐतिहासिक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं। अनेक प्राचीन उड़िया काव्यों का संपादन कर उनका पुनरुद्धार किया है। उड़ीसा के संस्कृत साहित्य की पोथियों के विवरण सहित सूचीपत्र तैयार करने के महत्त्वपूर्ण कार्य का संपादन किया है। Descriptive catalogue of Sanskrit manuscripts of Orissa (चार खण्ड, अंग्रेजी में) एवं जयदेव ओ श्री गीतगोविन्द (उड़िया) प्रकाशित हैं।

खगेश्वर महापात्र

१३४, टेगोर पार्क, दिल्ली-९

जन्म : १९३३ ई.।

शिक्षा : बी.ए. (ऑनर्स) एवं एम. ए. (उड़िया)। १९५६ के सर्वश्रेष्ठ उड़िया विद्यार्थी होने के नाते दो स्वर्णपदक प्राप्त।

१९५६-६२ के बीच उड़ीसा शिक्षा सेवा के अंतर्गत लेक्चरर, १९६२-७० के बीच विश्वभारती में उड़िया के अध्यापक, विभागाध्यक्ष एवं प्रिंसिपल। १९७० से दिल्ली विश्वविद्यालय में उड़िया विभाग के अध्यक्ष।

चिकागो विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित मुंडा भाषा योजना में सीनियर रिसर्च एसोशियेट की हैसियत से कार्य कर चुके हैं।

अंग्रेजी, हिन्दी, बंगाली, असामी, तिब्बती एवं दिदेवी (मुंडा) भाषाओं के विद्वान।

प्रकाशन : उड़िया, हिन्दी एवं अंग्रेजी में भाषा विज्ञान एवं साहित्य संबंधी अनेक शोध पत्र प्रकाशित हो चुके हैं। उड़िया में दो पुस्तकें 'कर्या गीतिका' एवं 'समालोचनार दिग दिगन्त' प्रकाशित हो चुकी हैं। 'देसिया, एक आदिवासी उड़िया डाइलेक्ट' अंग्रेजी में प्रकाशित होने वाली है।

गणेशप्रसाद परिजा

IV R—77, गोपबंधुनगर, भुवनेश्वर ३

जन्म : २९ जनवरी १९३२ ई०, तेंतुलीपाद, झंकड़ (जिला कटक)।

प्रकाशन : तंत्र एवं शाक्त साहित्य का गहन अध्ययन किया। 'निर्वासित' (उपन्यास)

प्रकाशित रचना है।

सामुद्रिक, तंत्र एवं शाक्त साहित्य, दशमहाविद्या पर अनेक शोध प्रबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

गोपीनाथ महन्ति

प्लॉट नं० २००, यूनिट III, भुवनेश्वर

जन्म : २० अप्रेल, १६१४ ई०, नागबाली (जिला कटक)।

शिक्षा : एम. ए. अंग्रेजी साहित्य (स्वर्णपदक प्राप्त)।

उड़ीसा प्रशासनिक सेवा में रह कर सारे प्रांत का भ्रमण किया और विशेषतः उड़ीसा की आदिम जातियों के जीवन का सूक्ष्मता से अध्ययन किया। आधुनिक कथा साहित्य में फकीर मोहन के बाद क्रांतिकारी मोड़ उपस्थित किया। केन्द्रीय साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत। संप्रति उड़ीसा साहित्य अकादमी से संबद्ध हैं।

आदिवासियों पर आधिकारिक विशेषज्ञ एवं आदिवासी जीवन को अपनी काव्यात्मकता में प्रस्तुत करने वाली बेजोड़ लेखनी।

प्रकाशन : माटिमटाल, अमृतर संतान, हरिजन, परजा, दादिबुढ़ा, शरतबाबुंक गलि आदि अनेक महत्त्वपूर्ण उपन्यास एवं कुछ कहानी संग्रह तथा गोपबंधु के संस्मरण प्रकाशित रचनाएँ हैं।

चन्द्रसेन कुमार जैन

अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
उत्कल विश्वविद्यालय, वाणी विहार, भुवनेश्वर

जन्म : ३ जनवरी १६२० ई०, आरा (पटना)।

शिक्षा : एम. ए. हिन्दी, पटना विश्वविद्यालय ।

इस समय उत्कल विश्वविद्यालय में हिन्दी प्राध्यापक के रूप में कार्य कर रहे हैं। इससे पूर्व बारह-तेरह वर्ष तक उड़ीसा शिक्षा सेवा में कार्य किया । उड़िया-भोजपुरी के प्रत्यय प्रयोगों के अध्ययन में भी लगे हैं ।

प्रकाशन : भारतीय पूर्वांचल की संस्कृति एवं भाषायी अध्ययन पर अनेक गवेषणात्मक निबंध विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं ।

आचार्य तरणीचरण पात्रो

जन्म : गंजाम जिला (उड़ीसा) के ग्राम पिटालो में १६०१ में जन्म ।

शिक्षा : बचपन में शास्त्रीय संगीत में शिक्षा ग्रहण की ।

प्रकाशन : १६३० में बर्मा यात्रा की, जहां संकीर्तन का प्रचार किया तथा कीर्तन सम्बन्धी कुछ पुस्तक लिखीं। 'मालती माधव' और 'नारद संसारम्' चित्रों में वीणा वादक का अभिनय। ब्रह्मपुर निवास के समय राजाश्रय मिला। संगीत कलानिधि, वीणा विद्वान, वीणा विशारद आदि उपाधियों से भूषित ।

श्री पात्रो सुप्रसिद्ध संगीतज्ञ तथा संगीत विषयक अनेक पुस्तकों के रचयिता हैं। पाठ्य पुस्तकों के लिए संगीत विषयक सामग्री का चयन किया तथा ताड़पत्रों और प्राचीन पोथियों के आधार पर 'ओड़ीसी संगीत प्रकाश' नामक ग्रन्थ का प्रणयन ।

१६४७ में बोयारानी में 'गांधी संगीत कला मंदिर' की स्थापना की। अब वह महाविद्यालय हो गया है ।

धीरेन्द्रनाथ पट्टनायक

उप सचिव, संगीत नाटक अकादमी, भुवनेश्वर

जन्म : १९३३ ई० ।

शिक्षा : एम. ए. अर्थशास्त्र, उत्कल विश्वविद्यालय ।

ओडिसी नृत्य पर गवेषणा के लिए विख्यात हैं । संप्रति संगीत नाटक अकादमी, भुवनेश्वर के उप सचिव हैं । प्रजातंत्र प्रचार समिति, भुवनेश्वर द्वारा दो बार सम्मानित (१९५५, १९६०) किये जा चुके हैं ।

प्रकाशन : भारतीय नृत्य-कला, अभिनय दर्पण एवं ओडिसी-नृत्य आदि उड़िया ग्रंथों के अतिरिक्त ओडिसी डान्स (अंग्रेजी) का भी प्रकाशन हो चुका है ।

डॉ० नवीनकुमार साहू

प्रोफेसर ऑफ हिस्ट्री, सम्बलपुर विश्वविद्यालय,
केम्पस बुरला, पो० बुरला (उड़ीसा)

जन्म : १९२० , बारपाली, जिला सम्बलपुर ।

शिक्षा : 'बुद्धिज्म' पर पीएच०डी० तथा 'रोल ऑफ उड़ीसा इन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर' विषय पर डी० लिट० की उपाधि प्राप्त ।

अन्य : क्राइस्ट कॉलेज और रेवेन्शा कॉलेज, कटक एवं एम० पी० सी० कॉलेज, बारीपदा में व्याख्याता रहे ।

भारत सरकार द्वारा उड़ीसा के जिला गजेटियरों को तैयार करने का काम सौंपा गया । तद्नुसार १९६०-६७ तक उड़ीसा में सम्पादक रहे ।

१९६८-६९ : सम्बलपुर विश्वविद्यालय में रजिस्ट्रार। १९६७ : सम्बलपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के प्रोफेसर। 'हिस्ट्री ऑफ उड़ीसा' और 'बुद्धिज्म इन उड़ीसा' तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के लेखक। कई वर्ष तक 'उड़ीसा हिस्टोरिकल रिसर्च जनरल' के सम्पादक रहे। आज भी सम्पादक मंडल में हैं तथा उड़ीसा के राजकीय संग्रहालय के सलाहकार हैं। भारत सरकार के रेकार्ड कमिशन के सदस्य भी हैं। भारत में कई स्थानों पर पुरातत्व उत्खनन के कार्य से सम्बद्ध रहे हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासज्ञ हैं।

प्रभाकर माचवे

१२०, रवीन्द्र नगर, नई दिल्ली-३

जन्म : १९१५ ई०, मध्य भारत।

शिक्षा : दर्शन एवं अंग्रेजी साहित्य में एम० ए० तथा हिन्दी में पीएच० डी०।

अन्य : विख्यात भाषाविद् एवं लेखक (कवि, उपन्यासकार एवं आलोचक)। आरम्भ में दस वर्ष तक दर्शन और साहित्य के अध्यापक रहे। १९४८ से १९५४ तक आकाशवाणी में साहित्यिक प्रस्तोता के रूप में कार्य किया। दो वर्ष तक अमेरिका में विजिटिंग प्रोफेसर के पद पर रहे। १९६४ से १९६६ तक यूनियन पब्लिक सरविस कमीशन के विशेष अधिकारी (भाषा) के रूप में कार्य किया। संप्रति केन्द्रीय साहित्य अकादमी के मन्त्री हैं। इस संस्था से १९५४ से ही संबद्ध हैं। १९७१ में सोवियत लैंड पुरस्कार मिला। अन्तर्राष्ट्रीय पी० ई० एन० एवं नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी के सदस्य।

प्रकाशन : ४५ हिन्दी, ५ अंग्रेजी और ६ मराठी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

छः खण्डों में साहित्यालोचना, दो खण्ड में साहित्य का इतिहास, छः लघु उपन्यास, चार कविता संकलन एवं पांच बाल साहित्य सम्बन्धी पुस्तकें प्रकाशित।

बेणी माधव पाढ़ी

रीडर एवं विभागाध्यक्ष, उड़िया विभाग,
ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय, ब्रह्मपुर, उड़ीसा

जन्म : १९१९ ई०, लोकनायपुर, चिकिटि (जिला गंजाम)।

शिक्षा : एम. ए. संस्कृत, बनारस विश्वविद्यालय। एम. ए. उड़िया, उत्कल विश्वविद्यालय। पीएच. डी. (उड़िया), उत्कल विश्वविद्यालय से।

उड़ीसा शिक्षा सेवा में १९५६ ई० में प्रवेश। संप्रति ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय में उड़िया विभागाध्यक्ष हैं।

प्रकाशन : अविश्वासी (नाटक), दारुदेवता (गवेषणा ग्रंथ), चोर कवि (कविता), उड़िया भाषार रूपतत्त्व (भाषा विज्ञान), Scientific Shap (उपन्यास), Dhu o Dhisha Na (गद्य) प्रकाशित रचनाएँ हैं।

मायाधर मानसिंह

मानसिंह लेन, कटक

जन्म : १३ नवम्बर १९०५, नन्दाला (जिला पुरी)।

शिक्षा : एम० ए० अंग्रेजी, पटना विश्वविद्यालय। पीएच० डी० (डरहम

विश्वविद्यालय) 'कालीदास और शेक्सपियर का तुलनात्मक अध्ययन' पर।

उड़ीसा शिक्षा विभाग में विभिन्न पदों पर कार्य किया। अनुसंधान के लिये विदेश गए। सबुज-युग के प्रमुख एवं शक्तिशाली कवि, आलोचक एवं शिक्षाशास्त्री के रूप में ख्याति प्राप्त हैं। साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत। भारत सरकार द्वारा पद्मश्री उपाधि से सम्मानित। नेशनल साहित्य अकादमी के सदस्य। उत्कल यूनिवर्सिटी सीनेट एवं एँकेडॅमिक कौंसिल के सदस्य।

प्रकाशन : कालीदास एण्ड शेक्सपियर, ड्रीम्म इन एँजुकेशन, हिस्ट्री ऑफ ओड़िआ लिटरेचर, रिपल्स ऑफ द महानदी, सागा ऑफ द लैंड ऑफ जगन्नाथ आदि अंग्रेजी पुस्तकें एवं बापूतर्पण, राजकवि, बारवाटी, साधव झिअ, धूप, प्रेमर भाषा, हेमशस्य, कमलायन आदि काव्य-कविता ग्रन्थ एवं कुछ नाटक, गद्यग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं।

(हमें खेद है कि इस पुस्तक के प्रकाशन के पहले ही, कार्तिक पूर्णिमा संवत् २०३० के दिन, डा० मायाधर मानसिंह इस पार्थिव-जगत को छोड़ कर चले गए! —सम्पा०)

विजय पी. महापात्र

सैन्ट्रल इंस्टीटयट ऑफ इन्डियन लेंग्वेजेस, मैसूर

शिक्षा : बी. ए. (ऑनर्स), डी. एल. डी. सी. (पूना), एम. ए. (लन्दन)।

जन्म : १ अगस्त १९३६ ई.।

अन्य : एनथ्रोपोलोजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया, कलकत्ता के सीनियर फेलो। लन्दन (१९५९-६१), चिकागो (१९६२), कॉरनेल (१९६३-६५), हवाई एवं केनाडा के विश्वविद्यालयों से अनेक रूपेण सम्बद्ध रहे। संप्रति सैंट्रल

इन्सटीट्यूट ऑफ इण्डियन लेंगवेजेस, मैसूर में रिसर्च ऑफिसर हैं।

१९६२ में प्रजातंत्र प्रचार समिति कटक का सर्वश्रेष्ठ लेखक पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं।

प्रकाशन : भाषा-विज्ञान संबंधी अनेक शोध-पत्र प्रकाशित हो चुके हैं।

विनोद राउत राय

गवर्नमेन्ट स्कूल ऑफ आर्ट एण्ड क्राफ्ट्स,
खल्लीकोट (गंजाम), उड़ीसा

जन्म : २ दिसम्बर १९३० ई०, कालिकापुर (जिला कटक)।

शिक्षा : बी० ए० कलाभवन, शान्तिनिकेतन।

ललित कला अकादमी, भुवनेश्वर के सदस्य हैं। पेंटिंग में प्रजातन्त्र प्रचार समिति, भुवनेश्वर (१९५४, ५७) एवं बंगाल यूथ फेस्टिवल, कलकत्ता (१९५५), Graphic Art में ललित कला अकादमी, भुवनेश्वर (१९६१), Orissan Painting पर एक पुस्तक के लिये साहित्य अकादमी, भुवनेश्वर (१९५८) द्वारा पुरस्कृत। संप्रति बोर्ड ऑफ सेकन्डरी शिक्षा, कटक एवं उत्कल साहित्य समाज, कटक से भी संबद्ध हैं।

प्रकाशन : बीस से अधिक पुस्तकें पेंटिंग, कला एवं बाल-साहित्य पर प्रकाशित हो चुकी हैं।

सदाशिव रथ शर्मा

जगन्नाथ मंदिर, पुरी (उड़ीसा)

जन्म : १९१६ ई., पुरी।

जगन्नाथ धर्म (Jagannath culture) एवं ओड़िआ स्थापत्य पर गवेषणात्मक कार्य के लिये भारत सरकार द्वारा पद्मश्री की उपाधि से अलंकृत। कामकोटि पीठ से 'कलाकोष रत्नाकर' की एवं पुरी के गजपति महाराज द्वारा 'तथ्य शिरोमणि' की पदवी से विभूषित। संप्रति पुरी में गवेषणा कार्य एवं जगन्नाथ धर्म प्रचार में रत हैं।

प्रकाशन : 'शिल्प प्रकाश' एवं 'कोणार्क' दोनों ग्रन्थ अलभ्य गवेषणा के उदाहरण हैं।

शरतचन्द्र बेहेरा

रीडर, इतिहास विभाग, ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय,
ब्रह्मपुर (गंजाम), उड़ीसा

जन्म : २७ अॉक्टोबर १९३५, चिकिटि (जिला गंजाम)।

शिक्षा : एम० ए०, पीएच० डी०, उत्कल विश्वविद्यालय। 'कंगोद मण्डल के शैलोद्भव राजा' शोध-प्रबन्ध पर डॉक्टरेट मिली है। संप्रति ब्रह्मपुर विश्वविद्यालय में इतिहास के रीडर है।

प्रकाशन : विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में इतिहास सम्बन्धी निबन्ध और गवेषणात्मक लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

हरेकृष्ण मेहताब

एकाम्र निवास, भुवनेश्वर

जन्म : नवम्बर २२. १८९९ ई०, आगरपड़ा (जिला बालेश्वर)।

अन्य : स्वाधीनता संग्राम के प्रमुख सेनानी रहे हैं। उड़ीसा में देशी रियासतों के आन्दोलन के समय संघबद्ध उड़ीसा के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका। कई वर्षों तक उड़ीसा के मुख्यमंत्री, फिर केन्द्रीय मंत्री एवं बम्बई के राज्यपाल पद को सुशोभित किया। प्रजातन्त्र प्रचार समिति एवं उसके अन्तर्गत प्रजातन्त्र, झंकार, ईस्टर्न टाइम्स आदि पत्र-पत्रिकाओं तथा विषुब मिलन के प्राण प्रतिष्ठाता।

प्रकाशन : उड़ीसा का इतिहास (अंग्रेजी एवं उड़िया भाषा में—दो खण्ड), बिगिनिंग ऑफ दि एन्ड, चारिचक्षु, टाउटर, प्रतिभा, अव्यापार, गां मजलिस आदि रचनाओं के अतिरिक्त आत्मकथा का एक भाग भी प्रकाशित हो चुका है।

अनुवादक-परिचय

बृन्दावन जोशी

जन्म : २६ फरवरी, १९३९।

शिक्षा : कटक के रेवेन्शा कॉलेज मे शिक्षा तथा वहीं से १९६१ में अर्थशास्त्र में एम० ए० कर स्वर्णपदक प्राप्त किया।

अन्य : १९६३ में इन्डियन डिफेन्स अकाउन्टस् सर्विस में प्रविष्ट हुए। आज कल वित्त मंत्रालय (डिफेन्स डिविजन) में उपसचिव पद पर हैं। हिन्दी और उड़िया दोनों में समान गति।

श्रीमती वर्षा दास

कला विषयक अनेक लेखों की लेखिका। हिन्दी के सभी प्रमुख पत्रों में

लिखती हैं। आजकल राष्ट्रीय पुस्तक संस्थान में सम्पादिका हैं।

विष्णु स्वरूप

जन्म : १९४० ई.।

अन्य : उज्जयिनी में शिक्षा ग्रहण की। लेखक और अनुवादक। भारतीय डाक-तार सेवा में १९६३ में प्रविष्ट हुए। आजकल आर्मी पोस्टल सर्विस में मेजर के पद पर।

विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

लेखक और समीक्षक। कई हिन्दी पुस्तकों के रचयिता। आजकल आकाशवाणी के दिल्ली केन्द्र पर साहित्यिक कार्यक्रमों के निर्देशक।

शंकरलाल पुरोहित

जन्म : ५ मार्च, १९४० ई.।

शिक्षा : एम० ए० हिन्दी, साहित्यरत्न।

अन्य : संप्रति राजेन्द्र कॉलेज, बोलांगीर में हिन्दी विभागाध्यक्ष हैं।

श्याम परमार

सुप्रसिद्ध कवि-समीक्षक एवं लोकवार्ता विद्। आगरा विश्वविद्यालय से पीएच० डी० की उपाधि प्राप्त की।

कृतियां : 'कविताएं—कविता के बाहर', 'अकविता और कला सन्दर्भ', 'लोक साहित्य विमर्श', 'फोकलोर ऑफ मध्य प्रदेश' (अंग्रेजी में) तथा 'बिब्लियाग्राफी ऑफ फोकलोर (स्टडीज एण्ड) रिलेटेड सब्जेक्ट्स' आदि अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ।
आकाशवाणी के विभिन्न केन्द्रों पर लोकवार्ता विभाग के अध्यक्ष एवं तत्पश्चात् साहित्यिक कार्यक्रमों के निर्देशक। आजकल इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ मास कम्यूनिकेशन, नयी दिल्ली से सम्बद्ध।

श्रीनिवास उद्गाता

कवि कुटीर, बलांगीर, उडीसा

जन्म : ६ जनवरी १९३५ ई०, बलांगीर।

शिक्षा : बी. ए.।

प्रकाशन : पूर्णिमा, पार्वती (कथा संकलन); नीलहृद, चित्रलेखा, एक फूल अनेक भ्रमर एवं आँसू (अनूदित ग्रंथ); नीलनयन तले, कान्ता, शेष रात्रि प्रथम सकाल, शिलार सपन (उपन्यास), पूरबी, चारोटि कविता (कविता संकलन) प्रकाशित हो चुके हैं। हिन्दी में 'अग्रगामी' (सॉनेट संकलन) एवं 'एक सागर, हजार लहरें' (उपन्यास) प्रकाशित हो चुके हैं।

हेम नारायण पात्रो

जन्म : उड़ीसा और आन्ध्र के एक सीमावर्ती ग्राम में हुआ। वय ४०।

शिक्षा : अंग्रेजी और हिन्दी में एम. ए.। तेरह वर्ष अध्यापन के बाद आकाशवाणी में कार्यक्रम अधिकारी। आजकल आकाशवाणी दिल्ली पर कार्यक्रम-अधिकारी।

प्रकाशन : कई रूपकों और नाटकों की रचना। पाँच महीने की यूरोप यात्रा में नाटकों और रूपकों का विशेष अध्ययन।
हिन्दी और अंग्रेजी के अतिरिक्त तेलुगू, उड़िया, बंगला भाषाओं का ज्ञान।

नाम तालिका

शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	१३	पोषाली	तोपाली
४	१५	नदीमातृक है।	नदी मातृक।
५	१५	पक्षों	यक्षों
५	१६	आकृति	आकुति
६	१६	रतिप्रिया	रतिक्रिया
१३	६	मनिसा	मनिषा
१६	१०	पाषण-मूरत	पाषाण-मूरत
२६	७	ईशा	ईसा
३६	२१	सुंनरगढ़	सुंदरगढ़
४१	फोलियो	ओड़िया	ओड़िशा
४३	फोलियो	अशोक का कलिंग युद्ध	उड़ीसा का पुरातत्त्व
४३	२७	चेलिताले	चेलितोल
४६	१	भास्कर	भास्कर्य
६३	१६	Plate-Incomiex	Plate-incomlex
६४	६	*Dirctionary*	*Dictionary*
६४	११	inconography	iconography
६४	२३	Jocob	Jacob
६५	१,३	अन्त में प्रश्नवाचक चिह्न नहीं होंगे।	
६८	१८	स्टर्लिग	स्टरलिंग
६६	२	तोषली	तोषाली

८१	२१	फाल्गुग	फाल्गुन
८४	६	'वैदेहीश विलास' के बाद पूर्णविराम नहीं होगा ।	
८४	७	'काव्यों में' के बाद शब्द 'यह' नहीं होगा ।	
८५	११	परिकाल	परकाल
८६	फोलियो	'धर्म' के बाद 'और' आयगा ।	
८६	अंतिम पंक्ति	कलिक	कलिंग
९०	२८	सहस्त्रिका	सहस्त्रिका
१०४	२६	परकाया	परकीया
१०६	५	जससिंह	जयसिंह
११५	३	राज्य संग्रालय	राज्य संग्रहालय
१२६	१७	दुर्गा-पुजा	दुर्गा-पूजा
१४८	४	योगिगियों	योगिनियों
१५६	४	(.) ['जाति' के बाद पूर्ण विराम]	(,)
१६१	२५	वौधायन	बौधायन
१६४	२०	मधपान	मद्यपान
१६४	२४	का	की
१६६	अंतिम पंक्ति	न्हाने	नहाने
१७६	फोलियो	उड़ीया	उड़िया
१८६	अंतिम पंक्ति	गीत-विहन	गीत-विहीन
१९७	* लेखक का नाम	पटनायक	पट्टनायक
२०६	१४	भगवत	भागवत
२१०	६	लड़की	लकड़ी
२११	५	में	मे
२१५	१४ के आरम्भ में जोड़ें —'यात्रा के आविर्भाव ने लेकिन'		
२२०	२	झलकी	झांकी
२२६	७ के अन्त में प्रश्न चिह्न नहीं होना चाहिये ।		
२२६	३०	थुमुसुर	घुमुसुर
२२८	उप शीर्षक	भाव-सयोजना	भाव-संयोजना
२८२	लेखक का नाम	पटनायक	पट्टनायक
२९०	१४	कथावली	कथाकली

२९०	२७	ध्र वपद	ध्रुपद
२९५	* लेखक का नाम	पटनायक	पट्टनायक
२९७	१८	भारतेश्वर	भरतेश्वर
३०३	१३	चरमोत्कर्स	चरमोत्कर्ष
३०४	* अंतिम पंक्ति	सुंजाता पाणिग्रही	संयुक्ता पाणिग्रही
३०४	* अंतिम पंक्ति	सोवल मानसिंह	सोनल मानसिंह
३०५	६	स्टिफनी	स्टिफॅन
३०७	२४	गुण्डिया गृह	गुण्डिचा गृह
३०९	२२	केशोरी	केशरी
३१३	३०	मुख्य भागों विभक्त	मुख्य भागों में विभक्त
३१६	३	पुष्ठभूमि	पृष्ठभूमि
३२३	१६	पारक्षी ब्राउन	परसी ब्राउन
३३६	२७	दक्ष	यक्ष
३३७	२९	शत्रुन्धेश्वर	शत्रुघ्नेश्वर
३४०	७	खैंसा	रेवैशा
३४६	१	दूसरी बार (ground) के पहले 'क्षेत्र' जोड़िये	
३५०	२७	सामंजयस्य	सामंजस्य
३५१	५	उच्छृङ्खलना	उच्छृङ्खलता
३५४	७	विद्यापपि	विद्यापति
३५५	७	लालाटेन्दु	ललितेन्दु
३५८	२८	शुभकरदेव	शुभकार देव
३६०	* लेखक का नाम	बेहरा	बेहेरा
३६०	६	शैला	शैली
३६९	१	बहुत लगाया	बहुत धन लगाया
३८०	२२	वृहदारव्यक	वृहदारण्यक
३८१	१६	voluptious	voluptous
३८४	उप शीर्षक	ओड़िया	ओड़िआ
४०४	* ११	गोलोक बिहारी घत	गोलोक बिहारी धल
४०५	१५	अधिकारिक	आधिकारिक
४०५	* २६	गोलोक बिहारी घत	गोलोक बिहारी धल

४०५	२८	चत्रकला	चित्रलेखा
४०७	१५	anthoritative	authoritative
४११	२६	Napalese	Nepalese
४१८	१६	Phnological	Phonological
४२२	१५	ससि	ऋषि
४२२	अन्त में	डा. शंकरलाल पुरोहित	शंकरलाल पुरोहित
४३६	११	अभियय	अभिनय
४४१	१	टकन	टंकन
४५८	* लेखक का नाम	परिजा	पारिजा
४६०	० लेखक का नाम	तरुणी चरण	तारिणी चरण